अनुत्तर योगी :
तीर्थंकर महावीर

वीरेन्द्रकुमार जैन

श्री वीर निर्वाण ग्रंथ-प्रकाशन समिति, इन्दौर

मंत्री : बाबूलाल पाटोदी,
श्री वीर निर्वाण ग्रंथ-प्रकाशन-समिति,
४८, सीतलामाता बाज़ार,
इन्दौर-२, मध्य प्रदेश

आवरण-चित्र : मथुरा म्यूज़ियम में संग्रहीत, लगभग चौथी सदी का जैन तीर्थंकर-मस्तक : पीले रेतिया पत्थर में शिल्पित । मथुरा म्यूज़ियम के सौजन्य से ।

◆ अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर
उपन्यास
वीरेन्द्रकुमार जैन

◆ प्रकाशक : श्री वी. नि.ग्रं.प्र. समिति,
४८, सीतलामाता बाज़ार, इन्दौर-२

◆ प्रथम आवृत्ति : ११००
वीर निर्वाण सम्वत् २५००
ईस्वी सन् : १९७५

◆ मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
नई दुनिया प्रेस,
इन्दौर-२

वर्तमान में चांदनपुर में जीवन्त विराजमान
त्रैलोक्येश्वर श्री महावीर प्रभु के चरणों में
विश्वधर्म के अधुनातन मंत्र-द्रष्टा
पूज्य मुनीश्वर श्री विद्यानन्द स्वामी के
सारस्वत कर-कमलों में

चिरंजीवी ज्योतीन और सौभाग्यवती यूता को उनके
अन्तर-राष्ट्रीय विवाह (१५ अगस्त, १९७५) उपलक्ष्ये :
इस कारण कि कालिदास की शकुन्तला, गोइथे
की कविता में सौन्दर्य-स्नान करके हमारे घर
सरस्वती होकर लौट आयी :
जर्मन कन्या यूता

असिधारा पथ का यात्री

तत्व का वसन्त

· · ·जल-रव की डूबती रेखा के छोर को सुना । देखा भी । नीरव सन्नाटा छा गया । हेमन्ती साँझ का कुहरा गहराता जा रहा है । हिमानी हवा में रक्त जम रहा है : अस्थियाँ बिंध रही हैं । देखते-देखते पाया कि स्वयम् ही हिमवान हो गया हूँ : अकिंचन, निस्पन्द । शीत की वेधकता कहाँ खो गई : स्पर्श जैसा कुछ अव नहीं रह गया है । देख रहा हूँ, हिमावर्त, उज्ज्वल और अन्तर्लीन । केवल स्वयम् आप ।

घिरते प्रदोष के नीहार-प्रान्तर के तट पर, कहीं कोई नदी की रेखा चुपचाप सिरा गई । दूर का वह पहाड़ विलुप्त होकर, चारों ओर घिरी इस वनानी के झाड़ हो गया । · · ·देख रहा हूँ, केवल एक पेड़ को अपने पास चुपचाप सरक आते हुए । वह बेहिचक चला आया मेरे भीतर : और सहसा ही लगा कि आकार मात्र निःशेष हो गये ।

एक अथाह अंधकार के सिवाय कहीं और कुछ नहीं है । आदि में अन्धकार है, अन्त में अन्धकार है । मध्य में भी वही है । अफाट और अन्तिम अन्धकार । नरक की अन्तिम पृथिवी महातमःप्रभा भी इसमें खो गई है । उसके तले का घोर तिमिरान्ध निगोदिया जीवों का संसार भी इसमें विसर्जित हो गया है । लोक को आवेष्टित किये हुए तीनों वातवलय इस प्रगाढ़ तमोराशि में तीन धागों-से विशीर्ण होते दिखाई पड़े ! · · ·शेष रह गया है केवल अलोकाकाश का अनन्त व्यापी अन्धकार ।यह शुद्ध और तात्विक अन्धकार का लोक है । अभाव की इस तमिस्रा में अपनी सत्ता भी सिराती लग रही है । चुनौती सामने है, कि क्या इसको तैर सकूँगा ? · · ·अरे कौन, किसे तैरे ? कौन हूँ मैं · · ·कौन ?

· · ·पता नहीं । पर पाता हूँ कि, इससे भी परे के एक विराट नैर्जन्य में अपने को एकाकी खड़ा देख रहा हूँ । यहाँ आदि, अन्त और काल तक जैसे नहीं है । स्वयम् आप, नितान्त एकाकी हो रहने के अतिरिक्त यहाँ कुछ संभव नहीं । नग्न और नितान्त सत्ता, निराधार और निरालम्ब । विनाश और विसर्जन की सीमाएँ जाने कव कहाँ छूट गई ।

भयानकता यहाँ अनजानी है । भय एक अनाथ वालक-सा घुटने टेके पैरों के पास आ वैठा है । वह शरण खोज रहा है मेरे भीतर । इस नग्न और निरीह

काया में, मेरी जुड़ी जाँघों के गहराव में छुप कर, वह विलुप्त हो जाने को व्याकुल है।

अन्धकार की इस अभेद्यता में एकाएक कुछ दरारें-सी पड़ीं। इस भय के छुपने की गुफाएँ भी आत्म-निवेदन करती-सी सामने आईं। व्यथा, वियोग, एकाकीपन। विछुड़न का एक असह्य नागदंश।···घने कुहरे और अँधियारे की प्रगाढ़ पर्तों में दिखाई पड़ा, कोई आलोकित महल।···नन्द्यावर्त ? एक सूना कक्ष, एक परित्यक्त शैया।···एक और रत्न-दीपालोकित कक्ष की दो जुड़ी शैयाएँ।··· प्रियकारिणी, तुम्हारी छटपटाहट को देख रहा हूँ। समझ रहा हूँ। केवल अपनी ही विछुड़न को, व्यथा को, एकाकीपन को देखोगी ? किसी दरिद्र की झोंपड़ी में विलखती उस अकेली माँ को नहीं देखोगी, जिसका इकलौता वेटा आज ही सवेरे इस पराये, निर्मम संसार में उसे अकेली छोड़ गया है ? उसे आश्वासन देने वाला भी कोई नहीं है।···अपने ही एकान्त के सन्नाटे में छाती तोड़ती, बिलपती उस युवती विधवा को नहीं देखोगी ?···वह तुम्हारे लड़कपन की शेफाली : उसके सारे परिजन रो-धोकर, हार कर सो गये हैं। सबके होते भी वह कितनी अकेली है ! है कहीं कोई उसका सहारा ? कोई किसी को यहाँ कभी सहारा दे सका है ? तुम्हारी देह पर समर्थ सिद्धार्थराज की आश्वासन भरी वाहु पड़ी है। और जगत की मृदुतम शैया की ऊष्मा में तुम सोई हो।···पर क्या नहीं देखोगी, प्रजाओं की माँ होकर, वे करोड़ों झोपड़ियाँ, जहाँ अन्तहीन अभाव, दैन्य, भूख-प्यास, रोग, वियोग, मृत्यु के मुख में, जाने कितनी ही आत्माएँ, अपने आँसू आप ही पोंछती हुई, पीती हुई, जीने को मजबूर हैं ? आप ही अपने को पुचकार कर जो सुला रही हैं। भीतर-बाहर, कहीं कोई सहारा, आशा, भविष्य जिनका नहीं है।···

सुनो त्रिशला, मेरी यह नग्न छाती यदि उन सबको आश्वासन, आलम्ब, ऊष्मा देने को लोकालोक का तट वन गई है आज, तो क्या तुम यों शोक करोगी ? इतनी स्वार्थिनी वनोगी ? क्या मेरा यह अन्तिम आलम्ब-वक्ष भी तुम्हें सहारा नहीं दे पाता ? देखो न, पास ही तात कितने शान्त, अपनी व्यथा को अपने में समाये, निस्पन्द लेटे हैं, तुम्हें अपनी वाहुओं में आश्वस्त करने को विकल···!

वैना, सोमेश्वर···अपने आँसू मुझे दो : मुझ में वहाओ। जड़ शून्य में उन्हें व्यर्थ न करो। व्यथा, विछोह, एकाकीपन ? अणु-अणु के बीच पड़ी खंदकों के किनारे मैं खड़ा हूँ। हो सके तो, उन्हें अपने चरम अस्तित्व से पाट देने के लिये। अपनी परम प्रीति से उन्हें अन्तिम योग में संयुक्त कर देने के लिये। ···कान में जिसके उवलता सीसा वहा दिया गया है; वह जो कहीं कोई मरण की अन्तिम साँसें ले रहा है : राजमहल की शैया पर हो या झोपड़ी के चियड़ों में। कितना एकाकी है वह कोई भी, कितना असहाय !··· नरक की वैतरणी में जो अपने ही खून की उवलती कढ़ाई में खदवदा रहा

है; वह सूक्ष्मतम निगोद जीव, जो निरुपाय एक साँस में अठारह बार जन्म-मरण के कष्ट को सह रहा है। वह रक्त-पीप से लथपथ, गलित-पलित कोढ़ी, जिसकी ओर कोई आँख उठा कर देखना भी नहीं चाहता। कितने अकेले हैं वे सब ?

उनकी व्यथा, उनके विछोह की कल्पना तक से मनुष्य बचता है।···लेकिन अपने ही एकाकीपन, पीड़न, वियोग, संत्रास से कब तक मुँह छुपा कर चलोगे, आत्मन् ?···उनका सामना करना होगा। उन्हें यों नकार कर, तड़प कर, बिल-बिलाकर, आँखें बन्द कर कब तक झेलोगे ? उन्हें सामने लो, उन्हें जी जाओ, उनकी अन्तिमता तक। फिर देखो खुली आँखों, क्या बचता है ?···वही तुम हो, वही मैं हूँ, जिसका वियोग नहीं, विनाश नहीं।···तुम सब इनसे पलायित हो, इसी से अनंतकाल में अन्तहीन कष्ट झेल रहे हो। तो मैं विवश हुआ कि नहीं, तुम सबको इस सन्त्रास और मृत्यु में जीते मैं नहीं देख सकूँगा, नहीं सह सकूँगा। तुम सबकी ओर से, जीव मात्र की इस चरम यंत्रणा और अन्तिम नियति का सामना करूँगा। उससे जूझूँगा, उसकी जड़ों में उतर कर उसके अज्ञान और अभाव की जड़ तमिस्रा को भेदूँगा। स्वयम् सारे अन्धकार, नरक, यंत्रणा, मृत्यु, भय होकर, उन्हें उनके ही शस्त्र से पराजित करूँगा। उनके अन्तिम छोरों से अपने रोम-रोम को विंधवा कर, उन्हें चुका दूँगा। देखूँगा कि मृत्यु आखिर कहाँ तक जा सकती है।···

इस मर्त्यलोक के सारे मनों के मर्म मेरे मर्मान्तर में खुल रहे हैं: उनकी जन्मान्तरों की कष्ट-क्लिष्ट ग्रंथियों के बेशुमार जालों को अपनी शिरा-शिरा में उलझते, छटपटाते, कराहते महसूस रहा हूँ। जीव मात्र को जो आबद्ध किये हैं, उन कर्म-वर्गणाओं के तमाम अनादिकालीन क्लेश-पाशों और कषायों के प्रति अपने इस अस्तित्व को मैंने मुक्त कर दिया है। वे आयें, और अपनी आखिरी शक्ति के तमाम एकत्र बल से वे मुझ पर आक्रमण करें, प्रहार करें। उनके हर आघात, दंश और बन्धन के प्रति अब मैं प्रतिक्षण संचेतन, जागृत, अवबोधित रहूँगा। निरन्तर अप्रमत्त पूर्ण अवगाहनशील, सहिष्णु अव्याबाध···।

···और मैंने देखा: वहाँ कोई नहीं था: मैं भी नहीं। हेमन्ती रात की तीखी ठण्डी हवाओं के थपेड़ों के बीच एक हिमवान अटल था: विश्रब्ध, अन्त:समाहित।

◆ ◇ ◇

···पैरों तले की सूर्यकान्त शिला हठात् थरथरा उठी। उसके कम्प के हिलोरे मेरी देह में रोमांचन जगा गये। देखा कि मेरे इस रोमांचन

से कण-कण रोमांचित है। द्वाभा की स्तिमित उजियाली में आसपास के पेड़, पौधे, लता, गुल्म, जड़-जंगम, पशु-पंखी सब पुलकित दिखाई पड़े। और जैसे मेरे ही मस्तक पर से उदय होते सूर्य की अरुणिम किरणों से सब जगमगा उठा है।

'चरैवेति' · · 'चरैवेति' : शीत हवा की लहरियों में गूंज उठा। और पाया कि अविचल पगों से चल पड़ा हूँ। अपनी ही लम्वाई तक की दूरी में मेरी आँखें विछती चली जा रही हैं। भूमि के अंक में विचरते सूक्ष्मतम जीव भी मेरी आँखों के उस विछाव में अपने को अघात्य अनुभव कर रहे हैं। और मैं एकाग्र दृष्टि से, एक-दिशोन्मुख चला जा रहा हूँ। दिशा कोई हो, जो सामने आये, उसी दिशा में सहज भाव से चला चल रहा हूँ। एकाएक अपने पीछे से आती एक आर्त पुकार सुनाई पड़ी :

'स्वामी ! स्वामी ! स्वामी !'

मेरे पैर जहाँ के तहाँ अटक गये। मुड़कर मैंने नहीं देखा। सामने आकर एक चिथड़ेहाल दीन-हीन वृद्ध चरणानत हुआ और कातर हो कर विनती करने लगा :

'स्वामी, सुना है, आपने एक वर्ष तक अवढर दान किया है। कुण्डपुर का सारा राजकोष वहा दिया। मैं चिर काल का दरिद्र एक ब्राह्मण, तव दुर्दैव का मारा परदेश में आजीविका की खोज में भटक रहा था। इस सन्निवेश का जन-जन स्वामी के दान से निहाल हो गया। एक मैं ही चिर-वंचित, पीछे आपके राज्य में दरिद्र और अनाथ छूट गया। मुझे भी अपने दान से धन्य करें, प्रभु !'

एकाग्र मैं उसे निहारता रह गया। मेरे ओठों पर मात्र एक स्मित फैल गया। शव्द मुझमें नहीं था। उत्तर में एक ध्वनि अपने भीतर उठती सुनाई पड़ी :

'मैं तो निष्किंचन हो गया, भूदेवता, मैं और मेरा अब कुछ नहीं रहा। निपट आकाश रह गया हूँ। वस्तु सब अपनी-अपनी हो गई। एक कण पर भी मेरा अधिकार नहीं रहा। तुम्हें जो दीखता हूँ, चाहो तो उसे ले सकते हो। · · ·'

ब्राह्मण की आँखें उमड़ती चली आईं। उसकी वे अनाथ कातर आँखें, उसको ही अपलक निहारती मेरी आँखों से जुड़ी रह गईं। · · · कि सहसा ही अन्तरिक्ष में से उसके ठिठुरते, उघाड़े, जर्जर शरीर पर एक जगमगाता देवदूष्य वस्त्र टपक पड़ा। आँखें मींच कर वह हर्षातिरेक से दण्डवत में भूमिसात् हो पुकार उठा :

'जय हो वर्द्धमान कुमार की ! जय हो दीन-दरिद्र, अनाथों के नाथ की !'

वह जैसे वहाँ पीछे छूट गये एक चरण-युगल को अपनी अँगुलियों में कस कर पकड़, पड़ा रह गया। पर मैं उससे पहले ही अपने पन्थ पर गतिमान था।

◆ ◆ ◆

एक प्रहर दिन शेष रहते मैं कूर्मार ग्राम के प्रान्तर में आ पहुँचा। सीमान्त के एक सुरम्य वनप्रदेश में आकर, चहुँ ओर निहारा। दूर पर ग्राम-घरों के पीली माटी के पिछवाड़े दीख रहे हैं। उनके खपरैलों पर और चारों ओर के पेड़ों पर अपरान्ह की कोमल पड़ती धूप ढल रही है।

···एकाएक नाभिपद्म के ऊपर जैसे एक सुखद गुलाबी ज्वाला उठती अनुभव हुई। जठराग्नि है यह : क्षुधा की मधुर तपन। मैंने मित्रभाव से उसका स्वागत किया। दमन नहीं किया उसका : तिरस्कार नहीं किया उसका। लोक की इस जीवनी-शक्ति का निरादर कैसे कर सकता हूँ। मन ही मन कहा : ओ मेरी भगवती आत्मा : इस क्षुधा में भी तुम्ही तो अवरूद्ध हो कर व्यक्त हुई हो। तुम्हारे अतिरिक्त तो और कुछ कही देखता नहीं मैं। अवरूद्ध होकर, हे चिति-माँ, तुम्हीं विभाविनी हो गई हो : जगत के आविर्भाव के लिये। आरूढ़ होकर तुम्हीं आत्म-स्वरूप मे अवस्थित होती हो। लो माँ, तुम्हारे यज्ञ की इस लौ में अपनी इस सप्त धातुमयी देह की आहुति प्रदान करता हूँ। स्वीकारो।···और जाने कब वह ज्वाला अन्तर्लुप्त हो गई। मैं एक अद्भुत तृप्ति में मगन हो रहा।

और प्रलम्ब-बाहु, अन्तःस्थ होकर, मैं समर्पित भाव से कायोत्सर्ग में लीन हो गया। अपने अन्तरासन पर अविचल रह कर, नासाग्र दृष्टि से बाहर के सर्व के प्रति भी, विमुख नही, सहज ही उन्मुख हो रहा। जहाँ भी, जो कुछ भी हो रहा है, उसके अन्तर-बाह्य का केवल साक्षी।···

कुछ देर बाद देखा, एक ग्वाला अपने बैलों को लेकर वहाँ आया। मुझे खड़े देख वह आश्वस्त हुआ। उसने सोचा, मेरे बैल इन साधु पुरुष के निकट सुरक्षित ही रहेंगे। ये भले ही यहाँ चरते रहें, तब तक मैं गांव में जाकर अपनी गायें दुह आऊँ। और वह चला गया।

बैल चरते-चरते दूर निकल गये। और जाने कब किसी अटवी-प्रदेश में प्रवेश कर गये। जो होता है, उसे देखता हूँ। इससे बड़ी निगरानी और क्या हो सकती

है। सो बैलों का चरना-विचरना और वन में विलुप्त हो जाना, मैं सम भाव से देखता ही रह गया।···

बहुत देर बाद ग्वाला लौट कर आया। देखा कि बैल वहाँ नहीं हैं। उसने मुझसे पूछा : 'कहाँ गये मेरे बैल?' मुझे तो कुछ कहना नहीं था : जहाँ गये, वहाँ ठीक ही तो गये हैं। उसमें मेरा क्या दखल है। मेरी चुप्पी से ग्वाला कुछ क्षुब्ध दीखा। फिर वह अपने बैलों की खोज में निकल पड़ा!···

मैंने रात-भर उसे वनखण्ड में परेशान भटकते देखा। दिशाओं के छोरों तक उसे बैलों का कोई चिह्न नहीं दीखा। सबेरे थका-हारा वह फिर मेरे निकट आया। मैं ठीक उसी स्थल पर प्रतिमायोग में अविचल आत्मस्थ था। और उसके बैल मेरे समीप ही कहीं खड़े शान्त भाव से चर रहे थे। तृप्तिपूर्वक जुगाली कर रहे थे।

ग्वाला क्रोध से भभक उठा।···निश्चय ही इस सधुक्कड़े ने मेरे बैलों को कहीं छुपा दिया था। पाखंडी कहीं का, चोर! साधुवेश धर कर चोरी करने की नयी विद्या निकाली है इसने।

'अरे ओ दुष्ट तस्कर, धूर्त! साधु का भेष धर कर गोधन चुराने निकला है?··· तुझे सब पता था, फिर बताया क्यों नहीं? मन में जो कपट था तेरे, ओ नंगे···!'

मैं चुप ही रहा। बोल कर तो बात को उलझाया ही जा सकता है। मौन ही मौन मैंने कहा :

'शान्त बन्धु, बैलों को जहाँ जाना था गये। लौट कर ठीक समय पर, ठीक जगह वे आ गये। मैं कौन होता हूँ, उन्हें भगाने वाला, उन्हें रोकने वाला, लौटाने वाला!'

विचित्र हुआ कि ग्वाले ने सुन ली मेरी वह नीरव भाषा भी। क्रोध से उबल कर उसने अपने बैल बाँधने के रस्से को दोहरा-तिहरा किया। फिर उससे वह मेरे शरीर पर बार-बार प्रहार करने लगा। चोटें ऐसी कुछ मुक्तिकर लगीं, कि जैसे देह में पड़ी जाने कितनी पुरानी गाँठें खुल रही हैं। मैंने उस गोप बन्धु का मन ही मन बहुत उपकार माना। कृतज्ञ हुआ उसका।

मार तले भी मुझे मौन, निश्चल देख वह और भी उत्तेजित होकर मुझे अपने रस्से से बाँधने को उद्यत हुआ। मैंने कोई प्रतिरोध न किया। मेरे सारे अंगांग रोमांचित होकर, डालियाँ हिला कर स्वागत करते झाड़ की तरह

नम्रीभूत हो आये।···ठीक तभी वे पास ही चरते बैल, दौड़ कर मेरी ओर आये, और मुझे चारों ओर से घेर कर मेरा कवच हो रहे। वे मेरी देह से हौले-हौले रभस करने लगे।···

···ग्वाला अपनी जगह, स्तंभित खड़ा देखता रह गया।···वह विगलित कण्ठ से प्रार्थना कर उठा :

'हाय, मैं अन्धा हो गया था, स्वामी। अरे तुम कितने सुन्दर, सुकुमार हो। जान पड़ता है कोई देवों के ऋषि हो।···पा गया, पा गया, पहचान गया··· पहचान गया। राजर्षि वर्द्धमान कुमार! जय हो प्रभु, जय हो, क्षमा करें नाथ, मुझ अज्ञानी को।···'

मैंने आश्वासक मुद्रा में हाथ उठा दिया। पता नहीं कितनी देर वह मेरे पैरों में भूमिष्ठ हो, जाने क्या-क्या कहता रहा, करता रहा। मेरी देह अपने में सिमट कर, जाने कब मेरी अन्तर्तम चेतना में विश्रब्ध हो गई थी।···

···हठात् मेरे मन के मुद्रित कपाट पर जैसे एक कोमल हो आई बिजली की उँगली ने दस्तक दी। मैं अनायास ही बहिर्मुख हुआ। सुनाई पड़ा :

'प्रभु, आपका चिर किंकर सौधर्म इन्द्र सेवा में प्रस्तुत है···।'

'हूँ···!' मेरी चुप्पी से ध्वनित हुआ।

'देवार्य की यह दारुण तपस्या कितने काल चलेगी, सो कौन कह सकता है! जानता हूँ, इस अवधि में प्रकृति की समस्त प्रतिकूल शक्तियाँ एकत्र होकर प्रभु की राह में जाने कितने ही भयंकर उपसर्ग उपस्थित करेंगी। पद-पद पर अन्तहीन बाधाएँ आयेंगी। आज्ञा दें नाथ, कि इस काल में सदा सर्वत्र मैं आपके संग विचरूँ, और आने वाले हर उपसर्ग का निवारण करूँ।'

मेरी नीरवता और भी गहरी हो गई। मेरे श्वास तक निस्पंद हो गये।··· और इन्द्र को जाने किस अगोचर से उत्तर सुनाई पड़ा :

'शक्रेन्द्र, तुम्हारे भक्तिभाव से भावित हुआ। पर जानो स्वर्गपति, जो सारे बन्धन त्याग कर पूर्ण निर्बन्धन होने को निकल पड़ा है, वह कोई नया बन्धन कैसे स्वीकारे? परम स्वाधीनता-लाभ की इस यात्रा में, पराधीन होकर कैसे चल सकता हूँ। कर्म-चक्र का निर्दलन अरिहन्त अकेले ही करते हैं। अपने बाँधे कर्म-बन्धन को काटने में दूसरे की सहाय सम्भव नहीं। अरिहन्तों ने पर सहाय न कभी स्वीकारी, न स्वीकारते हैं, न कभी स्वीकारेंगे। सर्वजयी जिनेन्द्र अपने ही वीर्य के बल केवल-ज्ञान प्राप्त करते हैं, अपने ही वीर्य के बल मोक्षलाभ करते हैं।'

'महावीर्य महावीर जयवन्त हों, जयवन्त हों, जयवन्त हों।'

चरणानत होकर सौधर्मेन्द्र अन्तर्धान हो गया । जाने किस सुकोमला प्रिया की एक तेजोवलय-सी बाँह ने मुझे चारों ओर से आवरित कर लिया । एक अमोघ सुरक्षा-बोध में देह-भान खो गया।

◆ ◆ ◆

छह दिन, छह रात बीत गये । इस शरीर ने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है। भूख-प्यास बावरी-सी मेरी परकम्मा करती साथ चल रही हैं। मैंने ज़रा भी उन्हें रोका-टोका नहीं, उनका निरोध नहीं किया । मैं अपने भाव में हूँ, तो वे अपने भाव में हैं। प्रकृति में अपनी जगह रह कर वे अपना काम कर रही हैं। मैं अपनी जगह अस्खलित रह कर उनके तीव्र परिणमन को महेसूस रहा हूँ। अभी कल ही यात्रापथ में, कहीं एक निर्मल सरोवर लहराता दीखा था। मेरी प्यास उस ओर दौड़ी थी : वह व्याकुल होकर उन लहरों में डुबकी खा गई। सरोवर दौड़ा आया और मेरे अंगांगों में लहराने लगा। मैंने उसे रोका-टोका नहीं। वह मुझ में अन्तर्भूत हो गया। राह की एक नदी मेरे सूखे ओंठ देख अकुला उठी। ओठों पर आ लगी, प्याले की तरह। मैंने उसे पिया नहीं : मुस्करा भर दिया । तो वह पगली मुझे ही पी गई । वह तृप्त हुई : मैं अधिक आत्मस्थ हुआ ! · · ·

आज सवेरे कोल्लाग ग्राम के परिसर से अटन करता गुज़र रहा हूँ। कोई प्रयोजन नही, कोई लक्ष्य नहीं : बस एक महागति से मेरे चरण धावमान हैं। पथवर्ती एक पनघट पर पानी खींचती एक युवती दूसरी से कह रही है : 'बहुल ब्राह्मण के घर आज बड़ी भारी रसोई का पाक हुआ है। सारे सन्निवेश का न्यौता है । देवभोग व्यंजनों के थाल लगे हैं। पर सुन री, बहुल उज्ज्वल अन्तर्वासक पहने, श्रीफल-कलश लिये द्वार पर जाने किस अतिथि की प्रतीक्षा में खड़ा है। पूर्वान्ह हो आया, वह हिलने का नाम नहीं लेता। · · · विचित्र है न !'

· · · ब्राह्मण ! तुम्हरा अधःपतन मुझे असह्य है। तुम्हारे बिना ब्रह्मज्योति को लोक-मानस में कौन संचारेगा ? दुरात्माओं ने तुम्हारे यज्ञ को अपावन कर दिया है। आज मेरी क्षुधा की अग्नि तुम्हारे हवनकुण्ड में स्थापित हो। तुम्हारे सर्वस्व की आहुति के बिना वह शान्त नहीं होगी। प्रस्तुत हो भूदेव · · · ?

और मैंने कोल्लाग ग्राम के राजमार्ग पर अपने को चलते हुए देखा। एक विशाल भवन के द्वार पर सहसा ही आवाहन सुनाई पड़ा :

'भो स्वामिन्, तिष्ठः तिष्ठः आहार-जल शुद्ध है · · · आहार-जल शुद्ध है · · ·'

मैं रुक गया। बहुल ब्राह्मण की ओर उन्मुख हो देखा : श्रीफल-कलश दोनों हाथों में माथे तक निमत हो आया है। उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। उसकी नम्रीभूति मेरे हृदय को स्पर्श कर गई। एक सुन्दर चाँदी की चौकी वहाँ अतिथि के पदमार्जन को प्रस्तुत थी। मैंने उन पर पगधारण किया। पूजा-आरती नैवेद्य गृह-वधुएँ सम्मुख आयीं। मैं उनकी ओर बढ़ गया। झूलती आरतियों के बीच अविलम्ब राह बनाता हुआ भवन द्वार में प्रवेश कर गया।

भीतर के चौक में निःशब्द अतिथियों का एक भारी समुदाय एकत्रित था। उनकी एकाग्र प्रणतियों के प्रति मैं सहज ही नम्रीभूत हो आया।

बैठने के लिये बिछाये गये स्वर्ण-रत्न के आसन को भिक्षुक ने नहीं स्वीकारा। उसे लांघ कर खड़े-खड़े ही. भिक्षा के लिये अपने दोनों हाथों को अंजलिबद्ध कर पाणि-पात्र पसार दिया। बहुल ब्राह्मण ने पयस का कुम्भ उठाकर भिक्षुक के पाणि-पात्र में डाला। अन्तरिक्ष में से केशर और फूल बरसने लगे। वसुधारा की वृष्टि होने लगी। कोटि-कोटि सुवर्ण-रत्न बरस कर माटी में मिलने लगे। जयकारें गूंज उठीं।...तीन ग्रास पयस ग्रहण कर भिक्षुक ने हाथ खींच लिये। बहुल ने उसका अंग-प्रक्षालन कर, उज्ज्वल वस्त्रों से पोंछा।... भिक्षुक ने उद्‌बोधन का हाथ उठा दिया।...अगले ही क्षण वह चारों ओर उमड़ते जन-समूह के बीच से राह बनाता हुआ, कोल्लाग ग्राम के जनपथ को पार गया।...

• • •

दायें हाथ में मयूर-पिच्छिका और बायें हाथ में कमण्डलु झाले अविराम विहार कर रहा हूँ। वन के वृक्ष, नदी, पर्वत, चारों ओर छितरी बस्तियाँ, पनघट, खेत-खलिहान सभी तो मेरे साथ चल रहे हैं। नितान्त एकाकी हो गया हूँ : इसीसे अकारण ही सब का संग-साथ पा गया हूँ। 'चरैवेति'...'चरैवेति': यही मेरी एक मात्र जीवनचर्या है। यही मेरा स्वभाव है, धर्म है। भीतर का निरन्तर आत्म-परिणमन ही, बाहर निर्बाध विचरण बन गया है। सब के पास जाने को निकला हूँ : अकारण ही सबको पाने और अपनाने चला हूँ। पर देखता हूँ अपने ही एकाग्र पंथ पर निश्चल भाव से चला चल रहा हूँ : और ये सब स्वयम् ही मेरे पास चले आ रहे हैं। मुझे कृतार्थ कर रहे हैं।

नहीं जानता, कहाँ जाना है, क्या करना है। बस चले चलना है, चले चलना है : चलते ही चले जाना है। दिशा और काल का कोई बोध, अपने से भिन्न नहीं रह गया है। स्वयम् ही अपनी दिशा हो गया हूँ : स्वयम् ही अपना समय हो गया हूँ। अपने से चल कर, अपने तक पहुँचने की इस यात्रा में बाहर का समस्त लोक

और प्रकृति आपो आप ही यान्त्रित हो रहे हैं, अपने ही भीतर अन्तरित होकर, फिर-फिर विस्तारित हो रहे हैं।

···शिशिर ऋतु इस समय अपनी पराकाष्ठा पर है। कभी-कभी ओस-पाले में सारी प्रकृति ढँक जाती है। कभी हिमपात और वर्षा भी होती है। बर्छियों-सी ठण्डी हवाएँ पसलियों और हड्डियों में विंधती हैं। गल-गल कर अंग-प्रत्यंग फिर पथरा जाते हैं। ठिठुरन से शरीर के साँधे अकड़ जाते हैं। चलना कठिन हो जाता है। स्वयम् जैसे वर्फ की शिला हो रहता हूँ। यह जकड़न टूटे तो कैसे टूटे।···नहीं, इसे तोड़ने वाला मैं कौन होता हूँ। शीत की यह वेध-कता तीव्र से तीव्रतर होकर मानो मुझे चुनौती देती है। मेरी हड्डियों और नसों के रक्त को, मेरे शरीर के अणु-अणु को वींध कर भी इसे चैन नहीं है। और इसके प्रति अपने को निःशेष दिये विना मुझे चैन नहीं है। इसकी सामर्थ्य और सीमा को जान लेना चाहता हूँ। या तो इसे चुक जाना होगा, या मुझे चुक जाना होगा।

सो इसके दुःसह आघातों को झेलने के लिये, किसी नदी तट या पर्वत की उन्मुक्त चोटी पर जा खड़ा होता हूँ। काया को उत्सर्गित कर, उसकी हर टूटन और विनाशीकता को सम्पूर्ण हृदय से भोगना और जीना चाहता हूँ। जानना चाहता हूँ कि काया का विनाश होने पर कुछ शेष रहता है या नहीं। जानना चाहता हूँ कि केवल शरीर ही हूँ या उसके अतिरिक्त कोई और भी मैं हूँ। आत्मा की अविनाशीकता की वात वहुत सुनता आया हूँ। कहीं भीतर उसकी प्रतीति भी है। पर उसकी स्वायत्त और स्व-साक्ष्य अनुभूति पाये विना जी को विराम नहीं है।···

सो वदहवास-सा खड़े पर्वतों पर चढ़ता ही चला जाता हूँ। आस-पास के झाड़ी-झंखाड़ों की वाधा पर भी लक्ष्य नहीं रहता। कटीली झाड़ियों, राह के कांटे-कंकड़ों की चुभन, और शिलाओं की टकराहटों और ठोकरों से तन-वदन छिल जाता है। काँटों और डालों के खुंप जाने के कारण असह्य वेदना से शरीर टीसने लगता है। अभ्यासवश हाथ काँटा निकालने को उठ जाता है, जख्म देखने को आँखें चौकन्नी हो जाती है।···नहीं, यह कैसे हो सकता है! काँटे, कंकड़, पत्थर का धर्म है चुभना। तो क्या मेरा कोई अपना धर्म नहीं? है: इन आघातों से परे जो मेरा अघात्य स्वभाव है, उसमें जीना, उत्तीर्ण होना। घायल अंगांगों से वह आये रक्त के प्रति कृतज्ञ होता हूँ। एक अनोखी मुक्तता उसमें अनुभव करता हूँ।

···पर्वत की इस टोंच पर पहुंच कर, अपने को तने हुए धनुष की तरह खड़ा पाया। शीत पवन के झकोरे यहाँ चारों ओर के खुले दिगन्तों से आकर मुझ पर प्रचण्ड प्रहार कर रहे हैं। देखते-देखते दूर क्षितिज पर सूर्य

का लाल बिम्ब डूब गया। घिरते प्रदोष के कुहरिल अंधकार में, दूरियों में कहीं-कहीं दीखती बस्तियों के दीये डूब गये।···

एक समरस और सघन अंधकार। एक नीरन्ध्र और नीरव सन्नाटा। और उसमें झिल्लियों की झंकार। जो मानो इस अंधियारे का ही एकतान संगीत है। सांय-सांय, झांय-झांय करते झाड़ भूत-प्रेतों के सैन्य की तरह आसपास घिरते चले आ रहे हैं। पुंजीभूत तमस चारों ओर से मुझ पर आक्रमण करने को उद्यत है। और मैं कितना अकेला हूँ। कितना अशरण : कितना घात्य। किसी भी क्षण अन्धकार का यह सौ-सौ कराल जिह्वाओं और डाढ़ों वाला दानव मुझे लील सकता है।···

दिशातीत दूरी में एक दीया कहीं चमका। उसकी टिमटिमाहट को मैंने बहुत निकट से देखा। पता नहीं किस माँ के कक्ष का यह दीया है। कैशोर्य और यौवन के इन सारे बरसों में माँ से दूर ही रहा हूँ। वही मेरा स्वभाव हो चला था। पर आज यह क्या देख रहा हूँ : उन सारे बरसों को पार कर नन्द्या-वर्त के उस रत्न-दीपालोकित कक्ष में, माँ की गोद में दुबका वह बालक झाँक उठा। कैसी ऊष्मा है : कैसी सुरक्षा है माँ की गोदी के इस गहराव में।···एक फुरफुरी-सी शरीर में दौड़ गई। कैसे रोमांचन के साथ कहीं दुबक जाने की सी एक विकलता चेतना में टीस उठी।

···नहीं, नहीं···नहीं। यह माया है : यह छलावा है अपने ही साथ। जो गोद स्वयम् अपनी ही नहीं, अपने ही को शरण नहीं दे सकती, उसमें मेरे लिये शरण कहाँ ? उसकी स्वामिनी स्वयम् कितनी अनाथ, शोकाकुल, विरहिणी होकर, अपनी वैभव-शैया में परवश लेटी है। उसके वक्ष में किसी अन्य को शरण कैसे मिल सकती है। जो स्वयम् इतनी अनाथ और निराधार होकर लुंजपुंज, हताहत पड़ी है, वह मुझे सनाथ और अनाहत कैसे कर सकती है। ···यह शरीर जो स्वयम् कपूर की तरह उड़ सकता है, बुलबुले की तरह विलीन हो सकता है, जिसमें अपने ही लिये आधार नहीं, सुरक्षा नहीं। तो कोई दूसरा शरीर, जो खुद ही भंगुर और घात्य है, मुझे अघात्य कैसे कर सकता है। जो स्वयम् अरक्षणीय है, उसमें रक्षा कहाँ ? जो स्वयम् भयभीत है, उसमें अभय कहाँ ?···

···सारी ध्वनियाँ, आकृतियाँ और स्पर्श क्षण मात्र में ही लुप्त हो गये।···एक आव्याहत शून्य में जो अविचल स्थित रह गया है, यह कौन है ? यह एक शुद्ध स्वानुभूति है, जो अकथ्य है। एक असंज्ञ शरणागति में अस्मिता खो गयी। मैं कोई नहीं हूँ···मैं कुछ नहीं हूँ। और इसके अनन्तर जो यह बचा है, यह कौन है ?···मैं हूँ···मैं हूँ···मैं हूँ।···एक विश्रब्ध गहनता में यह आत्मानुभूति भी भावातीत हो गई।···

· · ·फिर जाने कब एक अति कोमल, स्निग्ध सरसराहट से शरीर की चेतना किंचित् लौट आई। पैरों को किसी मंडलाकार मृदुता ने चारों ओर से घेर लिया। प्राणिक रक्त की अज्ञात ऊष्मा ने पूरे शरीर को आवृत्त-सा कर लिया। नीचे से उठ कर कोई कुण्डलिनी एक-एक अंग को वलयित करती हुई, मेरु-दण्ड में लहराती हुई, मस्तक पर छत्र-सी छा गई। झगर-झगर करती अग्निम मणियों से भास्वर एक फणामण्डल! क्षणार्ध को भय का एक कम्प रक्त में दौड़ गया। · · ·और अन्तर-मुहूर्त मात्र में, अपने ही भीतर के किसी फणीन्द्र के मस्तक पर, अपने को अकम्प, अधर में आसीन अनुभव किया। तत्काल देह आत्मान्तरित हो गई। बस एक शून्य है, मैं से अतीत। अननुभूत। कौन किसे देखे, गहे, अनुभवे ?

सबेरे की कोमल धूप जब शरीर को नहलाने लगी, तो एकाएक देह की इयत्ता में लौट आया। दिगन्तों तक व्याप्त प्रकृति और सृष्टि के शीर्ष पर यह कौन खड़ा है ? · · ·

पर्वत के ढाल पर अपने को उतरते पाया। किस दुर्गम, दुरारोह उत्तानता में चढ़ आया था, उसका किंचित् भान हुआ। ज़रा ही पैर चूका, कि लुढ़कते हुये नीचे फैली अतल खंदक की कराल दाढ़ में सीधे जा गिरना होगा। · · ·लेकिन पैर जैसे सुगम भाव से सीढ़ियाँ उतर रहे हों। हर कदम पर खंदक चौड़ी से चौड़ी, गहरी से गहरी हो सामने आती है। और मैं उसमें अविकल पैर धरता, एक समतल अधर पर चलाचल रहा हूँ। · · ·

पग-पग पर सरिसृपों से सरसराती ढेर-ढेर पतझार में ऐसे चल रहा हूँ, जैसे पैर उस पर नहीं, अपनी ही काया पर धरता चल रहा हूँ। जड-चेतन का कण-कण इतना वल्लभ लग रहा है, कि मेरे पदाघात से एक सूक्ष्मतम जीवाणु भी दुख न जाये, ऐसी सावधानी मेरे रोम-रोम में अनायास व्याप्त है। हवा के झोंकों में रह-रह कर वृक्षों की पत्तियाँ झर रही हैं। पत्रहीन अरण्यानी के इन ठूँठों को बहुत निकट से देखा। और अपने ही इस सुन्दर शरीर के भीतर छुपे, भयावने हाड़-पिंजर को साक्षात किया। शीत-पाले, कंकड़-काँटों से क्षत-विक्षत अपने मलिन शरीर की त्वचा को तड़कते, उघड़ते देखा। सामने के पेड़ों की छालें सूख कर पपड़िया गई हैं। जहाँ-तहाँ से उखड़ कर उनकी पपड़ियाँ गिर रही हैं। उस शुष्कता को भेद कर, उनके भीतर की कोई कच्ची हरी त्वचा की पर्त कहीं-कहीं झाँक रही है। और अपने शरीर की छिलानों में से भी एक और कोई भीतर का ताजा, कच्चा शरीर उघड़ आता दीखा। सूक्ष्म हो आई निगाह पेड़ों की डालों पर कहीं-कहीं फूट आते बहुत बारीक अँखुवों से टकराई· · ·जीवन· · ·जीवन· · ·जीवन : अनाहत और अविनाशी जीवन

की अखण्ड धारा। पर्याय के पत्ते झड़ गये हैं, त्वचाएँ सूख कर, पपड़ा कर गिर गई हैं। ये ठूँठ विनाशीकता की मूर्तियां बने खड़े हैं।···पर इनको भेद कर, अपने हाड़-पिंजर को भेद कर, देख रहा हूँ, अविनाशी द्रव्य की शाश्वती रस-धारा। तत्व का चिरन्तन वसन्त···। नास्ति बीच की एक अवस्था मात्र है : अन्तिम है केवल अस्ति। अस्ति···अस्ति···अस्ति। वही तो मैं हूँ : वही तो सब है। □

मन्दरचारी आकाश-पुरुष

दूर पर अचिरावती की श्वेत धारा दीख रही है। उसके तट पर देव-द्रुमों की छाया में कुछ मृगों को विचरते देख रहा हूँ। उधर झुरमुटों के पीछे मल्लि-ग्राम के घरों की गेरुई पीठें झाँक रही हैं। अविराम विहार करता कब मल्लों के इस प्रदेश में आ निकला हूँ, पता ही नहीं चला। भूगोल की सीमाओं पर निगाह अटकती नहीं है। असंख्य ग्रह-नक्षत्रों से भरा खगोल भी अंधेरी रात में मेरे ध्यानस्थ शरीर से रभस करता निकल जाता है। अपनी हड्डियों के दरों में उसे एक सार्थवाह की तरह गुज़रते देख लेता हूँ। अनुत्तर देश की इस यात्रा में भूलोक और द्युलोक एक चित्रपट की तरह सामने आते हैं, अपने रहस्यों की पिटारियाँ खोलते हैं, और फिर अपनी ही सीमा में सिमटते चले जाते हैं।

बर्फ़ानी रातों के तूफ़ान जाने कहाँ सिरा गये। हवा में एक सुखद लौनापन आ गया है। कोई विचित्र स्मृति-संवेदन प्राण के तटों को छू जाता है। जान पड़ता है, दक्षिण पवन वहने लगा है। मलय का यह स्पर्श जाने किस परा उज्ज्वलता के पवित्र बोध से हृदय को पावन कर देता है।

वनांगन के दूर फैले प्रान्तरों में जहाँ-तहाँ पलाश फूटे हैं। इन रक्तिम-सिन्दूरी फूलों में भीतर का प्रवाही रक्त, स्थिर ज्वालाओं में थमा रह गया है। सफेद, लाल, पीले कमलों से तालाव भर उठे हैं। उन पर सुरभित पराग की पीली सूक्ष्म नीहारिका-सी छायी रहती है। उनके तटों पर अशोक और कर्णिकारवन लाल फूलों से भर उठे हैं। उनके कमल-केसर से पांशुल तल देश में हंस और सारस-मिथुन केलि-क्रीड़ा में विदेह भाव से लीन हैं।

गाँवों के आँगनों में तीसी के नीले फूलों पर लहराती उर्मिलता देखता हूँ, तो उसमें आत्मा का विशुद्ध परिणमन गोचर हो जाता है। सरसों के पीले फूल-खेतों में यह कौन अपनी पीली ओढ़नी उतार कर, अन्तर-सरोवर में नहाने को निरावरण उतर गई है।

प्रकृति के इस सौन्दर्य से पीठ फेर कर कहाँ जाऊँगा। प्रकृत और आत्मस्थ होना चाहता हूँ, तो सबको अपने-अपने निज भाव में परिणमन करते देखूँगा

ही। इस बीच बाहर की इस सृष्टि से उदासीन रहना चाहा है, ताकि स्व-भाव में स्थिर हो सकूँ। पर लगता है, इससे उदासीन नहीं, इसमें तल्लीन ही हुआ जा सकता है। यानी इससे तदाकार होकर, इसे इसकी सम्पूर्णता में देखूं, जानूं, भोगूं, जीऊँ। इस बीच इन्द्रिय-दमन की चेष्टा भी की है। मन को मारने का प्रयास भी किया है, कि मनातीत आत्मस्वरूप हो जाऊँ। पर यह मार्ग मुझे धर्म्य नहीं लगा। शत्रुता अरिहंत का धर्म नहीं। अरिभाव का अंतिम हंता अरिहंत पदार्थ का वैरी कैसे हो सकता है। लोक में सब कुछ अपनी-अपनी जगह पर नियोजित है। सारी ही वस्तुओं में धर्म विविधि रूपों में प्रकट हुआ है। अस्तित्व जिस रूप में यहाँ उपलब्ध है, उसके पीछे महासत्ता का कोई अभिप्राय है, अर्थ है, योजना है। उसे नकारने वाला मैं कौन होता हूँ। वैसा करना अहंकार होगा।

सब को यथास्थान स्वीकारूँ, उनके स्वाभाविक परिणमन का निरावेग चित्त से दर्शन करूँ, यही एकमात्र सम्यक् स्थिति जान पड़ती है। इन्द्रियाँ या मन भी अपनी जगह पर अपना स्वाभाविक काम कर रहे हैं। वस्तुएँ अपनी जगह पर विविध पर्यायों में अपनी अनन्तता को प्रकाशित कर रही हैं। इनके बीच अनाविल दर्शन-ज्ञान का एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसका साक्षात्कार करना होगा। उसको तोड़ना, सत्ता के द्रव्यत्व को विच्छिन्न करना है: उसका विरोध करना है। वह वस्तु धर्म का विद्रोह है। इस अनादि-निधन सुन्दर लोक के प्रति विरोध और विद्रोह में कैसे जिया जा सकता है। आत्मस्वरूप होना चाहता हूँ, निःसंदेह। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सृष्टि-प्रकृति के स्वाभाविक परिणमन से लड़ाई-झगड़ा करूँ। वह तो हिंसा ही होगी न! वह द्रव्य के स्वभाव-द्रोह का अपराध होगा। मिथ्या-दर्शन और किसे कहते हैं। मन और इन्द्रियों से बैर करूँ, तो वह भी आत्मघात की हिंसा ही होगी। प्रकृति, मन, इन्द्रियाँ, वस्तुएँ, सभी का मित्र ही हो सकता हूँ। इन्द्रियाँ, मन, पदार्थ, सब का परिणमन यथा स्थान सत्य, शिव और सुन्दर है। उनके विरोध में नहीं, सम्वाद में ही सम्यक्दृष्टि जीवन जिया जा सकता है। इन्द्रियों का दमन सम्भव नहीं। मन को मारा नहीं जा सकता। जिस चेतन तत्व आत्मा में से ये स्फुरित हुए हैं, उसमें लय पाकर ही ये सम्पूरित हो सकते हैं। अपने स्रोतोमूल चैतन्य में ही ये अपनी पूर्ण सार्थकता पा सकते हैं। इन्द्रिय और मन का निरन्तर शुद्धिकरण और परिष्कार करके, इन्हें आत्मा के अव्याबाध दर्शन-ज्ञान से आलोकित करना होगा। वैसा अवलोकन और आलोकन अपने प्राण, मन, इन्द्रियों के अवबोधन में अनुभव करने लगा हूँ।

अपने इस शरीर को यथास्थान प्रकृति के परिवर्तनों में घटित होते देख रहा हूँ। हेमन्त और शिशिर के तुषारों के प्रति इसे खुला छोड़ दिया था। कि

प्रकृति के साथ एकतान और समरस हो रहूँ। उसे अपनी विरोधिनी नहीं, सम्वादिनी पाऊँ। दिगम्बर हुआ हूँ इसीलिये, कि दिगम्बरी प्रकृति का आमूल-चूल उत्संग पा सकूँ। उससे पीठ फेर कर नहीं, उसे आलिंगन में लेकर, उसका हृदय जीत सकूँ। शीत हवाओं और हिमपातों से देह की त्वचा सूख कर, पपड़िया-सी गई थी। वसन्त के मलय वायु का स्पर्श पाकर, झाड़ों की सूखी छालें उतर कर झर पड़ी हैं। उनके तनों और डालों में भीतर का ताज़ा, कच्चा, नया शरीर उभर आया है। वैसे ही मेरे शरीर की नीरस हो गई त्वचा खिर गई है। स्निग्ध चन्दनी देह उघर आई है। मेरी शारीरिक स्थिति हवा, आकाश, जल हो गई है। वृक्ष, फूल, फल, पशु-पंखी की तरह ही वह भी प्रकृत और स्वाभाविक हो गई है।

निरन्तर परिव्राजन कर रहा हूँ। अचिरावती तट की यह सारी सुरम्य वनभूमि नवीन पल्लवों से आच्छादित वृक्षों, लताओं, गुल्मों से भर उठी है। उनकी मरकत आभा में अनुभव होता है, जैसे वनस्पतियों का हरियाला रुधिर मेरी शिराओं में वह आया है। नाना रंगी फूलों से लदे कुंजों में होकर गुज़रती हवा, सौरभ और पराग से भाराहुत-सी वहती है।

और देख रहा हूँ, कि मेरे नव कुसुमित शरीर में से भी एक विचित्र सुगन्ध प्रसारित होने लगी है। इसमें चन्दन भी है, चम्पा भी है, कचनार भी है। इसमें वन-चमेली और जल-जुही की भीनी तरलता भी है। इसमें कपूर, केशर, कस्तूरी की गहरी महक भी है।···

सो एक अद्‌भुत वस्तु-स्थिति घटित हुई। तमाम फूलवनों के भँवरे उड़-उड़ कर मेरे आसपास गुंजन करने लगे हैं। मेरी ओर से कोई विराधना और विरोध न पाकर, वे बड़े प्यार से मेरे सारे शरीर को छा लेते हैं। मेरे रोम कूपों से उफनती सुगन्ध में मूर्छित होकर, मेरी त्वचा के साथ जड़ित-से हो रहते हैं। सुगन्ध और मकरन्द के लिये आकुल उनके प्राण की वासना को तीव्रता से अनुभव करता हूँ। उनकी व्याकुलता के प्रति अपनी देह को शिथिल छोड़ देता हूँ। वे सुगन्ध-लोलुप प्राणी कस-कस कर मेरे शरीर में जहाँ-तहाँ दंश करते हैं। मेरे रक्त के सारे रस और सुवास को निःशेष पी जाना चाहते हैं। उनकी मधुर गन्ध-वासना का अन्त नहीं। उस वासना की अग्नि को जी भर सहता हूँ। देह में जहाँ-तहाँ रक्त वह आये हैं। प्राण के जाने कितने अवरुद्ध प्रवाह उसमें खुल पड़े हैं। इन मधुप मित्रों की इस प्राणहारी प्रीति को कैसे नकारूँ। सो उन्हें अपनी रोमालियों में मुक्त क्रीड़ा करने देता हूँ। अपने रोमांचन, पुलकन और परस से उन्हें दुलरा देता हूँ। जितना ही अधिक वे दंश देते हैं, मेरे रोमांचन से आलोड़ित होकर मेरा रक्त और भी उमड़ कर उनके प्रति रसदान करता है।

· · ·तब देखता क्या हूँ कि वे बहुत ही संतृप्त होकर, अपने अंजन-नील पंखों को स्पन्दित करते हुए, आत्म-विभोर हो मेरे आसपास गुंजन-गान करते हैं। फूल-वनों के परिमल-पराग ला-लाकर मेरे दंश-घायल शरीर पर अलेपन कर देते हैं। अपनी देह-गन्ध के साथ प्रकृति की सुगन्ध के सहज मिलन में गहरी आत्म-लीनता अनुभव करता हूँ। सारे व्रण शान्त हो कर, एक शीतल सुखोष्मा में देह तैरने लगती है। भूख-प्यास का पता ही नहीं चलता। मेरे रोम-कूपों से संस्पर्शित प्रकृति, अपने रस, रुधिर, सौरभ, पराग से मेरी जठराग्नि को अभिसिंचित करती रहती है। एक अक्षय्य तारुण्य की अनुभूति होती है। प्रकृति माँ है : वह परम प्रिया है।

मध्यान्ह के हल्के ऊने ताप में एकोन्मुख चला जा रहा हूँ। राह के मंजरित आम्रवनों की शीतल छाया मर्मर भाषा में आमंत्रण-सा देती है : '· · ·आओ यात्रिक, क्षण भर हमारी शीली छांव में विश्राम करो!' · · ·ठिठक कर, उस छाया की ओर मुस्करा देता हूँ। उसके निहोरे को टाल कर भी, अपने ढंग से स्वीकार लेता हूँ। उसके आँचल को बचा कर, खुले आकाश तले, मध्यान्ह के प्रखर ताप में, प्रलम्बमान बाँहों के साथ ध्यानस्थ हो जाता हूँ। वह मँजरियों से सुगंधित आम्र-छाया आकर लता-सी मुझसे लिपट जाती है। मेरे अंगों के प्रतप्त पलाशी स्पर्श में वह मानों बेसुध हो रहती है। · · ·ध्यान न तो विमुखता है, न उन्मुखता है : वह सन्मुखता है : सबके साथ आमने-सामने होना। उसके बिना दर्शन कैसे सम्भव है। तन, मन, प्राण, इन्द्रियों का निरोध नहीं करता मैं। उन्हें अपने आप में समाहित, निष्कम्प कर देता हूँ। ताकि वे सर्व का मोहमुक्त यथार्थ सौन्दर्य-दर्शन कर सकें। अखिल के साथ सच्चे अन्तिम सम्बन्ध में सम्वादी हो सकें। तब समाधि आपो आप हो जाती है। सारे अन्तर्विग्रह मिट जाते हैं। एक सघन और गहन आत्मलीनता में चेतना विश्रब्ध हो जाती है। एक अकारण और निष्काम सुख से प्राण उर्मिल होता रहता है।

· · ·जाने कब अपरान्ह की धूप नरम हो आई है। दूर-पास की अमराइयों में कोयल की कूक सुनाई पड़ती है। तरुण युवक-युवतियों के यूथ जहाँ-तहाँ वन-क्रीड़ा करते दिखाई पड़ते हैं।

कुछ मनचले छैला युवक हँसी-ठिठोली करते मेरे पास आ खड़े होते हैं। कहते हैं :

'ओ तरुण तापस, तुम यह कामदेव को लजानेवाला सौन्दर्य कहाँ पा गये? अरे तुम्हारे धूलि-धूसरित कान्तिमान शरीर से यह कैसी मोहक सुगन्ध आती है? अपने अंगों में यह किस दिव्य अंगराग का लेपन करते हो तुम? हमें भी इसे बनाने की विधि बताओ न। अपनी और अपनी प्रिया की देह को इस अंगराग से रंजित करके, हम उसके साथ अपूर्व केलि-सुख पा जायेंगे · · ·'

मेरी नासाग्र स्थिर दृष्टि में अपने ही ओठों की मुस्कान झलक जाती है। मन ही मन उन्हें उत्तर देता हूँ : 'युवा मित्रो, अपनी ही नाभि की कस्तूरी में विहार करो। आपोआप तुम्हारी और तुम्हारी प्रियाओं की देह दिव्य सुगन्धी से महकने लगेगी। खंडित काम से कब तक विकल रहोगे। अपने काम को अपने में समाहित कर, सकलकाम सुख के भोक्ता बनो...।

युवाजन एकाएक प्रबोधित-से दीखते हैं। अपने ही अंगों में वे अपनी कामिनी के स्पर्श का रोमांचन अनुभव करते हैं। कहीं दूर की अमराई में अकेले होकर, अपनी वेणु में अन्तर-प्रिया को पुकारते हैं।

तभी कोयल-कूजित अमराइयों में झूला झूलती कई सुन्दरी युवतियाँ मेरे पास घिर आती हैं। बालों में वे कार्णिकार और कुर्वक फूलों के गुच्छे खोंसे हैं। कानों में आम की मँजरियाँ उरसे हैं। उनके पीले और घेर-घुमेर वसन्ती चीरों में गुलाबी रंग की बूंदे छिटकी हैं। वे सहेलियाँ परस्पर गलबंहियाँ डाल कर, मेरी ओर चंचल मदभरी चितवन से कटाक्ष करती हैं, भ्रूभंग करती हैं। आपस में कानाफूसी करती हुई कहती हैं :

'देख तो सखी, कैसा कौतुक घट रहा है। मदन देवता संन्यासी हो कर किसी अनोखी कामिनी की खोज में निकल पड़े हैं। रति बेचारी मनमारे कहीं कुटज कुंजों की छाँव में छटपटाती होगी। इस अनंगराज के पास आने की उसकी हिम्मत नहीं। ऐसा सुन्दर और मनमोहन युवा तो हमने कभी देखा नहीं।... इसके रूप-यौवन की प्रभा को देख कर हमें अपने लौकिक पति-प्रियतम भूल गये हैं। विचित्र जादूगर जान पड़ता है यह तापस। अरी सुन री, लगता है इसके पास कोई महामोहिनी विद्या है।...इसके दिगम्बर लावण्य की विभा बड़ी हठीली और अनहोनी है। बरबस ही हमारे तन-मन के सारे आवरण उतारे ले रहा है।...'

तो उनमें से कोई एक युवती कुमारिका सहसा ही बोली :'मन करता है, इसका नाम-गाँव और पता पूछें। किस माँ का लाड़िला होगा यह? इसकी कोई प्रिया नहीं क्या? हाय, कैसा जी चाहता है, कि यह हमें अंग लगा ले।...कैसा सुख होगा री, इसके अंगों के रभस में!...'

फिर एकाएक कोई दूसरा व्याकुल स्वर सुनाई पड़ता है :

'ओरे नीलोत्पल से नयनों वाले योगी, चुपचाप खड़े हो, पर बड़े चकोर जान पड़ते हो। तुम तो हमारा चीर-हरण करते-से लगते हो। हमारे तन, मन, प्राण, इन्द्रियों को तुमने अपनी नासाग्र चितवन से कीलित कर दिया है। अपनी वीतराग मुस्कान में हमारी सारी चेतना को तुमने कैसे गहन सुरति-सुख से विभोर कर दिया है। तुमने तो हमारा सर्वस्व हर लिया। अपना आपा हार कर,

हम तो सर्वहारा हो गई हैं। तुम्हें छोड़कर अब हमारा जी संसार के काज-कर्म में कैसे लगेगा ? माता-पिता को क्या उत्तर देंगी ? हमारे कटाक्ष तो तुमने छीन लिये : अब अपने प्रियतमों को हम कैसे रिझायेंगी · · ·?'

निराविल आँखें उठाकर एक बार मैंने उनकी ओर देखा। मेरे ओठों पर प्रशम की एक समकित मुस्कान खिल आई। मेरी आँखों में उन्होंने पढ़ा :

'तुम्हारा ही तो हूँ। लो, मेरी आँखों को अपनी आँखों में आँज लो। फिर अपने प्रियतम में भी अपना ही रूप देखोगी। वही तो मैं हूँ। फिर बिछुड़न कहाँ रह जायेगी ! चिन्ता न करो। संसार के सारे काज-कर्म अब तुम पहले से अधिक अच्छी तरह सम्पन्न कर सकोगी · · ·।'

· · · और वे बालाएँ सहसा ही जैसे उन्मुक्त हो उठीं। बाहरी सुधबुध भूल कर, कर्णिकार, किंशुक और कचनारों के फूलों छाये वन-देश में उन्मन विभोर सी विचरती दिखाई पड़ीं।

◆ ◆ ◆

अपने जाने तो निरुद्देश्य ही यात्रा कर रहा हूँ। किसी लक्ष्य या कामना का प्रतिबंध क्यों कर स्वीकार सकता हूँ। अपनी निर्बन्धन और नैसर्गिक गतिमत्ता को उपलब्ध होना चाहता हूँ। लौट रहा हूँ या आगे बढ़ रहा हूँ, क्या अन्तर पड़ता है। अन्ततः यह संसार एक ही परिक्रमा के कई फेरों से आगे जाता तो नहीं दीख रहा। इस चक्रावर्तन के छोर पर पहुँचना चाहता हूँ। और उस बिन्दु से ही वह प्रस्थान सम्भव होगा, जिसकी यात्रा फिर प्रतिपल मौलिक और नित-नूतन ऊर्ध्व के अनन्तगामी प्रदेशों में होगी । सो चाहे जितना ही निरुद्देश्य हो मेरा भ्रमण, पर किसी परम उद्देश्य की उँगली का संकेत इसके पीछे ज़रूर है। हर फेरे के अनुभव से अन्तिम रूप से गुज़र जाना होगा : ताकि आगे की ओर बढ़ना निर्बाध हो सके। उससे पहले अनभव की यात्रा में, जिधर भी गति हो, उसमें कोई अभिप्राय होगा ही।

चीन्ह रहा हूँ, कि लौट कर फिर मोराक सन्निवेश के प्रदेश में आ निकला हूँ। दूरी में छोटी-छोटी पहाड़ियाँ फैली दिखाई पड़ती हैं। दिन चढ़ते-चढ़ते तेज़ लू भरी हवाएँ चलने लगती हैं। देह में वे आग की लपट-सी लगती हैं : सारा तन-बदन झुलसता चला जाता है। राह के तपे हुए धूल-कंकड़, नग्न पदत्राणहीन पगतलियों में गरम शलाखों से चुभते हैं। पहाड़ियों की ओर से आती धूलभरी हवा में, वृक्षों से झर-झर कर आती सूखी पत्तियाँ उड़ती दिखाई पड़ती हैं। वनानियों में विरल ही पत्ते रह गये हैं। टीलों भरे उजाड़ में, केवल झाड़ों के रुंड-मुंड कंकाल दूर तक फैले दीखते हैं। उदास गर्म हवा के झकोरों में उन्हीं की नंगी डालें हहराती रहती हैं। · · · हाँ, ग्रीष्म ऋतु आ लगी है।

भर दुपहरी में राह छोड़ कर, पहाड़ियों को पार करता चला गया। जंगल के जाली बेरों की नीची झाड़ियाँ नन्ही हरी पत्तियों से अभी भी भरी हैं। पगों और

रानों में उनके कांटे खुंप जाते हैं : उन लाल वेरियों सी ही खून की बूंदें पिण्डलियों में उफन आती हैं। झाड़ियों की डालियों में वेरियाँ फली हैं : तो मेरा शरीर भी उनके कंटक-वेध से फलीभूत हो उठा है ।

सामने एक जलता पहाड़ आ खड़ा हुआ । उसकी काली ललौंही चट्टानों में एक प्रचण्ड पौरुषशाली छाती का आकर्षण है। सो पहाड़ की तपती चट्टानों के ढलानों में चढ़ चला। · · ·आगे जाकर चढ़ाई एक दम खड़ी हो गई है। चढ़ने के लिये पैर को मुश्किल से ही कोई अवलम्व मिलता है। चढ़ना ही है, तो क्या सहारों और सीढ़ियों की राह देखूंगा ? मेरे पैरों और मेरे हाथों को स्वयम् अपने ही अवलंव वन जाना होगा। चट्टानों की कृपा है, कि वे खुर्दरी हैं : उसी खुंपीले, जलते खुर्दरेपन पर हाथ-पैर चाँपता हुआ, केवल एकाग्र सन्मुख दृष्टि से ऊपर की ओर चढ़ता चला गया ।

शिर पर पहुँच कर देखा, एक अकेला वृक्ष अभी भी कुछ हरियाला और छायादार था। वृक्ष वन्धु ने हरी डालों की वाँहें उठाकर मुझे वुलाया । मैंने मन ही मन कहा : 'मित्र ठहरो, इस पहाड़ की तपन को कुछ पीलूं, तो फिर तुम्हारी छाँव में आकर विश्राम करूँगा। सो एक और सबसे ऊँचे शृंग पर चढ़ गया, जहाँ केवल दो पैर टिकाने लायक़ जगह थी। निरालंवता का अनुभव वहाँ पराकाष्ठा पर हुआ। सो वहीं स्थिर होकर, असीम आकाश की निरालयता और निरवलंवता में अपने को छोड़ दिया · · ·। खतरे की एक नीली लपटभरी खट्टी गंध क्षण भर खून में दौड़ गयी । सहसा ही एक तेज़ चक्कर-सा आया : उस पार की खन्दक में अपने शरीर को लुढ़कते देखा · · ·। और तभी पाया कि स्वयम् उस पहाड़ की अन्तिम चूड़ा होकर, उसके मस्तक पर निस्तव्ध जड़ित हो गया हूँ। लू की लपटें, सिन्दूरी लताओं-सी वहुत प्यार से मेरे अंग-अंग के साथ रमण कर रही हैं। मेरी चेतना में विद्ध सारी वासनाएँ मानों खुल कर वाहर आ गईं। अपनी झुलसन से अव वे मुझे वाँधने और दाहने के वजाय, मुक्त करने लगीं। एक नील-लोहित अन्तरिक्ष में मेरी समस्त चेतना निस्तव्ध, निश्चल हो गई । देखते-देखते कपड़े उतरने की तरह, देहभान गायव हो गया । अन्तर में शांति का एक शीतल झरना-सा वहने लगा।

· · ·तीसरे पहर सहसा ही जव आँखें खुलीं, तो देह का अणु-अणु पसीने के उवलते लावा में नहाया हुआ था । सन्मुख आवाहन करते वृक्ष-मित्र की छाँव में जाकर, एक शिलातल पर वैठ गया । वृक्ष वान्धव ने अपनी विरल पल्लवी डालों का पंखा डुलाकर मुझे सहलाना चाहा · · ·। 'अरे नहीं वन्धु, इस तरल अग्नि के प्रवाह का निरोध नहीं करूँगा । इसे चुका कर, इसकी अवधि पर पहुँचा देना होगा । ताकि यह अपनी मर्यादा जाने : और मैं अपनी अमर्यादा में निर्वाध विचर सकूँ।

· · ·पहाड़ से उतरने लगा, तो उसके ईशान कोण की अनजान वीहड़ता में जहाँ-तहाँ पद-पद पर रुंड-मुंड भीमाकार काली शिलाओं से राह अवरुद्ध दीखती
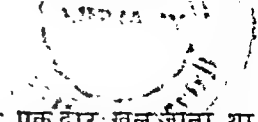
थी। जैसे-जैसे नीचे को आता था, हर चट्टान के मोड़ पर, एक द्वार खुल जाता था। ···इस तरह अवरोधों और खुलावों के कई तोरणों को पार करता मैदान में आ गया। उधर परे को लाल माटी की एक सड़क जाती दीखी। उसी पर चल पड़ा पश्चिम की ओर, जिधर सूर्य निर्गमन की यात्रा पर था। थोड़ी दूर चलने पर, ऊँची जवासे की वाड़ से घिरा कोई आश्रम दिखाई पड़ा। झुलसन और धूल-पसीने से मलिन शरीर को अविराम आगे वढ़ते देख किसी ने टोका :

'ओहो,···राजर्षि वर्द्धमान कुमार! मैं ज्वलन शर्मा, तुम्हारे पिता सिद्धार्थ-राज का पुराना मित्र हूँ। दुइज्जंत तापसों के अपने इस आश्रम में मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कुमारयोगी प्रीत हों, और हमारे आँगन को पावन करें। चाहें तो आगामी वर्षावास यहीं व्यतीत करें। मैं यहाँ का अधिष्ठाता हूँ। अपने तापसों सहित तुम्हारी सेवा कर, हम कृतार्थ होंगे!'

मैं कुछ नहीं वोला। जहाँ ठिठका था, वहीं से ज्वलन शर्मा का अनुगामी हुआ। अव साँझ होने को है। तो रात्रिवास यहाँ कर ही सकता हूँ। तापस गुरु ने एक कुटीर की ओर इशारा कर, उसके आँगन की वट-छाया में मुझे चवूतरे पर वैठा दिया। हरे दोनों में कुछ फल, और जल की एक शीतल माटी की घड़िया सामने ला धरी। मैंने पुरातन अभ्यासवश, हाथ जोड़ कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। वे मेरे मौन से संकेत पा कर चले गये। शीतल जल के घड़े और फलों को नमस्कार कर, मैं यथास्थान पर्यंकासन में ध्यान-मग्न हो गया। सूखते ओठों और रुद्ध कण्ठ में तीव्र प्यास का दाह अनुभव हुआ। उदर में भूख की ज्वाला भी प्रखर हो कर लहकी। भूख और प्यास के इस त्रास को सहने योग्य अनुभव किया। 'नहीं आज नहीं··· फिर कभी मेरी वान्धवी क्षुधा-तृषा, तुम्हारे मन का कर दूँगा···।' सारी रात गहरे ध्यान में ऐसा अनुभव होता रहा, जैसे कई ज्वालागिरियों को पार करता, एक वसन्त के हरियाले फूलों भरे मैदान में निकल आया हूँ। और एक शीतल अशोक वृक्ष तले विछी, किसी अनाम मार्दवी शैया में निद्रालीन हो गया हूँ।

सवेरा होने पर ज्वलन शर्मा और उनके अन्य तापस शिष्य आ जुटे। मुस्करा कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया। दायाँ हाथ उठा कर उनको निर्वाक् ही आश्वस्त कर दिया, कि हो सका तो ग्रीष्म के अन्त में यहीं लौटकर वर्षावास करूँगा। और अपने पिच्छी-कमंडलु उठा कर प्रयाण कर गया।

शेष ग्रीष्मकाल आसपास के मडंव, कर्वट, खेड़ा, ग्राम और परिसरवर्ती वन-प्रदेशों में विचरण करता रहा। कभी छह टंक, कभी आठ टंक, और कभी पूरा पखवाड़ा उपवासी रहना होता है। अपने ही निकट, अपने ही भीतर प्रायः उप-विष्ट रहने से, भूख-प्यास का दिनों तक अनुभव नहीं होता। कभी-कभी जव उनकी वाधा असह्य रूप से प्रकट हो जाती है, तो उन्हें पुचकार कर सुला देता हूँ, और अपने भीतर ही किसी नव्यतर शीतलता और तृप्ति का कुंज खोज

निकालता हूँ। वहाँ निराकुल भाव से अवस्थित हो जाने पर, शांत चित्त से किसी ग्रामवस्ती में गोचरी पर निकल पड़ता हूँ। किसी भी द्वार पर अचानक अतिथि श्रमण के लिये द्वारापेक्षण करते गृहस्थ का आवाहन सुनाई पड़ जाता है :

'भो स्वामिन् तिष्ठ : तिष्ठः· · ·'

· · ·पाणि-पात्र की अंजुलि में रुखा-सूखा, सरस-मधुर, स्वादु-अस्वादु जो भी आहार दिया जाता है, उसे भिक्षु समभाव से ग्रहण कर लेता है। उसके पैर उसी आवाहन पर रुकते हैं, जहाँ का भोजन प्रासुक हो, पवित्र हो, भक्ष्य हो। फिर नाम, कुल, गोत्र, जाति से निरपेक्ष, किसी भी श्रमिक, श्रावक, धनी-निर्धन, राजा-रंक के द्वार पर वह निर्विकल्प चित्त से भिक्षा ग्रहण कर लेता है। अपने ही लिये विशेष रूप से पाक किया भोजन वह नहीं लेता। नित्य जिस घर शुद्ध तन-मन, शुद्ध हृदय, शुद्ध संस्कारपूर्वक आहार बनता है, उसे वह सहज ही पहचान कर, उस द्वार का आतिथ्य स्वीकार लेता है।

· · ·स्वभाव ही हो गया है कि मेरे आसन, चर्या, शयन से किसी सूक्ष्म जीव की भी स्वतंत्र चर्या में वाधा न पहुँचे, उनका घात न हो। जीवाणु मात्र मेरे वर्तन से अघात्य रहें, तभी तो मेरा अस्तित्व भी पूर्ण अघात्य हो सकता है। सो अपनी पुरुषाकार दूरी तक की भूमि के सारे दृश्य जीवों की रक्षा करता हुआ चलता हूँ। जब तपस्या की महावासना से उन्मेषित होकर पर्वतों पर चढ़ता हूँ, तो शरीर स्वभावतः ही फूल-सा हलका और मृदु हो जाता है। जीव की विराधना तब शरीरतः ही मेरे लिये सम्भव नहीं रहती। जिस आसन पर ध्यानारूढ़ होना हो, या जिस शिलापट्ट पर लेटना हो, अपनी मयूर-पिच्छिका से उसका शोधन कर लेता हूँ। क्षण-क्षण अप्रमत्त भाव से, सर्व के प्रति जागृत और सावधान जीता हूँ। जड़ चेतन सभी पदार्थों का स्पर्श आत्मा के पूर्ण मार्दव से ही कर पाता हूँ। जी में यही लौ-लगन लगी रहती है, कि मेरी हर क्रिया या चर्या प्यार हो। प्यार, जो हर किसी विशेष के प्रति न होकर, अपने आप में एक स्वयम्भु धारा है, मेरी चेतना की। कि फिर जो भी उसमें आये, वह समाधान पाये, शरण पाये, मेरे साथ सम्वादी हो जाये। इसी से मेरी सारी जीवन-चर्या ही, एक स्वाभाविक ध्यान की अवस्था में चलती है।

ज्येष्ठ मास की इस प्रखर लू भरी दोपहरी में, चलते-चलते कहीं किसी सरोवर के तीर, कोई शीतल छाया वाला जम्बूवन दीख जाता है। ओंठ और कण्ठ की प्यास उत्कंठित हो उठती है। लू और गरम धूल से झुलसा शरीर शीतलत छाया के लिये तरस जाता है। चलते-चलते रुक कर चारों ओर के दिशान्तों तक का अवलोकन करता हूँ। आसपास की दरकी हुई धरती को देखता हूँ। पानी पीने के लिये उड़ते व्याकुल पंछियों की हारों पर निगाह डालता हूँ। घास और जल की खोज में त्रस्त भटकते पशु-चौपाये

दिखाई पड़ते हैं । चारों ओर का चराचर परिताप से संतप्त है । सर्वत्र ही तो प्यास दहक रही है । क्या वह सरोवर का जल, वह जम्बूवन की छाया, इस परिताप को शांत कर देती है ?···तो फिर क्यों दिखाई पड़ रहा है चहुँ ओर, तृषा का यह सूखा, प्यासा, अन्तहीन रेगिस्तान···? जिस चट्टान से झरना फूटता है, उसके ओंठ भी प्यासे हैं । जिस तट में नदी बहती है, वह भी विरहाकुल है···।

दूर उस वनाली के अन्तराल में नदी की एक नीली-सफ़ेद रेखा दिखाई पड़ रही है । उस सजल नीलिमा में क्या है, कि मेरे तपे शरीर को, ठीक इस प्रचण्ड सूर्यातप तले अभी और यहाँ वह उपलब्ध हो गई है ?···एक शीतल नदी मेरी शिराओं में सरसराती चली आई । सारे सरोवर, सारे छायावन, मेरी अस्थियों के घाटों में लहराने लगे।···

···एक साँझ गाँव बाहर के किसी शून्य देवालय के चबूतरे पर आ ठहरा । एकाएक बादल छा गये । वे गहराते चले गये । दूर से धूल भरी ठंडी आँधी आती दिखाई पड़ी । सारी बस्तियाँ, मन्दिरों के ऊँचे शिखर, पर्वत, वन, उस वात्याचक्र में खो गये । काल-वैशाली का प्रभंजन है यह । पुर्वैया बह चली है । वर्षा के आगमन की सूचना मिली है ।

सो वर्षावास के लिये दुइज्जन्त तापसों के आश्रम की ओर, मोराक सन्निवेश की राह पर चल पड़ा । पहुँचने पर कुलपति ज्वलन शर्मा ने बहुत स्नेहभाव से स्वागत किया । नैऋत्य कोण में लाल माटी से लिपी-छवी, एक सुन्दर घास की कुटिया में उन्होंने मुझे आवास प्रदान किया । आश्रम का अन्तरायन यहाँ से दीखता है । वहाँ भी तापसों के लिये ऐसे ही कई घास-फूस के कुटीर जहाँ-तहाँ बने हैं । बीच के चौगान में सुरम्य वृक्षावलियों के बीच लाल माटी का स्वच्छ-सुन्दर आँगन है । उसके ठीक मध्य में यज्ञ वेदिका है । वहाँ नित्य प्रातःकाल निर्दोष श्रौत यज्ञ होता है । वातावरण यज्ञाहुत द्रव्यों और वन-औषधियों की सुगन्ध से व्याप्त है ।

मेरी मौन मुद्रा को देख कर तापस-गुरु असमंजस में दीखे । मैं ईषत् मुस्कुरा आया । हाथ उठाकर उन्हें आश्वस्त कर दिया । वे समाधान पाकर चले गये ।

···तापस-वटुक आकर साँझ-सकारे कुटिया और आँगन बुहार जाते हैं । मेरा कमण्डलु शुद्ध जल से भर जाते हैं । भोजन के समय यज्ञ का मधुपर्क, और फल-मूल के दोने ले आते हैं । दोनों हाथों से उनका वन्दन कर उन्हें लौटा देता हूँ । वे मेरी स्थिर आँखों में झाँक कर, मेरा भावाशय समझ लेते हैं । यह सावधानी बरतते हैं कि मेरी ध्यान-चर्या में कोई बाधा न पहुँचे । कुटिया में तो मैंने कभी प्रवेश किया नहीं । जिस दिन

से नन्द्यावर्त की छत और चहारदीवारी छोड़ी है, किसी घर-द्वार का साया नहीं स्वीकारा है । जब दिशाएँ ही मेरा वसन बन गई हैं, तो बीच मे दीवारें और छतें कहाँ रह पाती हैं ! मन्दरचारी मन्दिर के साये में कैसे समाये ? आकाश के इस विराट नीलम-महल से अधिक रक्षा अन्यत्र कहाँ सम्भव है ।

सो कुटिया के खुले आँगन में एक ओर पड़ा शिला-तल्प ही मेरा एक मात्र आसन और शयन बन गया है । प्रायः उसी पर प्रतिमायोग में आसीन हो, चाहे जब ध्यानलीन हो जाता हूँ । कभी खुली आँखों सकल चराचर को सम्पूर्ण संचेतना से अपलक निहारता रहता हूँ। घंटों पलक अनिमेष खुले रह जाते हैं । प्रकृति के एक-एक आकार, स्पन्दन, परिणमन से तद्रूप तदाकार हो रहता हूँ···। और वहिर्मुख दर्शन की यह तल्लीनता ही, जाने कब आत्मलीनता हो जाती है । आपोआप ही पलक मुंद जाते हैं । और भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र में अवस्थित होकर, अपने नासाग्र पर समस्त लोक की लीला का तद्‌गत साक्षात्कार करता रहता हूँ । कभी हिलोर आती है, तो बाहर के परिसर में विहार करता, किसी वनखण्ड के एकान्त में जाकर ध्यानस्थ हो जाता हूँ ।

संध्या में कभी-कभी आषाढ़ के बादल घिर कर मन्द-मन्द गर्जन होता है। ईशान कोण में बिजली लहक जाती है। कभी हलकी बूंदा-बाँदी भी हो जाती है। पर अभी भी खुल कर वर्षा नहीं हुई है। बस्ती के लोग जंगलों की सारी घास काट ले जाते हैं। नई घास अभी उगी नहीं है। सो जंगली गायें, नील गायें, हरिण आदि क्षुधार्त होकर वन में तृण-चारे के लिए भटकते हैं। आश्रम के कुटीरों की विपुल घास देखकर वे इधर लपक आते हैं। तापस ब्रह्मचारी अपनी दिन-चर्या में व्यस्त रहते हैं। तभी उनकी असावधानी में भीतर घुस आकर ये वन्य चौपाये, उनकी कुटियों की घांस खाने लगते हैं। पता लगने पर तापस दौड़े आते हैं, और उन पर डंडों का प्रहार कर उन्हें भगा देते हैं।···विचित्र है मेरी यह काया, कि उन निर्दोष क्षुधार्त प्राणियों पर जब मार पड़ती है, तो मेरे अंग उससे कसक उठते हैं। नया तो कुछ नहीं है, बचपन से ही मेरा शरीर ऐसा ही सम्वेदनशील रहा है।

तापसों की मार के भय से भाग कर, ये वनैले जीवधारी अब मेरी कुटिया की ओर आने लगे हैं। यहाँ कोई बाधा या वर्जना न पा कर, सुख-पूर्वक मेरी कुटिया को चरते रहते हैं। और यहाँ से आश्रम प्रांगण को निर्जन देख कर, अन्य कुटियों की घांस चरने को भी चले जाते हैं।

तापसों को मेरी यह तटस्थता देखकर बहुत क्रोध आया। वे आपस में बतियाने लगे कि कैसा विचित्र है यह राजपुत्र श्रमण, जो अपने आवास की रक्षा तक नहीं करता। पशु बड़ी मौज से इसकी कुटिया खाते रहते हैं,

पर यह न तो उनका ताड़न करता है, न उन्हें बरजता है। उलटे चाहे जब ये पशु-मृग उसके आसपास निर्भय सभा जुड़ाये खड़े रहते हैं। कुटिया की घास भकुस ला कर, उसी के सामने डाल, निरापद भाव से उसे चरते और जुगाली करते रहते हैं। और तो और इस सुन्दर सुकुमार तपस्वी को अपने तन की तक पर्वाह नहीं। शिलासन पर स्वयम् भी शिलीभूत हो कर जड़वत् निश्चल बैठा रहता है। और ये पशु बेखटक इससे शरीर से अपने तन का रभस कर, अपनी खुजाल मिटाते रहते हैं। तो कभी इसके अंगों को जिह्वा से चाटते दीखते हैं। पर यह तो ऐसा जड़ भरत है, कि कोई भेड़िया आकर, इनके अंगों का भक्षण कर जाये, तब भी इसे कोई भान न आये।

···तापसों के इन मनोभावों और कथनों को इस सामने के आकाश की तरह पढ़ता-सुनता रहता हूँ। सच ही तो कहते हैं ये। पर क्या उपाय है। राजैश्वर्य छोड़ कर इसीलिए तो निकल पड़ा हूँ, कि एक कण पर भी अपना कोई अधिकार नहीं रक्खूँगा। स्वयम् स्वतन्त्र विचरूँगा और कण-कण को अपने से स्वतन्त्र, उसके निज भाव में मुक्त परिणमन करने दूँगा। तब मेरे लिए क्या आश्रम, क्या कुटीर, क्या वन, क्या पहाड़, क्या वस्ती, क्या स्मशान, सभी एक समान हैं। जब स्वयम् पूर्ण स्वतन्त्र हो जाऊँगा, तो सारे चराचर प्राणी, अपनी स्वतन्त्रता में अक्षुण्ण रह कर मेरे धर्म-साम्राज्य का शासन सहज ही स्वीकार लेंगे। उससे पूर्व किसी वर्जन या ताड़न से कोई शासन चलाना, मेरे स्वभाव में संभव नहीं।

मेरे पास आने का साहस तो वे तापस न कर सके। पर अपने कुलपति से उन्होंने मेरी उदासीन चर्या की शिकायत की : 'हे कुलपति, आपको यह तरुण राजर्षि आत्मा के समान प्रिय है, हम जानते हैं। सो हम भी इसकी यथेष्ट सेवा और सम्मान करते हैं। पर विचित्र है आपका यह अतिथि, जो वन्य-चौपायों को निर्बाध अपनी झोंपड़ी चरने देता है। तब वे ढीठ पशु हमारी सारी ताड़ना के बावजूद, निर्भय होकर, हमारे कुटीरों को खाने आ जाते हैं। न तो यह देवानुप्रिय अपनी रक्षा करता है, न औरों की रक्षा का ध्यान रखता है। कैसा उदासी, अकृतज्ञ, दाक्षिण्यहीन, और प्रमादी है यह श्रमण। और कहो कि मौनी और समभावी मुनि है, तो वह तो हम भी हैं, फिर हमें ही क्या पड़ी है, जो इसकी सेवा और रक्षा करें···।'

कुलपति धर्म-संकट में पड़ गये। उन्हें पहले तो प्रतीति न हुई। तब स्वयम् आकर उन्होंने देखा। सच ही जो कुटीर मुझे दिया गया था, वह उजड़ गया था। शाखा-पत्रहीन जैसे कोई ठूँठ हो।. पाँखों आये पंछी की तरह वह आच्छादनहीन और उड़ने को उद्यत दीखा। कुलपति चिन्तामग्न हो गये। सोच में पड़े चुप खड़े रहे। फिर बहुत ही मृदु वचनों में मुझे सम्बोधन किया :

'आयुष्यमान, तुम तो जन्मजात प्रजापति हो। क्षत्रिय-पुत्र हो। अपनी और सर्वकी रक्षा ही तुम्हारा जीवन-व्रत है। यह कैसे सम्भव है कि यहाँ तुम्हारे रहते, तुम्हारे इन तापस वन्धुओं को कष्ट हो। उनकी साधना में विघ्न आये। जब तक जीवन है, शरीर है, और इस धरती के साधनों पर हम जीवन धारण करते हैं, तब तक वर्जन-ताड़न द्वारा प्रकृति और पशुओं के विघ्न से बचाव तो करना ही होगा। सुखपूर्वक यहाँ वर्षावास करो। पर अपने को और सबको निर्बाध रक्खोगे, ऐसी आशा है···।'

स्वभाव के अनुसार, कुलपति की ओर एकटक निहार कर, मैंने मुस्कुरा भर दिया। और चुप रहा। कुलपति मानो आश्वस्त होकर चले गये।

···मैंने मन ही मन सोचा, मुझे तो कहीं कोई बाधा दीखती नहीं। सर्वत्र अपने को सुखी और निर्बाध ही अनुभव करता हूँ। पर यदि मेरी स्वाभाविक चर्या के कारण इन आश्रमवासियों का जीवन बाधित हो गया है, तो मेरा यहाँ से विहार कर जाना ही उचित है।

* जहाँ रहने से किसी को अप्रीति हो, उस स्थान पर भविष्य में कभी नहीं विहरूँगा।
* जब तक अरिहन्त न हो जाऊँ, अपने मौन को अटूट रक्खूँगा। चुप रहूँगा।
* नित्य कायोत्सर्ग की अवस्था में रहूँगा।
* निर्ग्रंथ स्वाधीन दिगम्बर हूँ, अपना स्वामी आप हूँ, सो अब किसी के वैयक्तिक स्वामित्व के स्थान में, पराधीन आश्रय ग्रहण नहीं करूँगा।
* अब से किसी के भी प्रति बाह्य विनय का उपचार न करूँगा। स्वयम् ही विनयमूर्ति हो रहूँगा···।

···और अगले दिन प्रातःकाल उषा वेला में ही मैं अपने अलक्ष्य यात्रा-पथ पर विहार कर गया।

□

भय-भैरव के राज्य में

कभी-कभी एक विचित्र अवबोधन होता है। देखता हूँ कि कोई वर्द्धमान है, और वह अपनी जगह पर है। फिर एक महावीर है, और वह अपनी धुरी पर गतिमान है। तब यह जो तीसरा मैं हूँ, यह कौन है? जो इन दोनों को अलग से देखता है। शायद इन दोनों के बाद जो बच रहता है, वही तो मैं हूँ। मेरा कोई नाम नहीं, धाम नहीं, मान नहीं, अनुमान नहीं, ज्ञान नहीं, अज्ञान नहीं। अनाम, अकोई, जिसकी कोई संज्ञा नहीं, परिभाषा नहीं। एक शून्य जो बस देखता है : अपने को और सर्व को। एक संचेतना, स्व की पर की : फिर भी इन दोनों से अतीत। अभेद। मात्र एक अनुभूति। और ऐसा मैं देख रहा हूँ :

—कि वर्द्धमान चलते-चलते जाने किस अपने ही भीतर की झाड़ी में उलझ गया है। असंप्रज्ञात जाने किस पूर्व जन्म की ग्रंथी में अटक कर, अटपटा-सा हो गया है···।

...पर उससे आगे बेखटक चला जा रहा है महावीर। जैसे मंदराचल चल रहा है। शीत लेश्या वाला चंद्रमंडल पृथ्वी पर अनायास विहार कर रहा है। तप और तेज के इस महासूर्य को देखते आँखों के पलक ढलक जाते हैं। मेरु के समान यह निश्चल है, फिर भी जल की तरह प्रवहमान है। पृथ्वी के समान सारे स्पर्शों को सहने वाला है। गजेन्द्र की तरह धीरगामी है : सिंह की तरह अकुतोभय है। घृत-हव्यादि से होमे हुए अग्नि के समान, मिथ्या-दृष्टियों के लिए अदृश्य है। गेंडे के एक शृंग के समान एकाकी है। प्रचंड सांढ़ के समान महाबलशाली है। कूर्म की तरह अपनी इन्द्रियों को गोपन रखने वाला है। सर्प के समान एकाग्र दृष्टि रखकर विचरता है। शंख की तरह यह निरंजन है। सुवर्ण की तरह यह जातरूप सुन्दर, और निर्लेप है। पक्षी की तरह यह मुक्त है। जीव के समान यह अस्खलित गतिवाला है।

···ऐसा अप्रमत्त है यह, जैसे भारंड पक्षी हो कोई। आकाश सरीखा यह निराश्रय है। मृग की तरह सेवक रहित, फिर भी अदीन और अकिंचन है। पिता के समान जीवों की रक्षा में निरन्तर तत्पर है। कमलदल की तरह अस्पृष्ट है, फिर भी अपने मार्दव से सब को मृदु कर देता है। शत्रु और

मित्र, तृण और त्रिया, सुवर्ण और पाषाण, मणि और मृत्तिका, लोक और परलोक, सुख और दुःख सब को यह एक-सा उपलब्ध है। संसार और निर्वाण दोनों ही में यह समान हृदय से निर्ग्रंथ विचरता है। ऐसा निष्कारण करुणालु है इसका मन, कि भवसागर में डूब रहे मूढ़ जगत को यह तट हो रहना चाहता है। सागर-मेखला से वलयित, विविध ग्राम, पुर, पत्तन, पर्वत अरण्यों से मंडित इस पृथ्वी पर यह पवन के समान अप्रतिबंध भाव से विचर रहा है···।

···अरे, यह क्या हुआ? नहीं है कहीं कोई अलग वर्द्धमान। नहीं है कहीं कोई अन्य महावीर। बस केवल एक, एकाकी मैं हूँ, जो अपने ही को यों निर्गमन करते देख रहा हूँ।

जिस दिशा में चल रहा हूँ, उधर से भय के भैरव का निमंत्रण सुनाई पड़ रहा है। लोमहर्षण हो रहा है, और अपने बावजूद, उस भयावहता की ओर खिचा चला जा रहा हूँ। जाने कौन, जाने किस जन्म में भय से संत्रस्त हुआ होगा। और वही चिर भयार्त आत्मा, अब स्वयम् मूर्तिमान भय होकर प्रकट हुई है।···सारे लोक को वह आतंकित किये हैं।···फिर भी अपने आप में अपने ही भय से संत्रस्त हो कर, वह आत्मा कहीं त्राण के लिए आक्रन्द कर रही है। उसे अपनी ही आत्मभीति से कौन मुक्त करें? बड़ी विषम है उसकी वेदना-ग्रंथि। उसका उन्मोचन कौन करे?

अबेर पूर्वाह्न में एक गाँव के प्रांगण में आ पहुँचा। देखा कि वहाँ अस्थियों का एक स्तूपाकार ढेर लगा है। उसके आस-पास भी दूर-दूर तक अस्थियों से छाया एक पूरा मैदान फैला पड़ा है। मेरे सारे शरीर में त्रास की एक कँप-कँपी-सी दौड़ गई। मृत्यु, भय और विनाश को मैंने जैसे सामने खड़े देखा।···और देखते-देखते एक प्रबल आँधी-सी उठी। और उसमें वह हड्डियों का स्तूप और प्रान्तर उड़ कर दूर-दूर जाता दिखाई पड़ा।··· अनन्तर देखा, कि वह प्रांगण अब एक निर्जन उजाड़ प्रदेश मात्र रह गया है। उसमें एक दूरस्थ टीले पर कोई मंदिर दिखाई पड़ा। उसका एकान्त और नैर्जन्य मुझे अपने आवास के योग्य लगा।

···मैं बेहिचक उस ओर बढ़ चला। तभी ग्रामजनों का एक टोला मेरे आसपास घिर आया। मैंने ऊँगली के संकेत से उन लोगों को विज्ञापित किया कि मैं इस मंदिर में वास करना चाहता हूँ। मुझे कोई मौनी मुनि समझ कर उन्होंने मेरे आशय को भाँप लिया। तब उनके बीच से उत्पल नामक एक दैवज्ञ आगे आया, जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के धर्म-संघ का अनुसारी था। मेरी चर्या और चिन्हों से मुझे पहचान कर, वह मेरे प्रति प्रणत हुआ और ग्रामजनों की ओर से उसने निवेदन किया :

'भन्ते, हम आपको इस मन्दिर में नहीं ठहरने देंगे। यह शूलपाणि यक्ष का मन्दिर है। कोई भी मनुष्य यहाँ रात्रिवास करे, तो वह सवेरे जीवित नहीं निकलता है। यक्ष का कोपभाजन हो कर वह मौत के घाट उतार दिया जाता है।···भन्ते, हम आपके आवास के लिए अन्यत्र सुन्दर व्यवस्था कर देंगे।'

ओ···! तव तो यही मन्दिर मेरा एकमात्र आवास यहाँ हो सकता है। इसी के निमंत्रण पर तो यहाँ आया हूँ।···और मैं अभय मुद्रा में दोनों हाथ उठा कर, अविचलित पगों से फिर उस टीले की ओर बढ़ चला। ग्रामजन दौड़े आये और चारों ओर से मुझे घेर कर उन्होंने मेरी राह रोक ली। उत्पल दैवज्ञ ने मेरे पैर पकड़ लिये और कातर कंठ से प्रार्थना करने लगा:

'नहीं भगवन्, यह हम नहीं होने देंगे। वैशाली के देवर्षि राजपुत्र श्रमण वर्द्धमान को पहचान रहा हूँ। उनकी हमें जरूरत है। हमारी कष्ट-कथा सुनें और हमारा त्राण करें···।'

मैंने आश्वासन की हथेली उठा दी। अनुमति पाकर उत्पल ने कहा:

'भन्ते श्रमण वर्द्धमान, इस ग्राम का नाम भी पूर्व 'वर्द्धमान' था। अव यह अस्थिक ग्राम कहलाता है। इसकी एक वहुत कारुणिक कथा है। सुनने का कष्ट करें भगवन्···

'इस गाँव के परले पार एक वेगवती नामा विकट नदी वहती है। पानी तो उसमें वहुत गहरा नहीं, पर कीचड़-कर्दम के कारण वह ऐसी दुर्गम और जटिल है, कि उसे पार करने का साहस जो भी करता है, वह उसके दलदल में सदा को सो जाता है। एक वार कौशाम्वी का एक धन नामा श्रेष्ठि अपने पाँच सौ शकटों के एक सार्थ में विपुल वस्तु-सम्पदा लाद कर हमारे ग्राम को आ रहा था। नदी को उथली देख कर, उसके सार्थ के शकट पार जाने को उसमें चल पड़े। पर मझधार में आ कर उसकी सारी गाड़ियाँ गहरे कादव में फँस गईं। सारथियों ने चावुक मार-मार कर वैलों को चलाना चाहा। उनकी त्वचा उघड़ आई, और वे डकार कर आक्रन्द करने लगे। पर आगे न वढ़ सके। तव श्रेष्ठि को अपने अति वलिष्ठ और प्रिय एक वृषभ का ख्याल आया। सो सव से आगे के शकट में उसको जोत कर, उसके साथ अन्य गाड़ियों को वाँध दिया और वड़ी कठिनाई से वे नदी पार उतर आये।

'पार तो उतर आये, प्रभु, लेकिन श्रेष्ठि के प्यारे उस वलवान वैल की वड़ी दुर्गति हो गई। उसके शरीर के साँधे टूट गये, हड्डियाँ दरक गईं और चमड़े उघड़ आये। श्रेष्ठि वहुत दुखित हो विलाप करने लगा। दूर-

पास के अनेक पशु-चिकित्सक उसने बुलवाये। रात-दिन खड़े पग रह कर उसकी सेवा-सुश्रुषा करने लगा। पर बैल की हालत में सुधार का कोई चिह्न न दीखा। सार्थवाह श्रेष्ठि आखिर हार कर आगे बढ़ने को लाचार हो गया। उसने गाँव के मुखियाओं को अपना प्यारा मित्र वृषभ धरोहर के रूप में सहेज दिया। उसके पोषण और चिकित्सा के लिए उन्हें विपुल द्रव्य दे दिया। और एक दिन अपने धराशायी पशु-बान्धव की आँखों के आँसू पोंछता, स्वयम् आँसू टपकाता, अपना सार्थ लेकर, वह आगे कूच कर गया। कह गया कि वृषभ के स्वस्थ होने पर, फिर उसे लिवा ले जाऊँगा।...

'अब आप से क्या छुपा है, भन्ते, मनुष्य मनुष्य का ही सगा नहीं होता, तो पशु का क्यों कर होगा। सो हमारे गाँव के उस समय के मुखिया, बैल की सेवा-चिकित्सा के लिए दिया सार्थवाह श्रेष्ठि का धन हड़प कर निश्चिन्त हो गये। पीड़ित वृषभ तो उन्हें स्वप्न में भी याद न रहा। बेचारे उस मूक तिर्यंच पशु की बहुत दुर्गति हुई। न किसी ने उसे चारा-पानी देने की चिन्ता की, न उसका औषध-उपचार किया। कुछ ही समय में वह भूख-प्यास से पीड़ित बैल अधमरा हो कर, अस्थि-चर्म का ढाँचा मात्र रह गया। वह पशु संज्ञी मन वाला पंचेन्द्रिय प्राणी था। अतिशय दुख के कारण उसे अपनी दयनीय स्थिति का तीव्र बोध हुआ। मनुष्यों की निर्दयता और प्रवंचकता के प्रति उसका हृदय उत्कट ग्लानि और क्रोध से भर उठा। एक ओर तो अपने स्वामी की कारुणिकता और मैत्री के प्रति उसका मन कृतज्ञा से कातर हो आया। दूसरी ओर मानव मात्र की स्वार्थपरता के प्रति उसके अन्तस् में प्रबल धिक्कार और तिरस्कार उपजा।

'सो प्रभु, वही वृषभ अकाम निर्जरा से मृत्यु को प्राप्त हो कर, इस ग्राम के सीमान्तर पर शूलपाणि नामा व्यन्तर हुआ। व्यन्तर देव को जन्म से ही विभंग अवधिज्ञान होता है। उसी से उसने अपने पूर्वजन्म की कथा जान ली। पिछले भव के अपने सन्तप्त वृषभ शरीर को भी उसने अपनी आँखों आगे प्रत्यक्ष देखा। सत्यानाशी क्रोध से वह यक्षदेव शूलपाणि उन्मत्त हो उठा। अपनी अधोमुखी दैवी शक्ति से उसने हमारे इस प्रदेश में भयंकर महामारी का रोग विकुर्वित किया। उसके कारण सैकड़ों ग्रामजन नित्य मरने लगे। सो यहाँ मृतकों की अस्थियों का ढेर लग गया। यहाँ का सारा वनांगन अस्थियों से छा गया। उसी कारण इस ग्राम का सुन्दर नाम 'वर्द्धमान' लोगों को भूल गया। और वे इसे अस्थिक ग्राम के नाम से ही पुकारने लगे...।'

...सुन कर मैं सहसा ही क्षण भर को अन्तर्मुख हो गया। मेरी अर्धोन्मीलित दृष्टि में फिर एक बार वह हड्डियों का पहाड़ और प्रान्तर झलक आया।... हे भव्यो, सारे ही जनालय मूल में तो वर्द्धमान ही है।

मनुष्य के कषायों और कुकृत्यों से, काल पाकर वे अस्थिक ग्राम हो जाते हैं। हाड़-पिंजरों के जंगल और स्मशान हो जाते हैं। हाय रे, कषाय-क्लिप्ट मनुष्य की नियति।···मेरी आँखें खुलीं, तो फिर से उत्पल का स्वर सुनाई पड़ा :

'अज्ञानी और अन्ध श्रद्धालु ग्रामवासी इस दुर्दैव का रहस्य गाँव-गाँव के दैवज्ञों से पूछते फिरे। सत्य को दैवज्ञ क्या जानें। उन्होंने अटकल पंचू मनगढ़न्त कारण बताये। ऐसे कर्म-काण्ड और विधि-विधान बताये, जिससे उनकी उदरपूर्ति हो सके। हर चौरे, देवल, वृक्ष, पत्थर के देव हमारे लोगों ने पूजे-पधराये। पर महामारी का प्रकोप बढ़ता ही गया। तब अधिकांश लोग यह प्रदेश छोड़कर परदेश चले गये। वहाँ भी यमदूत की तरह पहुँच कर, यक्ष ने चुनचुन कर हमारे ग्रामजनों को महामारी का ग्रास बनाया। तब ग्रामलोक ने मिलकर विचार किया : जान पड़ता है अनजान में हमने किसी देव, दैत्य, यक्ष या क्षेत्रपाल को कुपित किया है। सो अपने ही जनपद में लौटकर उसे प्रसन्न करने का उपाय करें। अतः लौटकर हमारे पूर्वज फिर अपने ग्राम आये।

'तब एक दिन सब ने स्नान से पवित्र हो कर, उत्तरासंग धारण कर, श्वेत उत्तरीय परिधान किया। केश खुले छोड़ हाथों में पूजा-द्रव्य और धूप-दीप लिए आबाल-वृद्ध-वनिता, हर चत्वर, त्रिक, उद्यान, वनखण्ड, भूतगृह, खंडहर में बलि उड़ाते हुए, दीन वदन, मुख ऊँचा किये, जाने-अनजाने सारे ही देवी-देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, किन्नरों से प्रार्थना करते घूम चले।···कि हे देवताओ, यदि असावधानी में हमसे आपकी कोई अवमानना हुई हो तो हमें निर्बल, क्षुद्र, अज्ञानी जान, हमारे अपराधों को क्षमा करें। हमें जीवनदान करें···।

'तब लोकजनों की आर्त वाणी के उत्तर में अन्तरिक्ष से यक्ष बोला : ओरे दुष्ट, दुर्भावी मानवों, तुम घोर कृतघ्न, स्वार्थी और पापात्मा हो। पूर्व जन्म में मेरे पशु शरीर वृषभ का जीवितव्य तक तुम हड़प गये। वह वृषभ मृत्यु पा कर अब मैं शूलपाणि यक्ष हुआ हूँ। और उसी पूर्व बैर से क्षुब्ध हो कर मैं तुम्हारी सारी जाति से बदला ले रहा हूँ।···पर अब तुम दीन-दयनीय होकर प्रार्थी हुए हो तो सुनो : इस अस्थियों के स्तूप का चबूतरा चुनवा कर तुम उस पर मेरे आवास के लिए एक मन्दिर निर्माण करो। और उसमें मेरे पूर्व जन्म के वृषभ-रूप की मूर्ति स्थापित कर नित्य उसका पूजन-आराधना करो। तभी मेरी क्षुब्ध आत्मा शान्त होगी, और तुम्हारा त्राण हो सकेगा···।

'सो हे भन्ते, यह सामने का मन्दिर हमारे उसी प्रायश्चित का प्रतीक है। इन्द्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण को भारी वेतन देकर यहाँ पुजारी नियुक्त

किया गया है। साँझ होते न होते, मन्दिर निर्जन हो जाता है। पुजारी भी अपने घर चला जाता है। कोई भटकते कापालिक, साधु, कार्पटिक हठपूर्वक यहाँ रात्रिवास करते हैं, तो सवेरे उनकी लाश ही मिलती है। बड़ा दुर्दान्त और भयंकर है यह यक्ष। आप लोकत्राता सुकुमार योगी हैं। आपका जीवन हमारी सम्पदा है। हम पर दया करें, और यहाँ वास न करें, भन्ते !'

'हूँ···!'

मेरे निःश्वास में से ध्वनित हुआ। सस्मित वदन मैंने सामने के मंदिर पर दृष्टिपात किया। अपलक उसे अवलोकता रहा। लोकजन भयभीत, स्तंभित देखते रह गये। मैंने बेखटक दाँया हाथ उठा कर, मंदिर की ओर निश्चल अंगुलि-निर्देश किया।···महावीर का आवास, अन्यत्र नहीं, इसी मंदिर में हो सकता है। मेरा निश्चय पत्थर की लकीर के समान लोकजनों के हृदय पर अंकित हो गया। वे समझ गये कि यह लिपि अटल है: इसे टाला नहीं जा सकता।···और अप्रतिरुद्ध गति से चलता हुआ, मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ भीतर प्रवेश कर गया। लौटते हुए ग्रामजनों के भयभीत चिन्ता-कुल चेहरे मैं देख सका।···हे भव्यो, कब तक भय से यों भागे फिरोगे?

···मन्दिर के एक कोने में मैं प्रतिमायोग आसन लगा कर ध्यानस्थ खड़ा हो गया।···सन्ध्या घिर आई। पुजारी धूप-धूना करके शंख, घंटा, घड़ियाल और नक्काड़े के चण्डनाद के साथ वृषभ देवता की आरती करने लगा।...एकाएक नीरवता व्याप गई। पुजारी ने मेरे निकट आ कर अनुरोध किया: 'देवार्य, मन्दिर का त्याग करें। यक्ष देवता मनुष्य की छाया तक से घृणा करते हैं। यहाँ रात रह कर, कोई जीवित नहीं निकला।' मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। अपने पैरों में मैंने मेरु को अनुभव किया।

मन्दिर निर्जन निचाट हो गया। घनीभूत अन्धकार। सूनकार सन्नाटा। देवासन के पाद प्रान्त में बहुत मद्धिम एकेला दीया। बाहर साँय-साँय, भाँय-भाँय करती साँझिया हवाएँ। बज चुके नक्काड़े की अवशिष्ट प्रतिध्वनि। भय-भैरव का धौंसा अखण्ड नाद से मेरी धमनियों में बजने लगा। बाहर की पतझारों में किन्हीं वन्य जीवों की पगचापें। पीपल और उदम्बर वृक्ष की विरल पत्तों वाली शाखाओं में खड़खड़ाहट। किसी अदृश्य सत्ता की खड़ाउओं की गम्भीर आहट।···

···सहसा ही उत्कट घोष के साथ मेघ गड़गड़ाने लगे। ईशान कोण में विद्युल्लेखाएँ तड़कने लगीं। मन्दिर का पिण्डीभूत अन्धकार धसक आती दीवारों सा मुझ पर टूटने लगा। दीवारों में द्वार खुलने लगे। हज़ारों भूत-प्रेतों की भीषण आकृतियाँ उनमें से सवारी की तरह निकलने लगीं। भयावह
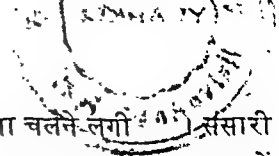
नैर्जन्य की स्तब्धता में किसी अज्ञात नट की छाया-खेला चलने लगी। संसारी प्राणियों की आत्मा में आदिकाल से विद्ध पुंजीभूत भय, प्रचंडतर आकारों में लम्बायमान होता हुआ मेरे चारों ओर ताण्डव नृत्य करने लगा।

मेरे पैरों के नीचे की धरती घसकने लगी। ऊपर से आकाश फटता दिखाई पड़ा। शून्य की खंदक में अधर टँगा रह गया हूँ। रह-रह कर मेरी नसों में किसी अदृष्ट का दुर्निवार पद-संचार हो रहा है। रोंगटे कीलों की तरह खड़े हो जाते हैं। रक्त में बिजलियों के विस्फोट हो रहे हैं। अपनी काया में उठते हिल्लोलों को देख रहा हूँ। लेकिन चेतना का लंगर किसी अतल-अमूल में पड़ा है। और पैर मेरे मन्दराचल में गड़े हुए हैं।···और उन्नत मस्तक, उद्भिन्न छाती के साथ निवेदित हूँ। उत्सर्गित हूँ।

···सहसा ही स्तब्ध दीपालोक में, वृषभ पर एक कज्जल गिरि जैसी दुर्दण्ड भैरवमूर्ति सवार दिखाई पड़ी। उसमें रह-रह कर अग्नि की सिन्दूरी धारियाँ सँपलियों-सी लहरा कर विलीन हो जाती हैं। वज्र निनाद से धरती दहल उठी। और एक घोर रव सुनाई पड़ा :

'ओरे उद्धत मनुज-पुत्र, तेरा ऐसा साहस! शूलपाणि यक्ष का नाम नहीं सुना, क्या रे नादान? मेरी शक्ति को ललकार रहा है? मेरे प्रताप को चुनौती देने वाला तू कौन? मैं तेरी जाति को निर्मूल करके ही चैन लूँगा।····मेरी व्यथा को तू नहीं जानता, पाखण्डी! जान भी नहीं सकेगा।'

मन्दिर के गुम्बद में से उत्तर गूँजा मेरा :

'जानता हूँ, मित्र, तेरे मर्म की यातना को। आत्म-संक्लेश के नरकागार से मुक्ति नहीं चाहेगा, बन्धु?'

'मुक्ति···? तू मुझे मुक्ति देने आया है, क्रूर, कृतघ्नी मनुष्य की सन्तान! दूर हट मेरे सामने से, या फिर अपने काल का आलिंगन कर···!'

मुझे अडिग देख कर, यक्ष घोर अट्टहास कर उठा। सारी सृष्टि थर्रा उठी, और आकाश विदीर्ण होने लगा। मेरे पैरों में भूकम्प के हिलोरे दौड़ गये। और उनके बीच मैंने अपने को अकम्प लौ की तरह स्थिर देखा।··· और देखा कि ग्रामजन अपने बन्द घरों में बैठे थरथरा रहे हैं: और कह रहे हैं—निश्चय ही अब शूलपाणि ने उस सुकुमार श्रमण पर खड़्ग प्रहार किया है।···

मुझे अटल और अप्रतिहत खड़ा देख कर, फिर दुर्दान्त गर्जना करता हुआ यक्ष, अग्निबाण की तरह सनसनाता हुआ, जैसे गुम्बद को भेद कर पार हो गया···।

···और क्या देखता हूँ, कि वन्या के पूर की तरह चिघाड़ता हुआ एक घोर हाथी दोनों पैर उठा कर मुझ पर टूट पड़ा। मेरी काया ने कोमल हरियाले क्रीड़ा-पर्वत की तरह लहक कर, गजराज के उस भारी भरकम पदाघात को झेल लिया।···हाथी एक गहरी निःश्वास छोड़कर मेरे पैरों में अपनी सूँड़ ढाल कर लोटने लगा। मैंने मन ही मन उसे प्यार से सहला दिया।···

कि ठीक तभी भूमि और आकाश के मानदण्ड समान एक पिशाच सामने आ खड़ा हुआ। उसके सारे शरीर में शूल उगे हुए थे। निमिष मात्र में चीत्कार कर वह मुझ से लिपट गया। कस-कस कर वह मुझे अपने आलिंग में अधिक-अधिक जकड़ने लगा। मेरे रोम-छिद्र सिकुड़े नहीं, एकदम ढीले हो कर खुल पड़े। उनकी ऊष्मा में पिशाच की देह के सारे शूल पिघल-पिघल कर वहने लगे। हाँफते हुए वह मेरी छाती में गुड़ी-मुड़ी हो कर शरण खोजने लगा।

··पराजय के आघात से और भी अधिक विक्षिप्त होकर यक्ष ने फिर भयंकर हुंकार ध्वनि की।···और मैंने देखा कि उस अभेद्य अन्धकार में से नीली-हरी विप-ज्वालाएँ उगलता हुआ एक भुजंगम सर्प आविर्भूत हुआ। अपनी फुँफकारों से हरियाली लपटें फेंकते हुए उसने मेरी सारी काया को अपनी कुंडलियों में जकड़ लिया। मेरे पो-पोर में दुःसह विपदाह धधकने लगा। मैं जैसे आहुति की तरह उद्ग्रीव हो कर, उस हवन-कुंड में कूद पड़ा। सर्प की उग्र डाढ़ें, मेरे अंग-अंग को डसने लगीं। उसके दंशों के प्रति, माँ की दूधभरी छाती की तरह, मेरी रक्त-धमनियाँ उमड़ने लगीं। नागदेवता पीते-पीते अघा गये। और अलसा कर, मेरे पदनख पर फन ढलका कर विश्रब्ध हो गये।

हारे हुए यक्षराज का विक्षोभ पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उनका सारा शरीर एक जलती हुई प्रलम्ब शलाका बन कर, सारे मन्दिर में फेरी देने लगा। फिर वह शलाका कई जाज्वल्यमान बल्लम बन कर चारों ओर से सन्नाती हुई मेरे अंगों का छेदन करती-सी लगी।···और हठात् अनुभव हुआ, कि मेरे मस्तक, नेत्र, नासिका, दाँत, पृष्ठ, मेरुदण्ड, मूत्राशय और नख आदि सारे ही मर्म स्थानों में एक साथ दुर्दम्य शूल की वेदना प्रगट हुई है। अपने स्नायुओं में, पीड़ा से छटपटाते अपने प्राणों के उस संत्रास को मैं नग्न और निर्निमेष नयनों से देखता ही रह गया। पूर्ण जागृत और सन्मुख भाव से उस वेदना को मैं सहता ही चला गया···। अटूट और अविरोधी चेतना के साथ। अक्षुण्ण और अक्षुब्ध चित्त से यक्ष देवता के जन्मान्तरों के विक्षोभों को मैं अपने स्नायु-मंडल में धारण करता चला गया।···अन्तहीन प्रतिषेध हीन। निष्कम्प, दुर्दम्य···मैं।

...हठात् मेरे पैरों में धमाका हुआ। नीली-सिन्दूरी लम्पटों से प्रज्ज्वलित शूलपाणि यक्ष का विशाल शरीर महावीर के चरणों में ढलक पड़ा। अंजुलिवद्ध करों के साथ वह प्रार्थनाकुल स्वर में बोला :

'महाकारुणिक प्रभु। मेरे अकारण वत्सल पिता। सर्वशक्तिमान हो, स्वामी। इस दुरात्मा ने तुम्हारी शक्ति को न जाना। तुम्हें पहचानने में मुझे बहुत देर लग गई। जन्म-जन्मान्तर के वल्लभ एक तुम्हीं तो हो। जाने कितने भवों की मेरी व्यथाएँ, वेदनाएँ, विक्षोभ तुमने हर लिए। मेरे दारुण से दारुणतम प्रहारों को अविचल तुम सहते ही चले गये। और मेरी चेतना में वद्धमूल कषायों की भवान्तरों की विष-ग्रंथियाँ खुलती चली गयीं। मैं मुक्त हुआ, मैं उपशान्त हुआ। मेरे मुक्तिदाता...आ गये तुम! बोलो, तुम्हारा क्या प्रिय करूँ?'

देवासन पर आसीन वृषभ के भीतर से उत्तर सुनाई पड़ा :

'मेरा नहीं, अपना ही प्रिय करो, वन्धु। अपने ही को पूर्ण प्यार करो। इतना कि प्राणि मात्र आपोआप तुम्हारे प्रियपात्र हो जायें। तुम नहीं, सर्वत्र केवल तुम्हारा प्यार रह जाये। मित्ती में सव्व भूदेपु...!'

यक्ष के भ्रूमध्य में सम्यक चक्षु खुल उठा। वह आनन्द विभोर हो कर किलकारियाँ करता हुआ, मेरे चारों ओर, फूट पड़ते झरनों के समान नृत्य-संगीत करने लगा। आदि काल से उसकी चेतना में जमी कल्मष की चट्टानें उसमें गल-गल कर वहने लगीं।...भयाकुल ग्रामजनों ने सोचा निश्चय ही यक्ष ने उस कुमार-योगी का वध कर दिया है। और अब वह विजय-गर्व से मत्त होकर संगीत-नृत्य कर रहा है।

चार प्रहर रात्रि तक भय-भैरव के साथ जो अनवरत युद्ध चला था, उस श्रम के कारण एक गहरी मुक्ति का-सा बोध हुआ। सो अन्तिम प्रहर में मुझ पर एक सुदख तन्द्रा-सी छा गई। और उसके दौरान विचित्र सपनों की एक परम्परा मेरी चेतना में खुलती चली गई। वाल्य औत्सुक्य से उस छायालीला को देखता रहा। सत्ता के विभिन्न स्तरों में जाने कहाँ-कहाँ कैसे अनहोने खेल चल रहे हैं, सो कितने लोग जान पाते हैं।

जब जाग कर वहिर्मुख हुआ, तो देखा कि मन्दिर के पूर्व द्वार में आकर सूर्य वन्दना की मुद्रा में खड़े हैं। मन ही मन नमस्कार करके प्रथम अदिति-पुत्र का मैंने स्वागत किया। तभी ग्रामजनों का एक वड़ा समुदाय मंदिर के प्रांगण में खड़ा दिखाई पड़ा।...मैं मन्दिर के सोपान पर आ खड़ा हुआ। मुझे अक्षत, पूजित और प्रसन्न देख कर ग्राम लोक आनन्द-विभोर हो जयनिनाद करने लगे।

ऊर्ध्ववाहु अभय-मुद्रा में मेरे दोनों हाथ ऊपर उठ गये। जाने कितने ही विनत मस्तकों की पंक्तियाँ सामने दिखाई पड़ीं।

सब से आगे खड़े थे, पार्श्वापत्य दैवज्ञ उत्पल शर्मा। अष्टांग निमित्तज्ञानी वे ज्योतिर्विद् बोले :

'अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर, उत्पल के प्रणाम स्वीकारें। धन्य हैं महाश्रमण वर्द्धमान, जो अस्थि-पिंजर हो गये अस्थिकग्राम को फिर अपनी धर्म-ज्योति से अपने मूल वर्द्धमान स्वरूप में लौटा लाये।

'स्वामिन्, क्या यह सत्य है कि विगत रात्रि के अन्तिम प्रहर में आपने दस स्वप्न देखे हैं···?'

मैं चुप, स्थिर मुस्कुरा आया। उत्पल भावित हो कर बोले :

'प्रभु की आज्ञा ले कर मैं उन स्वप्नों का फल कहना चाहता हूँ। अपनी गति आप स्वयम् जानते हैं, अन्तर्यामिन्! फिर भी भक्तिवश निवेदन करता हूँ। कृपा कर सुनें, भन्ते।···पहले स्वप्न में आपने तालपिशाच का हनन किया है : तो जानें लोकजन कि योगीश्वर महावीर एक दिन मोह का निर्मूल नाश कर देंगे। दूसरे स्वप्न में आपने शुक्ल पक्षी देखा है : तो स्वामी परमोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होंगे। तीसरे स्वप्न में आपने जो चित्र-विचित्र कोकिल देखा है, वह बताता है कि प्रभु के श्रीमुख से द्वादशांगी जिनवाणी उच्चरित होगी। पाँचवें स्वप्न में प्रभु ने गोवर्ग देखा है : सो उसके फल-स्वरूप चतुर्विध धर्मसंघ आपका अनुसरण करेगा।

'और सुनें भगवन्, छठे स्वप्न में देखा पद्म सरोवर सूचित करता है कि सोलहों स्वर्गों के देव तीर्थंकर प्रभु की सेवा में नियुक्त होंगे। सातवें स्वप्न में देवार्य समुद्र तर गये : सो ये महावीर भव समुद्र तर जायेंगे। आठवें स्वप्न में आपने लोकशीर्ष पर सूर्योदय होते देखा : सो प्रभु केवलज्ञान के महासूर्य होकर लोका-लोक को प्रकाशित करेंगे। नौवें स्वप्न में, हे नाथ, आपने मानुषोत्तर पर्वत को अपनी आँतों से आवेष्ठित देखा : सो आपकी कैवल्य कीर्ति से तीनों लोक झलमला उठेंगे। दसवें स्वप्न में आपने अपने को मेरुगिरि के शिखर पर आरूढ़ देखा : तो सर्व लोकजन जानें कि ये भगवान त्रिलोक और त्रिकाल के सिंहासन पर आसीन होकर, सर्व चराचर को अपनी धर्मदेशना से आलोकित करेंगे।···लेकिन हे भगवन्, चौथे स्वप्न में जो आपने सुगन्धित पुष्पों की दो एक-सी मालाएँ देखीं हैं, उनका रहस्य मैं नहीं समझ सका···?'

कहकर दैवज्ञ उत्पल जिज्ञासु दृष्टि से मेरी ओर देखते रह गये। मैंने अपना दाँयाँ हाथ, सीधा ऊपर उठा दिया और बाँयें हाथ से नीचे की ओर इंगित किया। अंतरिक्ष में से उत्तर ध्वनित हुआ :

'अपुव्वो···अपुव्वो निगंठनातपुत्तो। अपूर्व है···अपूर्व है यह निर्ग्रंथ-ज्ञातृपुत्र। संसार और निर्वाण दोनों में यह जिनेन्द्र समान रूप से विचरण करेगा···!'

उत्पल के मुख से निकला :

'यह तो कुछ अपूर्व और असम्भव सुन रहा हूँ, प्रभु। किसी अर्हत् ने पहले ऐसा तो नहीं कहा।'

औचक ही लौट कर मैं मन्दिर में प्रवेश कर गया। दूर-दूर जाती सहस्रों कण्ठों की समवेत जय ध्वनियाँ क्षितिज पर मंडलाती सुनाई पड़ीं।

◆ ◆ ◆

मन्दिर का प्रांगण निर्जन हो जाने पर, मैं वहाँ के एक सप्पच्छद वृक्ष तले की शिला पर आकर ध्यानस्थ हो गया।···दूरी में देखा कि गाँव में भारी उत्सव मच गया है। अनेक ग्राम्य वाजित्र-ध्वनियों के बीच नर-नारीजन रंग-विरंगे वस्त्राभूषणों में सज कर नाच-गान कर रहे हैं। कई पीढ़ियों के बाद समारोह पूर्वक फिर 'वर्द्धमान' ग्राम का नवजन्मोत्सव हो रहा है।···

आसपास के सारे सन्निवेश के लिए विविध व्यंजनी रसोई का पाक हुआ है। क्षीरान्न के केशर-मेवों की सुगन्ध ने मेरी देह को व्याप लिया। उस समस्त भोजन का आपोआप जैसे मुझ में आहरण हो गया।···दिन चढ़ने पर गाजे-बाजे के साथ ग्राम-लक्ष्मियाँ पक्वान्नों का एक विशाल स्वर्ण थाल सजाये यहाँ आईं। उसे मेरे सम्मख नैवेद्य कर लोकजनों ने मुझसे अनुनय की :

'भो स्वामिन्, आहार-जल शुद्ध है, शुद्ध है, शुद्ध है। ग्रहण कर हमें कृतार्थ करें।···'

उत्तिष्ठ हो कर पाणि-पात्र में एक ग्रास ले मैंने हाथ खींच लिये।···फिर हाथ जोड़ कर आत्मस्थ हो गया। ग्रामजन आनन्द-विभोर हो प्रसाद खाते हुए नाचगान के साथ हुलु-ध्वनियाँ और शंखनाद करने लगे···। सब की ओर से प्रेषित एक उज्ज्वल वेशिनी कुमारिका ने आकर अनुरोध किया :

'भन्ते देवार्य, यह वर्षायोग यहीं सम्पन्न करके, प्रभु इस ग्राम को नित्य वर्द्धमान करें।'

मेरे निश्चेष्ट मौन से वे स्वीकृति का बोध पा कर गद्‌गद् हो गये। फिर मेरे मनोभाव से इंगित पा कर वे मन्दिर में गये। देवासन पर प्रतिष्ठित वृषभ-मूर्ति में उन्होंने सर्व-संरक्षक धर्म का दर्शन पाया। उत्पल शर्मा ने नन्हें बालक-बालाओं द्वारा उसका पूजन करवाया। और मन्दिर की छत में से पहली बार शूलपाणि का मृदु वत्सल कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा :

'मित्ती मे सव्व भूदेषु···!'

अन्तिम रूप से अभय और सुरक्षा की अनुपम शांति में मग्न हो कर जन प्रवाह फिर आनन्दोत्सव मनाता हुआ ग्राम की ओर लौट चला।

उसी दिन के तीसरे पहर आकाश में प्रकाण्ड नक्काड़ों का तुमुल घोष होने लगा। मेघराज कालागुरु के पहाड़ जैसे दिग्गज पर चढ़ कर आये। उनकी घनघोर गर्जना से दिगन्त दहलने लगे। आकाश को तड़काती बिजलियाँ, अज्ञात पर्वत-शिखरों और खन्दकों में टूटने लगीं। मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो गयी। बीच-बीच में अल्प विराम होता। और फिर हुमक-हुमक कर बादल बेलाएँ नित नये वेग मे घुमड़ने लगतीं। लोगों को कहते सुना, इस बार का चौमासा अवढर दानी हो कर बरस रहा है।

मैं रात और दिन इसी सप्तछद के तले अविरल भाव से ध्यानस्थ रहने लगा हूँ। ऊँची-ऊँची हरियाली और कीच-कादव के गह्वरों से चारों ओर की राह रुँध गई है। भीतर ऐसी रसवृष्टि होती रहती है, कि शरीर में गमनागमन की कोई चेष्टा ही नहीं रही है। ग्रामजन नित्य भोजन-वेला में मंगल-कलश साजे, भिक्षुक का द्वारापेक्षण करते थक गये। श्रमण अविराम वृष्टिधाराओं में नहाता सप्तच्छद वृक्ष तले शिलीभूत बैठा है। हिलने का नाम नहीं लेता। बढ़ती वनस्पतियों में उसकी देह ढँकी जा रही है।

लोकजनों ने सोचा कि हरियाली का तन रौंद कर श्रमण बाहर चर्या नहीं करेगा। सो उन्होंने कुछ शिलाखंड रख कर, मेरे निकलने की राह बनायी। और उसी राह स्वयं भी आ कर अनेक विनतियाँ करने लगे : कि विषाक्त जीव-जन्तु से भरे इन वनस्पति-जालों से बाहर आऊँ। वर्षा-पानी के थपेड़ों से बचूं और मन्दिर की छाँव स्वीकारूँ। उनके द्वारा आयोजित प्रासुक आहार ग्रहण करूँ।···यह नित्य-क्रम सामायिक के कालावाधित सुख को भंग करने लगा।

···सो एक दिन किसी निर्जन वेला में, वहाँ से उठ कर चल पड़ा। एक पगडण्डी मुझे लिवा ले चली। जहाँ पहुँच कर वह शेष हुई, वहाँ पाया कि एक बीहड़ अरण्य प्रदेश में आ गया हूँ। किसी पहाड़ी की ऊर्ध्वमुख चट्टान पर आसीन हो गया हूँ। चारों ओर दुर्गम अरण्यानियों और संकुल वनस्पति-लोक से घिर गया हूँ। और विराट् वर्षाकुल प्रकृति के बीच मानों उसका हार्द-पुरुष बन कर अवस्थित हूँ।

प्रचण्ड गड़गड़ाहट के साथ घटाटोप मेघों के दल मुझ पर चढ़ आते हैं। और कल्पान्तकाल की बहिया बन कर मुझ पर फट पड़ते हैं। चाहता हूँ, इस आप्लावन में बह जाऊँ, डूब जाऊँ, निःशेष हो जाऊँ। निर्वापित हो निर्वाण पा जाऊँ। पर क्या है यह मेरे भीतर, जो एक ध्रुव,

कूटस्थ मन्दराचल की तरह ऊर्ध्व में उन्नीत है। और युगान्त के समुद्र जाने कितनी ही वन्याएँ बन कर आते हैं, और मेरी शिराओं में से कोमल शांत नदियाँ बन कर बहते दीखते हैं।...दुर्दान्त घोष करती हुई शम्पाएँ, जब क्षितिजों पर कड़कड़ा कर टूटती हैं, तो मेरे मूलाधार दहल उठते हैं और उनमें से एक महावासना की ज्वाला-सी लहकती है। जी चाहता है कि उल्काओं के ये वज्र मुझ पर टूटें, और इनके सत्यनाश को मैं सहूँ, जानूं, जी जाऊँ। और मेरी इस अस्खलित वासना के उत्तर में, वे विद्युल्लताएँ मेरे अंगों पर अतीव सुन्दरी, सुकुमारी अंगनाएँ बन कर टूटती हैं। उनकी विस्फोटक ध्वनियों में, मेरे सर्वांग को आलिंगन में कसती बाहुओं के कंकणरव रणकार उठते हैं।

...कुछ ही दिनों में देखा कि इस निःसीम चराचर प्रकृति के साथ एकीभूत, तदाकार हो गया हूँ। मानों कि इसी की अनादि पुरातन साँवली काया में से एक कास्य पुरुष उत्कीर्ण हो आया है। आँधी-वर्षा के मूलोच्छेदक थपेड़ों के बीच, वह आकाश को वेधता हुआ उत्तान और उन्मुक्त खड़ा है। उसकी आजानु प्रलंबमान भुजाओं, और रानों पर लताएँ लिपट गई हैं। मणियों से दमकते भुजंगम नाग उसकी जाँघों और छाती को परिरम्भण में कसे हैं। फिर उसके हृदय-देश पर चुम्बन करते हुए वे गहरी सुगंध-मूर्च्छा में शिथिल हो गये हैं। अंगांगों पर कोमल काई आश्वस्त भाव से उग आई है। उसके पगतलों और टाँगों में कई सरिसृपों ने अपनी बाँबियाँ बना ली हैं। उसके चरण युगल के बीच न्योले साँपों को अपनी छाती से चाँपे स्नेह-सुख से विभोर लेटे हैं। वृष्टिधाराओं से सनसनाती भयावह प्राणहारी रात्रियों में अनेक विषाक्त गोह, छिपकलियाँ आदि जन्तु उसकी अविचल लताच्छादित जाँघों और बाहु-मूलों के ऊष्म गह्वरों में अभय भाव से शरणागत हैं। चाहे जब वे उसके शरीर के किसी भी भाग में निश्चिन्त भाव से रेंगते दिखाई पड़ते हैं।...

तापस वर्द्धमान ने फिर एक बार महावीर को अकुतोभय मुद्रा में सामने खड़ा देखा।...ओह, आत्मन्, तुम्ही तो मेरे एकमेव स्वरूप हो। अनावरणीय, अनाघात्य।

देश काल का बोध विस्मृत हो गया है। और मेरे रोंये-रोंयें में अनवरत जाने किस माँ के वक्षोजों का दूध अभिसिंचित होता रहता है।...त्रिशला, तुम उदास क्यों होती हो ? देखो न, तुम्हारी छाती कितनी विस्मृत हो गई है ! और उसमें तुम्हारा बेटा जैसे सदा को अमर्त्य हो गया है।

◆ ◆ ◆

...वर्षायोग की समाप्ति पर, एक दिन देखा कि वृषभ-मन्दिर के सोपान उतर कर मैं प्रयाण कर रहा हूँ। परिसर के सन्निवेश से हज़ारों

लोकजन मेरी अनियत राह पर वहुत दूर तक मुझे पहुँचाने आये । एकाग्र, एक दिशोन्मुख चला जा रहा हूँ । पैरों में कितने ही मस्तक, सुगंधित केश-कलाप, और आँचल विछ कर सिमट जाते हैं।...लौटते जनों की प्रेमाकुल सिसकियाँ सुनाई पड़ जाती हैं।

···आश्विन की नई सुहानी धूप में, हरियाली वन्य-राह पर, एकाकी हंस की तरह अपने को गतिमान देख रहा हूँ । तभी अचानक पीछे से किसी ने मेरा कन्धा छू दिया । फिर एक विशाल तमसाकार आकृति मेरे पैरों में आ गिरी । सुनाई पड़ा :

'भगवन्, त्रिभुवन के तारनहार हो । भव-भव की क्लिप्ट कपाय ग्रंथियों से तुमने मुझ पापात्मा को मुक्त कर दिया । हे अकारण भव्यवत्सल प्रभु, जो दारुण कष्ट तुमको मैंने दिये, उनके लिए मुझे क्षमा कर जाओ!'

उत्तर में सुनाई पड़ा :

'शूलपाणि, सावधान, तुम पापात्मा कैसे ? आत्मा और पाप साथ नहीं जाते । पाप से अस्पृश्य है आत्मा । क्षमा अन्य कौन कर सकता है ? स्वयम् ही अपने प्रभु हो जाओ। आप ही अपने को क्षमा कर सकते हो । आप ही अपने को प्यार कर सकते हो । वुज्झह···वुज्झह, शूल-पाणि !...तत्वमऽसि !'

देखते-देखते वह कज्जलकाय यक्ष श्वेताभ हो गया । उसके ललाट में सम्यक्त्व चक्षु खुल आया ।

अविज्ञात दिशा में, अपने ही समय-पथ पर चलाचल रहा हूँ।

□

अप्प दीपो भव

मैं तो कुछ बोलता नहीं। केवल देखता रहता हूँ, जो भी सामने आये। जहां कहीं भी अँधेरा दीखता है, भीतर की रोशनी आपोआप प्रकट हो कर उसे उजाल देती है। वातावरण में व्याप्त शब्द के परमाणु तब आप ही स्फूर्त हो कर उस प्रकाश को ध्वनित कर देते हैं। परावाक् वाक्मान हो उठते हैं। सो जब भी कहीं कोई प्रश्न उठाता है, तो आपोआप ही उत्तर अन्तरिक्ष में से सुनाई पड़ जाता है। मैं भी उसे सुन कर अधिक सम्बुद्ध होता हूँ: समाधान पाता हूँ। हर प्रश्न के समक्ष मैं तो चुप ही रहता हूँ: पर श्रोता को अचूक उत्तर सुनाई पड़ता है।

सब जगह जाना है। सबके पास जाना है। सो कहीं या किसी के पास जाने का चुनाव क्यों कर सम्भव है। जहाँ भी रिक्त है, कष्ट है, वहीं की पुकार मेरे पैरों को खींच ले जाती है। अपने से तो कहीं जाता नहीं: मानों ले जाया जाता हूँ। जहाँ से भी आवाहन सुनाई पड़े, प्रस्तुत हो जाता हूँ।

देख रहा हूँ, कि फिर मोराक सन्निवेश में आ निकला हूँ। एक वट-वृक्ष तले के चबूतरे पर सिद्धासन से बैठा हूँ। उसकी शाखाओं में से फिर जड़ें फूट आई हैं। धरती की ओर बढ़ती हुई, वे फिर उसी में समा जाना चाहती हैं। यह वृक्ष जहाँ से आया है, वहीं लौट जाना चाहता है। यह तो कोई आत्मज्ञानी लगता है। पर इसके भाव पर किसी की निगाह नहीं। सब की निगाहें अपने भयों और इच्छाओं पर लगी हैं।

चबूतरे पर, तने के सहारे कई पूजित पत्थर पड़े हैं। हाय रे भवारण्य में भटकते मनुष्य का अज्ञान! जितने पत्थर हैं, उतने ही देव, उसने बना लिये हैं। वह इनमें अपने दुःखों से त्राण खोजता है। हर वृक्ष तले एक रुण्ड-मुण्ड पत्थर देव बना बैठा है। हर बस्ती की सीमा पर, कोई साधु आश्रम बना कर, गुरु के आसन पर विराजमान हो गया है। हर वृक्ष का पत्ता शास्त्र हो गया है। अज्ञानी जन, अपने संसारी परितापों से उबरने के लिये इनके चरणों में शरणागत होते हैं। जो स्वयम् ही भव-तापों से त्रस्त हैं, वे औरों के तारनहार बन कर बैठे हैं। मूढ़ जनता को प्रवंचित कर, वे अपनी शिश्नोदर की भूख प्यासों को तृप्त कर रहे हैं।

भव्य आर्यावर्त का ज्ञानसूर्य इस समय अस्तप्राय है। इस अज्ञानान्धकार में परम्परागत धर्म-ज्योति के सिंहासन पर छद्म देव, गुरु और शास्त्र ने अधिकार जमा लिया है। सत्ता और सम्पदा के स्वामियों ने अपने वैभव से इन तेजोहीन मिथ्या गुरुओं को खरीद लिया है। शाश्वत धर्म की ज्योति मुठ्ठी भर उच्च वर्गों के ठेके की वस्तु हो गई है। राजा, पुरोहित और वाणिक मिल कर धर्म की ओट अपने स्वार्थ पोषण और शोषण का व्यापार अनर्गल भाव से चला रहे हैं। व्यभिचारी और अनाचारी साधु के वेश में गुरु के आसन पर बैठ कर त्याग और तप का उपदेश प्रजा को पिला रहे हैं। वे सम्पत्तिशालियों के क्रीत दास हैं, और ग़रीब प्रजा की उन तक पहुँच नहीं। वे ग़रीब को सदा ग़रीब और अज्ञानी ही रखना चाहते हैं। पुण्य-पाप के मनगढ़न्त मिथ्या शास्त्र रचकर, वे अपने श्रीमन्त यजमानों के पुण्य का रात-दिन जयगान कर रहे हैं। श्रमिक, शूद्र और चण्डाल के लिये वेदवाणी सुनने का निषेध कर दिया गया है।

सो वहु संख्यक निम्न वर्गीय प्रजा अपढ़ और अज्ञानी है। वह मूढ़ता और अन्ध विश्वासों के अन्धकार में भटक रही है। अपने ही भयों और अज्ञानों को वह देवता वना कर पूज रही है। विषम वासनाओं से पीड़ित भूत-प्रेतों, व्यन्तरों और यक्षों को, वह उजाड़ों, वन-खण्डों, खण्डहरों, वृक्षों और जलाशयों में पूजती फिर रही है। अरे कौन समझेगा इन अज्ञानी भवजनों की वेदना ? कौन इन अँधेरे में भटकते संत्रस्त संसारियों को अज्ञान और अन्ध विश्वासों के तिमिरपाश से मुक्त करेगा ?...कौन इस तमसा में ज्ञान का दीपक जलायेगा ?

• • •

...देखा कि एक ग्वाला अपनी गायों को जंगल में चरती छोड़, मेरी ओर चला आ रहा है।

'नमोस्तु, भन्ते श्रमण...!'

'धर्मलाभ करो, गोपाल।'

'तन-मन की, जन-वन की सब कथा जानते हो, स्वामी। कुछ मेरे जी की वताओ।'

'तेने सोवीर और कंगकूर का भोजन किया है, आयुष्यमान। तेरा गोधन कोई चुरा ले गया है। अभी रास्ते में साँप पर तेरा पैर पड़ गया था। और पिछली रात सपने में तू वहुत रोया, वत्स...।'

'अन्तर्ज्ञानी हो, नाथ। आपका दर्शन पा कर, दीन जन धन्य हो गया। मेरे सब कष्ट हरो, स्वामी, मेरे दुख दूर करो।'

'अपने को जान, वत्स। तेरे सब दुःख आप ही दूर हो जायेंगे।'

'कैसे अपने को जानूं, भन्ते । मैं तो अज्ञानी हूँ ।'

'केवल अपनी ओर देख, वत्स । केवल अपने में रह । तेरी शरण तू स्वयम् ही है । अन्य कोई तेरी शरण नहीं, तेरा स्वामी नहीं । तूही अपना स्वामी है ।'

'स्वामी···!'

'अप्प दीपो भव । अपना दीपक आप ही हो जा रे···!'

ग्वाला भावित हो कर गाँव की ओर दौड़ा गया । वह ग्रामजनों को एकत्रित कर हर्षावेग में अपनी आप बीती सुनाने लगा । बोला कि—'अहो, सुनो रे सब शुभ वार्ता ! हमारे गाँव के भाग खुल गये । हमारी सीमा पर एक त्रिकालवेत्ता देवार्य आये हैं । तन-मन की सब जानते हैं । विपल मात्र में जी का सारा दुःख-क्लेश हर लेते हैं ।'

ग्रामजन सुन कर गद्गद् हो गये । पूजा-सामग्रियों के थाल सजाये मेरे पास दौड़े आये । मेरे सामने अक्षत-फूलों के ढेर लग गये ।

'भन्ते श्रमण, हमारे ग्राम में भी आपके समान ही एक सिद्ध-पुरुष रहता है । वह अगम-निगम के भेद जानता है । जो हुआ और जो होने वाला है, सब बता देता है । तन्तर, मन्तर, जन्तर सब विद्याओं का वह पारगामी है ।'

'अच्छंदक···!'

'वही स्वामी, वही । आप तो लोकालोक की सब जानते हैं ! ··· अच्छंदक ही हमारे गाँव का गुरु है । हम उसे अच्छा-बाबा कहते हैं ।'

'वह तुम्हारा अच्छा-बाबा, सच्चा-बाबा भी है क्या ?'

'सब सच-सच बता देता है, भन्ते । और सारे दुःख दूर करने के उपाय भी बता देता है ।'

'तुम्हारे दुःख दूर हो गये, आयुष्यमान् ?'

गाँव का मुखिया बोला :

'अब भन्ते, वह तो ऐसा है कि, जैसा जजमान, जैसा उसका दान, वैसा उसका त्राण···।'

'पाषण्ड···पाषण्ड···पाषण्ड । अज्ञान···अज्ञान···अज्ञान···। केवल तुम स्वयम् ही कर सकते हो अपना त्राण । और सब प्रवंचना और कुज्ञान । पाओ अपने आप का ज्ञान । आपको ध्याओ, आपको पूजो, आपको प्रेम करो । आप ही बनो अपने भगवान । आपो आप पा जाओगे सब दुःखों से निर्वाण ।'

आश्चर्य-चकित लोगों की भेड़िया-धँसान गाँव में लौट कर अच्छंदक के पास पहुँची। बोले कि : 'गुरुजी, गाँव बाहर जो देवार्य आकर ठहरे हैं, वे त्रिकाल ज्ञानी हैं। तुम तो कुछ जानते नहीं, पाखंड करके हमें ठगते रहते हो।' अच्छंदक भयभीत हो उठा : बोला : 'उस नग्न श्रमण को त्रिकाल ज्ञानी कहते हो ! चलो तुम्हें दिखाऊँ, कि पाखंडी वह है या मैं हूँ।'

क्रोध से उन्मत्त अच्छंदक ने श्रमण को पराजित करने की युक्ति मन ही मन सोच ली। कौतुकी ग्रामजनों से घिरा वह मेरे सम्मुख आया और दोनों हाथों की उँगलियों के बीच एक घास का तिनका लेकर बोला : 'बताओ तो त्रिकालज्ञानी श्रमण, यह तिनका मैं तोड़ सकूँगा या नहीं ?' उसके मन में यह था कि श्रमण जो कहेगा, उसका ठीक उलटा मैं करूँगा, सो इसकी वाणी झूठ सिद्ध हो जायेगी। अच्छंदक को उत्तर मिला :

'यह तिनका नहीं टूटेगा !'

अच्छंदक ने खेल-खेल में तिनका तोड़ देने की चेष्टा की।···पर मानों किसी अज्ञात वज्र से उसकी उँगलियाँ स्तंभित, आहत हो रहीं। तिनका बिन टूटे ही अखण्ड धरती पर गिर पड़ा। ग्रामजन उल्लसित होकर देवार्य का जयकार करने लगे। इसी बीच निष्प्रभ, हताहत होकर अच्छंदक जाने कब वहाँ से भाग खड़ा हुआ। सहसा ही सुनाई पड़ा :

'यहाँ जो वीरघोष नामा सेवक है, वह सामने आये।'

'मैं वीरघोष, भन्ते।' और वह प्रणत हुआ।

'कभी तेरे घर में से दस पल परिमाण का एक पात्र खो गया था ?'

'सत्य है, भगवन् !'

'अच्छंदक गुरु वह चुरा ले गये थे। तेरे घर के पीछे, पूर्व दिशा में जो सरगवा का वृक्ष है, उसके तले एक हाथ धरती खोद कर वह गाड़ दिया गया था। जाकर ले आ।' दौड़ा हुआ जाकर वीरघोष निर्दिष्ट स्थान से पात्र निकाल लाया। सबके सामने प्रस्तुत किया। ग्रामजन स्तब्ध। फिर सुनाई पड़ा :

'यहाँ कोई इन्द्रशर्मा नामक गृहस्थ है ?'

'मैं इन्द्रशर्मा, प्रभु ! क्या आज्ञा है ?'

'भद्र, कभी तेरा एक मेंढा खो गया था?'

'सो तो खो गया था, भन्ते!'

'अच्छंदक गुरु मेंढे को मार कर उसका आहार कर गये थे। उसकी अस्थियाँ बेर वृक्ष की दक्षिण दिशा में गड़ी हैं।'

कुछ लोगों ने वहाँ जाकर धरती खोदी, तो सूचित अस्थियाँ साबित मिलीं। प्रमाण पाकर ग्रामजनों के हर्ष और विस्मय का पार नहीं।

'ग्रामजनों, वहुत हुआ । अपने गुरु का अन्तिम दुश्चरित जानकर क्या करोगे · · · !'

'सत्य सम्पूर्ण कहें, प्रभु । ताकि हमारी मिथ्या दृष्टि और अन्ध श्रद्धा के अँधेरे सदा को फट जायें ।'

'तो अच्छंदक के घर जाकर, उसकी स्त्री से पूछो ।'

कुछ लोग दौड़कर अच्छा-वावा के घर उनकी स्त्री के पास जा पहुँचे । अपने पति के पाखंडों और दुराचारों से पहले ही वह वहुत जली-भुनी वैठी थी । सारी कथा सुना कर अन्त में उसने अपने मन की व्यथा प्रकट कर दी :

'यह तुम्हारा गुरु और मेरा कहा जाता पति, अपनी वहन के साथ हर रात विपय-सुख भोगता है । मेरी इच्छा तो यह कभी करता नहीं ।'

ग्रामलोक ने जव यह सत्य कथा सुनी, तो उनके प्रवंचित हृदय वहुत व्यथित हो उठे । किन्तु फिर एक अपूर्व मुक्ति के वोध से आल्हादित हो वे सव आकर श्रमण के चरणों में लोट गये । कृतज्ञता से नीरव हो कर बड़ी देर आँसू वहाते रहे ।

अच्छंदक प्रवंचक और पापात्मा के नाम के नाम से सर्वत्र ख्यात हो गया । कहीं से भिक्षान्न पाना भी उसे मुहाल हो गया । जंगल के एकान्त में पड़ा-पड़ा वह रो-रो कर अपने पापों का पश्चाताप करने लगा । श्रमण करुणार्द्र हो आये । लोक द्वारा परित्यक्त, निष्कासित उस एकाकी दीन-अकिंचन हो गये ब्राह्मण को सुनाई पड़ा :

'तुम्हें क्षमा किया गया, अच्छन्दक । जव कोई तुम्हारा नहीं रहा, तो मैं तुम्हारा हूँ, वत्स । आओ मेरे पास । मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा है ।'

· · · दूर से ही राजसंन्यासी वर्द्धमान की कायोत्सर्ग में लीन, निर्दोष वाल्य मुख-मुद्रा पर उसने एक अति मृदु प्यार की मुस्कान देखी । वह सम्मोहित सा खिंच आया और देवार्य के चरणों में समर्पित हो रहा ।

'पापी शरणागत है, स्वामी । यह यातना असह्य है । दया कर मुझे मृत्यु दें और मुक्त करें ।'

'मृत्यु है ही नहीं, तो कहाँ से दूँ । और मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है । उसे केवल जानो, वत्स ! आत्मा हो तुम, अच्छंदक । तुम शाश्वत अस्ति हो । पाप नास्ति है : उसका अस्तित्व नहीं । वह केवल अज्ञानजन्य अभाव का अन्धकार है । देख रहा हूँ, तुम्हारे भीतर सतत प्रतिक्रमण चल रहा है । तुम अपने में लौट रहे हो । मृत्यु में मुक्ति कहाँ ? वह अनन्त अन्धकार में भटकना है । पर तुम तो प्रकाश के तट पर आ लगे हो । इधर सामने देखो । तट तुम्हारी प्रतीक्षा में है । · · ·'

'पा गया···पा गया···तट पा गया, प्रभु !'

'एवमस्तु···!'

◆ ◆ ◆

दक्षिण वाचाला सन्निवेश से विहार करता हुआ, उत्तर वाचाला की ओर अग्रसर हूँ। यात्रापथ में देखा : एक ओर स्वर्णवालुका नदी वह रही है : तो दूसरी ओर रजतवालुका नदी । लगा कि जैसे मेरी ही दोनों वाहुएँ वहती हुई दिगन्तों तक चली गई हैं। हठात् पीछे किसी का व्याकुल पगरव सुनाई पड़ा। मैं थम गया।

'स्वामी, मैं आपका पितृमित्र वही सोमशर्मा ब्राह्मण ।'

'हूँ····!'

'भगवन्, आपकी कृपा से प्राप्त वह देवदूष्य वस्त्र ले जा कर मैंने एक तन्तुवाय को दिखाया था। वह वोला कि यह महामूल्य वस्त्र खंडित है : श्रमण से याचना कर इसका उत्तरार्द्ध भी प्राप्त कर ला। तव इन दोनों खण्डों को जोड़ कर अखण्ड कर दूंगा। उसे वेचकर हम दोनों विपुल सम्पदा के भागी होंगे।···कृपा करें भगवन्त, खण्ड को अखण्ड करें ।'

'यहाँ के अशन-वसन मात्र सव खंडित हैं, ब्राह्मण ! अखण्ड भोग पाना है, तो स्वयम् अखंड हो जा ।'

'भगवन्, किन्तु लोक में सभी थोड़े वहुत सम्पन्न हैं। फिर मैं दुर्भागी ही निपट विपन्न क्यों रह गया?'

'यहाँ सभी विपन्न हैं, कोई सम्पन्न नहीं। सभी खंडित हैं, कोई अखण्ड नहीं। सभी भिखारी हैं, कोई स्वामी नहीं !···'

'पर मुझ सा दीन विपन्न तो यहाँ कोई नहीं ।'

'चरम विपन्न हुआ है, तू ! परम कृपा तुझे पूर्ण सम्पन्न किया चाहती है।'

'मुझ दीन-हीन को, जिसे एक पूरा भोजन या वसन भी नसीव नहीं ?'

'मैं तो निर्वसन हूँ, ब्राह्मण ! और मेरे भोजन का ठिकाना नहीं !'

'भगवन्, कृपा करें!'

'निर्वसन हो जा, ब्राह्मण, त्रिलोक के वैभव तेरा भोजन-वसन होने को तरस जायेंगे !'

'नाथ···!'

···और साष्टांग प्रणिपात में समर्पित ब्राह्मण पर दिव्य वस्त्रों की वर्षा होने लगी ।

'वचाओ प्रभु, यह भार नहीं सहा जाता। ये सारे वस्त्र भी मुझे ढाँक नहीं पा रहे। मेरी नग्नता का अन्त नहीं ।'

'एवमस्तु । वही तू है, ब्राह्मण !'

'यह मैं कौन हो गया, भन्ते ?'

'मद्रूप हो गया, तद्रूप हो गया !'

'देवार्य का अनुसरण करता हूँ, भन्ते ।'

'अनुसरण अपना कर, मेरा नहीं ।'

'भगवन्...!'

'किसी का अनुगमन न कर । अपनी ही ओर प्रतिगमन कर ।'

'कहाँ जाऊँ, स्वामी ?'

'जहाँ तेरी आत्मा तुझे ले जाये । जहाँ तेरे पैर तुझे ले जायें । सब मार्ग वहीं जाते हैं !'

'कहाँ पहुँचना होगा, स्वामिन् ?'

'गन्तव्य पर पहुँच कर, स्वयम् ही जान लेगा ।'

...दूर-दूर जा रहा नग्न ब्राह्मण बिन्दु-शेष हो, ओझल हो गया । किसने किसे प्रतिबोध दिया, पता नहीं । मैं तो बोलता नहीं, उपदेश करता नहीं । स्वयम् ही छद्मस्थ हूँ, अपूर्ण हूँ । पर जो अभी सुना है, उससे अपने आप में अधिक प्रबुद्ध हुआ हूँ, अधिक आलोकित हुआ हूँ । ओ अकिंचन ब्राह्मण, तेरा कृतज्ञ हूँ !

□

बुज्झह, बुज्झह, चण्डकौशिक

पवन की तरह अस्खलित गति से श्वेताम्वी नगरी की ओर वढ़ा चला जा रहा हूँ। इस तेज़ रफ्तार में भी पाता हूँ कि विशुद्ध गति मात्र हूँ, और पूर्ण संचेतन हूँ। मेरे गमन से किसी भी निकाय के जीवों की रंच भी हानि नहीं होती। अनुभव होता है कि उनके साथ आश्लेपित होता चल रहा हूँ। वे स्वयम् मेरे लिये मार्ग वन जाते हैं : और मैं अपने भीतर अनवरुद्ध मार्ग की तरह खुला रहता हूँ।

एक तिराहे पर पहुँच कर मैं अटक गया। सामने दो रास्ते फटते थे, और दोनों ही श्वेताम्वी को जाते थे। जो रास्ता सरल और छोटा दीखा, उसी पर मैं चल पड़ा। ठीक तभी एक ओर से भेड़-वकरियाँ चराते आ रहे कुछ गड़रियों ने आकर मुझे घेर लिया।

'नहीं देवार्य, इस रास्ते नहीं, उस रास्ते जायें। यह रास्ता दीखने में सरल और सुगम है, पर उतना ही कुटिल और कराल है। वह दूसरा रास्ता लम्बा है, पर निरापद है।'

विकल्प करना और अटकना मेरा स्वभाव नहीं। सो मैं उनकी अनसुनी कर, चलता ही रहा। तव वे वहुत आतंकित होकर मेरे मार्ग में लेट गये। कातर विकल हो कर अनुनय करने लगे :

'नहीं भगवन्, इस मार्ग पर हम आपको नहीं जाने देंगे। इसकी राह में तापसों का कनक-खल नामक एक उजाड़ आश्रम पड़ता है। वहाँ एक दृष्टिविप सर्प का वास है। उसके दृष्टिपात मात्र से स्थावर-जंगम, छोटे-वड़े सारे प्राणियों का क्षण मात्र में देहपात हो जाता है। वड़े-वड़े शूरमा इस राह गये, और फिर कभी नहीं लौटे। वर्षों हो गये, मनुष्य के लिये अगम्य और वर्जित हो गया है यह प्रदेश। इसके मार्ग में प्राणी तो दूर, वायु तक संचार करने से भयभीत होता है।'

'हूँ···!'

तब तो अवश्य इसी राह जाना होगा।

अव्यावाध होने निकला हूँ, तो राह की हर वाधा को तोड़ कर आगे वढ़ना होगा। अगम-निगम के भेद जानने चला हूँ, तो मेरे लिये

अगम्य क्या हो सकता है ? बचपन से ही वर्द्धमान के लिये वर्जित तो कुछ नहीं रहा । विवर्जित जिसे होना है, उसे हर वर्जना का अतिक्रमण करना होगा । देश और काल पर आरोहण करने चला हूँ, तो क्षेत्र विशेष की मर्यादा में कैसे विचर सकता हूँ ? और फिर कनक-खल के आश्रम में, जो प्राणी अपनी ही भयंकरता से इतना परित्यक्त और अकेला हो गया है, उसकी पीड़ा को जाने बिना, मेरे लिये निस्तार नहीं । अन्यत्र गति नहीं । जिसके पास कोई नहीं जाना चाहता, उसके पास मेरे सिवाय कौन जायेगा । आता हूँ तेरे पास, आत्मन् । तेरे ही लिये तो इस राह आना हुआ है ।···

और मैं निश्चयपूर्वक कनक-खल की ओर उँगली उठा कर, उसी राह चल पड़ा । सरल यदि कुटिल हुआ है, तो क्यों ? देखना चाहता हूँ, मैं कितना सरल हूँ !

मैं उस निषिद्ध अरण्य में प्रवेश कर चुका था, और ग्वाले मेरा पीछा करने का साहस न कर सके । वे हाय-हाय करते रह गये ।

'ॐ नमो अरिहन्ताणं···!' : मेरी साँस अपनी नहीं रह गई है । झाँय-झाँय करती इस विकराल अटवी में केवल यही मंत्र-ध्वनि सुनाई पड़ रही है । कर्पूर, तमाल और तिनिश वृक्षों की सुरम्य वीथी से पार हो रहा हूँ । सघन सुगन्धि से व्याप्त है यह दुर्भेद्यता । मेरे पद संचार से इसके बरसों के उलझे शाखा-जाल मानों हट कर राह बना देते हैं । अतिमुक्तक, वासंतिक और कदली के कुंजों में से क्रमशः गुज़र रहा हूँ । इनके छोर के वासर कक्ष में कौन वधू मेरी प्रतीक्षा में है ?

···हठात् पाया कि एक भयंकर वीरान में आ निकला हूँ । हरियाली जाने कब पीछे छूट गई । दूर-दूर तक फैले वृक्षों के कंकाल अंतहीन हो गये हैं । हाड़-पिंजरों का एक बियावान । भय से निपीड़ित, दबती उसाँसें और घायल सिसकियाँ सुनाई पड़ रही हैं । निर्जनता देह धारण कर, जैसे चेतना को आक्रांत कर रही है । हवा तक यहाँ से भयभीत हो कर भागी हुई है । श्वास-प्रश्वास अवरुद्ध होने लगे हैं । देह में रोंगटों की कटीली झाड़ियाँ उग आई हैं । लग रहा है, भयार्त होकर मेरे शरीर तक ने मेरा साथ छोड़ दिया है। नितान्त गति रह गया हूँ । एक निपट निरीह चेतना मात्र रह गया हूँ ।

अनाथ, अनालम्ब, एकाकी चल रहा हूँ । स्वभाव से ही निराकुल हूँ । पर इस समय एक अन्तिम आकुलता से विगलित हूँ···। किसी के प्रति अपना सर्वस्व दे कर शून्य हो जाना चाहता हूँ ।···ओ कोई अज्ञात आत्मन्, तुम्हारा आदिकाल का एक मित्र तुम्हारी खोज में इस मृत्यु के महारण्य

में आ निकला है । मिलोगे नहीं ? तुम्हें प्यार करने को मेरा जी बहुत विकल है । जानता हूँ, तुम्हें कोई प्यार नहीं करता । यह मुझे असह्य है। इसी से जाने कितनी भवाटवियाँ पार कर तुम्हारे द्वार पर चला आया हूँ। क्या मुझे नहीं पहचानते···? सामने आओ, तो पहचानोगे।

अचानक वृक्ष-कंकालों का आच्छादन हट गया । एक परित्यक्त आश्रम दिखाई पड़ा । उसके खण्डहरों में भी किसी गोपन रमणीयता का आभास है । भग्न, जनहीन दालानों, द्वारों, खिड़कियों में जाने कैसी एक जड़ीभूत उपस्थिति का बोध व्याप्त है । इस परित्यक्तता में भी एक पुरातन प्रीति का संस्पर्श है। बीच के आँगन में शून्य वेदी पर हवन-कुण्ड की अग्नि बुझे मुद्दतें हो गई। पर देख रहा हूँ, एक नीली-हरी सिन्दूरी ज्वाला उसमें से अनाहत उठ रही है। एक हवन-शिखा, जो शताब्दियों से मेरी प्रतीक्षा में है। वह एक सर्वांग सुलक्षण पुरुषोत्तम की आहुति चाहती है । क्या मेरी आहुति इस अनाद्यन्त यज्ञशिखा को तृप्त कर सकेगी ? प्रस्तुत है वर्द्धमान।···

देख रहा हूँ, वृक्षों में, आश्रम की दीवारों में, यहाँ के कोनों-अँतरों में, झाड़ियों में विलुप्त प्राणियों में, जगह-जगह पड़े जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों के मृत देहों में, यहाँ के आकाश-वातास तक में एक दाह का त्रास निरन्तर व्याप्त है । सभी कुछ किसी निरन्तर जलन से भस्मीभूत और कलौंछा दीख रहा है । एक चिर अतृप्ति की वह्निमान जिह्वा चारों ओर लपलपाती हुई तृष्णार्त भटक रही है।···

आश्रम के उजड़े यक्ष-मण्डप में आकर, प्रलम्बायमान भुजाओं के साथ, खड्गासन से कायोत्सर्ग में लीन हो गया । अहंशून्य अपने आपको निवेदित पाया।···प्रस्तुत हूँ, जो चाहे मुझे ले।···अहो, आत्मन्, पहचान रहा हूँ मित्र, तुम्हें ! तुम्हारी याद आ रही है।···तुम्हीं तो अब से पहले के तीसरे जन्म में गोभद्र ब्राह्मण थे । स्वभाव से अकिंचन, सरल, निरीह । सर्व विद्याओं के पारगामी । पर निर्धन । तुम्हारी सुन्दरी ब्राह्मणी गर्भवती हुई। प्रसवकाल समीप पा कर उसने विनती की, कि कहीं जा कर तुम आवश्यक धनार्जन कर लाओ।'

तुम निकल पड़े धनार्जन के लिए, वाराणसी की राह पर । मार्ग में एक भव्य कान्तिमान विद्या-सिद्ध पुरुष तुम्हारा सहयात्री हुआ । विद्याबल और कात्यायनी के कवच से मंडित वह पुरुष, मंत्रोच्चार मात्र से ठीक समय पर दिव्य भोजनों के थाल प्रस्तुत कर देता । रात्रि शयन के लिये, वह सुन्दरी योगिनियों के साथ, चमत्कारिक वैभव-शृंगार से भरा विमान उपस्थित कर देता । परम लावण्यवती चन्द्रप्रभा नामा योगिनी के साथ वह शैया-रमण करते हुए रात्रि व्यतीत करता । चन्द्रप्रभा की बहन चन्द्रलेखा तुम्हारे

शैया-साहचर्य को एक रात तुम्हारे निकट समर्पित हुई।···तुम्हारे अजेय ब्रह्मचर्य को देख, वह स्तंभित रह गई। वह तुम्हारे पूर्णकाम प्रेम की दासी हो गई। अपने कामरूप देश के जालंधर नगर में तुम्हें उड़ा ले गई। वहाँ अनेक विद्याओं की स्वामिनी जाने कितनी सुन्दरी योगिनियाँ तुम्हें समर्पित हुई। अपनी विपुल सम्पदा उन्होंने तुम्हारे चरणों में डाल दी। अपने ब्रह्मचर्य के क्षुरधार तेज से तुमने उन सब के हृदय जीत लिये।

निदान, अढलक रत्न-सम्पदा लेकर एक साँझ तुम अपने नगर लौट आये। पर अपने घर को ध्वस्त खंडहर पा कर तुम्हें काठ मार गया। देहरी पर तुम्हारी ब्राह्मणी की प्रतीक्षारत आँखें कहीं न दीखीं। पता चला कि विरह-पीड़ा और धनाभाव से ब्राह्मणी जाने कब परलोक सिधार गई। उस असह्य आघात से तुम्हारे अन्तर-कपाट खुल गये। तुम्हारा जन्मजात विरागी चित्त पूर्ण विरागी हो गया। विक्षिप्त की तरह तुम वन-कान्तारों में भटकने लगे। अचानक वहाँ पाँच सौ मुनिसंघ सहित विचरते धर्मघोष नामा महाश्रमण से तुम्हारी भेंट हुई। उनसे प्रतिबोध पा कर तुम प्रव्रजित हुए। अस्खलित श्रमण-चर्या में रहते हुए तुम अपूर्व तेज और महिमा में प्रतिष्ठित हुए।···

पर हायरे मानव हृदय, तुम्हारा उत्थान ही तुम्हारा पतन हो गया। बड़ी दुरूह, निगूढ़ और अचिन्त्य होती है, आत्मोत्थान की यात्रा। बहुत ऋजु-कुंचित और चक्रावर्ती है उसका विकास-पथ। उत्कर्ष की चूड़ा पर पहुँच कर भी कोई आत्मा कब अपकर्ष के पाताल में आ गिरेगी, सो केवली के सिवाय कौन जान सकता है। नौ ग्रैवेयक और सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्व श्रेणियों पर आरूढ़ हो कर भी कभी-कभी आत्माएँ, नारकी और तिर्यंच योनियों तक में आ पड़ती हैं।

सो तुम्हारे तपतेज की महिमा ने अनजाने ही तुम्हारे भीतर जाने कब अहं-कार जगा दिया। तुम प्रमत्त विचरने लगे। एक दिन तुम्हारे एक क्षुल्लक शिष्य ने इंगित किया कि तुम्हारे पैरों तले कितने ही मेंढकों के बच्चे कुचल कर मर गये हैं। दोषारोप सुन कर तुम क्रोध से उन्मत्त हो उठे। तुम दौड़ कर अपने शिष्य पर प्रहार करने गये···। बीच में खड़ी एक चट्टान से टकरा कर तुम्हारे मस्तक का मर्म-प्रदेश फट गया। अति आर्तरौद्र ध्यान से मर कर, ओ पथभ्रष्ट योगी गोभद्र, तुम ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हुए। वहाँ देव निकाय की ऋद्धियों को भोगते हुए काल पा कर, तुम इस कनक-खल आश्रम के वासी, पाँच सौ तापसों के कुलपति की भार्या के गर्भ से जन्म लेकर, उसके कौशिक नामा पुत्र हुए। तुम्हारे पिता लोक-विख्यात ऋषि थे। उनके ज्ञान, तप और तेज की कल्याण-छाया में आ कर भवारण्य में भटकी अनेक आत्माएँ शांति-लाभ करती थीं। आये दिन यहाँ अनेक दूर देशा-न्तरों के श्रमण, तापस और आत्मकामी जन अतिथि होते थे। यज्ञ की मंत्र-ध्वनियों और सुगन्धों से इस वनप्रदेश के वृक्ष, लता-गुल्म, पशु-पक्षी सदा प्रफुल्लित रहते थे।

काल पा कर तुम्हारे पिता लोकान्तर कर गये । तुम इस आश्रम के कुलपति हुए ।···

तुम्हारी आत्मा सदा गहरे और ग्रंथिल अहंघात से पीड़ित रहती । तुम्हारा आहत अहं बाहर अकारण क्रोध के ज्वालामुखी-सा फुंफकारता रहता । लोग तुम्हारी छाया तक से डरते थे । मनुष्य से लगा कर, पशु-पक्षी और वनस्पतियाँ तक तुम्हारे पदाघात से आतंकित हो उठतीं । इसी से लोक में तुम चंडकौशिक के नाम से कुख्यात हो गये । तुम्हारी चिर आहत चेतना ने जीने के लिए आश्रम के उद्यान में सहारा खोजा । एक अन्ध मूर्च्छा से रात-दिन तुम्हारा चित्त अपनी वाटिका में आसक्त रहने लगा । दारुण अधिकार-वासना से प्रमत्त हो कर तुम इस वन-खण्ड के एक-एक पत्ते तक की रखवाली करते रहते थे । इस उपवन के फूल, फल, मूल, पल्लव की ओर कोई आँख उठा कर भी देख नहीं सकता था । कभी कोई अजान व्यक्ति भूले-चूके भी यहाँ का नीचे पड़ा सड़ा फल या पत्ता भी उठा लेता, तो तुम लाठी और कुल्हाड़ी ले कर उसके पीछे दौड़ पड़ते । तुम इतने शंकालु हो गये कि निर्दोप आगंतुकों को भी अपने उद्यान का चोर समझ कर, उन्हें ढेले और पत्थर उठा कर मारते ।···

आखिर एक दिन ऐसा आया कि आश्रमवासी सारे तापस एक-एक कर वहाँ से चले गये । तुम नितान्त एकाकी हो गये । तुम्हारे अकेलेपन में, तुम्हारा आत्म-संताप और भी तीव्रता से तुम्हें दहने लगा । तुम्हारे क्रोध का आखेट बनने वाला भी कोई न बचा । निरालम्ब और अनुत्तरित तुम्हारी उस कपाय की वेदना को मैं इस क्षण भी अनुभव कर सकता हूँ । हाय, तुम्हारा क्रोध तक अनाथ हो गया ! सर्व के संहारक : पर कितने बेचारे और दयनीय तुम! स्वयम अपने ऊपर दया करने जितनी आर्द्रता से भी वंचित । अपने ही अमित्र । अपने आपको प्यार करने से भी मजबूर ।

इस बीच जाने कैसी विपम दुश्चिन्ता से पीड़ित तुम, आश्रम छोड़ कर इस वन-खण्ड के दूरगामी झाड़ी-झंखाड़ों में भटकने लगे । सो कई दिनों से उपवन को अरक्षित जान कर श्वेताम्बी के कुछ राजपुत्र यहाँ आये । वन्दरों की तरह उछल-कूद करते वे सारे उपवन में छा गये । चुन-चुन कर वे सारे फल खा गये । वृक्षों को कुल्हाड़ियों से काट-काट कर उन्होंने टूटी डालों, पत्तों, फूल-फलों से सारी भूमि को छा दिया ।

अचानक कुछ ग्वालों ने तुम्हें खबर दी कि, पूर्व एकदा तुम्हारे द्वारा अपमानित श्वेताम्बी के राजपुत्र, तुम्हारे उद्यान का ध्वंस कर रहे हैं, और अपने अपमान का बदला भुना रहे हैं । भीपण क्रोध से हुँकारते हुए तुम आये और एक खरधार कुल्हाड़ी लेकर उन्हें मारने दौड़े । वन्दरों की तरह कूदते-फांदते वे सारे किशोर पलक मारते में वहाँ से पलायन कर गये । तुम्हें अपने प्रहार के लक्ष्य तक का भान नहीं

रहा। तुम मूर्च्छांध होकर पागल की तरह प्रलाप करते निर्लक्ष्य, दिशाहारा, दौड़ते ही चले गये। फिर अट्टहास कर तुमने अपनी कुल्हाड़ी आसमान के शून्य को फाड़ देने के लिए उछाल दी और तभी चक्कर खा कर, तुम यम के मुख जैसे एक अन्ध गह्वर में गिर पड़े। अगले ही क्षण तुम्हारी उछाली कुल्हाड़ी भन्नाती हुई तुम्हारे ही ऊपर आ कर पड़ी। तुम्हारा मस्तक फट कर दो फाँक हो गया। तुम्हारी उस मरण वेदना का साक्षी हूँ मैं, चण्डकौशिक···!

तुम्हारी मोहरात्रि पराकाष्ठा पर पहुँची। तीव्रानुबंधी क्रोध के पुंजीभूत विष ने शरीर धारण किया। दृष्टिविष सर्प के रूप में तुम फिर इस पृथ्वी पर अवतरित हुए। इसी वनांगन की वनस्पतियों में तुम जन्मे। तुम्हारा प्राण-प्यारा उद्यान भी तुम्हें धोखा दे गया था। उस पर पूर्ण अधिकार रखने के सारे प्रयत्नों के बावजूद वह तुम्हारा न रह सका। उस पर तुम्हारे वैर का पार न रहा। उसके वंशज समस्त वनस्पति-राज्य, पशु-राज्य और अन्ततः प्राणिमात्र से उस वैर का प्रतिशोध लेने की वासना से तुम पागल हो गये। और तुम्हारा वह पुंजीभूत वैर अन्ततः अपने ही मनुज भाइयों पर केन्द्रित हुआ। श्वेताम्बी के राजपुत्रों का वंशज मनुष्य!

सो इस उजाड़ आश्रम के नैर्जन्य को तुमने अपना आवास बनाया। भूले-भटके जो पंथी इधर आ निकलता है, तुम्हारे दृष्टिपात मात्र से वह लाश होकर धराशायी होता है। सड़ती हुई लाशों से चिर दुर्गन्धित रहता है यह वनखण्ड। जाने कितने ही पशु-पक्षी, जीव-जन्तु तुम्हारे दृष्टि निक्षेप से यहाँ निरन्तर मरण पाते रहते हैं। निविड़ विष का कृष्ण-नील कोहरा यहाँ छाया हुआ है। झिल्लियों की झंकार तक से वंचित हो गया है, यह विजन कान्तार। तुम्हारे अति प्रिय सारे पेड़-पौधे तुम्हारे ही विष की फूत्कारों से जल-जल कर भस्म हो गये हैं। वायु तक का संचार यहाँ मानो शक्य नहीं। हवा, पानी, वनस्पति, माटी तक यहाँ की त्रस्त, दाहग्रस्त और निर्जीव हो गई है। प्राणहीनता के इस वीराने में तुम केवल अपना आत्मदाह ले कर जी रहे हो, चण्डकौशिक! तुम्हारी यह एकलचारी विकलता, तुम्हारा यह आत्म-संत्रास मुझ से सहा नहीं जाता। आओ मित्र, मैं तुमसे मिलने आया हूँ। हो सके तो तुम्हारे इस विष को निःशेष पी जाने आया हूँ। अपने को खाली करो मुझ में। तुम्हारे कषाय का पात्र बनने को उद्यत है वर्द्धमान···!

और निःशब्द, विचार-शून्य हो कर मैं चरम कायोत्सर्ग में लवलीन हो गया···। मेरी चेतना के अन्तर-चक्षु में झलका : अपने पूर्व भवान्तरों के जाति-स्मरण से सर्पराज चण्डकौशिक वेदना से विक्षिप्त हो गया है। उसकी प्रतिशोध-ज्वाला आकाश चूमने लगी है। उसका जन्मान्तरों का आहत अहंकार सहस्र-जिह्व होकर फूत्कारने लगा है।

सहसा ही एक घोर आवाज़ की बिजली कड़की :

'अरे ओ नग्न अवधूत, इतना दुःसाहस, कि मेरे राज्य में निःशंक प्रवेश कर गया तू ? और शंकु के समान स्थिर हो कर निर्भय खड़ा है, ओ ढीठ । किस मानवी माँ ने, मेरी सर्वनाशी सत्ता को ललकारने वाला, यह अपराधी पुत्र जना है···? आज मैं तेरे नृवंश का मूलोत्पाटन करके ही चैन लूँगा··· ।'

और देखते ही देखते, घने विषैले नील-हरित कोहरे की लहरें तेज़ी से सारे वातावरण में छाने लगीं । पतझारों में होती भयंकर सरसराहट से सारा जंगल जाग उठा । विरल पक्षी पंख फड़फड़ा कर उड़ गये । अज्ञानी, असंज्ञी जीव-जन्तु जहाँ के तहाँ भस्मीभूत हो गये । वृक्षों के सूखे स्थाणु भी चरमरा कर चीत्कार करते हुए धराशायी होने लगे ।

···क्रोध से उबलते ज्वालामुखी-सा फणमण्डल विस्तारित करता, वह भुजंगम सर्पराज मेरी ओर बाढ़ की तरह बढ़ा आ रहा था । सम्मुख आकर वह अपने सहस्रों फणों को पूर्ण उन्नत कर मेरी ओर एकाग्र दृष्टि से देखने लगा । मयूर-पंखों की नीली-हरियाली आभा से वलयित उसकी हज़ारों आँखें एक साथ जैसे ज्वालमालाओं का वमन करने लगीं । एक घनघोर वह्नि मंडल की लपटों ने मुझे चारों ओर से छा लिया । पर सर्पराज ने देखा कि उन विकराल अग्नि-डाढ़ों के बीच भी, यह कुमार-योगी निस्पन्द, अस्पृश्य और अक्षुण्ण खड़ा है । उसकी जन्मान्तरों की संचित क्रोधाग्नियाँ भी उसे जलाने में असमर्थ, पराजित, स्तंभित रह गईं हैं ।

तब अपने समस्त प्राण को फेंक कर, वह भुजंगराज पर्वत शिखर पर गिरने वाली उल्का की तरह मुझ पर टूटा । पर उसकी वह प्राणोर्जा भयभीत, शरणागत पंखी की तरह मेरे पैरों के पास आ गिरी । और भी चंडतर क्रोध से फुँफकार कर उसने अनिमेष सूर्य की ओर ताका । सूर्यातप से उसका विष कई गुना अधिक उत्कट हो कर मुझ पर अंगारे बरसाने लगा । उस सत्यानाश के सम्मुख मैंने अपने प्राण को निर्ग्रंथ छोड़ दिया । मेरा कायोत्सर्ग पराकोटि पर पहुँच गया । निःशेष आत्मदान के सिवाय और कोई संचेतना मुझ में शेष नहीं रही । अपने उस सर्वनाशी प्रताप तले भी, इस कुमार श्रमण को फलभार-नम्र वृक्ष की तरह निवेदित और अविचल देख कर, सर्पराज ने हवा में ज़ोर से फन फटकारा, और मेरे पैर के अँगूठे को कस कर डस लिया···। फिर भी मुझे अटल देख कर, वह उन्मत्त हो कर ऊपरा-ऊपरी मेरे अंगांगों पर दंश करता चला गया । अन्तिम दंश उसने मेरे हृदयदेश पर किया । और वहाँ से फिर वह अपना सर न उठा सका । हुमक-हुमक कर वह गहरे से गहरे मेरे हृदय को डसता ही चला गया । मेरी पीड़ा से कसमसाती धमनियों में माँ का वह ममतायित मुखड़ा झाँक उठा । मेरे रोयें-रोयें से माँ के स्तन उमड़ने लगे । मेरी शिरा-शिरा में दूध के समुद्र लहराने लगे ।

'पियो···पियो, चंडकौशिक ! कितना प्यार उमड़ रहा है, तुम्हारे फणों के इस परिरम्भण में, तुम्हारे दंशों के इन अंतहीन चुम्वनों में । चुकाओ अपनी चिरकाल की संचित महावासना को मेरे भीतर । लो, मुझे लो, मुझे लेते ही चले जाओ, चण्डकौशिक । ताकि मैं समूचा तुम्हारा हो जाऊँ । मैं तुम्हारे ही लिए जन्मा हूँ । यह काया तुम्हारा अन्तिम आहार होने के लिए ही जन्मी है । कितने स्वाद और प्यार से पी रहे हो तुम मेरा रक्त । कैसी गहरी मुक्ति के सुख से तुमने मेरी नस-नस की गाँठें खोल दी हैं ···।'

अरे वस, इतने से ही तृप्त हो गये ? ···नन्हे वालक की तरह निरीह, रुदन-कातर आँखों से मुझे ताक रहे हो । कितने कोमल, कितने मधुर, कितने निर्दोष लगते हो तुम, कौशिक !

'अरे मेरी जाँघों और वक्ष पर दिये तुम्हारे दंशों के चुम्वनों से यह कैसा उजला दूध झर रहा है ! पा गया मैं तुम्हारा प्यार । तुमने मेरे रक्त को दूध में परिणत कर दिया ? ···तुमने मुझे कृतार्थ कर दिया । कितना कृतज्ञ हूँ तुम्हारा !'

'चण्डकौशिक, मेरे वत्स, तुम कितने सौम्य, सयाने, शान्त हो गये । कैसा मार्दव उफन आया है, तुम्हारे इन मोरपंखी फनों की काली चिन्तामणि आँखों में···।

'इधर देखो मेरी ओर··· । कौशिक,···वुज्झह···वुज्झह !

'जाने कितने जन्मों से आत्मघात करते चले आ रहे हो । याद करो अपनी अहं-वंदी यातनाएँ···नहीं, अव तुम्हें वे कभी नहीं व्यापेंगी । अव अपने को यों तिल-तिल मारोगे नहीं, सौम्य, सताओगे नहीं···। देखो, मैं हूँ न···फिर और क्या चाहिये तुम्हें । अपने को प्यार करो, कौशिक···देखो मेरी ओर···।'

मैं नितान्त नीरव, निस्पन्द दृष्टि से यह सव केवल देख और सुन रहा था । केवल एक अकल, क्रियातीत साक्षी ।

◆ ◆ ◆

···हौले हौले लोगों को अपने आप ही एक अभय भाव की प्रतीति हो गई । वे वेखटक, निरापद मुझे टोहते यक्ष-मण्डप की ओर आ निकले । सर्पराज चण्डकौशिक को उन्होंने परम शान्त भाव से श्रमण के चरणों में विश्रव्ध देखा । आनन्द और आश्चर्य से वे पुलकित और स्तव्ध हो रहे । सव के मन सर्व के प्रति करुणा और प्यार से उमड़ आये । आसपास के स्त्री-पुरुष, वृद्धजन, वालक झुंड के झुंड आने लगे । सहज भाव से वे सर्वराज की विशाल और निश्चिन्त पड़ी काया को हाथ फेर कर पुचकार देते । उन सव के मनों में उससे गहरी शान्ति और प्रीति का प्लावन अनुभव होता । ग्रामांगनाएँ और कुमारियाँ नित्य पूजा-थाल लिये आतीं । वे श्रमण की पूजा-वंदना करने के उपरान्त सर्प देवता की भी आरती उतारतीं ।

उनके तन को घी-दूध आदि से अभिषिक्त करतीं। और गीतगान करती हुई लौट जातीं।

घी-दूध के निरन्तर अभिषेक से सर्प के तन पर चीटियों के झुंड छा गये। वे बहुत निश्चिन्त हो कर उसकी त्वचा में चटके भरती हुई, उसके रक्त का आहार करने लगीं। उसकी वेदना का पार नहीं था। पर चीटियों के हर दंश के साथ उसे अपने पुरातन वैरों का तीव्र स्मरण होता। सो वह चुपचाप पश्चात्ताप करता हुआ, चीटियों के दंशों को अत्यन्त धीर भाव से सहने लगा। उसे लगा कि वह अपने पूर्व वैर-विद्वेषों के ऋणानुबन्ध चुका रहा है। चुका देना होगा, जनम-जनम का सारा दीना-पावना।

उसकी चेतना में निरन्तर प्रतिक्रमण चल रहा है। वह हर नये दंश के साथ, मानो अधिकाधिक अपने स्वरूप में अवस्थित होता जा रहा है। उसके भीतर जागते प्रशम भाव की शीतलता को स्वयं अनुभव कर रहा हूँ। समत्व के उदय से उसकी आत्मा में अमृत का आप्लावन हो रहा है।...

'कौशिक...णमो अरिहन्ताणं...! अप्पो भव...अप्पो भव कौशिक!'

एक गहरा निश्चिन्त निःश्वास।...

उसकी साँस छूट कर कपूर की तरह सारी वनभूमि में व्याप गई। सारे पेड़ जैसे चन्दन के हो गये।

□

चक्रवर्तियों का चक्रवर्ती

भूख लगी है।...

याद नहीं, कितने दिन बीत गये, आहार नहीं लिया है। आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती...। आज सहसा ही क्षुधा की पुकार अनुभव कर रहा हूँ। स्वागत है। जान पड़ता है, भूख केवल अन्न के लिये नहीं। भूख केवल तन की पुकार नहीं, समूचे जीवन की एकाग्र पुकार है। समग्र समन्वित सृष्टि का अनुरोध उसके पीछे होता है। धर्म जब कर्म में प्रवाहित होता है, तो जीवन के सभी अंग अपनी परिपूर्ति चाहते हैं। देह का भी अपना एक धर्म है, वह पूरा होगा ही।

दमन से नहीं, शमन से ही देह अनुसारिणी हो सकती है। दम नहीं, शम ही परिपूर्ण जीवन की कुंजी है। दबायी हुई देह, और दबाया हुआ मन, चाहे जब द्रोह कर उठ सकता है। तब वह आत्मा को उपशम श्रेणी से भी नरक के अतल में घसीट ले जा सकता है। शत्रु नहीं, मित्र मन और तन से ही सम्पूर्ण जीवन्मुक्ति सम्भव है। विरोध से नहीं, सम्वाद से ही सर्व को जीता जा सकता है।...शत्रु पुद्गल नहीं, उसके प्रति हमारा अज्ञान है, जो आत्मबोध के अभाव में हम पर हावी हो कर शुद्ध द्रव्य में भी हमें शत्रुत्व का अनुभव कराने लगता है। मुक्ति-मार्ग विकासमान है। वह उत्तरोत्तर सुगम होता जायेगा, ऐसी प्रतीति होती है। मेरा तीर्थ अपूर्व होगा। उस युग के मनुष्य देह का तिरस्कार करके नहीं, उसके स्वीकारपूर्वक मुक्ति चाहेंगे। उस नूतन मुक्ति की पथ-रेखा मेरे समक्ष दिन-दिन प्रत्यक्षतर हो रही है। तन, प्राण, इन्द्रिय, मन, चेतन की सम्वादिता ही पूर्ण जीवन्मुक्ति उपलब्ध करा सकती है, ऐसा बोध मुझ में स्पष्टतर होता जा रहा है।

भूख लगी है आज, तो जैसे कोई निर्दोष गुलाबी बालक मुझे बुलाने आया है। क्या उसे नकारूँगा? सामने उत्तर वाचाला नगरी दीख रही है। वहाँ नागसेन गृहपति को, अतिथि के लिए द्वारापेक्षण करते देख रहा हूँ। उसका इकलौता बेटा बारह बरस पूर्व देशान्तर गया था, सो फिर लौटा ही नहीं। कल साँझ एका-एक उसका वह खोया पुत्र घर लौट आया है। इसी से उसके घर आज समस्त ग्राम का न्योता है। परिवार के हर्ष का पार नहीं। पर नागसेन का मन उस भिक्षु अतिथि के लिए व्याकुल है, जिसके पैरों में देश-देशान्तरों की माटी लगी

है। उसकी इच्छा पूरी हो !···

···नागसेन के द्वार पर भिक्षुक ने पाणि-पात्र में यत्किंचित् आहार ग्रहण कर हाथ खींच लिये। दिव्य वाजित्र ध्वनियों के साथ गृहपति के आँगन में वसु-धाराएँ बरसने लगीं। मंगल प्रातिहार्यों से सारा ग्राम जगमगा उठा।···

···भिक्षुक जा चुका है। जाने कितनी माँ-बहनों की आँसू भरी आँखें, उसकी दूर लौटती पीठ की आरती उतार रही हैं।

श्वेताम्बी नगरी की सीमा से गुज़र रहा हूँ। वहाँ का राजा प्रदेशी विपुल वैभव के साथ वन्दना को आया है। क्षत्रिय को सम्मुख पा कर, क्षण भर थम गया। राजा बोला :

'वैशाली के राजवंशी श्रमण हमारा आतिथ्य स्वीकारें।'

'वर्द्धमान निर्वंश हो गया, राजन्।'

'प्रतिबोध चाहता हूँ, भन्ते।'

'अपने वैभव को सर्वजन का भोग बना दे, क्षत्रिय! यही लोकपाल विष्णु के योग्य है।

'···तेन त्यक्तेन भुंजीथः।'

'प्रतिबुद्ध हुआ, देवार्य।'

मैं तो चुप ही रहता हूँ। कोई उत्तर देता नहीं। पर देखता हूँ, मौन स्वतः ही मुखर हो कर, अन्तिम शब्द कह देता है।···

◆ ◆ ◆

···ग्रामानुग्राम विहार करता सुरभिपुर के समीप आया हूँ। हठात् अपने को गंगा के तट पर खड़ा पाया। महानदी गंगा। देवात्मा हिमालय की दुहिता। इसके तटवर्ती तपोवनों में वेद और उपनिषदों की मंत्रवाणी उच्चरित हुई। आर्यों का ज्ञानसूर्य इसकी लहरों पर बालक की तरह खेला। इसने अपने ऋषि-पुत्रों को चैतन्य के चूड़ान्तों पर आरोहण करते देखा। पर इसने अपने विश्वामित्रों और काश्यपों को वहाँ से उतर कर कामिनी के उरोजों पर आत्मार्पण करते भी देखा। काम और आत्मकाम की संधि इसके हिल्लोलित वक्षोजों पर हस्ताक्षरित हुई। पार्वती योग के सिद्धाचल से योगीश्वर शंकर को फिर एक बार अपनी गोद में लौटा लाई। आर्य द्रष्टाओं से अधिक सत्ता की अनैकान्तिनी लीला के रहस्य को किसने थाहा है ?

···और इसी गंगा के गर्भ का योनिभेद कर आदिनाथ वृषभदेव इसके उत्स को पार कर गये। स्वयम् हिमाचल हो कर वे कैलाश की चूड़ा पर अविचल समाधिस्थ खड़े हो गये। और उनके चरण-युगल से अपराजेय श्रमण-धर्म की जिने-श्वरी धारा प्रवाहित हुई।

उसी महानदी गंगा के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। सहस्राब्दियों के इतिहासों को इसकी लहरों में उठते-मिटते देख रहा हूँ। इसकी उत्ताल तरंगों में हिमवान के शृंगों की ऊँचाइयाँ गल-गल कर वह रही हैं। वे इसके गर्भ की गहराइयाँ होने को विवश हो गई हैं। संसार और निर्वाण इसकी कुँवारी ओढ़नी में एकाकार झलकते दीख रहे हैं।

इसके स्निग्ध उजले वालुका तट में मेरे पैर ठहर नहीं पा रहे हैं। इसके शीतल सीकरों से तटवर्ती तरुमालाएँ धुल-धुल कर कैसी स्निग्ध और प्रांजल लग रही हैं। इसकी लहरों की लयात्मकता, उनकी पल्लव-पर्तों में चित्रित हो गई है।...

क्षितिज तक फैलकर इसका वक्षमण्डल इसके परम प्रियतम समुद्र का आभास दे रहा है। आवाहन है कि इस गंगा को पार करूँ। चाहूँ तो अपनी वाहुओं से इसका संतरण कर सकता हूँ। चाहूँ तो इस पर चल सकता हूँ।... पर नहीं, नियति कुछ और ही दीख रही है। पास ही कई लोकजन आ खड़े हुए हैं। पर पार जाने के लिए वे नाव की प्रतीक्षा में हैं। इन्हें नाव देनी होगी : और अकेले नहीं, इन सब के साथ उसी नाव में मुझे भी गंगा पार करनी होगी।

...तभी सिद्धदन्त नामक एक नाविक ने अपनी एक विशाल नाव तट पर लगा दी। एक ही छलांग में मैं नाव पर आरूढ़ हो गया। अनुसरण में अन्य सारे यात्रिक भी नाव पर चढ़ आये। मृदु-मन्द फिर भी क्षिप्र गति से नाव गंगा पर खेलती-सी वहने लगी। सिद्धदन्त नाव की कोटि पर खड़ा है। उससे भी आगे नाव के अन्तिम छोर पर प्रलम्व वाहु खड़ा हो गया हूँ। सिद्धदन्त की हुंकारों से प्रोत्साहन पाकर नाव के दोनों ओर उसके पंक्तिवद्ध मल्लाह तेजी से डाँड़ चला रहे हैं।

...कि सहसा ही दूर हो रहे तट पर से उल्लू का धृष्ट स्वर सुनाई पड़ा। नाव के यात्रियों में एक निमित्तज्ञानी खेमिल भी था। उसने उच्च स्वर में टोका :

'सावधान, यह यात्रा निर्विघ्न नहीं होगी। योगिराट् वर्द्धमान रक्षा करें...।'

नाव कुछ ही दूर आगे वढ़ी होगी, कि अचानक पूर्व दिशा में गहरे वादल घुमड़ने लगे। तेज पानी भरी आँधी वहने लगी। देखते-देखते एक प्रचण्ड तूफान में तट और दिगन्त दृष्टि से ओझल हो गये। वायु के प्रवल थपेड़ों से उछलते जल के सिवाय और कहीं कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। घटाटोप जल की उद्दाम तरंग-लीला में नाव चारों ओर से ढँक गई।

...देख रहा हूँ, आवर्तक नामा जलाप्लावन घटित हुआ है। शुद्ध जल-तत्व को उसके समस्त परिणमनों के साथ, अपने समक्ष नग्न खड़ा देख रहा हूँ। शुद्ध और नग्न जल-द्रव्य। अपने सारे रहस्यों और गहरावों का अनावरण करता वह सामने आ रहा है। पराक्रान्त है उसका नर्त्तन। उसके पदाघातों से जल-

लोक के नित-नूतन द्वार खुलते जा रहे हैं। देख रहा हूँ, लोक के भीतर लोक है, और उसके भीतर अनेक लोकान्तर हैं। अन्त नहीं।···प्रत्येक परमाणु के भीतर संख्यानुबंधी लोक-सृष्टियाँ हैं। और हर सृष्टि के उत्स में कई-कई सृष्टियाँ। जानने का अन्त नहीं। स्वयम् अनन्त हुए विना इस अनन्त को कैसे जाना जा सकता है? भयानक है इस साक्षात्कार की रमणीयता! परात्पर है यह सौन्दर्य!···

सहसा ही तन्मयता भंग हुई। वाहर नाव में बैठे मनुज तुमुल कोलाहल के साथ हाहाकार कर रहे हैं। आर्त्त विलाप के साथ अपने-अपने इष्ट देवों के नामोच्चार कर रहे हैं। खेमिल की सव से ऊँची आवाज़ पुकार रही है: 'त्राहि माम् योगिराट्, त्राहि माम्!'

पर्वत पर पर्वत, और उल्का पर उल्का की तरह उत्तुंग लहरें नाव पर टूट रही हैं। मेरी अविचलता उतनी ही अधिक वढ़ती जा रही है। नाव के छोर पर ऊर्ध्ववाहु मेरु-निश्चल खड़ा मैं विनाश की इस लीला का मात्र दृष्टा रह गया हूँ। अक्रिय और अभय इस आक्रान्ति को समर्पित हो गया हूँ। डाँड़ चलाते पंक्ति-बद्ध मल्लाह डाँड़ छोड़ कर नाव में गुड़ी-मुड़ी हो पड़ गये हैं। पाल फट गया है। उसका मेरुदण्ड उध्वस्त होकर जाने कव का गिर चुका है। नाव के सुदृढ़ पटिये तड़तड़ा कर फट पड़ने की धमकी दे रहे हैं। तूफान में झक-झोले खाती नाव अव-डूवी, अव-डूवी हो रही है। नाव में भर आये विपुल जल के तरंगाघातों में मानवों की चीत्कारें डूवती जा रही हैं। अकेला सिद्धदन्त मेरे कोणस्थ पगों पर कस कर लिपटा हुआ है।···और मुझ पर चारों ओर से विकराल जलचर आक्रमण कर रहे हैं।

सर्वनाश के इस सीमान्त पर, सहसा ही वाहरी सृष्टि मेरी आँखों के सामने से ओझल हो गई। वस्तु-जगत विलुप्त हो गया। निर्विषय ध्यान की गहन तल्लीनता में, मेरी चेतना अन्तर्मग्न, उन्मग्न हो गई। अपने सिवा और कुछ देखने की इच्छा नहीं रह गई है। अपने सिवाय और कुछ देखना सम्भव ही नहीं रह गया है।···कि देखता हूँ, सव कुछ आपोआप दिखाई दे रहा है। जल-तत्व ने समर्पित हो कर अपनी तहों में पड़ी सृष्टियों के तुमुल संघर्ष सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिये हैं।

हठात् जल की अन्तिम तह में से एक वातायन खुल पड़ा।···ओह, नाग-कुमार जाति के जल-देवों का लोक! उसमें से दण्डायमान हो कर एक भीषण दानवाकार जलाकृति मुझे चहुँ ओर से आवेष्ठित करती दिखाई पड़ी। पानिल गहराव में से एक उद्दण्ड आवाज़ की गर्जना हुई:

'अरे ओ उद्धत, तेरी यह मजाल, जो तूने मेरे इस एकराट् जल-साम्राज्य में प्रवेश करने का दुःसाहस किया है!···'

'हूँ!···'

'हूँ···? ढीठ कहीं का। जानता है तू कौन है, और मैं कौन हूँ ? तू मेरा जनम-जनम का वैरी है। याद कर···याद कर अपना वह पूर्व जन्म। जब तू अपने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में, त्रिखंड साम्राज्य के मद से चूर था। तब मैं अपने जंगल राज्य का एकाधिपति सिंह था। तू आखेट पर निकला था। अपने क्रीड़ा-कौतूहल को तृप्त करने के लिए तूने मेरे वनराज्य की शांति भंग की थी। मैं अपनी एकान्त गुफा में सुखासीन लेटा था। और तूने वहाँ आ कर खेल-खेल में मेरा वध कर दिया था। जनम-जनम से उस वैर की अग्नि में भस्म होता हुआ, मैं तेरी खोज में कई योनियों में भटकता रहा···। आज आया है तू मेरे पंजे में। आज तेरी हड्डी-हड्डी को वेध कर, मैं अपने वैर का प्रतिशोध करूँगा।'

'हूँ···!'

'हूँ···? ओ धृष्ट, ओ मेरे आदिम हत्यारे। बोलता क्यों नहीं है रे!

'जानता है, मैं कौन हूँ ?'

'जललोक के अधीश्वर सुद्रंष्ट्र नागकुमार को पहचान रहा हूँ।'

'और जानते हुए भी फिर एक बार तू मेरी आत्मा की शांति भंग करने आया है ? निर्लज्ज, हत्यारे !'

'भंग करने नहीं, लौटाने आया हूँ तुम्हारी शान्ति। तुम्हारे वैर का ऋण चुकाने आया हूँ, वन्धु !

'अपराधी हो कर वड़वोली करता है रे, कृतान्त !'

'वुज्झह, वुज्झह, नागकुमार।'

'साधु के छद्मवेश में तू फिर मुझे छलने आया है ? मेरे मान पर चोट करने आया है, दुरात्मा !'

'तो परीक्षा कर देखो, सौम्य ! सम्मुख हूँ।'

और भीषण गर्जना से पातालों को थर्राती हुई वह दानवाकृति मुझ पर टूट पड़ी। अपनी फूत्कारों से प्रकाण्ड मगर-मच्छ और अजगरों की राशियाँ फेंकता वह मेरी अँतड़ियों में धँसने लगा।

'सुद्रंष्ट्र, आओ मेरे भीतर। मेरी वोटी-वोटी को छेद कर अपनी वैराग्नि को तृप्त करो, मित्र !'

वह रुद्र से रुद्रतर होता हुआ मेरे अस्थि-वन्धों को वींधने के लिए छटपटाने लगा। मैं निश्चल से निश्चलतर होता हुआ, उसके आत्म-प्रदेशों में जलधारा-सा चुपचाप सरसराने लगा। वह वार-हार हार कर, अधिक प्रचंड वेग से मुझ पर अपने को पछाड़ने लगा। मानों समस्त जललोक मेरे भीतर धँसने को अकुला रहा है।···

तभी उस जलिमा के सघन अन्धकार में से दो सुन्दर युवा नागकुमार उदय हो कर, मेरी ओर आते दिखाई पड़े। उनके चेहरों पर जल का परम शांत मित्रा-वरुण रूप झलक रहा था।

'''पहचान रहा हूँ तुम्हें, सौम्य देवांशियो ! शंवल और कम्वल। एकदा पूर्व तुम सम्यक्त्व वत्सल जिनदास श्रावक और उसकी सहधर्मिणी साधुदासी के प्रिय पालित वृषभ थे। व्रती श्रावक-दम्पति अपना ही प्रासुक मधुर भोजन तुम्हें भी देते थे। उनकी धर्मवाणी में तन्मय हो कर तुम प्रवोधित होते थे। उनके उपासी होने पर तुम भी भोजन त्याग देते थे। एकदा उनका कोई निकट मित्र, उनकी अनुमति विना, भंडीवरण के यात्रा-मेले में होने वाली रथों की दौड़-प्रतियोगिता में तुम्हें जोत गया। चावुक मार-मार कर उसने तुम्हारी सुकुमार धर्म-लालित त्वचा को लहूलुहान कर दिया। प्रतियोगिता में विजयी हो कर वह प्रमत्त हो गया। सो विना तुम्हारे घावों की पर्वाह किये फिर चुपचाप आकर तुम्हें ठान में वाँध गया। श्रावक-दम्पति ने तुम्हें भोजन देने और तुम्हारी चिकित्सा करने को वहुत निहोरे किये। पर तुमने मुँह फेर लिया। अन्न-जल त्याग कर सल्लेखना के व्रती हो गये। श्रावक तुम्हें अविराम णमोकार मंत्र सुनाता रहा। और तुम उन्मंग्न आँसू भरी आँखों से अपने उन श्रावक माता-पिता को निहारते देहान्त को प्राप्त हो गये।'''जललोक की इस उत्तम देवगति में जन्म ले कर तुम मुझसे क्या चाहते हो, वत्सो ?'

'प्रभु की सेवा से कृतार्थ होना चाहते हैं !'

कहते ही वे दोनों ही सुकुमार कमलाकृति नागकुमार मुझ से गुंथ रहे सुदंष्ट्र के विकराल जवड़े में कूद गये। सुदंष्ट्र की साँसें घुटने लगीं। और कंवल-शंवल उसकी प्रचण्ड देह के पोर-पोर में घुस कर उसे अंतरिक्ष में चक्राकार उछालने लगे। और सुदंष्ट्र सौ-सौ गुनी अधिक शक्ति से प्रमत्त और विघातक हो कर उन फूल-से वालकों को कुचलने लगा।'''सुर और असुर शक्ति के संघर्ष को मैंने उसकी तात्विक नग्नता में विस्फोटित देखा। मैंने अन्धकार की आदि पुरातन गुफाओं का भंजन करते प्रकाश के तीरों को देखा।

'शांतम् पापं'''शांतम् पापं'''आत्मन्, शम'''शम'''शम। सुदंष्ट्र मैं तुम्हारा हूँ।'''कंवल-शंवल मैं तुम्हारा हूँ। सोऽहम्, सोऽम्, सोऽहम्'''

और मेरी नासाग्र पर स्थिर दृष्टि में झलका : मेरी छाती पर दो सुन्दर कमलों के वीच सुदंष्ट्र शिशु के समान निश्चिन्त निर्विकार, शान्त भाव से सो गया है।

कायोत्सर्ग के शिखर से अवरूढ़ हो कर जव मैंने आँखें खोलीं, तो नाव पर पार के घाट पर आ लगी थी। तट की वालुका के श्वेताभ प्रसार में पद्मासन से आसीन था। और सारे यात्री त्राण और सुरक्षा की गहरी निःश्वास छोड़ते हुए,

मेरे जानु-सम्पुट पर माथे ढाले हुए हैं।···एक सफेद कपोत और कपोती कहीं से आकर मेरे कंधों पर आँख-मिचौनी खेल रहे हैं।···

◆ ◆ ◆

देख रहा हूँ···

सुरभिपुर का सामुद्रिक-शास्त्री पुष्पदन्त गंगा के तट पर से गुज़र रहा है। वह यहाँ क्या खोज रहा है, सो उसे भी ठीक-ठीक पता नहीं है। इतनी ही संचेतना उसमें है कि उसे अपनी विद्या आज आश्वस्त नहीं कर पा रही है, और वह जाने किस अलक्ष्य वस्तु को टोहता, निष्कारण यहाँ भटक रहा है।

सहसा उस उज्ज्वल, अति सूक्ष्म, स्निग्ध वालुका प्रान्तर में उसे किसी के पद-चिह्नों की पंक्ति अंकित दिखाई पड़ी। ओह, ये चरण-छापें तो पद्म, चक्र, अंकुश, कलश, प्रासाद आदि चिह्नों से लांछित हैं···।

···शास्त्र में जिनके विषय में केवल पढ़ा था, उन्हें आज प्रत्यक्ष देख लिया। निश्चय ही कोई षट् खण्ड पृथ्वी का अधीश्वर चक्रवर्ती इस मार्ग से गया है। मन ही मन उसने सोचा : क्यों न इस पद-पंक्ति का अनुसरण करूँ। कहीं न कहीं वह देवानुप्रिय अवश्य मिल जायेगा। उसकी सेवा करूँगा, तो मेरी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी।···और वह उन चरण-चिह्नों की राह चल पड़ा।

···थूणाग सन्निवेश के चैत्य-उपवन में एक अशोक वृक्षतले ध्यानारूढ़ बैठा हूँ। सहसा ही पुष्पदन्त सामने खड़ा दिखाई पड़ा। विस्मय से वह दिङ्मूढ़ हो गया है। सोच रहा है : 'निश्चय ही, यही वह पुरुषोत्तम है।···इसका वक्षस्थल श्रीवत्स चिह्न से लांछित है। इसका नाभि-मण्डल दक्षिणावर्त के कारण गंभीर है। इसके अंग-अंग सूर्यमणि माणिक्य की कोमल रक्ताभा से दमक रहे हैं। महर्द्धिक चिह्न केवल इसके चरण-तलों में ही नहीं हैं; इसके शरीर का प्रत्येक अवयव अपने विशिष्ट लांछनों से दीपित है। पर विचित्र है यह व्यक्ति। ऐसे प्रशस्त लक्षणों से मंडित है, फिर भी निपट सर्वहारा और अकिंचन है। इसके तन पर तो एक जीर्ण वस्त्र का लत्ता भी नहीं। एक काष्ठ का कमंडलु और मयूर-पिच्छिका, यही इसकी एक मात्र सम्पदा है। किसी पांशुकुलिक से भी यह गया-बीता है। लूके-सूखे भिक्षान्न पर निर्वाह करता जान पड़ता है। द्वार-द्वार का भिक्षुक। दीन-हीन, कंगाल, याचक !···

'···तो क्या समस्त भरत-क्षेत्र की राज्य-लक्ष्मी के सूचक, सामुद्रिक-शास्त्र के वचन मिथ्या हो गये ? दीर्घकाल तक कष्ट उठा कर, देश-देश भटक कर, मैंने इस विद्या का गहरा मंथन किया है। पूर्वापर दोष से रहित, अव्यभिचारी माना जाता है यह सामुद्रिक विज्ञान। हाय, वह भी आज झूठा सिद्ध हो गया। मेरे जीने का आधार ही समाप्त हो गया। क्यों न उसी गंगा में जा कर डूब मरूँ, जिसके वालुका तट ने मुझे यों प्रवंचित किया है। हाय रे हाय, भाग्य की विडंबना। मेरे सारे शास्त्र-

ज्ञान के छोर पर मुझे खड़ा मिला है यह निर्वस्त्र भिक्षुक। किस पर यहाँ भरोसा किया जाये, किसका यहाँ सहारा लिया जाये। सारे अवलम्बन झूटे पड़ गये। झूठे हैं सारे शास्त्र, सारे ज्ञान-विज्ञान, सारी लक्षण-विद्याएँ। कितनी सारी मृगमरिचिकाएँ। कहाँ है वह चक्रवर्ती, जिसकी महिमा के गान से लक्षण-शास्त्र भरे पड़े हैं···। या तो उसे पा लेना होगा, या मुझे अपने इस कंगाल जीवन का अन्त कर देना होगा।'

···अन्तरिक्ष में से ध्वनित हुआ: 'बुज्झह···बुज्झह···बुज्झह। यही है··· यही है ···यही है वह चक्रवर्ती, पुष्पदन्त! पर केवल भरत-क्षेत्र की षट् खण्ड पृथ्वी का नहीं। यह लोकालोक की समस्त सत्ताओं का एकराट् स्वामी है। यह चक्रवर्तियों का चक्रवर्ती है।···आगामी युगतीर्थ का प्रवर्त्तक, तीर्थंकर महावीर। तेरे शास्त्रों में भी जो नहीं लिखे, ऐसे बत्तीस हजार लक्षणों से दीपित है, इस पुरुषोत्तम की काया।···

'निपट अकिंचन एक मात्र यही, निखिल सम्पदाओं का अखण्ड भोक्ता और प्रभु है!···सच ही अनुभव किया तूने, तेरे सारे शास्त्र, विज्ञान, सम्पदाएँ, सहारे, जहाँ समाप्त हो गये, वहीं इसे देखा और पाया जा सकता है। जान, जान, जान पुष्पदंत, यही है वह, जिसे तू चिरदिन से खोज रहा है। यही है वह, जिसे सारी विद्याएँ, आदिकाल से थाहने में लगीं हैं।···बुज्झह···बुज्झह···बुज्झह पुष्पदन्त।'

अपने भ्रूमध्य में स्थित तृतीय नेत्र तले, मेरे ओंठों पर अस्फुट स्मित खिल आयी।···

पुष्पदन्त की आँखों से आँसू झर रहे हैं। और अपने भीने कपाल और कपोल को मेरे एक पगतल से जुड़ाये वह गहरी साँसें ले रहा है। शायद इस आकांक्षा से कि उसका ललाट इस निष्किंचन चक्रवर्ती के चरण-चिह्नों से सदा को लांछित हो जाये···। □

अवसर्पिणी का विदूषक : मंखलि गोशालक

मगध के आँगन में आ खड़ा हुआ हूँ। पंच शैलों ने गर्दन उठा कर कौतूल से मुझे देखा। उनसे परे, विपुलाचल उन्नत मस्तक खड़ा है : वीतराग। उसके पादप्रान्त में बिम्बिसार श्रेणिक का साम्राज्य-स्वप्न करवटें बदल रहा है। दूर पर राजगृही के अभ्रंकश गुम्बदों और भवनों के गर्वीले माथे झुक गये हैं।

उनसे पीठ फेर कर गाँवों की ओर चल पड़ा हूँ। राह में नालन्द-पाड़ा गाँव के बाहर, किसी तन्तुवाय-शाला का विशाल छप्पर दिखाई पड़ा। भीतर प्रवेश कर गया। सैकड़ों जुलाहों के पंक्तिबद्ध हाथ बुनाई के साँचों पर तेजी से चल रहे हैं। कम्मकर : बुनकर।''' याद आ गई बरसों पुरानी उस दिन की बात। पिप्पली-कानन के मेले से चुपचाप निकल कर, इन कृषकों और कम्मकरों की बस्तियों में चला गया था। वहाँ से फिर मेरा हृदय लौट कर कभी नन्द्यावर्त के राजभवन में नहीं आया। केवल यही श्रमिक तो वे लोग हैं, जो सच्ची और जीवित रोटी खाते हैं। गर्म खून से सीधे उठी ताज़ा रोटी। उसके बाद महलों में बसते अभिजातों का भोजन बासा और मृत लगा था। महासत्ता से चुराया हुआ मोहन-भोग।''' फिर तो भोजन की ओर से मेरा मन ही विरक्त हो गया! . . .

अविराम श्रम करते, ये जीवन के शिल्पी श्रमिक। धर्म जिनमें सहज ही कर्म हो गया है। ये जन्मजात अपरिग्रही हैं। अपरिग्रह का व्रत लेने का दम्भ इन्हें नहीं करना पड़ता। क्योंकि परिग्रह ही इन्हें अनजाना है। इनके बाद केवल अनगार श्रमण ही सच्चा अपरिग्रही होता है। प्रकृत धर्म की रेखा सीधे श्रमिक से श्रमण की ओर गई है।

तन्तुवाय-शाला के जेठ्ठक ने आकर श्रमण का विनयाचार किया। फिर सामने की ओर खड़ी श्रमण-वसतिका की ओर इंगित कर वह मुझे उस ओर ले गया। दालान के एक कोने में बिछे तख्त का मयूर-पींछी से शोधन कर, मैं उस पर आसीन हो गया। जेठ्ठक मेरी आवश्यकताएँ पूछता रहा। सो तो कुछ थीं ही नहीं। मैं चुप रहा। जेठ्ठक माथा नवाँ कर चला गया।'''

अगले दिन वड़ी भोर तन्तुवाय-शाला के एक कोने में जा कर ध्यानस्थ हो गया। कर्घो की खड़खड़ाहट में चेतना एकतान हो कर अनहद नाद से संयुक्त हो गई। एक अद्‌भुत सम्वाद की ध्यानानुभूति हुई। कर्म में अकर्म : और अकर्म में कर्म। सहसा ही सुनाई पड़ा :

'मगधनाथ श्रेणिक प्रणाम करता है, भगवन्।'

फिर एक कोमल कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा :

'वैदेही चेलना प्रणाम करती है, भन्ते।'

समरस श्रमण की स्थिर नासाग्र दृष्टि में, राजमुकुटों के रत्न पिघल कर एक श्वेत धारा में वुलवुलों-से विसर्जित हो गये।

'मगध के साम्राजी श्रमणगार का आतिथ्य स्वीकारें, भगवन्।'

उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। श्रमण ने दाँया हाथ उठा कर, कर्घो पर तेज़ी से घूम रहे, सहस्रों पंक्तिवद्ध हाथों की ओर उँगली उठा दी।

···देख श्रेणिक, पृथ्वी का आगामी साम्राज्य वुना जा रहा है।

महारानी चेलना ने निवेदन किया :

'देवानुप्रिय, हमारी सेवा स्वीकारें। मगध के महालय को अपनी पदरज से पावन करें।'

चुप रह कर, श्रमण फिर प्रतिमायोग में निश्चल हो गया।

• • •

एक तीसरे पहर वनचर्या से लौट कर देखा : श्रमण-शाला के एक कोने में कोई थका-माँदा युवक आकर ठहर गया है। उसके तेजस्वी चेहरे पर भोलापन है। दिङ्मूढ़-सा लगता है। निपट अकिंचन, पांशुकुलिक जान पड़ता है। उसके इकहरे गोरे सुन्दर शरीर पर, केवल जर्जर-सा अन्तर्वासक, और उपरना पड़ा है। घने घुंघराले अवहेलित वाल धूल में सने हैं।

'भन्ते आर्य, मैं मंखलि-पुत्र गोशालक प्रणाम करता हूं।'

मैंने निगाह उठा कर ऊपर से नीचे तक उसे हेरा।

'भिक्षुक वंश में ही मेरा जन्म हुआ है, भन्ते। जन्मजात अनगार हूँ। प्रवास की एक गोशाला में अचानक मेरी माँ ने मुझे प्रसव किया था, सो गोशालक कहलाता हूँ।···'

श्रमण चुप रहा।

'पिता मंखलि चितेरे हैं। भद्र लोगों के चित्रपट वना कर पेट पालते हैं। मेरी भी वही आजीविका है।'

चुप···

'देवार्य जैसा सुन्दर पुरुष तो आज तक मैंने देखा नहीं। आज्ञा हो तो आपका चित्र आँकूं, भन्ते···!'

श्रमण मौन, दूर की पहाड़ी ताकता रहा।

'कृपा करें भन्ते, ऐसे ही किसी निर्ग्रंथ गुरु की खोज में जाने कब से भटक रहा हूँ।'

'हूँ···!'

'चित्रांकन में अब मन नहीं लगता। भद्र लोगों के भोंथरे चेहरे कब तक आँकूं। सो निकम्मा समझ कर पिता ने निकाल दिया है। दर-दर मारा-मारा फिर रहा हूँ। कहाँ जाना है, पता नहीं। किस खोज में हूँ, नहीं मालूम। भिक्षा भी नहीं मिलती। कई दिन उपासे निकल जाते हैं। लोग मुझे कंगाल भिखारी समझ कर ताड़ देते हैं। मैं कहता हूँ, मैं श्रमण हूँ। वे उपहास करते हैं। बच्चों को मेरे पीछे छू लगा देते हैं। उद्धत बच्चे मुझ पर धूल फेंकते हैं, मुझे मार-पीट कर भगा देते हैं। ये लोग मुझे समझते ही नहीं। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, भन्ते, राह दिखाएँ।'

मैं अपलक मौन उसे ताकता रहा।

'भन्ते, क्षमा करें, इस संसार में सब ओर मुझे मायाचार ही दीखा। सब झूठ। कोई किसी का नहीं। सब स्वारथ के सगे। राजा देखे, श्रेष्ठि देखे, श्रावक देखे, श्रमण भी बहुत देखे। सब पाखंडी। हैं कुछ और, दिखाते कुछ और हैं। पर मैं तो निरा मूर्ख हूँ, भन्ते। चतुराई आती नहीं। जो मन में आता है, वही बक देता हूँ। सच्ची बात कहने से डरता नहीं। इसी से सब मुझ से चिढ़ते हैं। धक्का देकर हँकाल बाहर करते हैं। उनकी पोल खोल देता हूँ न। क्या करूँ, स्वभाव से लाचार हूँ, भन्ते।'

'हूँ···!'

'आप महानुभाव हैं, देवार्य। मेरी बकझक सब सुन रहे हैं। इतने धीरज से किसी ने मुझे नहीं सुना। बहुत अनुगृहीत हुआ आपको पा कर।···'

अकारण वात्सल्य मेरी आँखों में झलक आया। मैं उस मलिनवेशी दीन युवा के प्रति दयार्द्र हो आया। निरा सरल, चिर अनाथ बालक है यह।

'भगवन्, अपने ऊपर मुझे बहुत खीझ और क्रोध आता है। आत्मग्लानि से मेरा मन सदा क्षुब्ध और कातर रहता है। कितना टूटा-फूटा, घृणित, बेकार हूँ मैं। लगता है कि बहुत अधूरा और अटपटा हूँ। यहाँ सब अधूरे और अटपटे हैं। पर कपट कौशल से अपने छिद्र छुपाते हैं। मुझे कपट-कूट आता नहीं। करना चाहता हूँ, पर कर नहीं पाता। सफल नहीं होता। सो उलटी मार पड़ जाती है।'

हूँ···!'

'सुनें भन्ते, इस अधूरेपन से मैं वहुत ऊव गया हूँ। पूर्ण हुए विना, मुझे पल भर चैन नहीं। और भन्ते, संसार में स्वार्थ, भंगुरता, मृत्यु देख कर वहुत-वहुत व्यथा होती है। क्या इनसे निस्तार का कोई अचूक उपाय नहीं? ··· इस संत्रास में अव जिया नहीं जाता, भन्ते। क्या पूर्णता और मुक्ति जैसी कोई चीज़ सम्भव है, भन्ते ?'

मेरी आँखें पूरी विस्फारित हो कर उसकी आर्त करुण मुख-मुद्रा पर छा गयीं। वह उनमें खोया, कुछ आश्वस्तता अनुभव करने लगा।

'भन्ते, औद्धत्य क्षमा करें। ये जो अजित केश-कंवली आदि कई श्रमण मोक्ष-मार्ग का प्रवचन करते घूम रहे हैं न, ये सव दुष्ट और पाखण्डी हैं। इनके दिल में दया नहीं। हाथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और। वारीक तत्व-चर्चा और धर्मोपदेश करते हैं। पर इनका प्रवचन अलग, जीवन अलग। जीवन में साधारण संसारी से भी ये गये वीते हैं, भ्रष्टाचारी हैं।··· मुक्ति मार्ग ये क्या जानें। मैं तो डरता नहीं किसी से। अक्खड़ हूँ न। इनके मुँह पर इनकी वखिये उधेड़ देता हूँ। सो मुझे दुत्कार देते हैं। अपने शिष्यों से पिटवा कर मुझे भगा देते हैं।'

'हूँ···।'

मुझे निरुत्तर देख कर, गोशालक का छोटा-सा वालक मन क्षुब्ध हो आया। वह झल्ला कर अपने कोने में जा वैठा। सोचने लगा : 'मैंने तो इसे महानुभाव समझा था, पर यह श्रमण भी निरा पत्थर जान पड़ता है। उत्तर तक नहीं देता। वस हूँ··हूँ··करता रहता है।···निर्मम, निर्दय। पर देखने में कितना भव्य, सुन्दर और वीतराग है। लगता तो दया की मूर्ति है।···फिर मेरे प्रति ऐसा क्रूर क्यों है? कुछ समझ नहीं आता। जान पड़ता है, जगत में सत्य है ही नहीं। सव झूठ और पाखण्ड ही है। सव निःसार, निरर्थक, माया।···या फिर मैं ही वहुत दुर्गुणी, अपात्र, अभागा हूँ। कोई मुझे प्यार नहीं करता ···कोई मुझे नहीं चाहता। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? क्या आत्महत्या कर लूं?··' और वह चुपचाप रोता-सुवकता दीखा। औंधे हाथों से अपने आँसू पोंछता दीखा। मतिभ्रमित और किंकर्तव्य विमूढ़-सा हो कर अपने झोले में भरी चित्र-सामग्री और निरर्थक वस्तुओं को उलटने-पलटने लगा।···

उसके मन की सारी गति-विधियों को हथेली की रेखाओं-सा स्पष्ट देख रहा हूँ। दीन-दरिद्र है यह, वृत्ति से क्षुद्र है। क्रोधी, मानी, लोभी, द्वेषी भी है। हर समय प्रतिक्रियाओं से जलता-कुढ़ता रहता है। मैला-कुचैला है। जड़ और अकर्मण्य भी है। पर इसके कषाय पानी की लकीर-से क्षणिक हैं। वालक की तरह, क्षणिक

स्प्ट, क्षणिक तुष्ट है। किसी भी कषाय की ग्रंथि इसमें बँध नहीं पाती। निपट पानी है। काले के साथ काला, धौले के साथ धौला। संसारी अस्तित्व का जीता-जागता, चलता-फिरता व्यंगचित्र है। यह जगत इसे रास नहीं आया। सो कोई दुनियावी चेहरा अपना यह बना नहीं पाया। अपने किसी विलक्षण चेहरे की खोज में है। भीतर-बाहर एक है। कोई कपट-कूट, मायाचार इसमें नहीं। इस दुनिया का यह नहीं। यहाँ इसकी कोई हस्ती नहीं। अस्मिता नहीं। जानने को आकुल है कि 'कौन हूँ मैं?' आत्मा है यह : सहज ही जिज्ञासु, मुमुक्षु। स्वतंत्र।

◆ ◆ ◆

···चौमासा बैठ गया है। वर्षायोग नालन्दा में ही निर्गमन हो रहा है। मगध के सम्राट-सम्राज्ञी प्रायः आ कर अनुरोध कर जाते हैं, कि श्रमण उनके भोजन को प्रसाद करें। सो क्या वह मेरे हाथ है? चुप रहता हूँ। सुनता हूँ, महारानी चेलना नित्य राजद्वार पर द्वारापेक्षण करती हैं। पर भिक्षुक कभी उस राह नहीं आया।

मास-क्षपण हो गया : एक मास निराहार ही बीत गया। पारण राजगृह के विजय श्रेष्ठि के यहाँ हुआ। सर्वस्व-त्यागी श्रावक है वह। अर्जन कर संचय नहीं करता। कोटि सुवर्ण-द्रव्य निर्धनों को हर दिन दान कर देता है। उदन्त फैला है, श्रमण ने उसके घर आहार लिया, तो उसके आँगन में रत्न-वृष्टि हुई। आश्चर्य प्रकट हुए। मुझे तो कुछ पता नहीं।

उदन्त सुनकर गोशालक विस्मित है। सोच रहा है —प्रतापी है यह निगंठ। जिसकी भिक्षा यह ग्रहण कर ले, उसी का द्वार सुवर्ण से भर उठता है। यह सुने या न सुने, मैं तो इसका शिष्य हो रहूँगा। इसके प्रसाद से अन्न-भोजन तो पा ही जाऊँगा। ···सो आ कर वह मेरे निकट प्रणत हुआ और बोला :

'अनुगत हूँ, भन्ते। आपका शिष्य हूँ। दीन जन को अपना सेवक स्वीकारें। आपका क्या प्रिय करूँ, भन्ते?'

मैं सामायिक में तल्लीन था। उसे कोई उत्तर न मिला। पर देखता हूँ अब वह हर समय मेरा अनुसरण करता रहता है। ताक में रहता है, कि उसे कोई सेवा बताऊँ, तो वह धन्य हो जाये। पर मुझे तो कोई सेवा दरकार नहीं। यह शरीर स्वयम् ही अपनी सेवा कर लेता है। पराश्रय मेरा स्वभाव नहीं। किन्तु गोशालक मेरे आसपास मंडलाता रहता है। चुपचाप हर समय मुझे निहारता रहता है। कहीं से भी रूखा-सूखा पा कर जीवन-यापन करता है। अपने में रहता ही नहीं। अहर्निश उसका जी मुझी में लगा रहता है। चाहे जब आ कर कहता है :

'शरणागत हूँ, भन्ते। मेरे एकमेव आश्रय हो। संसार में मेरा कोई नहीं।··· मैं किसी का नहीं···।'

मैं उसके भोले चेहरे को एक निगाह देख, चुप ही रहता हूँ।

एक और मास-क्षपण का पारणा आनन्द लोहार के यहाँ हुआ। फिर एक मास निराहार बीत गया, तो सुनन्द जुलाहे के कुटीर द्वारे भिक्षुक प्रतिलाभित हुआ। गोशालक आकर बोला :

'भन्ते, लोग कहते हैं, सुनन्द जुलाहे ने प्रभु को सर्वकामगुण आहार से तृप्त किया।···उत्कृष्ट रसवती तो समझ सकता हूँ, भन्ते, पर आहार में सर्वकामगुण कहाँ से आ गये ?'

मैं उसकी बाल्य-जिज्ञासा पर मुस्कुरा आया। वह बहुत गद्गद् हो गया। न समझ कर भी, मानों मरम गुन लिया हो उसने।

गोशालक सोचता रहता, निःसन्देह यह स्वामी महा प्रतापी है। जान पड़ता है, परम ज्ञानी है।···देखूँ तो, कितना ज्ञानी है ? सो कार्तिक पूर्णिमा के सवेरे मेरे निकट आ कर उसने पूछा :

'देवार्य, आज नालन्द के गृहस्थ वार्षिक उत्सव मना रहे हैं। सबके यहाँ भारी अन्न-मधुरान्न का पाक हो रहा है। तो मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा, भन्ते ?'

मैं एक टक चुप उसे देखता रहा। उसे जाने कहाँ से उत्तर सुनाई पड़ा :

'रे भद्र, खट्टा हो गया कोद्रव, और कूर धान्य पायेगा तू। और दक्षिणा में एक खोटा रुपया !'

···उत्तम भोजन की प्राप्ति के लिये लालायित गोशालक, सवेरे से साँझ तक द्वार-द्वार भटकता फिरा। पर उसे कहीं से कुछ मिला नहीं। तब सायंकाल होने पर एक सेवक राह में उस पर दया कर उसे अपने घर ले गया। उसके फैले हाथों में आ कर पड़े सचमुच ही खट्टे कोद्रव और कूरान्न। भूख की व्याकुलता वश वह उन्हें भी खा गया।···और दक्षिणा में एक चमकता रुपया भी पाया उसने। पण्य में परीक्षा कराई तो पता चला कि सिक्का खोटा है। हाय रे भाग्य ! सच ही मेरे गुरु ज्ञानी हैं। होनी टल नहीं सकती। नियति जैसी कोई चीज़ अवश्य है। आ कर मुझ से बोला :

''भन्ते, सर्वज्ञानी हैं आप। भावी की रेखा अटल होती है। नियतिवाद ही सत्य है।'

'निश्चय, अज्ञानी नियतिबद्ध है। पर ज्ञानी स्वयम् अपना नियन्ता है। जो स्व-भाव में है, अपना भावी वह आप है।'

गोशालक चौंका। मुझे मौन देख, अचंभित हो रहा। स्वामी तो चुप हैं, फिर उत्तर किसने दिया ?···असमंजस में खोया वह अपनी राह चला गया।

◆ ◆ ◆

वर्षायोग समाप्त होने पर नालंदा से विहार कर गया। चलते समय देखा, गोशालक का कोना सूना पड़ा है। उसकी झोली भी वहाँ नहीं है। कहीं भटकता होगा।

फिर कोल्लाग सन्निवेश में आ निकला हूँ। यहाँ के वहुल ब्राह्मण का भाव उज्ज्वल है। चौमासे के अन्तिम मास-क्षपण का पारण उसी के द्वार पर हुआ। उसके हाथ से जैसे चन्द्रमा ने भिक्षुक के पाणि-पात्र में पयस ढाल दिया।

भूखे-प्यासे गोशालक का निरीह कुम्हलाया मुख सामने आ गया। देख रहा हूँ : नालन्द की तन्तुवाय-शाला के श्रमणागार में लौट कर, जब उसने मुझे वहाँ नहीं पाया, तो वह उद्विग्न हो गया। सब से पूछता फिरा : स्वामी कहाँ गये? किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। सारा दिन उदास मुख लटकाये चारों ओर खोजता फिरा। मन ही मन कातर हो कर उसे रुलाई आ गई : 'हाय, मैं तो फिर वैसा ही एकाकी हो गया।' वह विक्षिप्त-सा हो गया। उसने झोली राह पर फेंक दी। तत्काल मस्तक मुंड़वा कर और वस्त्र त्याग कर, नग्न हो निकल पड़ा। कोल्लाग सन्निवेश में आ कर उसने सुना कि वहुल ब्राह्मण के यहाँ एक श्रमण ने आहार लिया, तो रत्न-सुवर्ण की वृष्टि से उसका घर भर गया। उसने सोचा : 'ऐसा प्रभाव तो मेरे गुरु का ही हो सकता है।' खोज-तलाश करता वह नदी तट के एकान्त में आ पहुँचा, जहाँ मैं कायोत्सर्ग में लीन था। चरणों में सर ढाल कर वोला :

'मैं भी नग्न निःसंग हो गया, प्रभु। अव इन श्रीचरणों से मुझे अलग न रक्खें। क्षण भर भी अव स्वामी के विना मुझे चैन नहीं। पर तुम ठहरे वीतरागी, तुम से प्रीति कैसे सम्भव है? लेकिन विवश हूँ, वलात् मेरा मन तुम्हारी ओर खिंचता है। उपेक्षा करते हो, तव भी अपने ही लगते हो। क्योंकि विकसित कमल जैसी दृष्टि से तुम मेरी ओर देखते हो। ऐसी चितवन और कहाँ पाऊँगा!'

'आत्मन्, भव्य है तू!'

श्रमण के निस्पन्द ओठों से उसे सुनाई पड़ा। उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे और वह पागल हो कर नाचने लगा। अवधूत की तरह निरंजन है इस लड़के की चेतना। तन-मन के ऊपरी तलों में जाने कितने ही विरोधी खेल चलते रहते हैं। पर भीतर से एक दम ही उन्मन है यह। अकारण क्रीड़ा-कौतुक करता रहता है। कितनी विचित्र होती हैं, जीवों की परिणतियाँ।

◆ ◆ ◆

स्वर्णखल की ओर जा रहा हूँ। पीछे-पीछे गोशालक चुपचाप चल रहा है। मार्ग में कुछ ग्वाले खीर पका रहे हैं। गोशालक वोला :

'प्रभु, मैं क्षुधातुर हो गया हूँ। चलिये इन ग्वालों से पायसान्न का भोजन पायें।'

'यह खीर नहीं पकेगी!' जंगल बोल उठा।

गोशालक अपनी भूख को भूल कर उत्पात की मुद्रा में आ गया। जा कर ग्वालों से बोला :

'अरे गोपालो, सुनो, ये देवार्य त्रिकालज्ञ हैं। कहते हैं कि यह खीर नहीं पकेगी। पकते न पकते, तुम्हारी हँडिया फट जायेगी, और खीर माटी में मिल जायेगी।'

भयभीत और क्षुधार्त ग्वाले चौकन्ने हो गये। उन्होंने तुरत हँडिया को बाँस की खिपच्चियों से कस कर बाँध दिया। किन्तु चावल अधिक अनुपात में होने से फूल गये, और हँड़िया सचमुच ही फट पड़ी। ग्वालों ने ठीकरों में अवशिष्ठ खीर खा कर संतोष किया। पर गोशालक के पल्ले कुछ नहीं पड़ा।

मन ही मन वह बुदबुदाया : 'हाय री नियति! प्रभु सच ही कण-कण को जानते हैं। नियतिवाद परम सत्य है।' और अपने खोजे सत्य की प्रतीति पा कर ही वह मानों सन्तुष्ट हो गया।

आगे विहार करते-करते हम ब्राह्मण ग्राम आ पहुँचे। गाँव के दो पाड़े हैं : नन्द और उपनन्द नामक दो भाई क्रमशः उनके स्वामी हैं। नन्द का घर छोटा है, उसकी समृद्धि कम है। मैं उसी के द्वार पर भिक्षार्थ चला आया। बहुत प्रेम से उसने भिक्षुक को दही और कूरान्न का आहार दिया। उपनन्द का घर बड़ा देख कर गोशालक उसके यहाँ भिक्षार्थ जा पहुँचा। गृह-स्वामी की आज्ञा से एक दासी ने उसे बासी चावल भिक्षा में दिये। गोशालक ने रुष्ट हो कर उपनन्द को धिक्कारा। सुन कर उपनन्द ने दासी से क्रोधावेश में कहा :

'जो वह भिक्षान्न न ले, तो उसे उसके माथे पर ही डाल दे।'

बासी चावलों से नहा कर गोशालक गरज उठा :

'श्रमण का ऐसा घोर अपमान? यदि मेरे गुरु का तपतेज सच्चा हो, तो रे मदान्ध, तेरा घर जल कर भस्म हो जाये।'

तपतेज तो किसी का सगा नहीं। मेरा भी नहीं।...देखते-देखते उपनन्द का घर घासफूस के पुंज की तरह जलकर भस्म हो गया। मेरा किसी से क्या लेना-देना। जीव परस्पर अपना दीना-पावना चुका रहे हैं। प्राणियों के राग-द्वेषों के इन दुश्चक्रों में से अनुभव-यात्रा किये विना छुटकारा नहीं। जिसे पार करना है, उसे भेदना तो होगा ही। उसे जाने विना निस्तार नहीं।

चम्पा नगरी की ओर आ निकला हूँ। सुना है, पूर्व के समुद्रपाल राजा दधिवाहन मगध के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा के लिये लड़ते हुए चम्पा के दुर्ग-द्वार पर काम आ गये। अजातशत्रु और वर्षाकार यहाँ आधिपत्य जमाये, वैशाली पर आक्रमण करने का कूटचक्र रच रहे हैं।...महारानी पद्मावती और शील-चन्दना महावीर की शरण खोजने श्रावस्ती की ओर चली गई हैं। नियति के चक्रव्यूह पर खड़े हो कर, चम्पा को एक निगाह देखा। फिर, महावीर ने श्रावस्ती की ओर उद्‌बोधन का हाथ उठा दिया।

आकाश में बादल गरजने लगे हैं। धरती ने दरक कर प्यासे ओंठ ऊपर उठा दिये हैं। अन्नमय कोश को कंचुक की तरह उतार फेंका। और चन्दना तट के एक दुर्गम कान्तार में वर्षायोग सम्पन्न करने को, समाधिस्थ हो गया हूँ। आरात्रि-दिवस बरसती वृष्टिधाराओं, और समुद्री तूफानों तले निश्चल खड़ा हूँ। और यावन्मात्र जीव-सृष्टि की नूतन सर्जन-प्रजनन प्रक्रिया के इस पर्व में तल्लीन हो गया हूँ। पृथ्वी, जल, वनस्पति के इन निविड़ राज्यों के गहन अँधियारों से पार हो रहा हूँ। जीवों की आबद्ध आत्माओं के भीतर छाये, कर्मों के जटा-जूट शाखा-जालों का अन्त नहीं है। आग्नेय चक्र की तरह अपनी चेतना को, इस आलजाल में धँसती ही चली जाती देख रहा हूँ।...पर यह कौन है, जो दुर्गम और भयानक अरण्य की त्रिशूलाकार शिला पर अविचल बैठा है।

...वर्षायोग की समाप्ति पर, चम्पा के बाहर, पुंडरीक चैत्य में प्रतिमायोग से अवस्थित हूँ। चम्पा-दुर्ग की सब से ऊँची बुर्ज पर, एक सुवर्ण के मारीच दानव को अट्टहास करते सुन रहा हूँ।... अरिहन्तों की आदिकालीन विहार-नगरी चम्पा, जाग...जाग...जाग...!

चम्पा से प्रस्थान कर रहा था कि गोशालक को फिर छाया की तरह अनुगामी पाया। साँझ होते, कोल्लाग ग्राम पहोंच कर बाहर के एक शून्य गृह में वास किया। रात्रि घिर आई। चिर परित्यक्त शून्य गृह के एक कोने में प्रतिमायोग से ध्यानस्थ हूँ। द्वारा पर गोशालक चपल वानर की तरह चंक्रमण कर रहा है। तभी ग्राम के स्वामी का सिंह नामा एक पुत्र अपनी अभिनव यौवना दासी विद्युन्मति के साथ एकान्त में केलि-क्रीड़ा करने को शून्यगृह में प्रविष्ट हुआ। उच्च स्वर में उसने पुकारा :

'यहाँ कोई साधु, ब्राह्मण या यात्रालु हो तो बोले। ताकि हम अन्यत्र चले जायें!'

अँधेरे में छुपे-छुपे गोशालक विद्युन्मति को देख कर गलदश्रु हो आया। उसके जी में मीठी-मीठी धुकधुकी होने लगी। एक मधुर जिज्ञासा से उसका सारा प्राण कातर हो आया। सो वह कुतूहली अपनी जगह गुपचुप हो रहा।

···और मैं ? मैं तो उत्सर्गित हूँ, उत्क्रान्त हूँ। यहाँ हूँ ही नहीं। जाने कहाँ हूँ। मैं तो कुछ देखता नहीं : सब कुछ देखता हूँ। यहाँ भी हूँ, अन्यत्र भी हूँ। मुझ से क्या छुपा है ? उत्तर कौन दे ?···

सिंह ने आश्वस्त हो कर, शून्य गृह के निर्जन अन्धकार में, विद्युन्मति के साथ निर्द्वन्द्व और तल्लीन होकर रति-क्रीड़ा की !···जब वहाँ से वे दोनों निकले, तो द्वार के पास अँधेरे में खड़े गोशालक ने विवश हो कर दासी का कर-स्पर्श कर लिया। वह चिल्ला उठी : 'स्वामी, किसी पुरुष ने मुझे स्पर्श किया है···!'

तत्काल सिंह ने लौट कर गोशालक को धर पकड़ा। बोला :

'अरे कपटी, निर्लज्ज, तेने चुप रहकर हमारी मदन-क्रीड़ा देखी है। बुलाया था, तो उत्तर भी नहीं दिया रे नीच ?'

कह कर उसने गोशालक को दोनों हाथों से उठा कर, पत्थर की दीवार से कई बार पछाड़ दिया। और अपनी दासी को लेकर छूमंतर हो गया।

गोशालक घायल बिल्ली-सा आ कर मेरे पैरों में दुबक गया। बोला : 'स्वामी, आप के देखते इस दुष्ट ने मुझे मारा। और आपने मेरी रक्षा भी नहीं की। मेरे संरक्षक हो कर भी, मेरी दुर्गति को चुपचाप देखते रहे। कैसे स्वामी हो तुम ?'

मैं कुछ नहीं बोला। निष्कंप और निश्चल उसकी दुर्गति और दुर्दशा को सहता रहा।···मुझे अक्रिय देख, वह हार कर किसी कोने में जा पड़ा। बड़ी देर सुबकता रहा। फिर अपनी ही छाती में मुँह डाल कर, पशु की तरह सुख पूर्वक गाढ़ निद्रा में मग्न हो गया।

कौन कपटी है, कौन कामी है, कौन अकामी है, कौन सच्चा है, कौन झूठा है, सो केवली के सिवाय कौन ठीक-ठीक जान सकता है ? दूसरे चरित्र के निर्णायक हम कौन होते हैं ?

◆ ◆ ◆

कोल्लाग से चल कर पत्रकाल ग्राम आया हूँ। यहाँ भी गाँव बाहर के एक शून्यगृह का अन्धकार आवाहन देता दीखा। सो उसके एक कोने में जाकर संचेतन भाव से ध्यान में लीन हो रहा। देखूँ, इस अन्धकार में क्या चल रहा है ? कुछ रात बीते अचानक उच्च स्वर सुनाई पड़ा :

'अरे कोई है यहाँ ?'

शून्य में से कोई उत्तर नहीं लौटा। झिल्ली की झंकार और भी गहरी और तीव्र हो गई। एक नर-नारी युगल की पद-चाप से सन्नाटा भंग हुआ।

'प्रियतम स्कन्द !'

'प्रिये, दंतिला···?'

'तुम ग्रामपति के पुत्र, मैं एक तुच्छ दासी !'

'आह, तुम्हारा रूप-यौवन ! दासी नहीं, रानी हो मेरी। · · ·आओ !'

झिल्लियाँ तक चुप हो गईं। शून्य गहराता चला गया। एक मात्र उपस्थिति में, अन्य सब अनुपस्थित हो गया। · · ·एक दृष्टा के भीतर द्रव्य का शुद्ध परिणमन चल रहा है। कुछ ध्रुव है : उसी में कुछ उदीयमान है, कुछ व्यतीतमान है। नाम, रूप, सम्बन्ध से अतीत, केवल पर्यायों का संक्रमण।

हठात् द्वार-पक्ष में गोशालक का अट्टाहस सुनाई पड़ा। ग्रामपति का पुत्र स्कन्द क्रोध से गरज उठा : 'अरे यह कौन पिशाच है, जिसने हमें छला है !'

तड़ातड़ लात-घूंसों की मार से गोशालक को गठरी होते देख रहा हूँ। · · · फिर सन्नाटा छा गया ! सहसा ही अपने पैरों में आ पड़े गोशालक का आर्त्त स्वर सुनाई पड़ा :

'भगवन्, ये नर पिशाच शून्यगृहों में आ कर दुराचार करते हैं, तो मैं इनके पापों को खुली आँखों देखता हूँ। आपका शिष्य हूँ, और दृष्टा हूँ, सो सब-कुछ देखूंगा ही। आप से तो कुछ कहने की सामर्थ्य इनमें नहीं। किन्तु मुझ निर्दोष को निर्वल जान कर, ये मुझ पर अत्याचार करते हैं। यह कहाँ का न्याय है ? · · ·और आप इनका वर्जन भी नहीं करते और मेरा रक्षण भी नहीं करते। फिर मैं किसकी शरण लूं, भन्ते ?'

'किसी की नहीं।'

'तो फिर मुझे कौन वचाये ?'

'कोई नहीं !'

'तो फिर मैं क्या करूँ ?'

'अपने को देख। · · ·तू ही अपना संरक्षक, तू ही अपनी शरण।'

'समझा नहीं, भगवन्।'

'वाचाल तीतर ! · · ·मौन हो जा, वत्स।'

अनबूझ, निराश गोशालक रात भर वाहर की पतझारों में स्वयम् अपने ही द्वारा आखेटित व्याध-सा, अपने हत्यारे की खोज में विक्षिप्त भटकता रहा।

□

मुक्ति-मार्ग : सबका अपना-अपना

कुमार सन्निवेश के चम्पक-रमणीय उद्यान में एक शिलातल पर उपविष्ट हूँ। शरद ऋतु के सुनील आकाश तले, शेफाली के झरते फूलों ने सौरभ से नहला दिया है। दोपहरी हो आई है। सुन्दर भूख, मेरी ऊँगली के इशारे पर चुपकी लड़की-सी, सामने बैठी मुझे टुकुर-टुकुर ताक रही है।

'भन्ते, मध्यान्ह हो गया। बहुत भूख लगी है। चलिये नगर में गोचरी पर चलें।'

मुझ से कोई उत्तर न पाकर क्षुधातुर गोशालक भिक्षाटन के लिये गाँव में चला गया। वह कहीं भी जाये, उसकी चर्या पर मेरी आँखें लगी रहती हैं। समूचे-संसार का नाटक, उसके व्यक्तित्व में एक बारगी देखता रहता हूँ। मानव अस्तित्व के वैपम्य की वह एक खुली किताब है। अवचेतना की सारी सम्भव ग्रंथियाँ, उसके वर्तनों में प्रतिपल नग्न और निर्ग्रंथ होती रहती हैं।

···कुमार ग्राम के चौक में गोशालक ने देखा कि कई श्रमण वस्त्र, कमली, पात्रा, दण्ड धारण किये भिक्षाटन कर रहे हैं। उसकी जिज्ञासा वाचाल हो उठी :

'अरे तुम कौन हो, भिक्खुओ ?'

'हम भगवान् पार्श्वनाथ के निर्ग्रथ शिष्य हैं।'

'ओरे मिथ्यावादियो, धिक्कार है तुम्हें। तुम कैसे निर्ग्रंथ ? दुनिया भर का ग्रंथ-परिग्रह तो अपने ऊपर लादे घूम रहे हो। महाश्रमण पार्श्व तो दिगम्बर अवधूत विख्यात हैं। तुम उनके शिष्य कैसे ?'

'हम स्थविर कल्पी हैं। अपने संहनन के अनुसार विचरते हैं।'

'स्थविर तो स्थावर होते हैं, और कल्पी कल्पक होते हैं। पर तुम तो पूरे जंगम हो, जंगी। तुम तो ठोस भोजन की खोज में, उलंग घूम रहे हो। संहनन तो मैं करता हूँ, रातदिन अपनी हानि करता हूँ···तप ! समझे कुछ ?'

पार्श्वापत्य श्रमणों को उसकी मूढ़ता और वाचलता पर किंचित् हँसी आ गई···।

'अरे पाखंडियो, मेरा उपहास करते हो ? तुम कैसे निर्ग्रंथ, सच्चा निर्ग्रंथ तो मैं हूँ । कोई गाँठ मेरे मन में नहीं, जैसा हूँ, तुम्हारे सामने हूँ । नंगा, भूखा, कामी, लोलुप, जो हूँ, उसे छुपाता नहीं । पर तुम निर्ग्रंथ वने घूमते हो, और वस्त्र-पात्रों में अपनी वासनाओं को छुपाये विचरते हो ।'

श्रमण उसे उन्मादी समझ कर, चुपचाप अपनी राह चल पड़े ।

'वस कलई खुल गई न, तो भाग निकले । अरे सुनो, महाश्रमण पार्श्व का निगंठ रूप देखना चाहोगे ? तो चलो मेरे साथ, और मेरे गुरु को देखो । वे भीतर-वाहर एक-से दिगम्बर हैं, असंग हैं, अपेक्षा रहित हैं । मौन हैं । जितेन्द्रिय और मनोजित हैं । महीनों में एकाध वार किसी भव्यात्मा को कृतार्थ करने के लिये, उसका आहारदान ग्रहण करते हैं ।'

'जैसा तू, वैसे तेरे गुरु ! कोई गुरु विहीन, स्वच्छन्दी, मनमाना लिंग धारण करने वाले दीखते हैं तेरे गुरु ?'

'हाँ, गुरु उनका कोई नहीं । वे स्वयम् ही अपने गुरु हैं । अनुयायी जो होते हैं, वे पाखंडी हो ही जाते हैं । जैसे तुम । मेरे गुरु ने इसी लिये मुझे अपना शिष्य नहीं अंगीकारा । कहते हैं–अपने को देख, अपने को जान, तेरा गुरु तेरे भीतर वैठा है । तेरे सिवाय कोई नहीं ... । समझे कुछ, मूर्खो !'

श्रमणों ने सहज हँस कर उसकी उपेक्षा कर दी और चल दिये । अपमान से जल कर क्रुद्ध कार्पटिक की तरह गोशाले ने शाप दिया :

'मेरे गुरु का तप-तेज सत्य हो, तो जाओ दम्भियो, तुम्हारा उपाश्रय जल कर भस्म हो जाये ।'

उसका यह वातुल रूप देख ग्रामवासियों ने उसे धक्के मार कर वाहर कर दिया । भिक्षा से वंचित, भूखा-प्यासा, रोता-कलपता वह द्रुत पगों से उद्यान की ओर दौड़ा आया । अपनी व्यथा मुझ तक पहुँचाने को वह वहुत व्यग्र था । पर मुझे वहाँ न पा कर, वह वहुत व्याकुल हो गया । क्रोध से उत्तेजित होकर चंक्रमण करता, उपाश्रय के जलने की प्रतीक्षा करने लगा । पर न तो मैं ही उसे मिला, न उपाश्रय ही जला ... । अगले दिन जव मैं चम्पक-रमणीय उद्यान में लौटा, तो देखा कि निराहार, लुंजपुंज वह शिलातल पर माथा ढाले पड़ा था । सहसा ही आसन पर मुझे उपस्थित पा कर वह जैसे जी उठा ।

'स्वामी, वार-वार मुझे छोड़ कर चले जाते हो । तुम्हारे दिल में कोई दया-माया भी नहीं ?'

मैं चुप, मातृक दृष्टि से उसे ताकता रह गया ।

'भन्ते, कल ग्राम में मैंने पार्श्वनाथ के कुछ पाखंडी शिष्यों को देखा । आचूड़ परिग्रह से लदे हैं, और अपने को निगंठ श्रमण कहते हैं । मैंने उनके पाखंडों का पर्दा

फाश कर दिया। ठीक किया न भन्ते ?'

मैंने कुछ नहीं कहा। मेरी आँखें क्षुरधार देख उठीं।

'भन्ते, वे क्या निगंठी हैं ?'

'निश्चय, निर्ग्रंथ वह, जो सवस्त्र और अवस्त्र से परे है। नग्न हो कर भी कोई निर्ग्रंथ नहीं भी हो सकता है। और सवस्त्र हो कर भी कोई निर्ग्रंथ हो सकता है।'

मेरे चेहरे पर उसने जैसे अग्नि के अक्षरों में लिखा, यह पढ़ लिया।

'भन्ते, वे आपकी निन्दा कर रहे थे। कह रहे थे, होगा कोई कुलिंगी, स्वेच्छाचारी, तेरा वह गुरु···! पार्श्व के शिष्य ऐसे प्रमादी, कि अर्हत् महावीर को नहीं जानते !'

मैं चुप रहा। अपने ऊपर झरते शेफाली फूलों को हाथों में झेलता रहा।

'भगवन्, मैंने उन अर्हत्-निन्दकों को शाप दिया कि मेरे गुरु के सत्य-तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय···। पर अब तक तो जला नहीं, प्रभु ? क्या आपका तपतेज असत्य सिद्ध होगा लोक में ?'

'उपाश्रय नहीं जला, पर तू रात और दिन जल रहा है, सौम्य। क्यों आत्मदाह करता है, वत्स ? अर्हत् उपाश्रय में भी हैं, तेरे पास भी हैं। अपने को देख··· देख···देख, सौम्य।'

गोशालक शान्त होकर अर्हत् के आसन-प्रान्त में ही शिशुवत् सो गया।

मध्य रात्रि झाँय-झाँय कर रही है। कायोत्सर्ग में एकाएक मैं उन्मुख हुआ।

···उधर देख रहा हूँ, मुनिचन्द्र सूरि को। उपाश्रय से दूर अटवी में वे जिनकल्प की महातपश्चर्या में लीन, आत्मजय की उच्चाति-उच्च श्रेणियों पर आरोहण कर रहे हैं। इस ग्राम में उन्हीं के सचेलक शिष्य भिक्षाटन करते हैं। समाधिस्थ मुनिचन्द्र के वस्त्र सर्प-कंचुक, वृक्ष-छाल, अथवा जीर्ण पत्रों की तरह आपोआप ही झर पड़े हैं। उपाश्रय का स्वामी कुपनय कुम्भार मदिरापान में उन्मत्त हो, मध्य-रात्रि में, पड़ोस के जंगल में भटक रहा है। उसने वहाँ शिलीभूत श्रमण को धूर्त चोर समझ कर, उनका गला घोंट दिया। श्रमण प्रतिक्रियाहीन, निर्वैर भाव से अपनी वेदना को सहते रहे। अकस्मात अवधिज्ञान से उनकी आत्मा ज्योतित हो उठी...। और उन्होंने सहर्ष प्राण त्याग दिये :

···दूर पर उल्का की तरह प्रकाशमान देवश्रेणि आकाश में वाहित दीखी। गोशालक चकित रोमांचित हो कर बोल पड़ा।

'भन्ते, आप के सत्य-तेज से उपाश्रय में आग लग गई। ज्वालाएँ आकाश चूम रही हैं।'

'निर्भ्रान्त हो, वत्स। उपाश्रय नहीं जला। श्रमण मुनिचन्द्र सूरि की तपःपूत आत्मा देवलोक में गमन कर रही है !'

'तो अर्हत् महावीर का तपतेज मिथ्या सिद्ध हो गया, भन्ते ?'

'वह सत्य सिद्ध हो गया। यह विद्युल्लेखा उसकी साक्षी है···!'

गोशालक ने अन्तरिक्ष में वाहित उस ज्योति-शिखा को प्रणाम किया।

गोशालक के चापल्य और कौतूहल को चैन नहीं। वह दौड़ा-दौड़ा गया और उपाश्रय टोहने लगा। पास जा कर देखा, सुगन्धित जलों की दिव्य वृष्टि में नहाया उपाश्रय सुनसान पड़ा है। एक परिन्दा भी वहाँ नहीं फड़का। भीतर जा कर उसने देखा, सूरि के शिष्यागण गहरी निद्रा में खर्राटे खींच रहे थे। उसने कोहराम मचा दिया :

'ओरे मुंडो, ओरे प्रमादी शिष्यो, तुम कैसे श्रमण हो ? तुम्हारे गुरु स्वर्ग सिधार गये, और तुम पर जूँ भी नहीं रेंगी ? दिन में गोचरी करना, और रात में अजगर की तरह सो रहना। क्या यही तुम्हारी श्रमणचर्या है, पण्डो···?'

खलभला कर सारे श्रमण जागे, और अपने प्रमाद पर उन्हें घोर पश्चाताप होने लगा। वानरवंशी गोशालक अपनी सफलता पर हर्ष मनाता, मेरे पैरों में आ दुबका। अस्तित्व की एक मौन, विस्फोटक चीत्कार।

◆ ◆ ◆

चोराक ग्राम की एक सीमावर्ती पहाड़ी पर आकर पैर रुक गये। उसी स्थल पर अनायास ध्यानस्थ हो गया। मेरे समकक्ष ही गोशालक भी ध्यानलीन हो रहा। अब वह अनुसारिणी छाया की तरह ही मेरी हर चर्या का अनुकरण करने लगा है। उसका मन तो खाली है। उसमें कुछ ठहरता नहीं। सो सहज ही मेरा प्रतिबिम्ब हो रहता है।

देखता हूँ, सीमान्तक प्रदेश होने से आजकल यहाँ परचक्र का भय व्याप्त है। कोट्टपाल अपने आरक्षकों को साथ लिये गश्त लगाते रहते हैं।

अचानक कुछ पदचापें, कुछ फुसफुसाहटें सुनाई पड़ीं।

'अरे पण्डो, तुम कौन हो ?'

उन्हें हमसे कोई उत्तर नहीं मिला। बार-बार पूछने पर भी उत्तर नहीं मिला। उन्हें शंका हुई : निश्चय ही ये कोई परचक्र के गुप्तचर हैं। कोट्टपाल कड़क उठा :

'अरे बहरे हो क्या ? जान पड़ता है गूँगे भी हो ?'

उत्तर कौन दे···?

'ठहरो, अभी तुम्हारी बहर और गूंग दोनों निकाले देता हूँ।···

'आरक्षको, बाँधो इनकी मुश्कें, और इस अन्धे कुएँ में डाल कर इनकी मरम्मत करो !'

आश्चर्य कि गोशालक भी मेरे साथ अकम्प और मौन ही रहा। आरक्षकों ने हम दोनों को आमने-सामने जुड़ा कर रस्सियों से बाँधा और उछाल कर कुएँ में डाल दिया।

···फिर जैसे पानी भरने को घड़ा जल में पछाड़ा जाता है, उसी प्रकार वे हम दोनों को उस अन्धे कुएँ में पछाड़ने लगे।

'बोलो दुष्टो, बोलो, अब तो अपना भेद खोलो !'

फिर भी कोई उत्तर नहीं मिला। गोशालक मारे भय के मूक, मेरे वक्ष में गँठरी हुआ जा रहा है। वे और भी प्रबलता से हमें पूरे कुएँ में घुमा-घुमा कर पछाड़ने लगे। कुएँ की दीवारों के तीखे पत्थरों से टकरा कर, मेरी वज्रवृषभ हड्डियाँ तड़कती सी अनुभव हुईं। उनके पोलानों के अंधकार विदीर्ण होने लगे। उनमें से अन्तहीन तिमिरान्ध गुफाओं की साँकलें टूटने लगीं। उनमें जमे जन्म-जन्मों के जाले कटने लगे। उन जालों के टूटते ही एक कराल मकड़ी निःसहाय हो कर छिन्न-भिन्न होती दीखी। पुंजीभूत हिंस्रता के भयावह जंतु, त्रस्त रक्ताणुओं के अण्डों में से निकल कर कुएँ की अन्धता में रेंगने लगे। रस्सियों के झकझोरते आघात, वेधक पत्थरों की टक्करें, जितनी ही अधिक घातक होती गईं, तन-मन में एक रेशमीन राहत और शान्ति का अनुभव होने लगा।

तभी गोशालक की ग्रंथीभूत चुप्पी का मौन आक्रन्दन मन ही मन सुना :

'अरे प्रभु, मेरा अंग-अंग, अणु-अणु तुम्हारे अंगांगों से विंधा है। तुम्हारे गाढ़ आलिंगन में डूबा हूँ, तब भी तुम मेरी रक्षा नहीं करते ? देखो न, मेरा पोर-पोर छिल गया है। हड्डियाँ टूट गईं हैं। लहूलुहान हो गया हूँ। फिर भी तुम्हें मेरी कोई परवाह नहीं ···?'

क्षण भर वह चुप रहा, फिर रुँआसा हो कर बोला :

'हाय, पर तुम तो अपनी भी रक्षा नहीं करते। खुद मार खा रहे हो, मुझे भी मरवा रहे हो। कैसे स्वामी हो तुम ? ऐसे असमर्थ ?'

एकाएक रस्सियाँ थम गईं : पछाड़ रुक गई। कुएँ के धारे पर सहसा ही किसी नारी का कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा :

'कोट्टपाल, जो स्वरूप तुमने बताया है, वह तो वैशाली के देवर्षि राजपुत्र का ही है। क्या तुम नहीं जानते, वे चरम तीर्थंकर महावीर हैं। अभी छद्मस्थ अवस्था में हैं, सो मौन ही रहते हैं। दारुण तप से, दुर्दान्त कर्मचक्रों का भेदन करते विचर रहे हैं।'
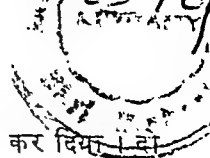
...आरक्षकों ने हमें बाहर निकाल कर, मुश्कें खोल खड़ा कर दिया। दो श्वेत वसना साध्वियाँ हमारी प्रदक्षिणा कर, चरणानत हुई :

'हम सोमा और जयन्ती, भगवन् । पार्श्व प्रभु की परिव्राजिकाएँ । उत्पल देवज्ञ की बहनें हैं हम ।'

'धर्म लाभ करो, देवियो !'

ठीक मेरे ही अनुसरण में गोशालक ने भी उद्बोधन में दोनों हाथ उठा दिये। कोट्टपाल और आरक्षक उसके तले भूसात् हो रहे ।

'क्षमा करें, भगवन्, हम अज्ञानी हैं ।'

'ज्ञान ही तुम्हारा एक मात्र स्वरूप है । अपने को पहचानो, सौम्य !'

...हम अपनी राह पर आगे बढ़ गये ।

'आश्चर्य वत्स, तू भी आज अखण्ड मौन रहा ?

'श्री गुरु की कृपा से कुछ बोध पाया है । कुछ पात्र हुआ हूँ । फिर आप जहाँ हों भन्ते, वहाँ मेरा कोई अनिष्ट हो ही नहीं सकता ।'

मैं कुछ नहीं बोला ।

◆ ◆ ◆

पृष्ठचंपा में वर्षायोग समापित कर, कृतमंगल नगर की ओर आया हूँ । उसकी एक वसतिका में, स्त्री-सन्तान वाले परिग्रही स्थविर रहते हैं । वे पितर-पूजक हैं, और लौकिक पारिवारिक सुख में ही मोक्ष का अन्वेषण करते हैं । उनके पाड़े के बीच एक बड़ा देवालय है । उसमें उनके परम्परागत कुल-देवता की प्रतिमा प्रतिष्ठित है । उस मंदिर में कई खम्भों की सरणियाँ हैं । उसी के एक कोने में, कोण-स्तम्भ की तरह निष्कम्प, कायोत्सर्ग में लीन हो गया हूँ ।

बाहर माघ-पूस की तीखी शीत हवाएँ चल रही हैं । मन्दिर में आरती का शंख-घंटा रव थम गया । उसके उपरान्त उस रात स्थविरों का कोई पर्वोत्सव आरम्भ हो गया । नाना ग्राम-वाद्यों की तुमुल समवेत ध्वनियों के बीच, सुरापान और नृत्य-गान करते हुए, वे स्थविर नर-नारी जागरण-भजन करने लगे ।

पर पुरुष और परनारी का भाव इनके मनों में नहीं है । मनमाने युगल जोड़ कर, हाथों में सुरापात्र लिये, अंगांग जुड़ाये आत्मभान भूल कर वे नाच रहे हैं । उनकी काम चेष्टाएँ पराकाष्ठा पर पहुँच कर, नृत्य-संगीत के सुर-तालों में मूच्छित हो जाती हैं । चाहे जब वे एक-दूसरे से छूट कर, नये युगल जोड़ कर, फिर क्रीड़ालीन हो जाते हैं । इस तल्लीन मदन लीला में मदन-पराजय का एक विचित्र दृष्य देख

रहा हूँ। पुप्प धन्वा के बाण इनकी आत्म-विस्मृत देहों पर पराहत हो गये हैं। लोक में मनुष्य नाना भावों के माध्यम से अपने भीतर बैठे भगवान आत्मा को खोज रहे हैं।

एकाएक कामाकुल गोशालक चिल्ला पड़ा :

'अरे ओ पाखंडियो, देवता के मंदिर में यह कैसा उच्छृंखल अनाचार कर रहे हो ? अपने को स्थविर कहते हो, और धर्म की आड़ में उलंग कामाचरण करते हो। अरे पापात्माओ, धिक्कार है तुम्हें, सौ बार धिक्कार है।...'

उत्सव में भंग पड़ते देख कर कुछ युवकों ने गोशालक को धक्के देकर, मंदिर से बाहर कर दिया...। देख रहा हूँ, वह मूढ़ वहीं खड़ा, शीत पवन के झकोरों में, दन्त-वीणा बजाता हुआ, आरत आँखों से नृत्योत्सव का सुख भोग रहा है। सो कुछ वृद्धों ने उस पर दया कर, फिर उसे अन्दर ले लिया। ठिठुरा शरीर गर्म होते ही फिर गोशालक चीखा :

'अरे उद्दण्डो, तुम्हें तो लज्जा नहीं। पर मैं लज्जा से मरा जा रहा हूँ। मैं ठहरा निर्ग्रंथ श्रमण। पर तुम्हारे स्वच्छन्दाचार से मेरा रक्त भी कामाकुल हो उठा है। अपनी इस नग्न काया को कहाँ छुपाऊँ...! कैसे निर्गति पाऊँ इस नरक से ? हाय, हाय, छिः छिः, असह्य है यह पापाचार। फट पड़ो पृथ्वी माता, और मुझे अपने गर्भ में समालो...मेरी रक्षा करो, माँ।'

स्थविरों ने फिर उसे घूँसे मार-मार कर बाहर ढकेल दिया। वह पहले की तरह ही फिर मन्दिर की सीढ़ियों पर खड़ा लुब्ध, लालायित आँखों से नृत्योत्सव का आनन्द लूटने लगा। उसकी दन्त-वीणा का आलाप प्रखरतर होता हुआ, भीतर की संगीतधारा में व्याघात पहुँचाने लगा। तब कुछ युवती स्त्रियों ने उसके आर्त प्राणों पर दया कर, उसे भीतर ला कर, एक कोने में बिठा दिया...। कुछ देर चुप रह कर वह फिर नाना अनर्गल प्रलाप करने लगा। फिर बाहर धकेल दिया गया। तीन बार क्रमशः कोप और कृपा का भाजन होकर भी, उसे चैन नहीं आया।

'अरे व्यभिचारियो, सत्य कहता हूँ, तो तुम मुझ पर कोप करते हो ! पर कहे विना रहा नहीं जाता। अपने पापों पर कोप करो तो तुम्हारा उद्धार हो जाये। मैं तो स्पष्ट भाषी हूँ। और देखो, मेरी आत्मा अपने ही काम पर भीषण कोप कर रही है।'

कुछ युवकों ने क्रुद्ध हो कर उसे घेर लिया। मुठ्ठियाँ तान कर वे उसका कुट्टन करने को तत्पर हुए...। तभी सहसा उन्हें दिखाई पड़ा, कि अरे यह तो कोई नग्न भिक्षुक है। इतना सुन्दर, कोमल, छौना-सा, फिर भी ऐसा ढीठ, उत्पाती ! और आश्चर्य है कि कुटाई-पिटाई झेलने को भी निरीह भाव से प्रस्तुत हो गया है। कोई विक्षिप्त अवधूत जान पड़ता है।

कि तभी एक सुन्दरी युवती चिल्ला पड़ी :

'अरे इधर देखो, हाय-हाय, कोन में देवता प्रकट हो गये हैं···! हमारा पूजोत्सव सार्थक हो गया।'

एक और आवाज़ :

'देवता ने हमारी पूजा से प्रसन्न हो कर दर्शन दे दिये।'

सबकी निगाहें आनन्दाश्चर्य से स्तब्ध, कोने में देख उठीं। एक वृद्ध घूर कर बोला :

'अरे ये तो वैशाली के देवांशी श्रमण वर्द्धमान कुमार हैं। और यह आयुष्यमान इनका कोई सेवक शिष्य जान पड़ता है...। इसे क्षमा कर दो।'

गोशालक त्राण पाकर मेरी एक जंघा के सहारे आ ढुलक रहा। सारे नर-नारी जन भूमिसात् प्रणत हुए।

'भन्ते, हमारी आराधना की यही रीति है। कुल-परम्परा से चली आई है। भगवान का कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करें।'

'अनेकान्त है मुक्ति मार्ग...!'

मन्दिर के देवासन पर से उत्तर ध्वनित हुआ। गुम्बद में से प्रतिध्वनि हुई 'सोऽहम् ...सोऽहम्...सोऽहम् !'

स्थविर नर-नारी असमंजस में स्तब्ध हो रहे : अरे ये देवार्य बोले, कि हमारे देवता बोले ?

मुझे निश्चल, मौन देख उनके आश्चर्य का पार न था। और उनके देवता तो आज तक बोले नहीं कभी। अपूर्व घटा है कुछ···। 'निश्चय ही हमारे पितर देवता हमारे पूजा-नृत्य से प्रीत होकर आज शब्दायमान हुए हैं। हमारी पीढ़ियों की साधना-आराधना सार्थक हो गई !' मन ही मन वे मुदित-मगन हो रहे।

उपरान्त अबूझ भाव से हम दोनों की वन्दना कर, स्थविर जन चुपचाप आविष्ट से अपने घर को लौट गये।

'भन्ते, इन पाखंडी पापियों की आपने भर्त्सना भी नहीं की। मेरा उन्होंने घोर अपमान किया, फिर भी आपने उन्हें क्षमा कर दिया। अखण्ड ब्रह्मचारी हो कर, आपने इन व्यभिचारियों की कामुक पूजा का समर्थन किया ?'

'इनके मन में व्यभिचार का विकल्प नहीं। व्यभिचार शब्द ही इन्हें अनजाना है। इनका काम आत्म-काम है। इनका लक्ष्य आत्म-रमण है।...'

'आप तो विचित्र हैं, स्वामी !'

'सत्य विचित्र ही है, वत्स । पाप न देख, आत्मा देख। अपमान में नहीं, स्वमान में रह। एक मात्र पाप है, अज्ञान। आलोचना औरों की नहीं, अपनी ही कर आयुष्य-मान् !'

...मन्दिर की दीवारें बोल रही हैं। देवार्य तो वैसे ही चुप खड़े हैं। गोशालक सुन कर दिङ्मूढ़ है।

...वह अनुताप-विह्वल हो आया है। आँसू झरती आँखों से वह श्रीगुरु-चरणों में ध्यानस्थ हो गया।

□

केवल आकाश, मेरा चेहरा

अपने मस्तक पर उदय होते सूर्य के साथ श्रावस्ती आया हूँ। सुदूर गंगा के तट पर खड़े हो कर, कोसलेन्द्र प्रसेनजित के आकाशचुंबी राजभवनों को देख रहा हूँ। उनके शिखर और बुर्ज काँप रहे हैं। उनके तले एक सड़ा हुआ राजा, केशर-कस्तूरी से अपने गलितांगों को सँवार रहा है।

नहीं, श्रावस्ती में नहीं जाऊँगा। अभी मेरी यात्रा सतह पर नहीं, तहों में चल रही है। गंगा के पानियों में धँस कर, श्रावस्ती की नीवों को झकझोरूँगा। कोसलेन्द्र की प्रासाद-मालाओं के पाये डोलेंगे।

···चन्द्रभद्रा शीलचन्दन, हताश न होओ, मैं आ गया हूँ। देख रहा हूँ, श्रावस्ती के अन्त:पुरों में, भयानक चक्रव्यूहों के बीच फँसी तुम छटपटा रही हो। पर तुम्हारे आसपास उज्ज्वल आत्माएँ भी हैं। जो तुम्हारी ही तरह, यहाँ के कुटिल अंधकार की कुंडलियों में जकड़ी हैं। मालाकार-पुत्री महारानी मल्लिका। शाक्यों की दासी-पुत्री महारानी रेणुका। प्रसेनजित के विलास-पर्यंक में वे शूलियों-सी खटक रही हैं। उनके बीच तुम खड़ी हो, अकेली।···मैं आश्वस्त हूँ। ये शूलियाँ एक दिन तुम्हारा सिहासन वनेंगी। वह दिन दूर नहीं, जब पितृघाती दासी-पुत्र विडुडब की वरिता हो कर, तुम कोशल की पट्टमहिषी के आसन पर उन्नीत होओगी। तब कोशल के लोक-हृदय पर तुम्हारा राज्य स्थापित होगा। वही होगा मेरा साम्राज्य। जिनेश्वरों की शासन-देवी हो कर तुम पृथ्वी पर चलोगी।···

···लुब्धकों की मर्त्य और पौद्गलिक चम्पा मर गई। अच्छा ही हुआ। वह उसकी अनिवार्य नियति थी। लेकिन अर्हंतों की अमरा चम्पानगरी का तुम्हारे भीतर फिर उत्थान होगा। तुम्हारे सौन्दर्य की स्वयं-प्रभा में उद्दीप्त हो कर, वह शाश्वती में सर्वकाल वर्द्धमान रहेगी। तथास्तु, शीलचन्दन.···!

◆ ◆ ◆

'चलिये भन्ते, भिक्षाटन को चलें, असार संसार में सारभूत वस्तु एक भोजन ही तो है।'

मुझे निरुत्तर देख कर, गोशालक फिर बोला :

'मुझे तो भयानक भूख लगी है, भन्ते। बतायें स्वामिन्, आज मुझे कैसा आहार मिलेगा ?'

'नरमांस···!'

मुझे मौन देख कर वह बड़बड़ाया : 'प्रभु तो बोलते नहीं, यह कौन पिशाच बोला ? प्रभु ऐसा कैसे कह सकते हैं ?'

'जहाँ मांस की गन्ध तक नहीं हो, ऐसी ही बस्ती में गोचरी करूँगा। और मिथ्या कर दूंगा यह वचन।'

···देख रहा हूँ : श्रावस्ती के पितृदत्त गृहपति की भार्या श्रीभद्रा के सदा मृतक पुत्र ही आते हैं। शिवदत्त नैमित्तिक ने उसे परामर्श दिया है, कि : 'इस बार मृतक पुत्र आने पर, श्रीभद्रा उसके रुधिर-मांस से दूध, घी, मधु के साथ खीर बनाये। फिर कोई धूलि-धूसरित पगों वाला, सुभग भिक्षुक द्वार पर आये, तो उसे उसका आहार कराये। ऐसा करने से आगे वह जीवित सन्तान ही जनेगी। भिक्षुक के आहार कर जाने पर गृह का मुख-द्वार चुनवा कर, दूसरी दिशा में खुलवा देना। ताकि पता लगने पर वह भिक्षुक, लौट कर तेरे गृह को अपनी कोपाग्नि से भस्म न कर दे।'

देख रहा हूँ : आज श्रीभद्रा की प्रसूति हुई है। निर्देशानुसार वह यथा-विधि मृतक शिशु के रुधिर-मांस की खीर बनाकर द्वारापेक्षण कर रही है।... गोशालक को द्वार पर पा कर उसके हर्ष का पार नहीं। उसने उमग कर उसे पायसान्न का आहार कराया। परम तृप्ति अनुभव करता गोशालक लौट आया।

'भन्ते, आपकी कृपा से उत्तम पायसान्न का आहार पाया। पिशाच की वाणी मिथ्या हो गई। भन्ते जयवन्त हों !'

उसे सुनाई पड़ा :

'अरे ओ लुब्धक, तेरे पेट में नर-शिशु के अवयवों का पायसान्न पड़ा है !'

और जो घटित हुआ है, उसका सारा वृत्तांत उसे सुनाई पड़ा। हाय-हाय, यह कैसा अनर्थ। उसकी अँतड़ियाँ विद्रोह कर उठीं। उद्विग्न हो कर उसने वमन कर दिया। उसमें उसे मृत शिशु की उँगलियाँ, केश, नख आदि दिखाई पड़े। क्रोध से फुँफकारता वह उस गृहिणी के घर की ओर झपटा। उस स्थान पर कोई द्वार न देख, वह बहुत निराश हो गया। आत्मग्लानि से आक्रन्द करते हुए उसने शाप उच्चारित किया :

'वह घर जहाँ भी हो, मेरे प्रभु के तप-तेज से जल कर राख हो जाये !'

···घर जलने की प्रतीक्षा में वह उसी बस्ती में व्याकुल हो कर चक्कर काटता रहा। घर तो कोई जला नहीं, उसके शरीर में ही तीव्र दाह जाग

उठी। छटपटाता हुआ वह आकर मुझ से बोला :

'क्या मेरे प्रभु का तप-तेज मिथ्या है, जो मेरा वचन मिथ्या हो गया ? जान पड़ता है नियति ही एक मात्र सत्य है। और सारे तप-तेज भ्रांति है।'

'नियति से भी अधिक शक्तिमान है यति, संयति। वह नियति को भी जय कर सकता है, उसे मन चाही मोड़ सकता है। अपने को देख, सौम्य, अपने को देख!...'

...मैं चल पड़ा। अन्यमनस्क गोशालक भी मेरे पीछे-पीछे चलने लगा। हरिद्रु ग्राम के परिसर में आकर हरिद्रु वृक्ष के नीचे प्रतिमा-योग से ध्यानस्थ हो गया हूँ। उसी छतनार वृक्ष की छाया में एक ओर श्रावस्ती की तरफ़ जा रहा कोई बड़ा सार्थ उतारा किये है। रात में शीत के आघातों से बचने के लिये उन्होंने वन-काष्ठों की भारी अग्नि प्रज्ज्वलित की थी। सबेरे उठ कर प्रस्थान की उतावली में सार्थवाह उस अग्नि को बुझाये बिना ही चल दिये। तभी हेमन्ती हवा की एक तेज़ आँधी उठ आई। समुद्र-गर्भ में प्रसुप्त बड़वानल की तरह वह अग्नि भभक उठी, और बाढ़ की तरह फैल कर उसकी लपटें मेरे पैरों को चूमने लगीं। उस दाह के समक्ष मैंने अपनी देह में एक अद्भुत स्थिरता अनुभव की। गोशालक कोलाहल कर उठा :

'अरे प्रभु, भागो, भागो यहाँ से, भयंकर अग्निकांड ने हमें घेर लिया है...!'

कह कर वह काक पक्षी की तरह वहाँ से पलायन कर गया। पर मेरे भीतर उठ रही ध्यानाग्नि ने सामने उठ रहे हुताशन का आलिंगन किया। भीतर के कितने ही कृतान्त कर्मचक्रों को मैंने उसमें भस्मसात् होते देखा।

आँखें खुलीं तो देखा, कि मेरे दोनों पैर झुलस कर कलौंछे हो गये हैं। मैं क्षणैक उनकी उस पर्याय को व्यतीत होते देखता रहा।...सहसा ही पाया कि वहाँ श्रमण के पैर नहीं रहे। वे आगे जा चुके हैं। दो कमल-कोश तुषारपात से कुम्हलाये हुए वहाँ पड़े हैं।

◆ ◆ ◆

आवर्त्तग्राम के बलदेव मन्दिर में चला आया हूँ। पूर्वाह्निक पूजा-भोग समापित करके पुजारी और दर्शनार्थी जा चुके हैं। जन-शून्य मन्दिर के देव-कक्ष में प्रवेश कर, एक अन्तरित कोने में खड़ा हो गया हूँ। मन्द दीपालोक में देव-प्रतिमा सजीवन हो आई। सौम्य मुस्कान के साथ हलधारी ने मानो मुझे टोका :

'सुनता हूँ, युगन्धर हो! पर तुम तो कायोत्सर्ग की निष्क्रिय मुद्रा में स्थिरीभूत हो। बाहर से मुँह फेर कर अपने में लवलीन हो। जिन हो कर सिद्धालय में ही जा बैठना चाहते हो ? जन-नायक हो कर जनालय के दु:खान्धकार में

नहीं उतरोगे ? तुम्हारा उन्नत मंदराचल-सा कंधा देख कर मेरा युगों से निष्कर्म हो पड़ा हल चलने को उद्यत हो उठा है। मनुष्यों के तन की माटी जड़ित हो गई है। लो, उनके शतियों से जड़ीभूत हो गये रक्त में हल चलाओ···!'

मैं अपलक, चुपचाप मुस्कुराता हुआ उन भद्र पुरुषोत्तम को ताकता रहा। और मेरी चेतना अन्तर्लीन हो कर, दिगन्तों तक फैली वसुन्धरा के बंजरों में व्यापती हुई, उनके नीरस सूखे गर्भदेशों में धँसती चली गई।···

उधर गोशालक कहीं से प्रेत का वीभत्स रूप धारण कर, गाँव के आँगन में खेल रहे बालकों के बीच आ कूदा है। विपुल लोमप काले भालू की तरह हुँकारता और छलांगें मारता वह बालकों को डरा रहा है। मारे भय के निर्दोष बच्चे चीखते हुए बेदम भागने लगे। बदहवास हो कर ठोकरें खा-खा कर गिरने लगे। किसी का सर फूट गया, किसी की नाक कुचल कर नथुनों से रक्त बहने लगा, तो किसी के होंठ कट गये।

भयार्त बालकों की चीखें सुन कर, गाँव में से उनके माँ-बाप दौड़ आये। हल्कार कर गोशालक उन पर भी लपका। उन्हें पहचानने में देर न लगी कि यह कोई दुष्ट बहुरूपिया है। आतंक जमाकर आनन्द लूटने का कौतुक कर रहा है।

सो कुछ बलिष्ठ पुरुष उस पर टूट पड़े। और जम कर उसकी कुटम-पंचमी करने लगे। घायल कुत्ते की तरह गालियाँ भूँकता, गोशालक पिटाई का आनन्द भी उसी सम भाव से लूटने लगा।

तभी मन्दिर की ओर से दौड़ता हुआ, एक वृद्ध पुजारी हाँक मारता आ पहुँचा।

'अरे इसे मार कर क्या मिलेगा ? इसका नग्न गुरु मन्दिर के देवकक्ष में घुसा बैठा है और उसी के आदेश से तो यह उपद्रव मचा रहा है। चल कर उसी की खबर लो।'

'चोर···चोर···चोर' : पुकारते कई लठैत, मन्दिर में घुस आये। एक साथ कई लाठियों के वार मेरे मस्तक पर सन्नाने लगे : मैं शिल्पीभूत-सा उत्सर्गित हो रहा।

ठीक लाठियाँ मेरे तन पर गिरने की अनी पर, देव-प्रतिमा में से ध्वनित हुआ : 'सावधान !' और देवासन से उतर कर बलदेव ने, अपना हल उठा कर उन लठैतों पर प्रहार किया। अनायास प्रहारकों पर छा कर मेरी दक्षिण भुजा उनके माथों पर फैल गई। त्राण पा कर कई कण्ठ एक साथ पुकार उठे :

'त्राहिमाम् देवता !···'

और प्रहार की मुद्रा में स्तंभित रह गये हल को खींचकर मैंने अपने दायें कन्धे पर धारण कर लिया।

'हलधारी का आदेश लोक में सम्पन्न हो !'

देवता फिर आसन पर स्थिर हो मुस्कुरा दिये।

लोकरव सुनाई पड़ा :'· · ·हमारे आराध्य देवता आज मानव-तन में प्रकट हो गये। पूर्व ऐसा तो कभी हुआ नहीं। शताब्दियों में कभी सुना नहीं गया कि यहाँ हलधारी बलराम स्वयम् विराजमान हैं। धन्य भाग· · ·धन्यभाग।'

'जय बलदेवा, जय हलधारी ! · · ·'

· · ·हर्षावेग में बेभान गाते-नाचते हुए वे सारे लोकजन श्रमण की आरती उतारने लगे। मुझे किंचित् कौतूहल की हँसी आ गई : 'अरे मनुष्यो, कब तक यों देवताओं का सहारा लेते फिरोगे ? अपने भीतर बैठे देवता को नहीं पहचानोगे ? मैं वही तो हूँ· · ·!'

लेकिन पूजा-प्रवाह का अन्त नहीं है। अपने बालकों के हत्यारे गोशालक को भी बलदेव का सेवक स्वीकार कर लिया उन्होंने।· · ·'अरे हमारे पापों से हमें डराने को भगवान ने अपना भेड़िया हमारे बालकों पर छोड़ दिया था !'

सो देवता के साथ उनका दण्डधारी भेड़िया भी पुजने लगा। लगा कि अविकल्प श्रद्धा की इस माटी में तो मेरा हल गहरी से गहरी भूमि काट सकेगा ! · · ·

◆ ◆ ◆

चोराक ग्राम के जम्बूवन तले अकारण ही चंक्रमण कर रहा हूँ। देखना चाहता हूँ, चलते समय मेरे पैर कहाँ पड़ते है। भूतल पर रेंगते अनेक सूक्ष्म जीवों के आवागमन में दृष्टि रम्माण हो गई। लगा कि विदेह हुआ जा रहा हूँ। पैर मेरे धरती पर पड़ ही नहीं रहे। नितान्त चेतना-प्रवाह हो कर, उन असंख्यात् जीवों की किंचित् देहों में संचरित हूँ।· · ·इस सुख का पार नहीं।

गोशाले को सदा भूख लगी रहती है। और वह प्राय: गोचरी पर ही होता है। यहाँ भी वह अन्न की खोज में गया है। देख रहा हूँ : एक अमराई तले कुछ ग्राम-युवकों ने गोठ का आयोजन किया है। दाल, बाटी, चूरमे के वन-भोजन का पाक हो रहा है। पांतरे के ताजा घी की सुगन्ध से वनभूमि महक उठी है। भोजन-रस-लुब्ध गोशालक किसी आम्र वृक्ष के तने की ओट छुप कर गहरे भोजन-ध्यान में लवलीन है। टुकुर-टुकुर ताक रहा है कि कब भोजन तैयार हो, और कब वह जा कर भिक्षा के लिये कर-पात्र पसार दे।

इस गाँव में आजकल चोरों का भय व्याप्त है। सो एक चौकसी पर बैठे युवक ने गोशाले को छुपे हुए देख लिया। 'चोर· · ·चोर' चिल्लाता हुआ वह उस पर झपटा। साथ ही और लोग भी झपट पड़े।

'अरे यह तो निरा भोला-भाला नंगा छोकड़ा है। इसकी क्या बिसात कि चोरी करे। किसी चोर का चर जान पड़ता है।'

सो किसी ने उसे धमका कर पूछा :

'सच-सच बताना रे, कहाँ है तेरा स्वामी, वह चोरों का श्री पूज्य ?'

गोशाले की जान में जान आयी। उसने सोचा : 'मेरे स्वामी का प्रताप देख कर, ये शरणागत हो जायेंगे। और मुझे मधु-गोलक की भिक्षा सहज ही सुलभ हो जायेगी।'

सो वह उन गोठियों को जम्बूवन में ले आया। दूर से मुझे टहलते देख कर, वे हर्ष मनाने लगे।···पकड़ाई में आ गया आज चोरों का सरदार। और वे एक साथ चीत्कार कर, मुझे मारने दौड़े।

उनके तड़ातड़ पड़ते लात-घूँसों के नीचे मैं वसुन्धरा-योग में गहरे से गहरे उतरता चला गया। इतना स्तब्ध और वज्रीभूत हो गया मेरा शरीर कि उनके चोटें करते हाथों को चोट लगने लगी। वे अपने घायल हाथों को सहलाते, मेरी ओर एकटक देखते रह गये।···सहसा ही उन्हें अनुभव हुआ कि उनके अंगांगों में चंदन का लेप हो गया है।

'अरे ये तो कोई अर्हत् जान पड़ते हैं!···'

और वे सब भूमिष्ठ प्रणाम कर, मन ही मन अनुताप-विगलित हो क्षमा याचना करने लगे।

'अपने ही को क्षमा करो, भव्यो, अपना अपराधी अपने सिवाय और कोई नहीं।'

और मैं अपनी राह बढ़ गया। गोशालक को पीछे पेट भर चूरमे का मधुरान्न प्राप्त हुआ···।

तृप्ति के आनन्द से किलकारी करता, वह मेरे पीछे दौड़ा आ रहा है।

◆ ◆ ◆

कलंबुक ग्राम की ओर विहार कर रहा हूँ। सामने से वहाँ का शैलपालक कालहस्ति एक सैन्य की टुकड़ी लेकर चोरों के पीछे भाग रहा है। हम पर शंकित हो कर उसने पूछा :

'तुम कौन हो ?'

मैंने उत्तर नहीं दिया। गोशाला भी कौतुक वश सयाने वानर की तरह मौन रहा। आवाज़ फिर कड़की :

'सच बताओ, तुम कौन हो ?'

वनभूमि में उत्तर गूँजा : 'कोई नहीं···!'

कालहस्ति चकित हो गया। ये तस्कर तो गूँगे-से खड़े हैं, और जंगल जवाब दे रहा है। जान पड़ता है, कोई जादूगर चोर हैं। खुद चुप रहते हैं और पेड़ों से उत्तर दिलवाते हैं। ये तो और भी खतरनाक़ हैं।

'सैनिको, बाँधों इनकी मुश्कें, और ले चलो गाँव में। मार खा कर ही ये भूत वोलेंगे।'

सैनिक हम दोनों को एक ही मूँज की रस्सी से कस कर वाँधने लगे। मैं अप्रतिरुद्ध भाव से लहरा कर चुपचाप वँधता चला गया। गोशालक मुझसे चिपट कर कंराहने लगा। मैंने उसे ताक कर चुप कर दिया।...सैनिक हमारे रज्जु-वद्ध शरीरों को कन्धों पर लाद कर, ग्राम में लाये। कालहस्ति ने लकड़ी के भारे की तरह, हमें ला कर अपने भाई मेघ के समक्ष पटकवा दिया।

'अरे मेघ ये इन्द्रजाली चोर हैं। अपनी माया से जंगल जगाते हैं। ओंखले के मूसल से कुट कर ही ये अपना भेद वतायेंगे। ये वड़े ढीठ जान पड़ते हैं। कछुवों की मोटी खाल कूटने पर ही वोलेगी।'

आँगन में एक बड़ा सारा पत्थर का ओंखला गड़ा हुआ है। हमें मुशकें खोल कर खड़ा कर दिया गया। फिर मेघ गरजा :

'अरे दुष्टो, ताकते क्या हो, ओंखल तुम्हारे सर की प्रतीक्षा में है। डालो इसमें अपने-अपने माथे!'

और मैंने ओंखल में सिर गड़ा कर अपने शरीर को उत्तान अधर में ठहरा दिया। गोशाला थरथराते अंगों, धमनी का मृदंग वजाता हुआ, भाग छूटने का उपक्रम करने लगा। कालहस्ति ने उसे ढकेल कर, उसका भी सिर मेरे साथ ओंखल में दे दिया।

'चलाओ मूसल!' मेघ ने कड़क कर सैनिकों को आदेश दिया। गोशाला विलख कर चिल्लाया :

'स्वामी...ई ई ई ई!'

'अरे मूर्ख, ओंखले में सर दे दिया। अव मूसल से क्या डरना?'

दो लोखण्डी मूसल हवा में तुलने लगे।...अगले ही क्षण एक हुंकार के साथ हम पर मूसलों के प्रहार होने लगे।...अरे यह क्या, मूसलों के आघात मानों हवा को खाँड़ रहे हैं। ओंखल में पड़े ठोस मस्तकों पर वे नहीं टकरा रहे। हवा को खाँड़ते-खाँड़ते सैनिकों को पसीने आ गये। मूसल धरती पर टेक कर वे हाँफते खड़े रह गये। कालहस्ति ने ललकारा :

'अरे इनके माथों को खाँडो सैनिको, हवा को क्यों कष्ट दे रहे हो?'

'स्वामी, इन जादूगरों ने हवा को वाँध दिया है। मूसल इन पर चोट नहीं करते। हम क्या करें!'

सुनकर सब चकित-स्तम्भित हो रहे। कालहस्ती ने फिर गर्जना की :

'उठो मरदूदों, तुम्हारा भूत उतारना होगा।...सैनिक, वुलाओ खेचर तांत्रिक को!'

सहसा ही मैंने अपने को दण्डायामान देखा ।

'तांत्रिक अनावश्यक है· · ·!' मेरे ओठों से फूटा ।

और मैंने सैनिक के हाथ से मूसल लेकर अपने ही मस्तक पर वार किया ।

बीच में मेघ ने हाथ फैला कर उसे झाल लिया ।

'क्षमा करें, देवार्य वर्द्धमान कुमार ! आपके सिवाय यह किसकी सामर्थ्य हो सकती है ? · · · वैशाली के देवर्षि राजपुत्र के प्रताप को पहचानने में देर हो गई । · · · मैं मेघ, आपके पिता सिद्धार्थराज का चिर किंकर । आर्यावर्त के सूर्य को प्रणाम करता हूँ· · ·!' और कई मस्तक सामने झुके दीखे ।

'कल्याणमस्तु ! · · ·'

कहकर यात्रिक अपने पंथ पर आरूढ़ हो गया ।

◆ ◆ ◆

'वैशाली का देवर्षि राजपुत्र ?' · · · इस टीके को अपने भाल पर धारण कर कब तक चलूंगा ? निश्चिन्ह आकाश के सिवाय और कोई शरीर मुझे स्वीकार्य नहीं । एक मात्र वह अन्तिम शरीर, जिसमें से सारे शरीर प्रकट होते हैं । जो अखिल का शरीर है ।

यहाँ तो सभी मुझे पहचान लेते हैं । वैशाली का राजपुत्र मेरे असली और आखिरी चेहरे का अवगुण्ठन बना हुआ है । इस आवरण को छिन्न करना होगा । इस आर्यों की भूमि में श्रमण के तप-तेज से भी लोग प्रभावित और नमित होते हैं । यह तपोलक्ष्मी भी माया की एक सात्विक चादर ही लगती है । तमोगुण और रजोगुण से भी यह सतोगुण का आवरण अधिक भ्रामक और खतरनाक है । पुण्य-प्रभा का छल तोड़ना ही तो सबसे अधिक दुष्कर है । अहंकार और ममकार का वही सबसे अधिक दुर्भेद और मायावी दुर्ग है । त्रिविध कर्म-मल को काटने के लिये सत, रज, तम के इस त्रिकोण को भी भेदना ही होगा ।

मही पहचान एक ही हो सकती है : अन्तर्तम स्वरूप की पहचान । मेरा यह चेहरा उस स्व-रूप की आरसी जब तक न बन जाये, तब तक इसकी हर अन्य पहचान को अस्वीकार करता हूँ । अपने तप-तेज के सात्विक प्रभा-मंडल का यह प्रजा-वन्दन स्वीकारना, पुण्य की सुवर्ण साँकलों को समर्पित होना है । · · ·

अपने ही भीतर, अपनी सम्पूर्ण पहचान से अभी मैं बहुत दूर हूँ । आज ध्यान में अन्तश्चेतना के और भी गहिरतर पटलों का सहसा ही अनावरण हुआ । एक मूलगामी धक्के के साथ, जैसे कोई महा पुरातन आदिम चट्टान टूटी । कोई विराट् खन्दक खुल पड़ी । उसके अतल में अन्धकार का एक सीमाहीन रेगिस्तान फैला है । अँधियारे की राशिकृत बालुका-रज के प्रान्तर पर्त पर पर्त की तरह, दृष्टि के पार तक फैले हैं । कर्म-वर्गणाओं के दुर्विन्ध्य पहाड़ चारों ओर घटाटोप घिरे

हैं। अनादिकालीन कषायों के तमसारण्य उनके ढालों को पाटे हुए हैं। उनकी अगम्य गोपनताओं में अहं-वासना के जाने कौन दुर्मत्त व्याघ्र हुंकार रहे हैं। वृक्ष के भीतर वेशुमार वृक्ष हैं, एक शाखा में अनन्त शाखाएँ फूट रही हैं। इन झाड़ी-झंखाडों और शाखा-जालों में वार-वार अपना अन्तर-सूर्य झाँक कर खो जाता है। कर्म के इन अपार पर्वातारण्यों को भेदे विना विराम नहीं। मेरी इस देह में ही इसके मूल पड़े हैं। मेरी हड्डियों, और मेरे स्नायु-जालों में ही इनके शाखाजाल विस्तृत हैं। अव तक जो आघात इस शरीर पर हुए हैं, वे काफी नहीं।...प्रचण्ड से प्रचण्डतर होते आघातों के विना, आदिम तमस का यह लोक ध्वस्त नहीं हो सकेगा। संसार में भ्रमण करते जीवों की तमाम एकत्रित हिंसा की एकाग्र चोट के विना, पूर्ण चिन्मति का अखण्ड दीपक नहीं उजल सकेगा।

...ऊपरी पहचान के इस सात्विक आर्यावर्त में वह चोट सम्भव नहीं। उसे पाने के लिये अनार्यों और म्लेच्छों के पहचानहीन देश में जाना होगा। वहाँ, जहाँ मुझे कोई पहचान न सके। जहाँ मनुष्य और मनुष्य के वीच की पहचान खो गई है। अपरिचय की घनघोर तमिस्रा में जहाँ आत्माएँ निरन्तर अपना ही पीड़न और घात करती विचर रही हैं। जहाँ चेहरे चीन्हे नहीं जा सकते। मुखमण्डलहीन, वेचेहरा, छिन्नमस्तों के झुंड जहाँ चारों ओर घूर्णिचक्र की तरह भटक रहे हैं।

अरे कौन प्रवेश करेगा उनकी आर्त्त-रौद्र चेतना के हिंसक अंधकारों में? कौन उनकी अवचेतना में चिंघाड़ते भेड़िये के कराल जवड़े में कूदेगा?...उन्हें तुम्हारी प्रतीक्षा है वर्द्धमान!...

□

नर-भक्षियों के देश में

अनार्यों के लाटदेश की देहरी पर पैर रखते ही पीछे से किसी ने टोका :

'इस प्रदेश में न जाएँ, आर्य । यह नरभक्षियों की भूमि है । भूले-भटके कोई आर्य कभी इस देश में चला गया, तो वह लौट कर नहीं आया !'

'इसी से तो वहाँ जाना है · · ·!'

'अनुरोध सुनें, भन्ते, आप उन लोगों को नहीं जानते ।'

'जानता हूँ । इसी से तो जाना अनिवार्य हो गया है !'

मुड़ कर नहीं देखा, और लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उस पथ-रेखाहीन जंगल में राह काटने लगा । · · ·छाया की तरह अनुसरण करता गोशालक चिहुका :

'आह, काँटे हैं कि तीर हैं ! और ये नुकीले पत्थर· · ·पैरों में भाले गड़ रहे हैं, भन्ते · · ·!'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया । गति क्षिप्रतर होती जा रही है । अपने ही रक्त से जो पथ-रेखा बनती जा रही है, वह अचूक है । गन्तव्य को वही ठीक-ठीक पहचानती है । ग्रीष्म की प्रखर दोपहरी में लू के झकोरे प्रखरतर होते जा रहे हैं । अड़ाबीड़ जंगल पार कर खुले मैदान में पहुँचते ही भूँकते हुए कुत्तों के कई झुंडों ने अगवानी की । दोनों हाथों से उनका स्वागत करते हुए, निश्चिन्त पगों से उनके भूँकते मंडलों के बीच सहज ही यात्रा हो रही है । यात्री के इस अपनापे से वे अनभ्यस्त थे । उनकी भूँकें कौतूहली और मित्र होती आईं । मानों कि वे बोले : 'अच्छे पथिक, कहाँ से आये हो, कहाँ जाओगे ? · · ·और यहाँ आने की भूल तुमने क्यों की है? · · ·' उनके भूँकने में कातरता आ गई है । मैंने उनके बड़े-बड़े डील-डौलों के झबरे वालों को सहला दिया । मेरी पिंडलियों से रभस करते वे चलने लगे । गोशालक भी उन्हें सहलाता हुआ, आश्वस्त भाव से अनुसरण करने लगा ।

कड़े वालों का एक वस्त्र कमर पर पहने कोई काकमुपुंडी श्रमण दण्ड धारण किये सामने आये :

'हे सुकुमार योगी, क्या मरने आये हो यहाँ ? लौट जाओ तुरन्त । आततायियों के डेरे में क्या लेने आये हो ?'

'कुछ नहीं···सब कुछ।'

'मौत भी ?'

'केवल जीवन।'

'मौत के जवड़े में···?'

'हाँ···वही तो जीवन है।'

'मर कर···?'

'जीते जी।'

मैं वेरोक चुप-चाप वढ़ा जा रहा हूँ। उत्तर मेरी आगे जाती पीठ से लौट रहे हैं। श्रमण ताकता ही रह गया।

···लाढ़, वज्रभूमि, शुभ्र भूमि में, क्रमशः विहार कर रहा हूँ। काले, जामुनी या तांविया वर्ण के अर्ध-नग्न नर-नारी वन-मानुषों की तरह भयंकर और खूंख्वार आँखों वाले हैं। जंगली जानवरों की तरह मांदों में रहते हैं। या फिर चट्टानों में गुफाएँ तराश कर, या झाँखरों के झोपड़ों में। इनके वीच मानों भक्षण और यौनाचार के सिवाय और कोई सम्बन्ध नहीं। चाहे जब कोई वलवान किसी निर्वल को आहार वना सकता है। अन्न-वनस्पति सुलभ होने पर भी जिघांसा वश एक दूसरे को मार कर मानुष-मांस के भोजन और रक्तपान का उत्सव करते हैं। अकारण ही एक-दूसरे को त्रास देना इनका प्रिय मनोरंजन है। एक-दूसरे को फाड़ खाना ही इनके मन सवसे वड़ा पराक्रम है।

जहाँ भी जाता हूँ, मेरे शरीर को वे वड़ी चकित, मुग्ध, लोलुप आँखों से घूरते हैं। फिर रीछों जैसे वड़े-वड़े कुत्ते वे हम पर छोड़ देते हैं। उनकी तीखी भूंकों से माथा तड़कता है। अचानक कहीं से आकर वे पिंडलियाँ नोच लेते हैं। जांघों और नितम्वों में अपने हड़के दाँत गड़ा देते हैं। खून के फंव्वारों के साथ मांख-खण्ड गिर पड़ते हैं। किलकारियाँ करते कई स्त्री-पुरुप और वच्चे उस मांस पर झपटते हैं। आर्य के मांस-भोजन की स्पर्धा में उनके वीच मारा-मारी भी हो जाती है।···उनकी लालसाकुलता को देख चलते-चलते अटक जाता हूँ। मेरी आँखें उनसे अनुरोध करती हैं :

'क्यों लड़ते हो, क्यों अकुलाते हो, आत्मन्! यह शरीर तुम्हारे ही लिये है। कम नहीं पड़ेगा कभी इसका मांस। लो, खड़ा हूँ···जी चाहा मुझे समूचा लो···।'

वे चकराये, चुप ताकते रह जाते हैं। उनकी रक्ताक्त फाड़ खाती आँखों में कैसा भोलापन झांकता है। वे मुझसे पूछते हैं : 'ओ अजनवी तुम कौन हो ? ऐसा आर्य पुरुप तो पहले हमने देखा नहीं!'···मेरी नग्नता उन्हें वहुत प्रिय लगती है। उसके कारण वे मुझे अपने वहुत निकट अनुभव करते हैं।···कौतूहलवश मेरा शरीर छू कर देखते हैं। उँगलियों से मेरी चुम्मी ले कर किलकारी करते भाग जाते हैं।

नंगे पहाड़ों-से पुरुष। नंगी धरती-सी नारियाँ। पेड़-पौधों जैसे बच्चे। विशुद्ध इच्छा-जीवी हैं। उमंगों और आवेगों पर ही जीते हैं। हिंसा उनका हर क्षण का खेल है। वे नहीं जानते, कि वे क्या कर रहे हैं।

···गोशाले को वे उठा कर चकरी या लट्टू की तरह घुमा देते हैं। खेल-कौतूहल में उसकी खूब मरम्मत करते हैं। वह इस समर्पण से शाकान्न पा जाता है। उनकी मांस-भक्षिता पर वह धिक्कार वाणी बोलता है। वे उसके उच्च उद्घोषों को अपना अभिनंदन मान कर, उसे मनचाहे अन्नपान से तृप्त रखते हैं। मुझे भी फलमूल ला कर भेंट करते हैं। मैं मुस्कुरा देता हूँ। वे समझते हैं, मैंने आहार कर लिया।

लाढ़ प्रदेश से विहार करने के दिन, एक छतनार बबूल वृक्ष तले पूजित पड़ी शिला पर ध्यानारूढ़ हो गया।···सहसा ही दल बाँध कर नर-नारी चारों ओर घूमर नाचते दिखाई पड़े। झाँझरों की झमक, खंजड़ी की खनक, तुरही की तान, ढोलों की धमक। सारा जंगल गूंज रहा है। नदी, पर्वत, जलाशय उनके साथ एक-तान नाच और गा रहे हैं। उनके भोले भाविक आदिम हृदयों को भरोसा हो गया है, कि सदियों से पूजित इस पत्थर का देवता आज प्रकट हो गया है।

···वज्रभूमि में प्रवेश करते ही जंगली साँढ़ हम पर छोड़े गये। डकारते हुए चढ़ आते हैं वे प्राणि, सींगों से भिट्टी मार कर हमें उछाल देते हैं। और कई एकत्रित सींगों की शैया पर हम झेल लिये जाते हैं। बीच-बीच में गोशालक की चीख सुनाई पड़ जाती है। फिर वह मेरे अनुकरण में चुप हो रहता है, और धीर भाव से इन आघातों को सहता है। तीखे सींगों के वेध से शरीर में जगह-जगह गड्ढे पड़ जाते हैं। रक्त-मांस निकल आते है।···उत्सर्गित होकर सहते ही बनता है। लगता है, जैसे सारे शरीर में से कई राहें खुल रही हैं। कितना सारा आकाश भीतर आ गया है। हाँफते हुए सांढ़ हारे-थके खड़े, चुपचाप ताक रहे हैं। उनकी आँखों के कोयों में जल-बिन्दु चमक रहे हैं।

···सुडौल, जामुनी पठ्ठों वाले नर-नारी काना-फूसी कर रहे हैं: 'कैसा उजला और मुलायम मक्खन सा है इस आर्य का मांस···! अरे, इसके घावों में से रक्त नहीं, दूध झर रहा है।' वे बहुत उत्कंठित हो गये हैं। वे प्यार भी चोट दे कर ही करते हैं। उनके स्वभाव की विवशता को समझ रहा हूँ। इतनी चोटें एक साथ हुईं, कि सारा शरीर ही चूरचूर हो गया। पीड़ा हो तो किसे हो?

'अरे कितनी मधुर हैं, इस आर्य की बोटियाँ?'

'खाओ प्रिय, तुम्हारे ही लिये हैं, मेरी सारी बोटियाँ।'

'अरे कितना अच्छा है यह आर्य। यह तो मीठे फलों से लदा वृक्ष है। आओ इसकी छाया में विरमें और फल तोड़ कर खायें।'

उन सुन्दर काली माँओं ने अपने उन्नत नग्न स्तनों से श्रमण के घावों को चाँप लिया। ऐसा भरपूर उमड़ आया उनका मातृत्व कि वे रो आईं। रोना तो उन्हें

अनजाना था। अपने आँसुओं को देख कर वे चकित और आल्हादित हैं। उनमें अपने पुरुषों और बच्चों के प्रति ऐसा प्यार उमग आया, जैसा पहले कभी उन्होंने अनुभव नहीं किया था। मेरे घावों में एक साथ कितने-कितने हृदय कसक उठे हैं। शांति और सुख का यह आस्वाद अपूर्व है।

···शुभ्र भूमि में न्यग्रोध के किसी छतनार वन तले एक विशाल चबूतरा देखा। वह इन आदिम जंगलियों का वलि-चौरा है। कोई आर्य भूला-भटका आ जाये, उनके देश में, तो उसकी सुन्दर काया को वे यहाँ अपने परोक्ष देवता की वलि चढ़ाते हैं।

चबूतरे की शांति में एक अद्‌भुत आवाहन है : '···आओ आर्य, मैं कब से तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ।' न्यग्रोध के शाखा-पल्लवों ने मरमरा कर हामी भरी। ···मैं चबूतरे के ठीक केन्द्र में जा कर प्रतिमा-योग से ध्यानस्थ हो गया। गोशाला भी मेरी पीठ पीछे सट कर, सुरक्षा की खोल में ध्यानलीन होने की चेष्टा करने लगा।

···सारे गाँव में नक्काड़ा पीट कर घोषणा हुई :

'वलि चौरे पर वलि-पुरुष स्वयम् ही आ बैठा है। हमारी भूमि का भाग खुल गया। वलि-यज्ञ की तैयारी करो···!'

साँझ डूबते न डूबते सैकड़ों मशालों के साथ दल के दल बाँध कर नर-नारी, आवालवृद्ध-वनिता, घोर कोलाहल के साथ चबूतरे के चारों ओर घूमर देते दिखाई पड़े। वलि-पुरुष के चारों ओर आग जला दी गई है। लपटों के मण्डल में वह निश्चल अवस्थित है। नाचते हुए सिंदूर-चर्चित कृष्ण वदन कराल भैरव-भैरवियों जैसे वे स्त्री-पुरुष, उन लपटों में अपने भाले और वल्लम तपाते जाते हैं, और ज्वाला-केन्द्र में बैठे हुए आर्य की देह में चुभोते जाते हैं। वलि-पुरुष तो चूं भी नहीं करता। लो, उसकी ओर से वे स्वयम् ही उसके दाहक वेधन की वेदना को अपनी ही चीखों और कराहों से व्यक्त करते जाते हैं। इस आर्य की चुप्पी जितनी ही गहरा रही है, इसकी अक्रियता जितनी ही प्रखर हो रही है, उन वलि-कर्मियों के हजारों वरसों से रुद्ध हृदय अधिकाधिक सम्वेदित होते जा रहे हैं।

···एकाएक उन्होंने देखा, आसपास का वह लपटों का घेरा जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। स्वयम् वलि-पुरुष के शरीर से ही एक वह्नि-मण्डल फूट आया है। उसका शरीर ही मानों नील-लोहित ज्वालाओं का हो गया है। पर कैसे कोमल, मधुर, शीतल हैं उसकी देह के ये अग्नि-स्फुलिंग।

फूलों की तरह वे उन्हें मानों तोड़ कर उनसे अपने अंगों का शृंगार कर रहे हैं। फलों की तरह उन्हें हाथों में झेल कर, वे वड़े चाव से खा रहे हैं।

सोमल वृक्ष की पत्तियों की ताज़ी हरी सुरा पीते और नाच-गान करते वे यज्ञ-पुरुष की ओर तेज़ी से झपट रहे हैं। वे व्यक्ति न रह कर एक पुंजीभूत प्राण-

शक्ति वन कर मण्डला रहे हैं। और दल के दल वे उन अग्नि-शिखाओं पर टूट रहे हैं। और उनके पाद-प्रान्त में ढेर हो रहे हैं।···

जाने कब···मशालें हठात् गुल हो गयीं। एक स्तब्ध, अफाट सन्नाटे में अनगिन साँसें आपस में गुत्थम-गुत्था हो रही हैं।···और फिर एक गहन सुषुप्ति का समाधीत प्रसार, और उसमें जंगल यकसा वोल रहा है।

···सवेरे जब वह आदिम लोक-समूह जागा, तो देखा कि वलि-पुरुष वहाँ कहीं नहीं था। उन्होंने अनुभव किया कि वह उनके भीतर उदरस्थ हो कर उनकी रक्त-शिराओं में आत्मसात् हो गया है। वलि-यज्ञ का ऐसा मधुपर्क तो उन्होंने पहले कभी चखा नहीं था। अपूर्व है यह स्वाद, और यह तृप्ति। इस भोजन का अन्त नहीं !···

···आर्य देश की ओर लौटते हुए, पूर्णकलश ग्राम की तटिनी से विहार कर रहा हूँ।

◆ ◆ ◆

देख रहा हूँ, सामने से ये जो दो जन आ रहे हैं, चोर हैं। लाढ़ देश की अनार्य भूमि की ओर तेज़ी से वढ़ रहे हैं। ठीक पूर्णकलश की भागल पर मैं उन्हें सामने से आता दिखाई पड़ा। गोशालक भाँप कर मेरे पिछवाड़े गुप-चुप मुझ से एकमेक हो रहा। मैं अकेला हूँ।

'ओह अपशकुन···नंगा !'

'जहाँ जा रहे हो, वह भी नंगों का ही देश है। उनका क्या लूटोगे ?'

'चुप···लुच्चा कहीं का।'

'उनके पास जो था, वह तो मैं लूट लाया।'

'अरे यह भी कोई तस्कर जान पड़ता है।···'

'लुटेरा हूँ, लेकिन पहले स्वयम् लुटता हूँ, फिर औरों को लूटता हूँ। ऐसा कि कुछ छोड़ता नहीं।'

'अरे यह तो कुछ वोलता नहीं ! फिर जवाव कौन दे रहा है ? जान पड़ता है, मंत्रवादी चोर है।'

'ज़रूर कहीं गहरा ख़ज़ाना गड़ा है इसके पास।'

'हूँ···!'

'ओ मायावी, वता कहाँ गड़ा है तेरा ख़ज़ाना ?'

'मेरी नाभि में !···'

'यों नहीं वतायेगा यह। इसकी नाभि फटेगी, तभी यह वोलेगा।'

और चीत्कार कर, वे अपनी कर्तिका उठाये मेरी नाभि में भोंकने को बढ़े।··· कि तभी हवा में एक विजली कड़की। उसमें से वज्रास्त्र निकल कर उन दो मानुषों के मस्तक पर तड़का।

'नहीं इन्द्र, ये इस योग्य नहीं। अज्ञानी पर प्रहार कैसा!'

चोरों के मस्तक पर फैली मेरी उत्तान बाँहों पर गिर कर, शक्रेन्द्र का वह वज्रास्त्र व्यर्थ हो गया।

'क्षमा करें अर्हत्, पहचानने में भूल हो गई।'

'ठीक हुई। घर लौट आये तुम, आयुष्यमान्।'

'प्रतिबोध दें, भगवन्।'

'अपने ही को लुटा दो। सारे जगत की सम्पदा, विना लूटे ही तुम्हारे पैरों में आ पड़ेगी।'

'आँखें खुल गईं, भन्ते!'

'देखो अपने ही भीतर। सारे ख़ज़ाने वहीं गड़े हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।'

लंगूर की तरह उछल कर गोशाला वीच में टपक पड़ा और किलकारियाँ करने लगा। मैं आगे वढ़ चला हूँ।

भद्दिला में वर्षायोग सम्पन्न किया है। गोशालक आसपास के ग्रामों में भिक्षाटन कर काल यापन करता रहा। चंपक-गन्धा नदी के एक निर्जन द्वीप में उत्कृष्ट कायोत्सर्ग हुआ। नदी की लहरीली वाँहों में आलिंग-सुख अनन्त हो गया। अचानक ही घनघोर वर्षा आरम्भ हो गई। नदी में दुर्दाम वाढ़ आई है। ग्राम-जनों ने वाढ़ में द्वीप को डूब जाते देखा। तट पर से अनेक कारुणिक पुकारें सुनायीं पड़ीं। हाय, श्रमण डूब गये। नदी ने वत्तीस लक्षणे पुरुष का भोग ले लिया।···

····कदली-समागम नामक ग्राम के आँगन में आ पहुँचा हूँ।

'प्रभु, यहाँ लोग याचकों को मुँह माँगा भोजन-दान कर रहे हैं। आइये भन्ते, रसवती का आनन्द लूटें।'

मैंने उत्तर नहीं दिया।

'भयानक हैं, आप, भन्ते। आपको भूख ही नहीं लगती क्या?'

'तू है मेरी भूख, वत्स।'

'समझ नहीं पड़ता, भगवन्। आप तो चुप हैं। यह अर्थहीन उत्तर कौन देता है?···

'तो मैं अकेला ही भोजन पाऊँ, भन्ते?'

···गोशाले ने दानियों के द्वार पर जा कर भर पेट भोजन किया। फिर भी वह अतृप्त ही रहा। हाथ फैलाता ही चला गया। ग्रामजन बोले: 'जान

पड़ता है, कोई पिशाच है !' उन्होंने विपुल अन्न से भरा-पूरा थाल ही उसे अर्पित कर दिया । वह सारा अन्न वह खा न सका । आकण्ठ खा कर वह उदर के आफरे से आक्रन्द करने लगा । पानी का घूँट तक उतारना अशक्य हो गया । लोग बोले :

'अरे तू अपनी आहार करने की क्षमता भी नहीं जानता रे ? भोजन पराया हो, पेट तो पराया नहीं ! जान पड़ता है, मूर्तिमन्त दुष्काल है !'

'अरे लोगो, मेरा तो पेट भी पराया है । जान पड़ता है, मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं । इन नीच पेट तक ने धोखा दे दिया । अब तक यह साथ दे रहा था, आज इस पापी ने भी साथ छोड़ दिया !'

बड़बड़ाता हुआ और पेट पर हाथ फेरता वह मेरी ओर आया ।

'भन्ते, पेट तक अपना नहीं रहा । क्या करूँ ? आप तो कुछ बोलते नहीं ।'

'पेट में समा जा और देख, तू पेट है कि और कोई ?'

'सच ही मैं पेट नहीं, भगवन्, कोई और हूँ । पर पता नहीं चलता, कौन हूँ । यह पेट बड़ा शत्रु है मेरा । आड़े आता है. और मुझे अपना पता नहीं लगने देता । ' ' '

'भन्ते, आप कहें तो फाड़ फेंकूँ इस पेट को ?'

'पेट को अपने में समा ले । फिर तू ही रह जायेगा, वत्स ।'

• • •और वह चुपचाप मेरे समकक्ष ही ध्यानस्थ हो गया ।

□

अणु-अणु मेरा आगार हो जाये

जम्बूखण्ड और कूपिका से विहार करता हुआ, वैशाली की ओर अग्रसर हूँ। एक स्थल पर पहुँच कर, एक दोराहा सामने आया। एक मार्ग राजगृही को जाता है, दूसरा वैशाली को। चलते-चलते अचानक ही गोशालक बोला :

'नहीं भन्ते, अब मैं आपके साथ नहीं चल सकता। आपका मार्ग दुर्गम है। उसमें पद-पद पर आपद-विपद का अन्त नहीं। उस पर चलना मेरे वश का नहीं।'

'हूँ···!'

'फिर यह भी है कि जब कोई मुझे मारता है, तो आप मुझे बचाते नहीं। तटस्थ ही रहते हैं। उत्तर तक नहीं देते। आप कैसे तारक हैं, कैसे स्वामी हैं, समझ में नहीं आता। आप तो अपनी ही रक्षा नहीं करते। आये दिन आप पर विकट उपसर्ग होते हैं, मुझे भी उनका भोग बनना पड़ता है। आग ही तो ठहरी, सूखे के साथ मुझ हरे को भी जला देती है। और लोग भी पक्षपाती हैं, पहले मेरा निकन्दन निकालते हैं, तब आपको पीटते हैं। आप तो पिटकर भी पटिये की तरह अप्रभावित रहते हैं, मेरा तो चूरा हो जाता है। सुस्वादु भोजन को मन तड़पता है, पर आप तो सदा उपासी, सो मुझे कई बार भूखों मरना पड़ता है।···फिर आप तो पाषाण और रत्न में, अरण्य और आलय में, धूप और छाँव में, अग्नि और जल में, संहारक और सेवक में कोई भेद ही नहीं करते। निर्विशेष समदृष्टि से विचरते हैं। ऐसे में मूढ़ पुत्र की तरह आपकी सेवा कब तक करूँ। निष्फल ताल-वृक्ष की फलाशा-हीन सेवा में इतने वर्ष बिता दिये। इस भ्रांति में कब तक रहूँ। हो सके तो मेरी सेवा याद रखना। कभी तालवृक्ष फले तो मुझ अकिंचन को याद करें, प्रभु! विदा लेता हूँ भन्ते, आज्ञा दें···।'

तालवृक्ष के निष्फल ठूंठ ने कोई उत्तर नहीं दिया। मंखलिपुत्र गोशालक अकेला राजगृही के मार्ग पर चल दिया।

...अविश्रान्त वैशाली के मार्ग पर विहार कर रहा हूँ। एक निगाह मेरी गोशालक का अनुसरण कर रही है। ...वह राह से भटक कर एक घनघोर अरण्य में प्रवेश कर गया है। उसका चित्त जाने कहाँ पीछे छूट गया है। वह उन्मन

भाव से, वृक्ष से टूटी डाल की तरह, भलते रास्तों पर टक्करें खा रहा है। किसी विशाल सर्प की बाँबी में जैसे चूहा भूल से घुस जाये, वैसे ही वह उस अरण्य भूमि में घुस गया। वहाँ विकट पाँच सौ चोरों का अड्डा था। गृद्ध-दृष्टि से एक चोर ने वृक्ष की डाली पर से गोशालक को आते देखा। उसने दूसरे चोरों से कहा :

'मित्रो, कोई द्रव्यहीन नग्न पुरुष आ रहा है।'

साथी चोरों ने कहा :

'नग्न भले ही हो, हम इसे छोड़ेंगे नहीं। शायद किसी राज्य का चर हो, या चोर का चर हो। और मित्र, राज्य भी तो चोरों का अड्डा ही है। चोरी करने का अपना-अपना ढंग ही तो है। आओ मित्रो, राज्य में ही सुरंग लगा दें, तो चोरी की झंझट ही समाप्त हो जाये। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।...'

और वे सारे चोर ठहाका मार कर हँसे।

'आओ मामा, आओ मामा, स्वागत है। खीर-पूड़ी तैयार है। भोजन करो।...'

गोशालक प्रसन्न हो गया। श्रमण को छोड़ना तुरंत फलीभूत हो गया। तत्काल खीर-पूड़ी का आमन्त्रण मिल गया, वह भी इस घोर जंगल में, जहाँ न मानवी, न मानवी का जाया। खिली बाँछों से वह अपने हँसते यजमानों को हेरने लगा। चोरों ने उसे घेर लिया, और बारी-बारी से उसके कन्धों पर चढ़ कर, उसे साँढ़ की तरह हाँकने लगे। झापड़ मार-मार कर उसे दौड़ाने लगे।...थोड़ी ही देर में उसका दम अखीर होने लगा। उसे अन्तिम साँस लेता छोड़ कर, वे जंगल के अपने अज्ञात डेरे में जा छुपे।

गोशालक बिलख-बिलख कर रोने लगा : 'हाय, स्वामी से दूर होते ही श्वान की तरह इस दुःसह विपत्ति में पड़ गया हूँ। मैं कृतघ्नी यह भूल गया, कि संकट आने पर मैं तो सदा उनके अंगों में दुबक जाता था, और मेरी ओर से भी वे ही सारी मार खाते थे। समर्थ हो कर भी वे अपनी रक्षा से उदासीन रहते थे, तो कोई गंभीर कारण होगा। चुप रह कर भी वे अपनी आँखों से मुझे कितना प्यार करते थे। ऐसे स्वामी अब कहाँ पाऊँगा? हाय रे हाय, मैं जनम-जनम का अभागा, अनाथ, अब उन नाथ को कहाँ खोजूंगा!'

और वह सिसकता, हथेलियों की पीठ से आँसू पोंछता, उस वनखण्ड का अतिक्रमण कर, स्वामी की खोज में उद्भ्रान्त भटकने लगा।...

◆ ◆ ◆

···नहीं वैशाली , आज मैं तेरे द्वार पर नहीं आया, तेरे लोहकार के द्वार पर आया हूँ । जहाँ तेरे दुर्ग, तोरण-कपाट और कोषागारों की अर्गलाएँ ढाली और गढ़ी जाती हैं, उस लोहशाला में आया हूँ । तेरे लोहकार का घन मेरी प्रतीक्षा में है, क्योंकि उसकी प्रकाण्ड निहाई भग्न हो गई है । उसका लोह गल गया है, और किसी भी तरह ढलने में नहीं आ रहा है। वह चोट करे तो किस पर करे ? तेरी जीर्ण और क्षीण हो गई अर्गलाओं को वह फिर से गढ़े, तो कैसे गढ़े ?

वैशाली की सीमा-वर्ती महा लोहशाला के एक कोने में बड़ी भोर ही आकर वज्र-योगासन में ध्यानस्थ हो गया हूँ।...लोहकार चण्डवेग कई दिनों से रुग्ण था। हाल ही में वह नीरोग हुआ है। आज के शुभ मुहूर्त में, आरोग्य लाभ करने पर प्रथम बार उसने स्वजनों के साथ लोहशाला में प्रवेश किया । कोने में निगाह पड़ते ही वह चौंका, क्षुब्ध हो उठा :

'अरे इस मंगल-मुहूर्त में, कम्मशाला में प्रवेश करते ही, यह कौन नंग-धड़ंग दिखाई पड़ा है ! जान पड़ता है कोई दस्यु, श्रमण का रूप धर कर चुपके से यहाँ घुस बैठा है । लाओ, इसी पर अपने घन की पहली चोट करूँ और इसके रक्त से शुभारंभ का स्वस्तिक करूँ।···

'मेरी कई दिनों से भग्न पड़ी निहाई, जुड़ने में नहीं आ रही । इसके मस्तक की बलि उस पर चढ़ाऊँ, तो शायद जुड़ जाये ।···'

और वह क्रोध से हुँकारता हुआ अपना घन लेने को दौड़ा ।···

'मैं तेरे घन की नयी निहाई होने आया हूँ, वैशाली के महालोहकार! ···' अपने भीतर मुझे सुनाई पड़ा ।

···और भग्न निहाई पर मस्तक ढाल कर श्रमण निश्चिन्त सो गया । लोहकार के परिजन भयानक दुर्घट की आशंका से डर कर भाग खड़े हुए ।

लोहकार ने घन उठाकर फिर गर्जना की :

'ले पाखण्डी, तैयार हो जा । तेरे बलि-रक्त से आज मैं अपनी निहाई को साबुत करूँगा !'

'तथास्तु···!'

और ज़ोर से घन को हवा में तीन बार घुमा कर वह श्रमण के मस्तक पर चोट करने को हुआ, कि घन उछल कर उसी के मस्तक पर आ टूटा । इससे पहले कि उस पर चोट हो, अन्तर-मुहूर्त मात्र में श्रमण के माथे ने लोहकार के मस्तक को छत्र की तरह छा लिया।···घन भन्ना कर निहाई पर जा गिरा । खंडित निहाई चूर-चूर हो कर पारे की तरह बिखर गई ।

'ओह, महाश्रमण वर्द्धमान कुमार ! वैशाली के मेरुदण्ड···! हाय, मेरी आँखों पर यह कैसा मायावी पर्दा पड़ गया था ! क्षमा करें, भगवन् । आर्यावर्त के

श्रमिकों के एकमात्र तारनहार मेरे सामने खड़े हैं।···अपनी आँखों पर विश्वास नहीं होता।···

'···ओह प्रभु, आपके माथे पर यह रक्तधारा, यह फटान कैसी? . . .मेरे घन की चोट तो लौट कर मुझी पर आई थी न ?···

'समझ गया, अपने हत्यारे के शिरस्त्राण हो कर, मुझ पर लौटे हुए मेरे ही वार को, तुमने अपने मस्तक पर झेल लिया . . .!

'भन्ते, मुझे सौ बार धिक्कार है। उगार लें इस पापी को। मेरे लिये प्रायश्चित का विधान करें।'

'मैं वैशाली नहीं आया, केवल तेरे पास आया हूँ, आयुष्यमान। सावधान, मेरा नाम भी कहीं तेरे मुंह से न निकले। मैं उपस्थित हो कर भी, यहाँ अनुपस्थित हूँ।'

'एवमस्तु, भन्ते।'

एक दीर्घ सन्नाटा···

'मेरे पाप का कोई प्रायश्चित नहीं, भन्ते ?'

'महावीर पाप नहीं देखता, वह केवल चिद्घन आत्मा देखता है। वही तू है, मैं तुझे देखता हूँ।'

'कृतार्थ हुआ, कृपानाथ !···पर मेरी निहाई तो सदा को समाप्त हो गई, भन्ते ? अब क्या होगा, सदियों पुरानी ऐसी विशाल निहाई अब कहाँ मिलेगी ?'

'महावीर का मस्तक आज के बाद तेरी निहाई होगा, लोहकार !'

'खम्मा, खम्मा स्वामी, मेरे पाप का अन्त नहीं।'

'पाप का सदा को अन्त हो गया। अपनी चिद्घन आत्मा के घन से अब तू मेरे मस्तक की निहाई पर वैशाली के लिये नया शस्त्र गढ़ेगा। सांकलें और आगलें नहीं !'

'समझा नही, भगवन् ?'

'समय आने पर समझेगा, सौम्य।'

'प्रतिबुद्ध हुआ, देवार्य।'

···लौट पड़ा हूँ वैशाली से। राजमार्ग छोड़कर अड़ाबीड़ अटवी में राह काट रहा हूँ···। मेरे लहूलुहान पैरों को ये कौन दो मृणाल पीछे खींच रहे हैं···? नहीं आम्रपाली, आज नहीं···! जानता हूँ, कल आधी रात तुम किसी विस्फोटक आवाज़ से अचानक जाग उठी थी। तुम्हारे कक्ष के बन्द रत्न-कपाट अचानक टूट कर गिर पड़े थे···। नहीं, भ्रांति नहीं थी वह तुम्हारी। तुम्हारे द्वार में

महावीर खड़ा हुआ था। ···राख में ढँकी आग-सी तुम्हारी सुप्त वेदना जाग उठी। ठीक ही हुआ। पूत-पावनकारी है यह पावक। इसे दबाओ नहीं। निरन्तर प्रज्ज्वलित रक्खो। इसी की राह एक दिन आऊँगा तुम्हारे पास। इसी भट्ठी में तुम्हें अपने हाथों नूतन वैशाली का भाग्य ढालना होगा ···। आज के बाद तुम्हारे द्वार पर कपाट बन्द नहीं होंगे। सुवर्ण-मुद्राओं की अर्गलाओं से वे जड़े नहीं रहेंगे। सब के लिये सब समय वे खुले रहेंगे। फिर सम्राट आये कि भिखारी आये। तुम समान रूप से सब की चाह पूरी करोगी। सब की हो कर रहोगी···।'

'मैं, जनपद-कल्याणी ?'

'जगदम्बा ही जनपद-कल्याणी हो सकती है।'

'···नाथ, निगाह पड़ते ही तुम कहाँ चले गये ? दर्शन दे कर भी प्यासी ही छोड़ गये···?'

'मैं ही तुम्हारी प्यास हूँ, अंबे। मुझे सहना होगा।'

···पैरों को बाँध कर पीछे खींचते बाहु-बन्धों के पुण्डरीक विवश ढलक कर खिल पड़े। श्रमण निष्ठुर पदाघात के साथ, अभेद्य कान्तार में राह भेदने लगा।

◆ ◆ ◆

···शालिशीर्ष के उद्यान में एक सघन शिरीष वृक्ष तले ध्यानस्थ हूँ। माघ-पूस की शिशिर रात्रि में हिमानी हवाएँ बह रही हैं। वृक्ष की घटा में से कैसी बर्फ पिघल कर शरीर पर टपक रही है। हिमवायु के झोंके उनमें बाण चला रहे हैं। शरीर के पोर-पोर में बर्छियाँ बिंध रही हैं।

···किसने ऐसी कृपा की है, कि मेरे रेशे-रेशे में जमे हुए अनादिकाल के कर्म-मल कट रहे हैं। ओ···तुम हो, बाण-व्यन्तरी कटपूतना। तापसी का रूप धर कर मुझे तारने आई हो। तन पर वल्कल, माथे पर जटा, और अपरूप सुन्दर मुखड़ा लेकर आई हो। मेरी खातिर कितना कष्ट किया तुमने ! इस शीत-पाले की रात में हिम-सरोवर में अपने को डुबो कर आई हो, ताकि अपने लावण्य के जल से मुझे सारी रात नहलाती रहो···।

···जानता हूँ, त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में तुम मेरी विजया नामा रानी थी। मैं सहस्रों रानियों के बीच मदमत्त लीला-विहार करता था। तुम्हारे निवेदन-कातर नारीत्व की मुझसे बार-बार अवज्ञा हुई। ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठित वासना की तीव्रानुबन्धी कषायों को अपने अतल में दफनाये, तुम जन्मान्तर करती रही। एक साथ प्रीति और प्रतिशोध की आग में जलती हुई, अपने हर अगले जन्म में मुझे बावली-सी खोजती फिरी। बदला भुनाने को, या मेरा प्यार पाने को ? सो तो तुम्हीं जानो।

· · ·जानता हूँ, प्रतिशोध की हिंसा से पागल हो कर ही, आज तुम मुझे यह हिमदाह दे रही हो। पर प्रतिशोध भी तो उसी से लिया जाता है, जो नितान्त अपना हो। जिसके विना रहा न जा सके। वदला लेने के वहाने जी भर मुझ से प्यार ही तो वसूल कर रही हो। तुमने इतनी अवहेलना सह कर भी मुझे इस योग्य समझा! मैं तुम्हारे अस्तित्व की शर्त हो रहा। · · ·तो सुनो, अपराधी प्रस्तुत है: प्रतिशोध लो या प्यार करो, उसे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। क्यों कि तुम्हारी आत्मा की लौ को उसने देख लिया है। जानो कि अव वह एकान्त रूप से तुम्हारा है। · · ·

'नाथ · · ·, मेरे तीनों लोकों और तीनों कालों के स्वामी! आ गये तुम? एक ही झटके में मेरी संसार-रात्रि को काट दिया तुमने। ठोड़ी पकड़ कर मेरा घूंघट उठा दिया तुमने। प्रीतम ने अपराधी की मुद्रा में आ कर आत्मार्पण कर दिया है। क्षमा किससे, कैसे माँगूं? तुम्हें तो झेलते ही वनता है · · ·।'

श्रमण ने झुक कर अपने चरणों में पड़े उस तापसी के माथे को छू दिया। वे वँधी हुई ग्रंथिल जटाएँ खुल कर मुक्त कुन्तलों में महक उठीं।

· · ·देख रहा हूँ, किसी अनुत्तर दिव्य लोक के विमान पर खड़ा, निखिल लोक का अवलोकन कर रहा हूँ। · · ·लोकावधि-ज्ञान की सर्व-दर्शी श्रेणि पर आरूढ़ हो गया हूँ। आत्मा की शक्तियों और रहस्यों का पार नहीं।

◆ ◆ ◆

भद्रिकापुरी आया हूँ। चन्द्रभद्रा नदी के तट पर, एक सप्तच्छद वृक्ष के नीचे, शिला तल पर वैठा हूँ। नदी की धारा पर निगाह स्थिर हो गयी है। ग्रीष्म की यह पाण्डुर तन्वंगी नदी विरहिणी-सी लगती है। सोच में पड़ कर, मेरे सामने मानो रुक-सी गई है। पूछ रही हो जैसे:

'कहाँ से आयी हूँ मैं, और कहाँ जाना है। वहते हुए जनम-जनम बीत गये, पर आज अपना पता पाने को जी वहुत अकुला गया है।'

'· · ·ओ नदी, वहती रहो अपने में अविकल। रुको नहीं, सोचो नहीं, पूछो नहीं: एक दिन आप ही जान लोगी कि कौन हो, कहाँ है तुम्हारा उद्‌गम, क्यों है तुम्हारा अभिगम, कहाँ है तुम्हारा निर्गम। · · ·'

· · ·आषाढ़ के पहले वादल गरजने लगे। वनभूमि नाचते मयूरों की पुकारों से पागल हो गई है। विजलियाँ कड़कने लगी हैं। नदी और उसके तटवर्ती ग्राम अंजनी छाया में विश्रब्ध हो गये हैं। धरती के गर्भ में व्याकुलता है, विस्फार है, कि वह मेघ के उल्कावेध से विद्ध हो, नवजीवन को झेले, धारण करे, असंख्य अंकुरों और जीवाणुओं में प्रस्फुटित हो।

· · ·पता नहीं कव, मूलाधार में अन्तर्लीन हो गया हूँ। मेरी पृथुल जंघाओं में पृथिवी सिमट आयी है। पुनरावृत्ति से अव वह ऊव गई है। चाहती है, उसके

शरीर में कोई अपूर्व नाविन्य लहक उठे। उसके अणु-अणु में कोई असम्भव नयी रूपश्री झलमला उठे।

दिशाएँ किसी वज्रभेदी शंखनाद से थर्रा उठीं। घनघोर गरजते मेघों का ब्रह्मांडी डमरू बजने लगा। कड़कती विजलियों के त्रिशूल पर्वत-शिखरों में भिदने लगे।···मूसलाधार वर्षा आरंभ हो गई। मेरी वाह्य चेतना जाने कव तिरोहित हो गई। दृष्टि मात्र रह गया हूँ : और देख रहा हूँ :

···एक वातरशना पुरुष अधर में दण्डायमान है। उद्भिन्न गर्भा धरती, उसके आश्लेप के लिये आकुल, उसके चरणों में लिपटी है। उस पुरुष में कोई स्पन्दन नहीं, प्रतिक्रिया नहीं। वह स्वयम् ही एक विशुद्ध क्रिया का प्रवाह है। क्रिया जो अगोचर है, पर स्वान्तःसंचारिणी है। धारासार वृष्टि-धाराएँ मानों उसी में से उठ कर, मेघनाद करती हुई, उसी पर वरस कर उसका अभिषेक कर रही हैं। उसकी अस्थियाँ ही विस्फोटित हो कर विजलियों में कड़क उठती हैं : और फिर उसी पर टूट कर उसकी पसलियों में समा जाती हैं। उसी का स्नायुजाल, इन आसपास की अरण्यानियों में फैल कर, अपार शाखा-जालों में व्याप गया है। उसी के नाभि-कमल से उद्गीर्ण हो कर यह नदी उद्दाम वेग से अलक्ष्य में वह रही है। और जाने कव उसकी धमनियों में धँस आई है।···

नदी में अनिर्वार बाढ़ आई है। आधी रात वह सारे तटवर्ती ग्रामों के उप्म आलोकित हज़ारों घरों को आप्लावित करती हुई, अपने में डुवा ले गई है। और मानों कि पृथ्वी के तटान्तों तक पहुँच कर, बेवस अपने ही में लौटती हुई, इस दिग्जयी पुरुष की जंघाओं में पछाड़े खा रही है। उसके पोर-पोर असंख्य गोपुरों-से खुल पड़े हैं। और मानों शत-सहस्र नर-नारी, वाल-वृद्धों से भरे लोकालय के सारे वाढ़ में डूबे घर, उसकी मांस-पेशियों के, नयी धूप से जगमगाते, प्रान्तरों में आ कर सुरक्षित वस गये हैं। उनकी पुरातन इयत्ता खो गई है : अपनी नयी अस्मिता में अपने को पहचान कर वे आल्हाद से स्तब्ध है। इतना अधिक तो अपने आपको उन्होंने कभी नहीं पहचाना था···!

···वर्षा के वाद पहली वार आज नयी धूप खिली है। चारों ओर प्रसन्न हरियाली का प्रसार है। दूरवर्ती एक टीले पर बैठा देख रहा हूँ : सारे सन्निवेश के ग्रामजन रंग-विरंगे वस्त्रों में सजे, गाजे-वाजे के साथ जुलूस निकाल कर उस सप्तच्छद वृक्ष के तले आये हैं। उसके तलदेश में पड़े शिलातल की वे पूजा-आरती कर रहे हैं। यहाँ योगिराट् वर्षा-तप में ध्यानस्थ दिखाई पड़े थे, उन्हीं की कृपा से तो उनकी सारी वस्तियां, वाढ़ में डूव कर भी वाल-वाल वच गई थीं !···हाय, वे महापुरुष कुपित नदी-देवता को अपनी वलि चढ़ा कर, हमारा उद्धार कर गये !···

'· · ·अरे ओ भव्यो, कब तक अपने को भूल कर, भय के वशीभूत हो, सहस्र कोटि मिथ्या देवों को पूजते रहोगे ? तुम सब का त्राता तुम्हारे ही भीतर बैठा है। उसी को पाओ, उसी को ध्याओ, उसी को पूजो, उसी को प्यार करो। वही तुम्हारा एक मात्र तारनहार है। अन्यत्र और अन्य, और कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं · · ·।'

सप्तच्छद वृक्ष के नव-पल्लवों में से यह प्रबोधन वाणी सुनाई पड़ी। अपने अनजाने ही, आत्म-प्रतीति से आश्वस्त हो कर, आनन्द के गीत गाते ग्रामजनों की शोभा-यात्रा लौट गई।

तभी अचानक सुनाई पड़ा :

'स्वामी· · ·स्वामी· · ·मेरे स्वामी। पा गया अपने नाथ को ! मैं मंखलि-पुत्र गोशालक लौट आया, भन्ते। आप से बिछुड़ कर इन छह महीनों में मैंने अपार विपदाएँ सहीं। मृत्यु के मुख में से लौट कर आया हूँ, प्रभु। आप ही के अनुग्रह से नया जनम पाया है। अब इन श्रीचरणों को छोड़ कर जाने की भूल कभी नहीं करूँगा। भव-भव का भटका शरणागत है, भगवन्।'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। कीचड़, शैवाल, पत्तों-काँटों से आकीर्ण गोशालक की घायल नग्न मूर्ति प्रणिपात में भूमिष्ठ देखी।

'बुज्झह· · ·बुज्झह, · · ·आत्मन्।'

'समझ रहा हूँ, भन्ते, सब समझ रहा हूँ। फिर भी बार-बार मूढ़ हो जाता हूँ। आपके पास कोई ऐसा कीला नहीं भन्ते, जिससे मेरे इस मन मर्कट को आप कीलित कर के रक्खें ?'

मयूर-पींछी से उसके जटाजूट मस्तक पर तीन बार आघात कर, मैं प्रयाण कर गया। वह फिर पहले की तरह मेरा छायानुसरण करने लगा।

• • •

· · ·परिव्राट् हूँ। परिव्राजन ही मेरा स्वभाव है। वही वस्तु और व्यक्ति मात्र की स्वाभाविक स्थिति है। द्रव्य के शुद्ध परिणमन का यात्री, परिव्राजक ही हो सकता है।

केवलज्ञान के सिद्धाचल पर आरूढ़ होना चाहता हूँ। तो त्रिलोक और त्रिकाल के अतलान्तों में अवरूढ़ होना पड़ेगा। परम उत्कर्ष पर पहुँचने के लिये, चरम अपकर्ष की इस प्रक्रिया से गुजरे बिना चैन नहीं। · · ·

· · ·कौन है यह गोशालक, जो एक अनिवार्य, आसुरी उत्तरीय की तरह मेरे कन्धे पर टँग गया है। अणु-अणु के बीच जो अज्ञान की अँधियारी खंदकें हैं, उन्हीं

का यह विग्रह है। यह शुद्ध और नग्न अन्धकार की मूर्तिमान चुनौती है, जो निरन्तर मेरे ओरेदोरे चक्कर काट रही है। महातमस के लोक में उतरने को यह मुझे प्रतिपल ललकार रहा है। यह वज्रीभूत जड़त्व का अनावरण स्वरूप है। इसके भीतर चैतन्य की जोत उजाले विना निस्तार नहीं। अज्ञान के ध्वान्त-वलयों में उतरने के लिये, यह सीढ़ी बन कर सदा मेरे सामने चल रहा है। अज्ञान अभाव है। अन्धकार विभाव है। पाप, अन्धकार, अभाव की कोई सत्ता नहीं। वह नास्ति है। उस नास्ति के भ्रान्त भय को भेदे और छेदे विना, अस्तित्व अपने स्वभाव से आलोकित नहीं हो सकता।

द्रव्य स्वभाव से ही सत् है, पवित्र है, प्रकाशमान है। परमाणु अपने निसर्ग रूप में ही दीप्त है। द्रव्य का वह अव्यक्त स्वभाव, अपने व्यक्त अस्तित्व में प्रकट न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? अन्ततः सभी कुछ ज्योतिर्मय है। कण-कण अपने अन्तर्तम में एक अखण्ड ज्योति से भास्वर है। कई बार ध्यान में, प्रकाश के एक अफाट-विराट् प्रान्तर में अपने को विचरते देखा है। ग्रह-नक्षत्रों में वही आलोक जल रहा है। भूगर्भ के अँधेरों में वही रत्नों के रूप में दीपित है। प्राणि मात्र की आँखें उसी रोशनी से देखती हैं। जलचर, थलचर, नभचरों के शरीरों में, वनस्पधियों में, वह जाने कहाँ-कहाँ उद्भासित है। सारे चराचर पदार्थ उसी प्रभा के सहारे जीवन-चर्या कर रहे हैं। अन्ततः ज्योति के सिवाय कहीं कुछ नहीं है। उसे न जानना ही, एकमात्र पाप है, पतन है, अन्धकार है, मृत्यु में जीना है। उसे जानना और उसमें जीना ही, स्वभाव है, एकमात्र उत्कर्ष है, आनन्द है, मोक्ष है।

छह वर्ष बीत गये, अनागार भ्रमण कर रहा हूँ। ताकि अणु-अणु मेरा आगार हो जाये। अपने उस आणविक घर में आदिकाल से जो जाले, धूल, अँधेरा डेरा जमाये हैं, उन्हें साफ करना होगा। उसी को जिनेश्वरों ने कर्मनाश कहा है। अनेक मोहजन्य अभिनिवेश, आसक्तियाँ, संस्कार-जाल अपने घर को मलिन और आवृत किये हुए हैं। मन और इन्द्रियों की जीवनवाही खिड़कियाँ, उनसे आच्छादित हो गई हैं। उस कल्मष को ध्वस्त किये विना, जीवन निर्बाध, स्वस्थ, सम्वादी, सुखद नहीं हो सकता।

गोशालक के रूप में कर्मों का वही विषम चक्रव्यूह रातदिन मुझे घेर कर चल रहा है। पर इस तमिस्रा के छोर पर जो दीपक अखण्ड जल रहा है, उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसी से जीवन के इस विडम्बना-चित्र को मैं माया के भ्रामक पर्दों से अधिक कुछ नहीं मानता। गोशालक उसी का समग्र और जीता-जागता

स्वरूप है। वह अस्तित्व के वैपम्यों का चलता-फिरता दर्पण है। वह पूरे जगत-नाटक का एक केन्द्रीय नट है। वह अज्ञानी संसार की सारी मूढ़ताओं का एक सचोट व्यंगकार और विदूषक है। अपना और सबका समान रूप से मज़ाक उड़ा कर, हास्य-विद्रूप करके, वह संसार की यथार्थ स्थिति को उजागर कर रहा है। वह अपनी बलि दे कर, औरों का पथ उजाल रहा है। उसे मैं नहीं अपनाऊँगा, तो कौन अपनायेगा ? मेरे सिवाय इस स्वार्थ-प्रमत्त जगत में उसकी तमोग्रस्त आत्मा को कौन प्यार करेगा ? उसकी भोली, मूढ़, विभोर आँखों में अनेक बार, उसकी मुमुक्षु आत्मा के उदग्रीव दीये को मैंने देखा है।...

□

कौन उत्तर देता है

फिर मगध में विहार कर रहा हूँ। इसकी सतह पर नहीं चल रहा, इसकी तहों में विचर रहा हूँ। कितना प्रशस्त, गहन और लचीला है इसका गर्भकोश। उसके गहराव में गोपित है एक श्रीकमल। उसकी सहस्रों पाँखुरियों में निर्बाध संचरित हो रहा हूँ। किसी परम गर्भाधान को आकुल माँ की कोख की तरह यह भूमि मुझे अपने में आत्मसात् कर रही है।

पर इसकी सतह पर चल रहे कूट-चक्रों का अन्त नहीं। मगधेश्वर श्रेणिक लुब्धक पुरोहितों, कुटिल ब्राह्मणों, तांत्रिक रासायनिकों से घिरा रात-दिन साम्राज्य-विस्तार के षड्यंत्र रच रहा है। आये दिन नित्य हो रहे पशु-यज्ञों से मगध का आकाश मलिन और संत्रस्त है। श्रेणिक के तांत्रिकों ने विष-कन्या के प्रयोग से अजेय योद्धा अंगराज दधिवाहन की हत्या करवा दी है। और पूर्व के समुद्र-दुर्ग चम्पा पर अधिकार कर लिया है। पर उसकी मदिरा के नीलमी प्याले में जो परछाँही पड़ रही है, वह साम्राज्य की नहीं सुन्दरी की है। अनुपम सौन्दर्य का खोजी अन्ततः आत्मकामी होता ही है। काम अपनी उद्दामता के छोर पर पहुँच कर आत्मकाम ही हो सकता है।...

श्रेणिक, तेरा तन-मन चाहे जहाँ भटके : और उसे अभी बहुत भटकना है। पर तेरी चाहत की सुन्दरी मेरे अन्तःपुर में बैठी है। उसके पास पहुँचे बिना तुझे चैन नहीं मिल सकता। सो तेरी सारी प्रवृत्तियों और षड्यंत्रों की धुरी पर वही कमला आसीन है...। जिस दिन वह चाहेगी, अपनी बाहु के एक ही आलोड़न से वह तुझे अपनी छाती पर खींच लेगी। तेरे सारे रास्ते अन्ततः उसी कमला के महल की ओर जा रहे हैं।

श्रेणिक, पिछली बार तू अपने ऐश्वर्य के बीच मुझे आमंत्रित करने आया था। मैं चुप रहा। आँख उठा कर भी मैंने तेरी ओर नहीं देखा। क्योंकि मेरी दृष्टि एकाग्र तेरी आत्मा पर लगी है। उसकी मुझे जरूरत है। तरल, निर्मल, और निष्कपट है तेरी चेतना। ठीक मुहूर्त आने पर वह मेरे प्याले में सहज ही ढल जायेगी। पर आज मेरी चुप्पी और अवहेलना से तू नाराज है। अपने चाटु-कारों के बीच तू श्रमण वर्द्धमान की निन्दा में रत रहता है। साम्राज्य को भूल तेरा समूचा जी इस नग्न भिक्षुक में आ अटका है। इसकी महिमा को ढाँके बिना

तू अपना प्रताप महसूस करने में असमर्थ है। साम्राज्य और सुन्दरी से भी अधिक तू इस महिमा की अभीप्सा से पागल हो उठा है। इस भिक्षुक के अहंकार को तोड़े विना, तेरे सम्राट का अहंकार खड़ा नहीं रह पा रहा। तेरे पराजित और घायल अहम् की इस वेदना को अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन तू भ्रांति में पड़ा है, श्रेणिक! अकिंचन वर्द्धमान के पास तो वह अहंकार भी नहीं बचा। उसने तो सभी कुछ हार दिया। और यदि तेरी दृष्टि में अभी भी उसका कोई स्वत्व बचा है, तो उसे भी वह तेरे निकट हार देने आया है। ऐसे सर्वहारा और अकिंचन की प्रतिस्पर्द्धा में तू पड़ा है, तो इष्ट ही हुआ है। अपने को समूचा हारे विना तेरा निस्तार नहीं। उस भिक्षुक जैसा हुए विना, तेरा जीना असम्भव हो जायेगा। जानता हूँ, मद्रूप हो कर ही तुझे चैन मिलेगा। तुझ जैसा अपना प्रेमी और कहाँ पाऊँगा· · ·?

कई वार पंचशैल की तलहटी में कायोत्सर्ग से निर्गत होने पर देखा है, मगध की सम्राज्ञी चेलना जाने कब से सामने बैठी है। मुक्तकेशी, उज्ज्वल वसना, घुटने पर चिवुक टिकाये वह एकटक भिक्षुक के धूलि-धूसरित चरणों में तन्मय है। मुझे उन्मुख देख, उसकी वे बड़ी-बड़ी चिन्तामणि आँखें मेरे चेहरे पर व्याप जाती हैं। उस चितवन का अथाह दरद, और उसकी आरती मुझे विवश कर देती है। उसके विदग्ध विलासी लोचनों में, सम्यक्त्व की अनाविल आभा झाँकती है। उन पलकों के किनारों में छलकते गोपन सरोवर में योगी चाहे जब स्नान-केलि करने चला जाता है।· · ·और कभी-कभी उसमें गहरी डुबकी लगा कर, मगध की धरती के लचीले और उदात्त गर्भ में उतर जाता है।

◆ ◆ ◆

आठ महीने मगध में विहार करता रहा। कोई विघ्न या उपसर्ग राह में नहीं आया। मेरे भीतर के मार्दव को, इसी मार्दवी भूमि ने पहली बार ऐसा अचूक उत्तर दिया है।· · ·अच्छा मागधी, अब हम चलेंगे। अटकना हमारा स्वभाव नहीं, अटन ही हमारी एकमात्र चर्या है।

· · ·आलंभिका में वर्षायोग सम्पन्न कर कुंडक ग्राम आया हूँ। यहाँ के वासुदेव मन्दिर के एक कोने में ध्यानस्थ हो गया हूँ। एकाएक दिखाई पड़ा : गोशालक वासुदेव की प्रतिमा के सम्मुख अपना पुरुष-चिह्न रख कर उद्दण्ड भाव से खड़ा है। पुजारी उसे देखते ही भय के काँप उठा। उसे लगा कि किसी मनुष्य की सामर्थ्य नहीं, जो ऐसा कर सके। निश्चय ही गाँव के भैरव यहाँ प्रकट हो कर, यह रुद्र-क्रीड़ा कर रहे हैं। वह बेदम वहाँ से भागा और ग्रामजनों को वुला लाया। क्षण भर वे भी भैरव के भय से आतंकित हो रहे। तभी गाँव के लड़के किलकारियाँ करते हुए गोशालक पर टूट पड़े। देखते-देखते उन्होंने लात-घूँसे मार कर उसकी हड्डी-पसली एक कर दी। फिर उसे ले जाकर वाहर कहीं कटीली झाड़ियों में डाल दिया।

दोपहरी के निर्जन सन्नाटे में छिले वदन, दीन मुख, हत प्राण गोशालक मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

'स्वामी, आपका हृदय पत्थर का है कि फौलाद का? मुझ निरपराध को दुष्टों ने मरणान्तक मार मारी, और आप चुपचाप खड़े, तमाशा देखते रहे?'

'हूँ···!'

'मेरा क्या अपराध है, भन्ते? आप तो जानते हैं, मैं चिर दिन का अस्खलित ब्रह्मचारी हूँ। आप ही का नग्न निर्ग्रंथ शिष्य हूँ। पर यह कामदेव वड़ा नीच और निर्लज्ज है, प्रभु! पिशाच की तरह वह मुझ पर चढ़ बैठा है, और अपने दारुण ज्वर से उसने मुझे हताहत कर दिया है। आप तो मेरी गुहार सुनते नहीं, सो मैं दीन-दयालु वासुदेव की शरण चला गया। अपना उद्विग्न कामदण्ड मैंने उनके सामने नैवेद्य कर दिया। ताकि वे कामदेव के इस क्रूर वाहन को ही लील जायें, और मुझे सदा के लिये इस दुष्ट की उपाधि से मुक्त कर दें। अव आपही न्याय करें, भन्ते. इसमें मेरा क्या दोष था···?'

'कापालिक···!'

मन्दिर की दीवारों ने प्रतिध्वनित किया: 'कापालिक···कापालिक··· कापालिक···!'

'मैं कापालिक? आपका परम प्रियपात्र शिष्य मैं···और कापालिक?'

'वह तू नहीं। वह तेरे मन की एक पर्याय। अवश्यम्भावी। तू लिंगकाम नहीं। तू है लिंगातीत महाकाम।'

'तो फिर इस दुष्ट काम को कैसे जीतूं, भन्ते?'

'क्रोध से कामजय करेगा रे? कषाय के कषाय जय कैसे होगा? सदा स्वयं-काम रह। जो स्वयम् ही अपना काम हो रहे, वह सहज ही पूर्णकाम होता है। अकाम नहीं, पूर्णकाम ही हुआ जा सकता है, वत्स।'

'मैं मूढ़ मन्द मति आपकी गूढ़ वातें समझ नहीं पाता, भन्ते!'

'समझ नहीं, केवल सुन, देख, सह, तप। अनुभव आप ही प्रकाश है।'

'प्रवुद्ध हुआ, भन्ते!'

◆ ◆ ◆

पुरिमताल के शकटमुख में उद्यान चंक्रमण कर रहा हूँ। सामने दिखाई पड़ रहा है कचनार-वन। तलदेश कचनार के कासनी फूल-गुच्छों से छाया है।··· ध्यान आ रहा है, यहां एक दिन इस नगर के वागुर-श्रेष्ठि ने अपनी वन्ध्या सेठानी के साथ कुसुम-क्रीड़ा की थी। क्रीड़ा में तल्लीन विचरते हुए, वे युगल एक विशाल जीर्ण मन्दिर की ओर जा निकले। कौतुक वश देवालय में प्रवेश कर

गये । शून्य चैत्य के देवासन पर मल्लिनाथ प्रभु के अत्यन्त मनोहारी जीवन्त विम्व के दर्शन हुए । उन अर्द्धनारीश्वर प्रभु के रूप में एकबारगी ही उन्हें नर-नारी के दर्शन हुए । देख कर श्रेष्ठी-युगल की मर्म-वेदना उमड़ आई । वन्दना में विनत हो कर उन्होंने प्रार्थना की : 'हे देव, आपके अनुगृह से यदि हमें सन्तान लाभ हो, तो हम आपके जिनालय का जीर्णोद्धार करायेंगे । चिरकाल आपके भक्त हो कर रहेंगे !...'

मल्लिनाथ तो कुछ करते नहीं । वे न तो नर हैं, न नारी हैं : बस केवल आप हैं । पर उनकी भावमूर्ति से अभिभूत हो कर उस युगल के हृदय में अन्तर्निहित भगवत्ता जागृत हो उठी । भाव ही तो भगवान है । ...वह पूर्ण प्रकट हो जाये, तो असम्भव सम्भव हो जाये ।

...वन्ध्या भद्रा सेठानी गर्भवती हो गई । यथा समय एक सुन्दर पुत्र से उसकी गोद भर गई । ...

...कचनार वन की शीतल सौरभ-छाया में मुझे गभीर निजानन्द की रस-समाधि हो गई । ...

• • •

मन्दिर का जीर्णोद्धार हो गया है । वाजित्रों और मंगल-ध्वनियों के हर्ष-कोलाहल के साथ भारी शोभा-यात्रा इस ओर आ रही है । मंदिर में सिद्धचक्र पूजा का भव्य अनुष्ठान चल रहा है । सबसे आगे दुइज की चन्द्रकला-सा शिशु गोदी में उठाये भद्रा सेठानी भक्ति-विनम्र भाव से चली आ रही हैं । उनकी दायीं ओर पुलक-रोमांचित वागुर श्रेष्ठि चल रहे हैं । ...

कचनार वन की कुसुम-क्रीड़ा का स्मरण होते ही, दम्पति ने सहज ही उधर दृष्टि उठायी । युगल के पाँव वहीं ठिठक गये । सारा हर्ष-कोलाहल आश्चर्य-विमुग्ध, स्तंभित हो रहा । दम्पति आनन्द-विभोर हो पुकार उठे :

'हम धन्य हुए, हमारा मानव-जन्म कृतार्थ हो गया ! मल्लिनाथ प्रभु ने साक्षात् प्रकट हो कर, हमें दर्शन दिये ...। भगवान मल्लिनाथ जयवन्त हों, जयवन्त हों, जयवन्त हों !'

सारी लोक-मेदनी अन्तहीन जयध्वनि करने लगी । भद्रा ने अपनी उपलब्धि को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिया । मन्दिर की सारी पूजा-अर्चा कुसुम-वन में आ गई । कचनार ने ढेर-ढेर फूलों की वृष्टि की । ...

मैं मुस्कुरा आया । ...शून्य मंदिर में फिर एकाकी हो गये मल्लिनाथ क्या सोच रहे होंगे ? ...मुझे क्या पता, कि वही देवासन त्याग कर यहाँ बाहर

आ गये हैं। भगवान से भी अधिक समर्थ है शायद भक्त। जो अपने भाव के बल उनसे मनचाहा करवा लेता है। भाव ही तो वस्तु-स्वभाव है।

◆ ◆ ◆

उष्णाक नगर की ओर अग्रसर हूँ। हठात् गोशाला चिल्ला उठा :

'अनर्थ ''' अनर्थ ''' अनर्थ हो गया, भगवन्। हाय हाय, कैसा अपशकुन हो गया ''' अमंगल ''' अमंगल '''!'

मुझे अप्रभावित, अक्षुण्ण चलते देख कर वह फिर चीखा :

'अरे प्रभु, आप तो चलते भी ध्यान में ही हैं। अच्छा-बुरा, कुरूप-सुरूप कुछ भी नहीं देखते। बचाइये प्रभु, इस दुर्दैव से बचाइये!'

मैं चुप, अकम्प वैसा ही चल रहा हूँ।

'अरे स्वामी, ऐसा वीभत्स दृश्य तो मैंने कभी देखा नहीं। मन ख़राब हो गया। असह्य है ''' असह्य ''' असह्य है यह विद्रूप। ''' अरे एक निगाह देखें स्वामी, ये तुरत के ब्याहे वर-वधू आ रहे हैं। कितने बड़े-बड़े हैं इनके पेट, साक्षात् वृकोदर हैं। और ये इनके बड़े-बड़े भयंकर दाँत! अरे, ये दाँत हैं कि दराँते हैं। बतख़-सी लम्बी हैं इनकी गर्दनें। और ये ठोड़ियाँ हैं कि घोड़ियाँ, चाहो तो इन पर सवारी कर लो। कन्धों में कूबड़ें निकल आयी हैं, कि पहाड़ियाँ हैं? और ये इनके चपटे नाक हैं, कि सपाट मैदान! अहो, धन्य है विधाता की लीला! कैसी अनुपम जोड़ी मिलायी है, खोजे न मिले। जान पड़ता है ये विधाता भी बड़ा कौतुकी है, भन्ते?'

गोशाला ठीक उनके सम्मुख जा कर ही, उच्च स्वर से यह काव्य-गान कर रहा है, और उन्मादी की तरह अट्टहास कर रहा है। नाथ के बारातियों ने सहसा ही इस तल्लीन कवि को धर पकड़ा और चोर की तरह मयूर-बन्ध से बाँध कर बाँस की झाड़ी में फेंक दिया। वंशजाल में उलझा, छटपटाता वह गुहार रहा है :

'हे स्वामी, इन दुष्टों ने मुझे जानवर की तरह बाँध कर, दुर्निवार कंटक-जाली में धकेल दिया है। फिर भी आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं? आँख उठा कर देखते तक नहीं? औरों पर तो आप अढलक कृपा करते हैं। क्या अपने इस दीन सेवक पर ही कृपा नहीं करेंगे?'

मैं निरुत्तर ही आगे बढ़ गया। कुछ दूर जा कर खड़ा रह गया, उसकी प्रतीक्षा में। ''' मुझे यों अटका देख, बारातियों ने सोचा, जान पड़ता है यह कोई दुर्विपाक का मारा दुर्मति इन महातपस्वी देवार्य का सेवक है, पीठधारी और छत्रधारी है। ''' सो उन्होंने उसे उठा कर, उसके पाश खोल, मेरे सामने पुटरिया की तरह ला पटका, और वन्दन-नमन कर क्षमा-याचना करते अपनी

राह चल पड़े। गोशाला अभी भी पुटरिया बना ही पड़ा है, बन्धन खुलने का उसे भान नहीं।

'स्वामी, क्या अपराध है मेरा, जो इन दुष्टों ने मुझे ऐसा दारुण दण्ड दिया है? अरे मैं तो जो यथार्थ देखता हूँ, वही कहता हूँ। कुरूप को कुरूप कहना भी क्या गुनाह है, भन्ते? ऐसा बीभत्स रूप, कि अभी तक मुझे मतली हो रही है।...'

'क्या आकार को ही देखेगा, आत्मा को नहीं देखेगा रे?'

'असुन्दर आकार की आत्मा कैसे सुन्दर हो सकती है, प्रभु? सुरूप और कुरूप जुड़ ही कैसे सकते हैं?'

'स्वरूप देख वत्स, जो सदा सुन्दर ही होता है। स्वरूप देखने की दृष्टि नहीं खुली है, इसी से तो विरूप देख रहा है?'

'ऐसा कोई अंजन नहीं है, भगवन्, आपके पास, जो आप मेरी आँखों में आँज दें, तो सर्वत्र सुन्दर ही दिखाई पड़े, असुन्दर देखने की पीड़ा से ही सदा को मुक्ति पा जाऊँ?'

'वह अंजन तेरे ही पास है, आयुष्यमान्, तेरी आत्मा की शीशी में।'

'आत्मा तो अरूपी है, भन्ते, उस में सुन्दर रूप दिखाने वाला अंजन कहाँ से मिलेगा?'

'सारे रूप उसी अरूप में से आते हैं। उस अरूप का स्वरूप प्रकट हो जाये, तो सभी कुछ सुन्दर हो जाये। द्रष्टा भी, दृश्य भी।'

'ऐसा रसायन, भन्ते, आपके सिवाय और कहाँ पाऊँगा? बूंद दो बूंद अपने इस दासानुदास को भी पिला दें, तो देह और देही की झंझट ही खत्म हो जाये। जैसा भीतर, वैसा बाहर।...अरे, पा गया...पा गया...पा गया, भगवन्! यही गुर तो मैं खोज रहा हूँ। भीतर-बाहर का यह भेद जगत में देख कर ही तो मेरी आत्मा पीड़ित होती है, और आये दिन रोज़ मुझे मार पड़ती है...!'

'मद्रूप हो जा, वत्स, तो तद्रूप हो ही जायेगा...!'

और मैं आगे बढ़ गया। गोशाला भी सीधा सड़क हो, पीछे-पीछे चलने लगा।

◆ ◆ ◆

गोभूमि सन्निवेश के चरागाह में आ कर खड़ा हो गया हूँ। गोचारण करते ग्वालों को देख, गोचरी का स्वरूप साक्षात् कर रहा हूँ।

सहसा ही गोशालक का तीव्र आवेश भरा स्वर सुनाई पड़ा है :

'अरे ओ वीभत्स मूर्ति वालो, अरे ओ विकट कर्कटो, अरे ओ म्लेच्छो, अपने ही गोबर में शूरवीर बन विचरते गोपालो, कहो तो यह मार्ग कहाँ जाता है ?'

गोपाल बोले :

'अरे ओ पंथी, तू बिना कारण हमें क्यों गाली देता है ? हमने तो तेरा कुछ बिगाड़ा नहीं। जा साले, तेरा नाश हो जाये !'

गोशाला और भी उत्कट हो बोला :

'अरे ओ दासी-पुत्रो, जो तुम मेरा यह आक्रोश सहन नहीं करोगे, तो मैं और भी आक्रोश करूँगा। मैंने तो तुमको कोई गाली दी नहीं। सच पूछो तो मैं सब को गाली दे रहा हूँ। मैं इस सारी दुनिया से नाराज़ हूँ। यहाँ का सब मुझे कुरूप और कदर्यी लगता है।'

'लगता होगा तुझे। इसके लिये हमें क्यों गालियाँ दे रहा है। हमने तेरा क्या बिगाड़ा है, षण्ड ?'

'अच्छा यह बताओ, क्या तुम म्लेच्छ नहीं हो, वीभत्स नहीं हो, दासी-पुत्र नहीं हो ? तुम्हारी अहीरनी माँएँ क्या इन धूर्त ग्रामपतियों की भोग-दासियाँ नहीं हैं ? हिम्मत हो तो, सच-सच बतलाना...!'

ग्वालों ने क्रुद्ध हो कर, अपने चौपायों को हाँक दी, और उन्हें गोशाले पर दौड़ा दिया। निरीह गो-बैलों के सींगों और खुरों की मार से कुचल कर वह अधमरा हो रहा।

...मैं अपनी राह पर दूर निकल गया हूँ। हाँफता-हाँफता गोशाल पीछे दौड़ा आया।

'आप के मौन का रहस्य समझ रहा हूँ, भन्ते। चुप रह कर आप मेरे चैतन्य की सीसी खोल रहे हैं। आज तो जान पड़ता है, सींगों और खुरों की मार से वह फूट पड़ी है। एक साथ ही उनका सारा अंजन मेरी आँखों में लग गया है। गोरज ने भीतर तक घुस कर मेरी आँखों के सारे जाले काट दिये हैं। पर ठीक पता नहीं चल रहा है, कि इस दुनिया की कुरूपता नंगी हुई है, या मेरी ही कुरूपता उघड़ कर सामने आ गई है। आपके साथ घिसते-घिसते कभी तो शालिग्राम हो ही जाऊँगा, प्रभु !'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और चुपचाप अपने यात्रा-पथ पर आरूढ़ हूँ।

...राजगृही की सुरम्य शाद्वल हरियालियों में जो चौमासा बीता है, उसकी कोमलता तले, भीतर की तहों में छुपे कर्म-कंटक-कान्तार और भी प्रबल हो कर उभरे हैं। सो फिर म्लेच्छ खंडों की यात्रा की है। वहाँ के छेदन-

गह चल पड़े। गोशाला अभी भी पुटरिया बना ही पड़ा है, बन्धन खुलने का उसे भान नहीं।

'स्वामी, क्या अपराध है मेरा, जो इन दुष्टों ने मुझे ऐसा दारुण दण्ड दिया है? अरे मैं तो जो यथार्थ देखता हूँ, वही कहता हूँ। कुरूप को कुरूप कहना भी क्या गुनाह है, भन्ते? ऐसा बीभत्स रूप, कि अभी तक मुझे मतली हो रही है।...'

'क्या आकार को ही देखेगा, आत्मा को नहीं देखेगा रे?'

'असुन्दर आकार की आत्मा कैसे सुन्दर हो सकती है, प्रभु? सुरूप और कुरूप जुड़ ही कैसे सकते हैं?'

'स्वरूप देख वत्स, जो सदा सुन्दर ही होता है। स्वरूप देखने की दृष्टि नहीं खुली है, इसी से तो विरूप देख रहा है?'

'ऐसा कोई अंजन नहीं है, भगवन्, आपके पास, जो आप मेरी आँखों में आँज दें, तो सर्वत्र सुन्दर ही दिखाई पड़े, असुन्दर देखने की पीड़ा से ही सदा को मुक्ति पा जाऊँ?'

'वह अंजन तेरे ही पास है, आयुष्यमान्, तेरी आत्मा की शीशी में।'

'आत्मा तो अरूपी है, भन्ते, उस में सुन्दर रूप दिखाने वाला अंजन कहाँ से मिलेगा?'

'सारे रूप उसी अरूप में से आते हैं। उस अरूप का स्वरूप प्रकट हो जाये, तो सभी कुछ सुन्दर हो जाये। द्रष्टा भी, दृश्य भी।'

'ऐसा रसायन, भन्ते, आपके सिवाय और कहाँ पाऊँगा? बूंद दो बूंद अपने इस दासानुदास को भी पिला दें, तो देह और देही की झंझट ही खत्म हो जाये। जैसा भीतर, वैसा बाहर।...अरे, पा गया...पा गया...पा गया, भगवन्! यही गुर तो मैं खोज रहा हूँ। भीतर-बाहर का यह भेद जगत में देख कर ही तो मेरी आत्मा पीड़ित होती है, और आये दिन रोज मुझे मार पड़ती है...!'

'मद्रूप हो जा, वत्स, तो तद्रूप हो ही जायेगा...!'

और मैं आगे बढ़ गया। गोशाला भी सीधा सड़क हो, पीछे-पीछे चलने लगा।

◆ ◆ ◆

गोभूमि सन्निवेश के चरागाह में आ कर खड़ा हो गया हूँ। गोचारण करते ग्वालों को देख, गोचरी का स्वरूप साक्षात् कर रहा हूँ।

सहसा ही गोशालक का तीव्र आवेश भरा स्वर सुनाई पड़ा है :

'अरे ओ वीभत्स मूर्ति वालो, अरे ओ विकट कर्कटो, अरे ओ म्लेच्छो, अपने ही गोचर में शूरवीर बन विचरते गोपालो, कहो तो यह मार्ग कहाँ जाता है ?'

गोपाल बोले :

'अरे ओ पंथी, तू विना कारण हमें क्यों गाली देता है ? हमने तो तेरा कुछ विगाड़ा नहीं। जा साले, तेरा नाश हो जाये !'

गोशाला और भी उत्कट हो बोला :

'अरे ओ दासी-पुत्रो, जो तुम मेरा यह आक्रोश सहन नहीं करोगे, तो मैं और भी आक्रोश करूँगा। मैंने तो तुमको कोई गाली दी नहीं। सच पूछो तो मैं सब को गाली दे रहा हूँ। मैं इस सारी दुनिया से नाराज हूँ। यहाँ का सब मुझे कुरूप और कदर्थी लगता है।'

'लगता होगा तुझे। उसके लिये हमें क्यों गालियाँ दे रहा है। हमने तेरा क्या विगाड़ा है, पण्ड ?'

'अच्छा यह बताओ, क्या तुम म्लेच्छ नहीं हो, वीभत्स नहीं हो, दासी-पुत्र नहीं हो ? तुम्हारी अहीरनी माँएँ क्या इन धूर्त ग्रामपतियों की भोग-दासियाँ नहीं हैं ? हिम्मत हो तो, सच-सच बतलाना···!'

ग्वालों ने क्रुद्ध हो कर, अपने चौपायों को हाँक दी, और उन्हें गोशाले पर दौड़ा दिया। निरीह गो-बैलों के सींगों और खुरों की मार से कुचल कर वह अधमरा हो रहा।

···मैं अपनी राह पर दूर निकल गया हूँ। हाँफता-हाँफता गोशाल पीछे दौड़ा आया।

'आप के मौन का रहस्य समझ रहा हूँ, भन्ते। चुप रह कर आप मेरे चैतन्य की शीशी खोल रहे हैं। आज तो जान पड़ता है, सींगों और खुरों की मार से वह फूट पड़ी है। एक साथ ही उसका सारा अंजन मेरी आँखों में लग गया है। गोरज ने भीतर तक घुस कर मेरी आँखों के सारे जाले काट दिये हैं। पर ठीक पता नहीं चल रहा है, कि इस दुनिया की कुरूपता नंगी हुई है, या मेरी ही कुरूपता उघड़ कर सामने आ गई है। आपके साथ घिसते-घिसते कभी तो शालिग्राम हो ही जाऊँगा, प्रभु !'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और चुपचाप अपने यात्रा-पथ पर आरूढ़ हूँ।

···राजगृही की सुरम्य शाद्वल हरियालियों में जो चौमासा बीता है, उसकी कोमलता तले, भीतर की तहों में छुपे कर्म-कंटक-कान्तार और भी प्रबल हो कर उभरे हैं। सो फिर म्लेच्छ खंडों की यात्रा की है। वहाँ के छेदन-

भेदनकारी उपसर्गों से, इस देह के कोशों और नाड़ियों के कई सर्प-गुंजल्की ग्रंथिजाल छिन्न-भिन्न हुए हैं।···नहीं इन्द्र, मुझे तुम्हारी सहायता की जरूरत नहीं। श्रमण अपनी ही आत्म-शक्ति को शाण-पट्ट पर चढ़ा कर अरिहन्त होते हैं···!

कूर्मग्राम में प्रतीक्षा करता गोशालक फिर मेरे साथ हो लिया। सिद्धार्थपुर के मार्ग में सात फूलों वाला तिल का एक क्षुप देख कर उसने पृच्छा की :

'स्वामी, यह तिल का क्षुप फलेगा कि नहीं ?'

'यह फलेगा, भद्र। इन सातों ही फूलों के जीव एक फली में सात तिल होंगे।'

यह सुन कर गोशालक ने उस तिल स्तम्भ को वहाँ से उखाड़ कर फेंक दिया।···आगे जा रहा हूँ, और पीछे का दृश्य दिखाई पड़ रहा है।··· अकाल मेघवृष्टि हुई है। उच्छिन्न तिल-क्षुप को आर्द्र कर, मेघधारा ने धरती को भी भिजो दिया है। तभी एक गाय ने आ कर भीने तिल-क्षुप को अपने खुर से माटी में गहरा जड़ित कर दिया है। भूमिसात् हो कर वह मूलबद्ध और अंकुरित हो आया है।···जो कहता हूँ, वही हो जाता है। पर मैं तो कुछ चाहता नहीं, करता नहीं। बोलता तक नहीं। चुप ही रहता हूँ। फिर यह कौन है, जो हर प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देता है ?'···मौनम् गिराम् !

□

सर्वतोभद्र पुरुष :
सर्वतोभद्रा का आलिंगन

···यह क्या हुआ कि चलते-चलते औचक ही लौट कर उलटे पैरों फिर कूर्मग्राम की ओर चल पड़ा हूँ। यह परिक्रमा किस लिये? यह प्रतिक्रमण क्यों?

ओ,···वेशिका-पुत्र वैशिकायन। तेरी विषम तापाग्नि का आवाहन सुन रहा हूँ। तेरे जीवन का चित्रपट आँखों के सामने से गुजर रहा है।··· देख रहा हूँ, तेरे जन्म की वह अँधियारी संकट-रात्रि। तेरे खेटक ग्राम को चोरों ने लूट लिया। तेरा पिता उस आक्रमण में मारा गया। प्राण-रक्षा के लिये भागती तेरी गर्भवती माँ वेशिका ने तुझे एक पेड़ के नीचे जन्म दिया। सद्य प्रसूता वेशिका को चोरों ने पकड़ लिया। उसके रूप-लावण्य के लोभी तस्करों ने बालक को बलात् वहीं पेड़ तले उससे छुड़वा दिया। प्रातःकाल गोबर ग्राम का धनी आहीर-पति गोशंखी अपनी बन्ध्या स्त्री बन्धुमती के साथ उधर से निकला। ईश्वरीय वरदान समझ उस सुन्दर बालक को उन्होंने अपने पुत्र रूप में अंगीकार कर लिया। उनके लाड़-कोड़ में पल कर, एक दिन तू सुन्दर तेजस्वी युवान हो गया।···

···उधर तेरी सुन्दरी माँ वेशिका को चोरों ने चम्पा नगरी के चौराहे पर एक वेश्या के हाथों बेच दिया। कालान्तर में वह अप्सराओं को भी लजाने वाली रूपसी, चम्पा की प्रख्यात गणिका हो गई।···और वैशायन, योगायोग कि, तू व्यापार निमित्त चम्पा आया। एक रात गणिका-चत्वर के किसी भवन की खिड़की पर खड़ी, एक परमा सुन्दरी गणिका पर तेरी दृष्टि पड़ गई। अनिर्वार थी वह रूप की कजरारी मोहरात्रि···!

···फूलों की शैया पर वारांगना को सम्मुख पा कर, तू उस चेहरे को ताकता ही रह गया। तेरे प्राण जाने कैसी जन्मान्तरीण विरह-वेदना से कातर हो आये। तेरे चित्त में हिल्लोलित काम सहसा ही अवरुद्ध हो गया।···वह गणिका तेरे निहोरे कर के हार गयी। पर तू अविचल, मूक पत्थर का देवता हो रहा।···तूने उस रूपसी को अपनी वेदना से विवश कर दिया, कि वह अपनी पूर्व-कथा सुनाये।···सुन कर एक गहरी आशंका से तू सन्न हो गया।

उलटे पैरों गोबर ग्राम लौट कर, तूने अपने माता-पिता से अपना जन्म-वृत्तान्त किसी तरह निकलवा लिया।

'···ओ वेशिका, वेश्या, तू मेरी माँ है! मैं तेरे साथ रमण करने आया था···!' उसी आवेग में भाग कर तू फिर चम्पा नगरी पहुँचा। अपनी वेश्या-माँ के चरणों में लोट कर तूने अपना आत्म-निवेदन कर दिया।···

···प्रत्यक्ष अभी इस क्षण अनुभव कर रहा हूँ, बिछड़े माँ-बेटे का वह गाढ़ आलिंगन और मर्मवेधी रुदन। कुट्टिनी को विपुल द्रव्य दे कर तू अपनी माँ को छुड़ा लाया। और उसे धर्म-मार्ग में स्थापित कर, कुछ दिनों बाद, एक रात अचानक माँ से कहे बिना ही तू निकल पड़ा। तेरा चित्त संसार की भूमि से ही उच्चाटित हो चुका था। तापसी प्रव्रज्या ले कर तू आत्म-प्राप्ति की खोज में व्याकुल, उन्मन् भटकने लगा।

···देख रहा हूँ आज, ग्रीष्म की इस लू भरी दोपहरी में, तू कूर्मग्राम आया है। वट-वृक्ष के मूलों-सी जटाएँ धारण किये, आकाश में हाथ पसारे, ठीक सूर्य के सन्मुख अपलक दृष्टि स्थिर किये, आतापना ले रहा है। अबूझ है तेरी आत्मा की यातना। निर्धूम अग्नि-सा जाज्वल्यमान तू, अपनी ही अन्तर-वह्नि में निरन्तर अपनी आहुति दे रहा है। अति विनम्र-विनीत है तेरा भाव। तेरा रोम-रोम दया-दाक्षिण्य से आप्लावित है। समत्व के योगासन पर आरूढ़ होने के लिये विकल तू, अपनी अवचेतना में बद्धमूल जनम-जनम व्यापी मोहनी कर्म के नागचूड़ों से दारुण युद्ध कर रहा है। तेरे दयार्द्र चित्त की करुणा का पार नहीं। सूर्य-किरणों के ताप से उद्विग्न हो, तेरी जटाओं से जो जूएँ नीचे खिर रही हैं, उन्हें तू फिर से उठा-उठा कर अपनी जटाओं में लौटा रहा है, कि वे सूक्ष्म जीव आश्रय-च्युत न हों। इस क्रूर संसार के प्रमत्त पदाघात तले वे कुचल न जायें।···'हाय, ये बेचारे नन्हें जीवाणु, कहाँ जायेंगे?···मेरी जटाओं से बिछुड़ कर ये कहाँ आसरा पायेंगे?'

तेरी अन्तर-आत्मा की होमाग्नि से मेरा गहरा सरोकार है, वैशायन! क्योंकि वह चिरकाल के सन्तप्त संसार की पुंजीभूत दुःख-ज्वाला है। कुटिल चक्रपथ से चल कर एक दिन वह मेरे ही द्वारा नियोजित राह से, मेरे कैवल्य शरीर पर आक्रमण करेगी। उस चुनौती का उत्तर दे कर, तीर्थंकर महावीर को अपनी अर्हत्ता प्रमाणित करना होगा। मेरे अभिन्न आत्म-सहचर वैशायन, हमारे प्रथम मिलन की यह घड़ी अनिवार्य और निर्णायक है।

···तेरे समक्ष उपस्थित हूँ, मित्र वैशायन! एक बार भी आँख उठा कर मेरी ओर नहीं देखेगा, बन्धु? अपनी जूँओं से अधिक, क्या संसार में तुझे कुछ भी प्रिय नहीं? क्या मैं तेरे मैल की अण्डज इन जूंओं से भी गया-बीता हूँ? मनुष्य के कपट-कूट और क्रूरता से तू ऐसा नाराज़ हो गया है, मित्र? तेरी

आत्मा की करुणा ने मेरी वीतरागता को द्रवित कर दिया है। एक वार इधर देख, देवानुप्रिय ! ··· विचित्र है तेरी यह आत्म-दहन की समाधि, जिसमें से करुणा के अश्रुजल झर रहे हैं। ···

··· वैशायन की अग्नि-समाधि को भंग किये विना गोशालक को चैन नहीं। उसके ठीक सामने खड़ा हो वह उद्दण्ड स्वर में पूछने लगा :

'अरे तो तापस, क्या तू तत्वज्ञानी है ? या तू कोई पुरातन शैया-कामी है ? धन्य है तेरा तप, वलिहारी है तेरे तत्वज्ञान की। ··· जूँएँ वीनने में कौन-सा तत्वज्ञान है, ओ मूढ़ मति ? अपने ही मैल की दया पालने में कौन-सा धर्म है, हे परम मूर्ख ?'

वैशायन वहुत देर तक गोशाले की वकवास को अविचल तितिक्षा से सहता रहा। प्रतिकारहीन मौन से वह उसकी अवगणना करता रहा। तापस को निरुत्तर पा कर गोशाला झुँझला गया। वह मेरे पास आ कर कहने लगा :

'भन्ते, तापस के वेश में यह कोई पिशाच है क्या ? औंधा लटक कर अपनी ही देह का छूटा मैल चाटने में यह मगन है। और अपने को कोई महातपस्वी समझ रहा है। उत्तर तक नहीं देता यह पाखण्डी। और ऐसा घमंडी, कि देवार्य की ओर आँख उठा कर तक नही देखता। इस पिशाच की लीला से नरलोक को वचाओ, भगवन् !'

तापस के धैर्य का सुमेरु विस्फोटित हो उठा :

'नरलोक ···? ओ नरपिशाचों की सन्तान, महा नरपिशाच, ले जान कि मैं कौन हूँ ···!'

और वैशायन का नाभि-कमल हठात् फट पड़ा। एक विकराल सत्यानाशी ज्वाला की लपट, उसमें से तीर की तरह छूट कर गोशालक के कपाल पर जा टकराई। गोशालाक भीषण दावाग्नि की असह्य लपटों में घिरा आक्रन्द करता हुआ ताण्डव करने लगा। मानो मानवता का जंगल अपनी ही आग में जल रहा है।

'··· ओ वैशायन, अपनी तेजो-लेश्या का आघात किया है तूने, मनुष्य की सारी जाति पर ! तेरा कोई दोष नहीं, वत्स, अपराधी मैं हूँ। मैं मनुष्य का प्रथम और अन्तिम वेटा। शान्त हो मित्र, शान्त हो। अपने भाई को नहीं पहचानेगा रे ···?'

··· और हठात् मेरे हृदय के श्रीवत्स चिह्न में से सहस्रों जलधाराएँ फूट कर, गोशालक का दाह शमन करती हुई, वैशायन का आचूड़ अभिषेक करने लगीं।

'भगवन्, मानुष के दासत्व से मुक्त करो। इन चरणों की दासी बना लो···!'

'एवमस्तु, देवी बहुला···!'

···'अपने पीछे दिव्य वीणा वादन करती देवागंनाओं के बीच, बहुला दासी का रानी-पद पर अभिषेक होते देख रहा हूँ। आनन्द गृहपति बहुला का चरणोदक ले, दूर जा रहे भिक्षुक के पीछे भागा। उसने श्रमण की पीछे छूटी पगधूलि में लोट कर श्रमण का कमण्डलु उठाना चाहा।

'अभी समय नहीं आया, श्रेष्ठि। बहुला का सेवक हो कर रह। कल्याण-मस्तु···!'

श्रमण ने मयूर-पीछी से आनन्द गृहपति का वक्ष-देश बुहार दिया, और अपनी राह प्रस्थान कर गया।

□

मारजयी मदन-मोहन

फिर म्लेच्छों की दृढ़-भूमि ने पुकारा है। सो आर्य भूमि की सीमा का अतिक्रमण कर म्लेच्छ देश में विचर रहा हूँ। रोते हुए कुत्तों के एक पूरे क्षितिज ने यहाँ मेरा स्वागत किया है। आदि पुरातन वट वृक्षों के जटा-जाल से छाये एक भूतिहा वन की कोटरों में से एक साथ कई उलूकों की हुलु-ध्वनि रह-रह कर सुनाई पड़ती है। किसी चरम मंगल का सन्देश इसमें बूझ रहा हूँ।

म्लेच्छों के पेढ़ाल ग्राम के निकट, पोलास नामा चैत्य-उपवन में प्रवेश कर, झिल्लियों की झनकार-ध्वनि के बीच एक भीमकाय शिला पर आरूढ़ हो गया। झिल्ली-रव, उलूक-ध्वनि और श्वान-रुदन के समवेत संगीत की धारा में ध्यानस्थ चेतना ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर अन्तरिक्षों में उड्डीयमान होती चली गई।

...हठात् आकाश का कोई सुनील तटान्त विस्फोटित हो कर, एक विशाल नीलमी तोरण में खुल गया। ...सामने दिखाई पड़ रही है शक्रेन्द्र की सुधर्मा-सभा। जीवन्त रत्नों की नानारंगी प्रभाओं से दीपित विराट ऐश्वर्य-लोक। चौरासी हज़ार सामानिक देवता, तैंतीस त्रायस्त्रिंश देवता, तीन प्रकार की मंडलाकार देव-सभाएँ, चार लोकपाल, असंख्य प्रकीर्णक देवता। चारों दिशाओं में दृढ़ परिकर बाँधे चौरासी हज़ार अंगरक्षक। विपुल देव-सैन्य से आवृत सात सेनापति देवेन्द्र। सेवक वर्गीय आभियोगिक देव-देवियों का गण-समूह। किल्विष्यादिक देवताओं का विशाल परिवार। इस सब देव-परिकर के केन्द्र में दक्षिण लोकार्द्ध के रक्षक सौधर्म इन्द्रेश्वर अपने उत्तुंग शंखाकार सिंहासन पर नागमणियों के विपुलाकृति छत्र तले आसीन हैं। किन्नरियाँ और अप्सराएँ नृत्य-संगीत से उनका मनोरंजन कर रही हैं।

हठात् शक्रेन्द्र सिंहासन त्याग कर उठ खड़े हुए। पादुकाएँ उतार आगे बढ़ आये। उत्तरासंग से भूमि-शोधन कर अपना दायाँ जानु पृथ्वी पर स्थापित किया तथा बायें जानु को किंचित् झुका कर शक्र-स्तवन से वे प्रभु की वन्दना करने लगे। फिर वहीं भूमि पर जानुओं के बल बैठ कर, रोमांचित और गलदश्रु हो कर अपनी देव-सभा को यों सम्बोधन करने लगे :

'ओरे सौधर्म कल्प-स्वर्ग के देवताओ, इस क्षण प्रत्यक्ष आँखों के सामने मैं म्लेच्छ भूमि में ध्यानस्थ महातपस्वी महावीर प्रभु का दर्शन कर रहा हूँ। पंच समितियों के धारक, तीन गुप्तियों से पवित्र, क्रोध, मान, माया और लोभ से अजेय, कर्माश्रव रहित और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी सारे ही प्रतिबंधों से अप्रतिबद्ध वे योगीश्वर भगवन्त इस समय एक रूक्ष पुद्गल पर दृष्टि स्थिर करके महाध्यान में लीन हैं। देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, उरग, मनुष्य, अरे त्रैलोक्य की कोई भी शक्ति उन्हें इस समाधि से विचलित करने में समर्थ नहीं। . . .'

देव-सभा के एक कौने में बैठा सामानिक संगम देव, शक्रेन्द्र की यह स्तुति सुन कर विक्षुब्ध हो उठा। भृकुटि कुंचित कर, कोपाग्नि से दहकते नेत्रों के साथ, काँपते ओठों से वह बोला:

'हे शक्रेन्द्र, एक श्रमण रूपधारी बौने मनुष्य की ऐसी प्रशंसा कर रहे हो? एक मर्त्य मनुज के सम्मुख स्वर्गों के अधीश्वर ने पराजय स्वीकार ली? यह तुम्हारा स्वच्छंदाचार है, सुरेन्द्र! देवों की समस्त जाति को आज तुमने लांछित और अपमानित किया है। जिसके शिखर आकाश को अवरुद्ध किये हैं, जिसके मूल रसातल का भेदन करते हैं, ऐसे सुमेरु गिरि को भी अपने भुजबल से उच्छिन्न कर एक ढेले की तरह उठा फेंकने में समर्थ हैं हम देवतागण। कुलाचलों सहित पृथ्वी को अपने में डुबा लेने की क्षमता रखने वाले स्वयम्भुरमण समुद्र का मात्र गंडूष (कुल्ला) करके हम उसे हवा में उछाल सकते हैं। अनेक पर्वतों से मंडित इस प्रचण्ड पृथ्वी को हम अपने बाहुदण्ड पर उठा कर छत्र की तरह धारण कर सकते हैं। ऐसे अतुल समृद्धिशाली, अमित पराक्रमी और इच्छानुसार सिद्धि प्राप्त करने वाले हम कल्पवासी देवों के समक्ष, इस मानुष तनधारी तुच्छ तापस की क्या हस्ती है? शक्रेन्द्र सुनें, सारे स्वर्ग सुनें, समस्त देवगण सुनें, मैं एक निमिष मात्र में उस नग्न वामन को ध्यान से चलायमान कर धराशायी कर दूँगा। . . .'

इतना कह कर संगम देव ने प्रचंड वेग से भूमि पर हाथ-पैर पछाड़े और वह सुधर्मा सभा से पलायन कर गया। सौधर्मेन्द्र एक मच्छर की तरह उस कषाय-प्रमत्त देव की अवज्ञा कर, फिर से नृत्य-संगीत के आनन्द में लीन हो गये।

◆ ◆ ◆

ध्यान की उच्च से उच्चतर सरणियों में आरूढ़ हो रहा हूँ। मेरी देह की पृथ्वी चूर्णित पर्वत की तरह नीचे की ओर झड़ रही है। जल, वायु, अनल, आकाश को अपने चारों ओर भाँवरे देते अनुभव कर रहा हूँ। एक भारविहीन अधर में चेतना उन्मुक्त पंछी सी तैर रही है।

तभी प्रलयकाल की जाज्वल्यमान अग्नि के समान, घनघोर मेघनाद करती हुई, एक रौद्र आकृति सामने धँस आती दिखाई पड़ी। अपनी बाहुओं और जाँघों पर आघात करते उसके उद्दण्ड पंजों पर जैसे ग्रह-मंडल थर-थरा रहे हैं।

सहसा ही उन पंजों ने अन्तरिक्ष को विदीर्ण कर दिया। एक बारगी ही असंख्यों रात्रियों के पुंजीभूत अन्धकार जैसी रज धारासार मुझ पर बरसने लगी है।··· फिर पंच-तत्वों के स्कन्धों से आबद्ध हो गया है मेरा शरीर। मेरी निपट मानुष देह के सारे द्वार इस अन्तहीन रज-वर्षा से अवरुद्ध हो गये हैं। श्वासों में ऐसी घुटन है कि प्राण छूटने की अनी पर पहुँच गये हैं। रोम-रोम पिसे हुए काले काँचों की इस धूलि से विदीर्ण हो रहे हैं। ओ मेरे शरीर, तू व्याकुल न हो: तेरी वेदना मेरे ही कारण तो है। मैं जो प्राण हूँ, आघात और संवेदन की अनुभूति करने की क्षमता रखता हूँ।···मैं सह रहा हूँ तेरे सारे संत्रासों को: कि पराकाष्ठा तक इन्हें सहकर, हो सके तो तुझे भी सदा को आघात्य कर दूँ···। क्योंकि अन्ततः मैं अवध्य हूँ, और कष्टग्राही प्राण-चेतना से उत्तीर्ण हो कर अपने स्वभावगत अमृत में आत्मस्थ हो सकता हूँ। सारे आघातों को सह कर, हो सके तो अपने चिदामृत से तुझे भी अभिसिंचित कर देना चाहता हूँ।

···उस समस्त रज को निःशेष अपने में धारण कर मैंने श्वास रोध कर दिया। मेरे निस्पन्द, अनाहत शरीर पर हो रही रजोवर्षा सहसा ही स्तंभित हो गयी। भीतर जाने कितने ही अनादिकालीन कर्मों के भूभृत चूर-चूर हो कर, मेरे आज्ञाचक्र में उठ रही ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो गये। मेरे भीतर की शिलीभूत रज ने ही तो बिखर कर, चारों ओर से फिर मुझ पर अन्तिम आक्रमण किया था। इस लिये कि वह रह ही न जाये, समाप्त हो जाये।··· और औचक ही देख रहा हूँ, अस्ताचल के सारे माया-पटलों को छिन्न-भिन्न कर, नवीन चन्द्रमा की तरह अपने ही भीतर के शाश्वत उदयाचल पर शीर्षारूढ़ हो गया हूँ।···

···ओह, यह क्या हुआ कि मेरा आचूड़ शरीर असंख्य लाल चींटियों से आच्छादित हो गया है। मेरे पोर-पोर को ये अपने मुखाग्र के अनीले दंशों से इस तरह बींध रही हैं, जैसे बेशुमार सुइयाँ किसी वस्त्र को सीती हुई आरपार हो रही हैं। क्या मेरी नग्न काया पर इन नन्हीं प्राण-बालिकाओं को दया आ गई है, कि अपनी मुख-सूचियों से ये मेरे तन पर सदा के लिये कोई वस्त्र बुन कर सी देना चाहती है। जो साधन इनके पास है, उसी से तो ये मेरी तन-रक्षा का जतन कर रही हैं। पीड़ा चाहे जितनी ही क्यों न हो, इन अज्ञानिनी बालिकाओं के इस घनीभूत प्यार को सहे बिना निस्तार कहाँ है? कृतघ्न ही तो

हो सकता हूँ इनका। क्योंकि चलनी हो गये शरीर में इन्होंने नई हवा के झरोखे खोल दिये हैं। और इस संजीवनी प्राणवायु के संचार से मेरी चेतना सुषुम्ना की गहरी सुखद शैया में तन्द्रालीन-सी हो गई है। · · ·

खुले वातायनों की सुगन्धित वायु से आकृष्ट हो कर, चारों ओर की गन्दी हवा से निपजे डाँस भी मेरे भीतर मुक्त साँस लेने को चले आये। अपने प्राण में व्याप्त कलुष को वाहर उड़ेल देने को वे अकुला उठे हैं। हर जीव की क्षुधा, तृषा, वासना आखिर तो मुक्ति पाने की एक छटपटाहट ही है न? सो वे डाँस अपनी रक्त-पिपासा से व्याकुल हो कर मेरी रक्त-शिराओं को कस कर चूसने-चूमने लगे। उनके दाहक चुम्वनों से मेरी योग-तंद्रा भंग हो गई। मैंने अपने टीसते शरीर की ओर दृष्टिपात किया: उसकी वेदना को संवेदित किया। · · · लगा कि निपट गाय हो गया हूँ। और अपने धावन के लिये विकल वच्चों को तृप्त करने के लिये मेरे रोंये-रोंये में स्तन फूट आये हैं, और वे दूध से उमड़ते हुए उन नन्हें डाँसों के मुख में अनवरत वह रहे हैं। · · · अपनी इस रक्त-स्नात देह को देखकर, इन्द्रों के द्वारा क्षीर-समुद्र के जल से अभिषिक्त, सुमेरु-गिरि की पांडुक-शिला पर विराजमान तीर्थंकर-शिशु की दुग्ध-स्नात छवि आँखों में झलक उठी है। उस शिशु के लिये आज प्राणि मात्र की कामधेनु वनने के सिवाय और चारा ही क्या है? कैसा ही कष्ट-संत्रास क्यों न हो, वह मेरी नियति को सिद्ध करने के लिये ही तो है।

स्वजन, शैया और घर का त्याग किये दस वरस हो गये हैं। इन वरसों में धरती और आकाश तक के अवलम्व को अस्वीकारते ही वना है। अपनी धरती और अपना आकाश स्वयम् ही हो जाने को विवश हुआ हूँ। इसी कारण, सहना ही मेरा स्वभाव हो गया है। वेदना भी वल्लभा-सी ही प्रिय लगती है। एक मात्र कष्ट ही तो प्रतिपल का संगी हो गया है। शत्रु वन कर वह आया था और मित्र वन कर रह गया है। किन्तु पीड़ा देना उसका स्वभाव है, सो उसे स्वीकारे विना निस्तार नहीं। मानुष तनधारी हो कर, पीड़ा से परे होने का दम्भ कैसे कर सकता हूँ। लेकिन निरन्तर आक्रान्तियों और विपत्तियों में जीने के कारण पीड़ा को अणु-प्रतिअणु देखना सीख गया हूँ। सम्पूर्ण संचेतना के साथ उसे सहता हूँ, देखता हूँ, तो पराकाष्ठा पर पहुँच कर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। हुआ यह है कि चीज़ों को देखने की दृष्टि ही इस वीच वदल गई है। खण्ड पर रुक नहीं पाता हूँ, तो अखण्ड का सामना हुए विना नहीं रहता · · ·।

· · · स्थिरता भीतर अधिकाधिक घनीभूत हो रही है। · · · अरे यह क्या हुआ कि इस घनत्व में जाने कैसे कसीले चिपकाव का अहसास हो रहा है। किसी पकड़ का एक वहुमुखी पंजा सारे शरीर को जकड़े ले रहा है। ओह, हज़ारों

कनखजूरे और केंकड़े जाने कहाँ से आ कर मेरे शरीर के चप्पे-चप्पे से चिपट गये हैं। अपने वेशुमार हाथ-पैरों से इन्होंने मेरे देह-पिण्ड के हर प्रदेश को जैसे कई-कई सँडासियों से जकड़ कर असह्य वेदना उत्पन्न की है। ऐसे कस कर ये जड़ित हो गये हैं मेरे अंग-प्रत्यंगों से, कि जान पड़ता है, मेरे शरीर से अलग इनका और कोई अस्तित्व ही नहीं है। जैसे ये मेरी काया में से ही फूटी, उसकी स्वाभाविक रोमालियाँ हैं। लोमहर्षण हो रहा है, वेशक इस संत्रास से, पर अपने ही लोमज इन जन्तुओं को क्या अपने तन से उखाड़ा जा सकता है, अलग किया जा सकता है ? यदि इस तन को स्वीकारा है, तो इसके इन जायों को कैसे नकारूँ। · · ·वल्कि देख रहा हूँ, कि मेरे हर अवयव में इन जीवधारियों ने परस्पर गुँथ कर कोई अद्भुत शिल्प रचना कर दी है। जैसे युग-युगान्तरों के आरपार चल रही काल की तमाम लीलाएँ किसी आदिम चट्टान पर एक वारगी ही उत्कीर्णित हो गई हैं। सत्ता के इस समग्र सौन्दर्य को अपने ही भीतर से प्रकट होते देख रहा हूँ, तो इसे अस्वीकारने की धृष्टता कैसे कर सकता हूँ · · ·?

· · ·और अनायास पाया कि ध्यान में एक और भी उच्चतर चेतना-श्रेणी पर आरूढ़ हो कर स्तव्ध हो गया हूँ। · · ·किन्तु अगले ही क्षण, यह कैसी नीली-हरी लहरें मेरे रक्त को विक्षुब्ध कर उठी हैं। कोई अन्तहीन कटीला तार मानों मेरी पगतलियों की शिराओं में विद्ध हो कर, मेरे समूचे स्नायु-मंडल में व्यापता हुआ, मेरी सहस्रों नाड़ियों के शाखा-जालों को आर-पार भेदता हुआ, मेरे हृदय की केन्द्रीय धमनी में कुण्डीकृत हो रहा है। दैहिक वेदना इतनी कुंचित और विषम भी हो सकती है, इसकी तो कभी कल्पना भी न की थी। उसके हर सम्भव प्रकार को भोगे और जाने विना महावीर की आत्मा को चैन नहीं है। सम्पूर्ण उसे जाने विना, सम्पूर्ण कैसे जीता जा सकता है।

· · ·देख रहा हूँ मेरे तन-पुद्गलों के स्कन्ध इन डंखों से छिन्न हुए जा रहे हैं और शरीर और अधिक साथ देने को तैयार नहीं। किस पुद्गल शक्ति ने प्राणवेध की यह गुंथीली वेदना उत्पन्न की है ? ध्यान की ऊर्ध्वगामी श्रेणि से नीचे अवरूढ़ होने को विवश हुआ। · · ·ओह, विच्छुओं का एक अपरम्पार जंगल ! विच्छुओं की नदियाँ, विच्छुओं के ऐसे विपुल पेड़, जिनकी हर डाल-डाल पत्ती-पत्ती विच्छू है। मूल से चूल तक और सारी परिधि में केवल दंशाकुल विच्छुओं की एक अन्तहीन पृथ्वी। वे मंडलाकार चकराते हुए, डंख मारते हुए मेरे शरीर के समस्त परमाणु-मंडल में व्याप्त हो गये हैं। अपने ही रक्त की बूंद-बूंद विच्छू हो कर अपनी कँटीली पूंछ से अपने ही को दंश कर रही है।

· · ·सहसा ही साँस वन्द हो कर, हृदय-देश के अनाहत चक्र में लय पा गई। एक आदिम साँकल जैसे अचानक एक ही झटके में टूट गई। उसकी कड़ियाँ मोम-सी गल-गल कर विखर गईं। कहाँ गई वह विच्छुओं की अनन्त

मण्डलाकार पृथ्वी ? कहीं कोई चिह्न उसका शेष नहीं है पदार्थ के जगत में। क्या वह मेरे भीतर से उठकर, मेरे ही भीतर विसर्जित हो गई ···? प्रश्न के उत्तर में, किसी अतल में निर्वापित हो रहा, कि जहाँ एक अकथ स्वयंबोध के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं है।

···इस अतल में से एकाएक यह कैसे एक तल का आविर्भाव हुआ है। अपने ही शरीर को एक सपाटी की तरह व्यापते देख रहा हूँ। और उस पर अनगिनती नकुल चारों ओर दौड़ते हुए कोलाहल कर रहे हैं। अपनी उग्र डाढ़ों से वे मेरी देह की धरती में कुदालियाँ-सी मार कर उसे फोड़ रहे हैं, तोड़ रहे हैं। मांस के टुकड़े कई आकारों में टूट-टूट कर, एक पत्थरों के मैदान की तरह छा गये हैं। उफ् कितने गहरे अँधेरे, काला खून बन कर मेरी मांस-पेशियों में दबे हुए थे। कितने कल्मष मेरे पुद्गल-परमाणुओं में घातक चोरों की तरह छुपे हुए थे। कर्मों का आश्रव-राज्य कितना जटिल है, जान कर और अधिक सावधान और अप्रमत्त हो गया हूँ। अपनी निर्मांस सत्ता की स्वाधीनता के निकटतर पहुँच कर मेरे आनन्द और आश्वासन की सीमा नहीं है।···

···लेकिन नहीं, अभी विराम नहीं है। जान पड़ता है मंज़िल अभी बहुत दूर है। क्योंकि मेरे भूशायी मांस-खंडों की शिलाओं को फोड़ कर शत-सहस्र सर्प अपने फणों को क्षितिज तक विस्तारित करते हुए, एक पर एक यमराज के कई भयंकर भुज-दण्डों की तरह मुझ पर चारों ओर से टूट पड़े हैं। सर से पैर तक वे मेरे प्रत्येक अंग और अवयव से, इस तरह कुंडलियों पर कुंडलियाँ मार कर लिपट गये हैं, जैसे किसी विशाल वृक्ष पर अमर बेलियों के आलजाल छा गये हों। अपने प्राण की समूची हिंसक वासना को चुका देने को बेचैन हो कर वे ऐसी उग्रता से अपने फन फटकार कर मुझ पर आघात कर रहे हैं, कि उनके फण-मंडल छिन्न-भिन्न हुए जा रहे हैं। ऐसी तीखी जिघांसा से वे अपनी कराल डाढ़ों द्वारा मेरी हड्डियों तक में दंश कर रहे हैं, कि उनके दाँतों का विष चुक गया है, और निःसत्व हो कर वे दाँत उखड़ कर उन्हीं के पेटालों की विषाग्नि में हवन हो रहे हैं। जब वे नितान्त निर्विष हो कर मेरे शरीर पर छूंछी डोरियों जैसे लटके रह गये, तो नकुल उन्हें खींच-खींच कर खाने लगे। जाने कहाँ से निकल आये चूहों के दल के दल अपनी तीखी चोंचों से उन्हें कुतर-कुतर कर चींचारियाँ करने लगे।···

···हिंसा-प्रतिहिंसा का एक अन्तहीन दुश्चक्र मेरे अस्तित्व की परिक्रमा करता दीखा। इस चक्र-व्यूह में घिर कर क्या प्राण-रक्षा का उपक्रम सम्भव है ? यों भी कभी वह तो किया नहीं। पर इस क्षण स्पष्ट प्रतीति हो रही है, कि मेरे प्राण बचाने के लिये नहीं, दे देने के लिये ही रचे गये हैं। लोक के प्राणि चिर काल से इस हिंसा-प्रतिहिंसा की साँकल में जुड़े अपना ही घात करने में

लगे हैं। · · ·मेरे प्राण अनन्त हो जाने को व्याकुल हैं। ताकि हर घात-प्रतिघात के बीच अपने को बहा कर, हो सके तो विश्व-प्राण की इस धारा को अविच्छिन्न देखने, पाने, जीने को मेरा सारा अस्तित्व छटपटा रहा है।

· · ·महावीर, असम्भव को सम्भव किया चाहता है? · · ·किसी ज्ञानी और तत्वज्ञ ने आज तक ऐसी किसी सम्भावना का पता नहीं दिया। · · ·हो सकता है, मैं भ्रांति में हूँ। लेकिन भीतर से जो अपने विलक्षण स्वभाव की अपूर्व पुकार चैन नहीं लेने दे रही, तो मेरा क्या वश है? 'जीवो जीवस्य जीवनम्'' मुझे सत्य नहीं लगता, तो क्या कर सकता हूँ? उसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? · · ·

◆ ◆ ◆

· · ·नही, नहीं त्याग सकूँगा यह ध्यानासन, नहीं टल सकूंगा इस स्थल से, जब तक अपनी इस अभीप्सा की पूर्ति का कोई इंगित न पा जाऊँ। · · ·देख रहा हूँ, धरती की धृति अब मेरे पैरों को धारण करने से इन्कार कर रही है। ठीक है, माँ वसुन्धरा, समेट लो अपने को, छोड़ दो अपने इस बेटे को अधर में। ओ पृथा, मेरी सत्ता तुझ पर समाप्त नहीं। तुझ पर निर्भर नहीं। अच्छा ही है, सारे बाहरी आयतन-आधार चुक जायें, ताकि अपने उस सर्वथा स्वतंत्र आधार में सदा को अवस्थित हो सकूँ, जिसका अन्त नहीं, और जो कभी मुझे धोखा नहीं दे सकता। जो मेरा अपरिच्छिन्न, अभिन्न स्वरूप है। · · ·

धरती से अपने पैरों को उठा कर शून्य में फेंकने को मैंने छलांग भरी। लेकिन अपनी सारी असह्यता के बावजूद पृथ्वी ने अपने वक्ष से मेरे पैरों को न उखड़ने दिया। और भी कस-कर अपनी भुजाओं में जकड़ लिया, और वह मुझसे लिपट-लिपट कर आक्रन्द करने लगी। 'अच्छा माँ · · ·न छोड़ो मुझे, धारण करो मुझे। मैं तो तुम्हें छोड़ना ही कब चाहता हूँ। लेकिन तुम्हारी धृति को चुकते देख कर, विवश हुआ महावीर, कि वह तुम्हें और पीड़ा न पहुँचाये। हो सके तो अपने खड़े रहने को कोई अपनी स्वाधीन धरती खोज निकाले। तुम चाहोगी माँ, तो चिरकाल मैं तुम्हारा रहूँगा। तुम्हारी गोद मे जीवन की नव्य-नूतन लीला-क्रीडा करता चला आऊँगा। · · ·

और अपने चरणों से लिपटी वसुन्धरा के दुग्धाविल वक्षोजों मे मैं गहरी समाधि में निमग्न होता चला गया। · · ·कि सहसा ही. अपने दन्त-मूसलों से दिग्गजों को ललकारता और उखाड़ता एक महा भयंकर गजेन्द्र सामने से झपटता दिखाई पड़ा। अपने पदाघातों से वह मानों पृथ्वी को दबा कर रसातल पहुँचाने लगा और अपनी सूंड़ को उछाल कर वह आकाश को तोड़ता हुआ, ग्रह-नक्षत्र-मंडलों को छिन्न-भिन्न करता दीखा। उसने प्रलय के दुर्वार समुद्र

की तरह अपनी सूँड़ से मुझ पर आक्रमण किया। उसमें मेरे शरीर को कस कर लपेट लिया। और फिर अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसने मुझे आकाश में इतनी ऊँचाई पर उछाल दिया कि अपने भार का भान ही चला गया। तार-तार विच्छिन्न हो कर जब मेरा शरीर फिर नीचे को लौटने लगा, तो उस महावली गजेन्द्र ने फिर सूँड़ ऊपर फेंक कर मुझे झेल लिया। फिर वह, मेरी ममता से विकल हो आक्रन्द करती वसुधा की छाती को जैसे चट्टान समझ कर उस पर मुझे वारम्वार पछाड़ने लगा। उन निरन्तर आघातों से, मेरी वज्र-वृषभ-नाराच संहनन की धारक हड्डियों तक से तड़क कर अग्नि की चिनगारियाँ फूटने लगीं। महानुभाव गजेन्द्र अपने ही आघातों से उत्पन्न इस अग्नि की लपटों को सहन न कर पाये, और विपल मात्र में जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये। · · ·

· · ·नहीं, अव किसी झूठी राहत की माया मुझे नहीं छल सकती। सुस्थिर, अविकल सन्नद्ध हूँ और निवेदित हूँ, अव जो भी सन्मुख आये। जान पड़ रहा है, मृत्यु तो वहुत पीछे छूट गई है। मैंने तो उसकी गोद में भी वहुत प्यार से उमड़ कर सर ढाल दिया था। पर यह क्या हुआ कि अपने आँचल से मुझे झटक कर वह भी भाग खड़ी हुई। मृत्यु तक अपनी ममता मुझे देने से कतरा गई। तव नहीं जानता, ये सव मुझसे क्या चाहते हैं ?

· · ·अपने समत्व और संवर में और अधिक निश्चल हो गया हूँ। झेलने और न झेलने से परे, सहने और न सहने से परे, केवल वस हूँ। मानो हो कर भी नहीं हूँ: नहीं हो कर भी हूँ। · · ·लेकिन नहीं, मेरी इस स्थिति को भी यहाँ स्वीकृति नहीं। · · · क्योंकि एक दुर्मत्त युवा हथिनी जाने कहाँ से अचानक आ कर, अपने मद झरते कपोलों को मेरी जंघाओं पर पछाड़ रही है। फिर भी हिल नहीं सका हूँ, तो हाँफती-हाँफती क्षोभ से फुंफकारने लगी है। उसके जी में कचौट है कि कैसे पाषाण से पाला पड़ गया है। सो अपने कुम्भ के आघातों से मेरी छाती का भंजन करती हुई, अपने दाँतों से मेरे फेंफड़ों और पसलियों को भेद रही है। रक्त-मांस तो मन चाहा उसने पाया, पर उसे किसी तरह भी कल नहीं आ रही। प्यार तो अनायास मेरे घायल अंगों तक से सदा वहता ही रहता है। उसके सिवाय तो मुझ अकिंचन का कोई धन नहीं। वह मेरी अन्तिम विवशता है। पर उसे भी ये लेना नहीं चाहते। जान पड़ता है, वह कम पड़ रहा है इनके लिये। लगता है, अभी मेरा अस्तित्व सीमाओं से उवर नहीं पाया है, इसी कारण मेरी प्रीति अनन्त नहीं हो पा रही। हो सकी होती, तो उसके लिये चिरकाल से तरसते प्राणि, उसमें अवगाहन कर निश्चय ही शान्त हो जाते।

क्या इस सीमित देह के रहते, उस अनन्त को जीना सम्भव नहीं ? लेकिन अनन्त जो है, उसके लिये कुछ भी असम्भव कैसे हो सकता है ? असं-

ख्यात प्रदेशी है प्रत्येक परमाणु, उसमें सीमा को अवकाश कहाँ? पर उस विशुद्ध परमाणु को उपलब्ध होना जो शेष है···।

···श्वास को सहस्रार में खींच कर, एकमेव परमाणु में केन्द्रित कर दिया है अपने को। एक दारुण विस्फोट से स्नायु और मांस-पेशियाँ तनी जा रही हैं। अपना ही शरीर कई गुना विशाल हो कर सारे आकाश में आस्फालित होता दीखा।···नहीं, यह नहीं होने दिया जायेगा कि पूरे अवकाश को मैं अपना आयतन बना लूँ।

···हठात् प्रकृति की एक और विनाशक सत्ता मुझ पर आक्रमण कर उठी। मगर-सी डाढ़ों वाला एक विशाल पिशाच: भयंकर भट्टी-से दहकते उसके जबड़े। प्रलम्बायमान काली चट्टानों-सी अपनी जंघाओं तथा उरुस्थलों के बीच मुझे भींचने में उसने अपनी सारी ताक़त निचोड़ दी। पर यह क्या हुआ कि क्षण भर पहले विराट् में बेतहाशा फैल रही मेरी देह पलक मारते में वामन हो कर, उसकी जाँघों की साँड़सी से छिटक गई। अपनी दोनों बाँहों को कैंची की तरह विस्तारित करता हुआ, वह तेज़ी से कतरनी चलाने लगा। मैंने अपने आपको उस कर्त्तिका के बीच डाल दिया। कि उससे कट कर भी, हो सके तो, इन सब का ममत्व पा सकूँ, इनके बीच रहने लायक़ हो सकूँ। मगर मेरे वश का क्या है? एकाएक अनुभव हुआ कि वह कैंची पानी में चल रही है, हवा को कतर रही है। उसकी धारों पर बार-बार अपने को फेंका, लेकिन हाय, यह पैशाचिक कैंची भी मुझे धोखा दे गई।

सहसा ही, चुके तेल वाले दीपक-सा वह पिशाच जैसे घुप से बुझ गया। एक शून्य अँधियारे अथाह में सब कुछ असूझ हो गया। बस एक पीले कनेर फूल की तरह हलकी, महीन मेरी एकाकी काया उसमें जैसे तैर रही है।···एक गुफा तट के सरोवर में निकल आया हूँ, और चाँदनी रात में, सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल की तरह, उस झील की शीतल ऊर्मिलता पर अपने को निर्बाध विचरते अनुभव किया।

···अचानक उस तरंगिम पानिलता में कहीं एक खन्दक-सी खुल पड़ी। और दहाड़ता हुआ, एक दुर्द्धर्ष सिंह उसमें से उछल कर बाहर आया। और अपने दोनों अगले पंजे उठा कर, उसने मेरी कटि में दोनों ओर से नख गड़ा कर मुझे उरु-संधि में से विदीर्ण कर देना चाहा। मैंने अपनी जाँघों को पूरा पसार कर उसे सुविधा कर दी, कि हो सके तो अपनी डाढ़ों से मेरी त्रिवली को भेद कर, मेरे भीतर आरपार चला आये। ताकि मेरी इस निरी वायवीयता को उस विशाल भयावह प्राणि-पिंड में सहारा मिल जाये।···सहारा तो मिला, मगर यों कि व्याघ्र मेरे भीतर आने के बजाय मैं ही उसके भीतर खींच लिया गया।···उसके भीतरी देह-विश्व की संरचना में रममाण हो कर, कुछ ऐसा सुन्दर अनुभव हुआ जैसे सृष्टि के किसी गहनतम राजकक्ष में, जाने कितने ही रहस्यों की सुगन्धित मंजूषाएँ मेरे सामने खुल रही हों। एक अगोचर परमाणु के स्कन्ध होने से लगा कर, प्रकृति

और प्राणि-जगत के पिण्ड-धारण और परिचालना तक की सारी ही प्रक्रियाओं में से जैसे स्वयम् ही यांत्रित होता चला जा रहा हूँ। ···अपने ध्रौव्य की धुरी पर अविचल आरूढ़, उत्पाद और व्यय की परिशुद्ध प्रक्रिया को अखण्ड काल-परमाणु में जी रहा हूँ···।

◆ ◆ ◆

···एक विशाल सार्थ की छावनी मेरे चारों ओर फैली दिखाई पड़ रही है। कर्म-कोलाहल का अन्त नहीं। ···कोई थका-हारा भूखा पथिक धर्म-संकट में पड़ा है। उसे भात पकाने हैं, पर चूल्हा बनाने के लिये उसे पत्थर कहीं नहीं मिल रहे हैं। चारों ओर पत्थर खोजते वह थक गया, लेकिन एक पत्थर भी कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा। ···उसके क्षोभ और क्रोध का पार नहीं। क्या प्रकृति में से पत्थर ही लुप्त हो गये ?

बड़ी देर से वह मेरे आसपास चक्कर काट रहा है। ···आखिर उसकी दुविधा समाप्त हो गई। इस नग्न साधु के पर्वत-से स्थिर चरणों से अधिक उत्तम चूल्हा और कहाँ मिलेगा ! बना-बनाया चूल्हा ही तो अग्नि-देवता ने स्वयम् उसके आगे प्रस्तुत कर दिया है। सो ध्यानस्थ श्रमण के जुड़े चरणों के बीच अग्नि प्रज्ज्वलित कर के उसने अपने भात की पतीली उस पर चढ़ा दी। उन पैरों के जीवन्त पत्थरों पर पका भात खा कर, जाने कितने दिनों का भूखा पथिक मानो किसी दिव्य भोजन का आस्वाद पा कर हर्ष विभोर हो गया।

'ऐसे स्वादिष्ट, सुगन्धित भात तो इससे पूर्व जीवन में मैंने कभी चखे नहीं।' —मन ही मन वह सोचता रहा। दाह मुझे जो भी अनुभव हुआ हो, लेकिन एक नयी उपलब्धि हो गई है। हाड़-मांस के चरण भस्म हो गये, पर उनमें से यह कैसे तप्त हिरण्य से नये चरण प्रकट हो गये है। ···पथिक, तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता की सीमा नही !

···सामने से आ रहे व्याध ने देखा कि इस जंगल में यह पुरुषाकार वृक्ष का ठूंठ कहाँ से आ गया है। बहुतेरी रंग-बिरंगी जंगली चिड़ियाएँ उसने नगर में बेचने के लिये पकड़ी थी, और उनके कई पिंजड़े ढोते वह थक गया था। उसे डर था कि पिंजड़े नीचे रखने पर, आकाश न दिखाई देने से, नयी पकड़ी चिड़ियाएँ व्याकुलता से तीलियों पर पंख मार कर प्राण दे देंगी। क्यों न इस ठूंठ पर सारे पिंजड़े लटका दूं। इसके आसपास तो आकाश ही आकाश है। और गद्‌गद् हो कर व्याध ने वे सारे पिंजड़े मेरे दोनों कानों पर, गले में, कंधों पर, भुजाओं पर बाँध कर लटका दिये। ···पंछियों को कोई नया आकाश चहुँ ओर फैला दिखाई पड़ा। उसमें उड़ने की छटपटाहट उन्हें इतनी असह्य हो गई, कि अपनी चोंचों के आघातों से पिंजड़े तोड़ कर, वे इस नूतन आकाश में इतने ऊँचे उड़ते चले गये कि व्याध की आँखें भी

रुक नहीं सकीं, और वे स्वयम् भी चिड़िया बन कर उन पंछियों की टोह में जाने कहाँ खो गईं। बड़ी कठिनाई में पड़ गया व्याध ! यह उसकी आँखें हैं, कि आकाश है, कि चिड़ियाएँ हैं ? अपने सिवाय और कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ रहा है उसे।

···हठात् व्याध को लगा, अरे, यह कैसा खून वह आया है, इस वृक्ष-ठूँठ की छालों में से ? इतना कि मेरा अपना ही पूरा शरीर इससे नहा उठा है। मैं व्याध स्वयम् ही आखेट हो गया ? ओह···यह तो ठूँठ नहीं, कोई साधु है···! नाथ···नाथ···नाथ, क्षमा करें भन्ते, अज्ञानी से भूल हो गई।···

◆ ◆ ◆

···और देख रहा हूँ, अपने चारों ओर परिक्रमा करते एक जाज्वल्यमान काल-चक्र को। और दसों दिशाओं से उठी आ रही काल-झंझाएँ बड़े प्रचण्ड वेग से उसे चक्रायित कर रही हैं। एक माटी के पिण्ड की तरह मुझे उसके ऊपर रख कर, कोई अदृश्यमान काला भुज-दण्ड मुझे मनचाहा स्वच्छन्द गति की पराकाष्ठा तक घुमा रहा है, उठा-उठा कर मुझे मेरु शिखरों पर पटक रहा है। पर यह क्या है, कि मैं तो अपने ध्यानासन पर ज्यों का त्यों निश्चल उपस्थित हूँ, और अपनी उस मृत्तिका-पिण्ड काया को, काल-चक्र में पटखनियाँ खाते, उठते-गिरते देख रहा हूँ। और इस प्रक्रिया में जाने कब उसे, भीषण विस्फोट के धड़ाके के साथ फट कर, उन काल झंझाओं मे तार-तार बिखर जाते देखा। पंचत्व को प्राप्त हो गया वर्द्धमान ? अपनी मृत्यु को, अपने विनाश को मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों आगे देखा। लेकिन यह जो देख रहा है, यह फिर कौन है ? ···कौन है यह, जो पीछे शेष रह गया है ?

···ओह, बड़ा धूर्त है यह अवधूत। इसके शरीरों का अन्त नहीं, इसके रूपों और शक्तियों का अन्त नहीं। लेकिन इस समय यह अपनी मौलिक सत्ता में नग्न, निष्क्रिय और एकाकी खड़ा है। अन्तिम प्रहार का ठीक मुहूर्त आ पहुँचा है। इस समय यह अपनी चरम देह में, नितान्त अरक्षित, अप्रतिरुद्ध खड़ा है···।

'सावधान वातरशना, पाखंडी, काल के इस अन्तिम वात्याचक्र से बचकर कहाँ जायेगा ?' ···और दो विकराल वन्हिमान बल्लमों जैसे प्रकाण्ड भुजा-दण्डों ने उस काल चक्र को अन्तरिक्ष में ऊँचा से ऊँचा उठा कर, मेरे मस्तक पर प्रहार किया। कुलाचलों को भी चूर-चूर कर देने मे समर्थ उस चक्र के आघात से त्रिवली पर्यन्त मेरा शरीर पृथ्वी में मग्न हो गया। ···प्रकृति और पुरुष के नित्य अव्याबाध महामैथुन में लीन होने की-सी अनुभूति हुई। ···एक सर्वांगीण समावेश का महासुख-कमल मेरे हृदय-देश के श्रीवत्स चिह्न पर खुल आया। वर्द्धमान कृतज्ञता के आँसुओं में विगलित हो कर, अपनी अन्तरवर्तिनी महाशक्ति के उस रूप-विग्रह के चरणों में भूसात् हो रहा। प्रसन्नमूर्ति महावीर,

बस केवल देख रहा है · · ·देख रहा है। पर क्या है, जो वह नहीं कर रहा? क्योंकि वह कुछ नहीं कर रहा · · ·। बस, है। अस्ति।

· · ·ओ, यह अन्तिम पुरुष, इस क़दर हर चोट और पकड़ से बाहर है, ऊपर है? ठीक है, अघात्य है इसका तन। लेकिन इसका मन, इसका प्राण, इसकी चेतना? जो कमल-पाँखुरी की नसों की तरह कोमल, लचीले, महीन हैं। इसके तन को नहीं तोड़ा जा सका, तो इसके मन को तोड़ूँगा। इसकी अति कोमलांगी सुन्दरी-सी आत्मा को एक ही वार में चूर-चूर कर दूँगा। फिर किसके सहारे टिकेगा इसका अघात्य शरीर? इसकी ये वज्रीली हड्डियाँ · · · ·?

· · ·और अचानक दिखायी पड़ा, पिता सामने खड़े हैं। सुनायी पड़ी उनकी स्पष्ट आवाज़ :

'वर्द्धमान, बेटा वर्द्धमान! मुझे पहचान तक नहीं सकते? मैं तुम्हारा प्यारा पिता सिद्धार्थ। तुम मेरे ही आत्मज हो। · · ·एक बार आँख खोल कर सामने भी नहीं देखोगे? · · ·मान, मेरे लाल, मेरे रक्त, मेरी आत्मा, तुम? यह तुमने क्या किया? क्यों तुम हमें छोड़ गये? हमारी प्यार भरी छातियों पर लात मार कर चले गये! इसी दुर्दिन के लिये? इस अन्तहीन राक्षस-लीला के दुश्चक्र में फँस कर निरन्तर अपनी मिट्टी पलीद करवाने के लिये · · ·?

'किस अपराध के लिये तुमने हमें ऐसा दारुण दण्ड दिया है? तुम्हें सहन नहीं हुआ हमारा सुख? अपना सुख तक तुम्हें असह्य हो गया? कैसी भयंकर प्रहार-वाणी तुम वैशाली पर बोलते थे। तुम्हारे मन का हो गया, वर्द्धमान! तुम्हें खबर देने आया हूँ। आततायी अजातशत्रु ने भारत के पाँचों महाराज्यों को अपनी मुट्ठी में कर, असंख्य वाहिनियों के साथ एक आधी रात वैशाली पर आक्रमण कर दिया। अगले सूर्योदय तले वैशाली महास्मशान हो कर सुलग रही थी, और उसकी लपटों पर तुम्हारी प्रिय अम्बपाली हमारे विनाश का ताण्डव-नृत्य कर रही थी। · · ·

'हमारे सारे राजमहल आक्रान्ताओं ने हमसे छीन लिये। हमें निकाल बाहर कर, बियाबानों में ला पटका। हम बेघर-बार, निर्जल निराहार दर-दर की खाक छान रहे हैं। हम सब एक-दूसरे से बिछुड़ कर प्रेतों की तरह अपनी लाशें ढो रहे हैं। और जानते हो, तुम्हारी प्रिय चन्दन कहाँ है? · · ·अरे तुम तो पहाड़ की तरह ख़ामोश हो! तुम्हें हमसे कोई सरोकार नहीं? चन्दन तक को तुम भूल गये? · · · कहाँ है तुम्हारा वह तीर्थंकर, काल की अवसर्पिणी का अन्तिम परित्राता? जिसकी घोषणाएँ करते तुम थकते नहीं थे। · · ·मान, बोलो मान, बेटा, एक बार तो आँखें उठाओ, ओंठ खोलो · · ·। तुम्हारा जनक तुम्हारे चरणों में शरण खोजने आया है, त्राण की भीख माँगने आया है। · · ·अरे तुम्हें अपनी माँ तक पर दया नहीं आ

रही। · · 'देखो वह पागल स्त्री, वह धाड़े मार-मार कर उन पेड़ों से सर पछाड़ती तुम्हें गुहार रही है · · ·!'

और सामने माँ की अति करुण क्षीण मूर्ति आक्रन्द करती, छाती पीटती दिखाई पड़ी। असूर्यपश्या त्रिशला की काया पर लाज ढाँकने तक को वसन शेष नहीं है ? · · ·

· · सब सुना, देखा। चुप ही रह सका। अनाहत, अविकम्पमान मात्र एक लौ। उसके उजाले में सब स्पष्ट और यथास्थान है। उसमें कोई मीन-मेख सम्भव नहीं। मैं रंच भी न हिला। मैं कुछ न बोला। बोलने को था ही क्या ?

पर मस्तक-पीठिका मे से उठती एक आवाज़ ने उत्तर दिया: 'कही कुछ नहीं है, सिद्धार्थराज, किस माया के चक्र में फँस गये तुम? देखो अपने को। अपने नन्द्यावर्त के शयन-कक्ष में सुगन्धित शैया पर बहुत सुख से लेटे हो, राजन् !

'अम्बपाली इस क्षण तक तो लास्य नृत्य ही कर रही है। पर कब महाकाल का डमरू बजने पर, महाकाली ताण्डव नृत्य कर उठेगी, कहा नहीं जा सकता। और विप्लवी रुद्राणी का वह ताण्डव धरती पर नहीं, महावीर की छाती पर होगा। महावीर के वक्ष-देश पर ही आम्रपाली अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ नाच सकेगी। वह, जिसके दायें हाथ में अमृत-कुंभ होगा, और बाँये हाथ में नागिन का विष-प्याला। · · 'लेकिन उसमें अभी बहुत देर है, राजन्। महावीर की वैशाली, पृथ्वी पर चिरकाल अजेय है, सिद्धार्थराज! कांचन-कामिनी वैशाली का विनाश कभी भी सम्भव है। पर वह और किसी पार्थिव सत्ता के हाथों सम्भव नहीं। वैशाली का विक्रान्त राजपुत्र महावीर ही वह कर सकता है। उसकी बाँयी भौंह पर वैशाली का विनाश ठहरा है: उसकी दाँयीं भौंह पर वैशाली का अपूर्व निर्माण। पर इस क्षण तो अपनी भृकुटी की गन्धकुटी में वह निश्चल बैठा है। निर्णायक मुहूर्त की प्रतीक्षा करो, सिद्धार्थ-राज! · · 'डरो नहीं, अपनी सुरक्षित सुख-शैया में अपने को महसूस करो। · · · और चन्दनबाला ? · · 'जानता हूँ, वह कहाँ है ? · · 'कोई उपाय नहीं। स्वयम् अपनी नियति होने को जन्मी है चन्दन। तो राह के चक्र-व्यूहों को तो भेदना और जीतना ही होगा उसे। · · 'मैं हूँ, चन्दन, मैं हूँ, ध्रुव मैं।'

· · 'मेरे सामने खड़ी पर्वताकार तमसमूर्ति काठमारी-सी खड़ी रह गई है। सोचा उसने: 'नहीं · · 'मोह-माया के ममता-पाश से निष्क्रान्त है इसका प्राण, मन, आत्मा। नहीं, लोकालोक की कोई चोट, इसके तन और मन की लौ को नहीं तोड़ सकती। कराल से नहीं, कोमल और मधुर से ही यह भुवन-मोहन जीता जा सकता है। स्वयम् कामदेव है यह। रति के सिवाय

इसके चैतन्य को कौन मूर्च्छित कर सकता है, इसकी आत्मा को कौन जीत सकता है। विश्व-रमणी के सिवाय कौन इसके ऊर्ध्वरेतस् आत्मतेज को स्खलित कर सकता है! यह, जो निरन्तर सहस्रार के सूर्यचक्र में खेल रहा है।...'

...रत्नों से झलहलन्त एक विमान आकर सामने उतरा है। उसमें से उतर कर एक तुंग काय ललितांग देव सम्मुख प्रस्तुत हुआ। मणिप्रभ मुकुट से मंडित अपना माथा भूमि पर ढाल कर उसने प्रणाम किया और बोला :

'दर्शन पा कर कृतकृत्य हुआ, महर्षि वर्द्धमान। ऐसा उग्र तप, तेज, सत्व, ऐसा सम्यक्त्व, ऐसी सहिष्णुता, ऐसी तितिक्षा, ऐसी मुमुक्षा अन्यत्र नहीं देखी। अस्तित्व की भी अवहेलना करके सिद्धत्व-लाभ के लिये ऐसा अनाहत पराक्रम आज तक किसी पुरुष-पुंगव ने नहीं किया। मैं तुम पर प्रीत हुआ, देवर्षि। इसी से लोकालोक की समस्त ऋद्धि-सिद्धि तुम्हें समर्पित करने आया हूँ। जो चाहो माँग लो, दूंगा।...जहाँ इच्छा करने मात्र से सारे मनोकाम तुष्ट होते हैं, चाहो तो उन स्वर्गों में तुम्हें इसी देह से ले जाऊँ। चाहो तो अनादि भव से संरूढ़ हुए सर्व कर्म से तुम्हें विपल मात्र में मुक्त करके, एकान्त परमानन्द स्वरूप मोक्ष में इसी क्षण तुम्हें उत्क्रान्त कर दूं। ताकि असंख्य विदेह सिद्धों के बीच तुम सदेह मुक्ति-लक्ष्मी के साथ रमण करो। चाहो तो, ज्ञात और अज्ञात पृथिवी के तमाम मंडलाधीश राजेश्वर अपने मुकुट झुका कर जिसके शासन को शिरोधार्य करें, ऐसा त्रिलोक चक्रवर्ती साम्राज्य तुम्हें अर्पित करूँ। जो चाहो माँग लो, राजर्षि, यह मुहूर्त दुर्लभ और अनिवार्य है।...'

सुन कर मुस्कुरा आया हूँ, और चुप हूँ। चुप, अनुत्तर, निश्चल हूँ। किन्तु देवता को जाने किस अन्यत्रता से उत्तर सुनाई पड़ा :

'वह सब पा कर पीछे छोड़ आया हूँ, आयुष्यमान ललितांग देव!'

'ओह, कांचन और साम्राज्य से भी परे जाकर अजेय हो चुका है यह देवार्य?'

...हार कर झल्लाया-सा लौट पड़ा है वह देवता अपने विमान में। उसकी वह इच्छा पूरी हो, जिसे वह स्वयम् नहीं जानता है।...

'...किन्तु कौन है, जो कामिनी के बाहुपाश से बच निकले? सृष्टि की उस जनेता को जीत कर भी, अन्यत्र गति कहाँ है? सृष्टि के बाहर तो सिद्धालय भी अस्तित्व में नहीं रह सकता।...आओ मादिनी, तुम्हारा विदेह मदन पहली बार देह धर कर तुमसे मिलने आया है।...'

◆ ◆ ◆

...देख रहा हूँ, छहों ऋतुएँ गलबाँहीं डाल कर सहेलियों की तरह सामने आयीं हैं। उन सब ने मिल कर एक साथ अपने विविध सौन्दर्यों का

उत्सव रचाया है। घनी श्यामल अमराइयाँ मंजरियों से लद आई हैं। उनके गोपन अन्तराल में कुहुकती कोयल की 'पिहू···पिहू···' पुकार अन्तहीन हो गई है। उसमें जन्मान्तरों की जाने कितनी प्रियाओं की विदग्ध स्मृतियाँ कसक रही हैं। दिशाओं की बाँहें किंशुक फूलों से व्याकुल हो कर दहक उठी हैं।

आग्नेय कोण में ग्रीष्म का सवेरा अलसाया है। कृष्णचूड़ा के वन तले किसने केशरिया शैया बिछा दी है? अमलतास की डालें जाने कैसे तन्द्रिल, स्वप्निल पीले फूलों से नमित हो आयी हैं। विकसित कदम्ब पुष्पों की रज से सैरन्ध्री जाने किस पद्मांगिनी के स्तन-मंडल पर पत्रलेखा रच रही है।··· और सहसा ही ईशान दिशा में, घिर आये बादलों की निर्जन छाया में नाचते मयूरों के केका-रव से विरहिणी के प्राण पागल हो उठे हैं। कृष्ण कमलों से लदी कादम्बिनी शैया पर अविराम वृष्टि धाराओं में नहाती नग्न बिजलियाँ छटपटा रही हैं। उन पर किसने यह इन्द्र धनुष की महीन ओढ़नी डाल दी है?

सहस्रों नील कमलों की आँखें किसके लिये टकटकी लगाये हैं? पारदर्शी नीलिमा के तटान्त पर, काश फूलों के वनान्तराल में छुपी कौन श्वेतांगिनी रह-रह कर झाँक उठती है? वन-मल्लिका और कामिनी फूलों से महकती इस शरद संध्या में किस मिलन-रात्रि का आमन्त्रण है?···औचक ही हेमन्त की तुहिन-तरल रात सिंधुवार पुष्पों की महक से मातुल हो कर, अपने भीतर की अग्नि को खोज रही है।···

और कहीं हिम-शिलाओं से जटिल सरोवर के एकाकी स्फटिक तट पर सारे ही वन-काननों के पियराए पत्ते एक साथ आ कर झड़ रहे हैं। वर्फानी आँधी के विनाश-पर्यंक पर कोई अनादिकाल की विरहिणी अपने अज्ञात योगी प्रियतम के लिये अग्नि-कंकणों भरी बाँहें फैलाये है।

···ऋतु-रानियों के इस संयुक्त उत्सव का आँगन, पलक मारते में सहस्रों सुन्दरियों से भर उठा। मर्त्य पृथ्वी का सारभूत लावण्य जिनमें मूर्त हुआ है, ऐसी ज्ञात-अज्ञात तमाम द्वीप-देशान्तरों की रूपसी बालाएँ। सोलहों स्वर्गों की इन्द्राणियाँ, देवांगनाएँ, अप्सराएँ। उर्वशियाँ, तिलोत्तमाएँ। किन्नरियाँ और गन्धर्व-कन्याएँ। रूप और यौवन का उत्ताल तरंगित सागर। हर तरंग में जाने कितनी लहरियाँ। हर लहर में अनगिनती रूपसियाँ। हर रूपसि में से आविर्भूत होती, नित-नव्य यौवना सुन्दरियाँ। और हर सुन्दरी एकाकी, अत्यन्त वैयक्तिक प्रिया की तरह मेरे सम्मुख आ रही है। सर्वस्व समर्पण की चेतना और वासना से उसका अंग-अंग व्याकुल और चंचल है। निवेदन के आरत अच्छ्वास से वह विव्हल है। कातर आहों में फूटता उसका

कंठ-स्वर अति मृदु, मधुर और महीन है । ऐसा स्वराघात, कि श्रवण मात्र से कोई मोह की मूर्च्छा-रात्रि में सदा को सो जाये।

सुरम्य अंगों वाली उन रमणियों ने, रति के अचूक विजयी मंत्रास्त्र समान संगीत आरम्भ किया । चौमासे की वेगीली नदियों की अन्त:सलिला प्रकृत लयों के साथ, वे गान्धार ग्राम से अनेक रागिनियाँ गाने लगीं। देवांगनाएँ क्रम और उत्क्रम से, अपनी वीणा की लहरीली सुरावलियों में स्वर, व्यंजन और धातुओं के मांत्रिक स्वरूप को मूर्त करने लगीं। गन्धर्व-वालाएँ कूट, नकार और धोंकार से मेघ-रव उत्पन्न करती हुई त्रिविध मृदंग वजाने लगीं। बहुत ही महीन, कोमल मींड़-मूर्च्छनाओं में आरोहित और अवरोहित हैं यह संगीत की धारा। इसमें असीम दूरियों के आमंत्रण हैं। विरहिणी आत्मा का जन्मान्तर गामी संवेदन है। अज्ञात मिलन-कक्षों की कचनार-शैयाएँ हैं। सर्वस्वदान के लिये व्याकुल-विभोर देह, प्राण मन की आत्महारी विदग्धता है। सुरति-संघर्ष में देह को चूर-चूर कर नि:शेष हो जाने की एक कचोट है। आत्म-मिलन की तड़प से अनात्म के जड़ तमस-तटों में टकराने की घायल वेदना है, आह-कराह है। इसमें वेक़ावू वासना की आकाश-दाहक ज्वालाएँ हैं। इसमें अज्ञात अन्तर्वेदना से घुमड़ते समुद्रों की गहराइयाँ हैं।

···तट पर खड़े रह कर देखने और अनुभव करने का आनन्द इतना वड़ा है, कि मोह के इस अथाह तिमिर-सागर में डूब नहीं पाता हूँ, खो नहीं पाता हूँ।···देख रहा हूँ इस सामने नृत्य करती अप्सरा को। अंगभंग और मुद्राओं के नृत्याभिनय से यह अपने कंचुकी-वन्ध तोड़ती हुई, शिथिल केशपाश को वाँधने के वहाने अपने वाहुमूलों को दिखा रही है। यह तिलोत्तमा, दिशावेधी कटाक्षों के साथ, प्रवल अंग-संचालन द्वारा अपनी देह में न समाते लावण्य को वेवस वहा रही है। निवेदन की वेदना के छोर पर, अनेक अंग-मरोड़ों से अवयवों को अधिकतम उभार कर हवा में आलेखित किये दे रही है। उत्सर्ग की चूड़ान्त छटपटाहट में पहुँच कर, इस उर्वशी ने अपने उरोजों को कुलाचलों की तरह उद्भिन्न कर, अन्तरिक्ष में उत्तीर्ण कर दिया है।

···ऐरावत क्षेत्र की यह वाला शर-सन्धान के लिये खिंचे धनुष की तरह दोहरी हो गई है। इसके पीछे ढलके माथे के विपुल चिकुर पाश ने इसकी नूपुर-शोभित एड़ियों को वाँध लिया है। इसके आलोड़ित वक्षोज-कुम्भों से उमड़ता क्षीर-समुद्र इसके उत्तोलित नाभि-कमल में सरोवर वन कर थमा रह गया है। और अद्भुत है यह विदेह क्षेत्र की पद्मिनी । इसकी आत्मा की पारदर्शी उज्ज्वलता, इसके अभिन्न भाव से जुड़े उरु-द्वय के सन्धि-मूल में, अनिर्वार संवेग के निर्झर-सी उफन रही है।···देख रहा हूँ, कामार्त रमणी-देह के सारे ही अंगों और भंगों में, उत्तोलन और आलोड़न में, अपने को पाने के लिये वैचेन आत्मा की चैतन्य वासना ही तो हिल्लोलित है।

· · ·ओ प्रभास द्वीप की सुन्दरी, समझ रहा हूँ, अपने शिथिल हो गये अधो वस्त्रों की ग्रंथि को दृढ़ करने के लीला-व्याज से, तुम अपनी नाभि की गहन रत्न-वापि ही तो मुझे दिखाना चाहती हो। खुल पड़े नीवि-बंध को फिर से कस कर बाँध देने के छल से तुमने अपने अन्तर-वासक को, इभदन्त नृत्य-मुद्रा के साथ कई बार आरोहित-अवरोहित किया है। ग्रंथि में बँध नहीं पा रहे हैं छोर, और तुम्हारी झुंझलाहट की विदग्ध मोहिनी अन्तहीन हो गई है। सोचो तो, आवरण क्या केवल वसन का ही है? कृष्ण का चीर-हरण क्या केवल देह की नग्नता पर अटक सका था? उसने तो अन्तर-वासिनी चिदम्बरा के कंचुकि-बन्धों और नीवि-ग्रंथियों को सदा के लिये तोड़ दिया था। तब जो अनावरण हुआ था, वह निरे मांसल स्तन और योनियाँ नहीं थीं: वे योगिनियाँ थीं । वे अन्तराग्नि से जाज्वलमान आत्मा की नग्न सुन्दरियाँ थीं। · · ·

देख रहा हूँ, तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरों के विरहाकुल प्राणों की इस ग्रंथिल पीड़ा को। · · ·नहीं, तुम निरी देह नहीं हो। निपट देहिनी नहीं हो। विदेहिनी है तुम्हारी वासना। फिर क्यों देह के इन चरम उभारों पर आ कर अटक गई हो? क्यों है यह शंका, यह भय, यह हिचक? · · ·इस लिये कि तुम अपने आप को केवल देह समझ रही हो। तोड़ दो मिथ्या-दर्शन की इस अन्तिम मोह-ग्रंथि को। उसके बाद जो आलिंगन है, उसमें तू और मैं नहीं है। केवल तू है या केवल मैं हूँ । स्पर्श का वह सुख, देह के तट पर हो कर भी, स्पर्शातीत है। वह बाहुबंधन बाँधता नहीं, अन्तिम रूप से मुक्त कर देता है। · · ·

· · ·समझ रहा हूँ, तुम्हारी इन प्रगाढ़ आलिंगन की चेष्टाओं को। अपना ही तो परिरम्भण कर रही हो। अपने ही से डरोगी? तो जल-जल कर मरोगी ही। आवरण की ओट, अपनी रूपश्री को कभी छुपा कर और कभी दिखा कर, तुम अपने को देना चाहती हो। फिर भी अपने तन के एक-एक सौन्दर्याणु को कस कर पकड़े रहना चाहती हो। ऐसे परिग्रह के परकोटों में स्खलन ही सम्भव है, पूर्णालिंगन और परम मिलन कैसे सम्भव है। इन सारे आवरणों, कंचुकियों, नीवि-बन्धों, केश-ग्रंथियों, अवयवों के उभारों को भेद कर, देह के पार क्या तुम अपने को मुझे नहीं दे सकतीं, मुझे ले नहीं सकतीं · · ·?

· · ·और सहसा ही एक उल्का अवकाश में आरपार लहरा गई। पृथ्वी के गर्भ में, कोई गहनतम ग्रंथिभेद का आघात हुआ। एक ऐसा भूकम्प, जिसमें वसुधा ने फट कर, अपने को अपने ही में समा लिया। सारे आकाश की नीलिमा द्रवित हो कर, तमाम दिगन्तिनी दूरियाँ पिघल चलीं। क्षितिज की

भ्रान्ति-रेखा जाने कहाँ विसर्जित हो गई।···और मैं अपने कायोत्सर्ग में अविकम्प खड़ा हूँ।

···हठात् निवेदन से कातर नारी-कण्ठ की विदग्ध वाणी सुनाई पड़ी:

'अनुकम्पा के अवतार सुने जाते हो, महावीर, और तुम ऐसे निष्कम्प, ऐसे निर्मम, पर्वत। हमने तुम्हारे कन्धों पर मुखड़े ढाल तुम्हें चूम-चूम लिया। हमने आहें भर-भर कर अपनी गोपन मर्म-व्यथा तुम्हारे कानों में कही। हमने अपने अनावरण उरोजों से तुम्हारे उन्नत सुमेरु जैसे वक्ष का रभस-आलिंगन किया। उस में अपनी समस्त दाहक कामाग्नि को उँड़ेल दिया। तुम्हारी कटि और जंघाओं से लिपट कर हम रोईं, विसूरी। पर तुम निस्पन्द, निश्चल पाषाण!

'तुम कैसे अनुकम्पा के अवतार! तुम कैसे वीतराग, महाकारुणिक, त्रिलोक-पति भगवान? कि तुम्हें इतनी भी दया न आई, कि तुम हम अज्ञानिनियों की यह असह्य काम पीड़ा हर लेते। तुम तो अजित-वीर्य सुने जाते हो, तुम हमें तृप्त कर देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाने वाला था! तुम्हारी वीतरागता में कौन-सा बट्टा लग जाता। जान पड़ता है, तुम्हें अपनी वीतरागता में सन्देह है। तुम अभी भी भय से मुक्त नहीं हो सके हो, इसी से तो हमें छूने-सहलाने की हिम्मत तुम न कर सके। भय से पथरा कर पाषाण हो रहे।

'यदि तुम सचमुच वीतराग हो, तो तुम्हारे सिवाय कौन हमारी इस पीर को हर सकता है। तुम चाहो तो लीला मात्र में हमारी हर कामना को तृप्त कर सकते हो। हे परम दयालु, तुम इतनी भी दया हम पर नहीं कर सकते? पूछती हूँ, फिर तुम कैसे दयालु···?'

···और अभी, यहाँ, इसी क्षण मेरे ओंठ राशिकृत चुम्बनों के माधुर्य में निमज्जित और तल्लीन हो गये हैं। मेरे कन्धों पर जाने कितने कस्तूरी गंध से ऊर्मिल कुन्तल-छाये मुखड़े ढलके हैं। मेरे कण्ठ पर जाने कितने ही मृणालों के ग्रीवालिंगन झूल गये हैं। मेरी भुजाओं में जाने कितने अपरम्पार वक्षोजों की अगाधिनी विपुलता और गहराइयाँ आलिंगित हैं। सहस्रों कटियों से कटिसात् मेरे उरुस्थलों में मांसलता निःशेष हो गई है। मेरे इस स्पर्श-सुख में स्पर्श समाप्त हो गया है। अपूर्व है आज की यह निस्पन्दता, निष्कामता। समाहिति का सुख आज पहली बार ऐसा अव्याबाध हुआ है। सबको अपने में समा लेने की आकुलता, सब में एक साथ समा कर आज विश्रब्ध हो गई है। चरम रति ही तो परम समाधि हो गई है।

···सामने की हवा में एक देवाकृति तैर रही है। उसमें अन्तिम पराजय का क्षोभ है। पर वह एक बोध से स्तब्ध है। उसके भीतर गूँज रहा है:

'कहाँ गई वे सारी कामिनियाँ? कहाँ अवसान पा गयी वह कामलीला? कहाँ खो गई वे तीनों लोकों की सारांशिनी सुन्दरियाँ? ओह, योगीश्वरों के योगीश्वर हो तुम, महावीर! तुम से बाहर तो कुछ भी नहीं। काम भी तुम से बाहर नहीं। वह भी मात्र तुम्हारी एक तरंग है। तरंग कैसे समुद्र को जीत सकती है। सो वह उसी में से उठ कर, उसी में निमज्जित हो गई, विसर्जित हो गई, निर्वाण पा गई।...'

◆ ◆ ◆

'मैं सौधर्म स्वर्ग का संगम देव, शरणागत हुआ, त्रिलोकीनाथ! मैंने प्रत्यक्ष देखा, मारजयी हैं महाश्रमण वर्द्धमान। मृत्युंजय है महावीर। देवजाति की समस्त श्री, शक्ति, सम्पत्ति, मर्त्य मानव-पुत्र के आत्मजयी पुरुषार्थ के सम्मुख अन्तिम रूप से पराजित हो गई।...अब कौन-सा मुँह लेकर शक्रेन्द्र के सामने जाऊँ...? देवार्य से महत्तर सत्ता इस समय लोक में विद्यमान नहीं। ऐसे दारुण अपराधी को अरिहंत के सिवाय कौन क्षमा कर सकता है...? मुझ अज्ञानी पापात्मा को क्षमा करें, स्वामी!...

'खम्मा, खम्मा, खम्मा। अरिहंत शरणं गच्छामी, सिद्ध शरणं गच्छामी, साहु शरणं गच्छामी। केवली पणत्तो, धम्मं शरणं गच्छामी।

'शरणागत हूँ, भन्ते!...पर चरम क्षमा पा कर भी अपराध से मुक्त नहीं हो पा रहा मन!'

'वह तू नहीं, संगम। तू आत्मा है, और आत्मा अपराध से ऊपर है। इष्ट ही किया तू ने: अपनी शक्ति की सीमा जान गया। अब अपनी भूमा को जान सकेगा। अहम् टूटा है, तो वह सोहम् होगा ही!'

'अब मेरे लौटने को कोई स्थान नहीं। कहाँ जाना होगा, भगवन्?'

'सौधर्म स्वर्ग की इन्द्र-सभा में देवों की समस्त जाति तेरा तिरस्कार करेगी, परिहास करेगी, अपमान करेगी। उससे तेरा कल्याण ही होगा: क्योंकि अहंकार का अन्तिम पाश उससे टूटेगा। स्वर्ग से निर्वासन पा कर, मेरुगिरि की चूलिका पर तू अपनी शेष एक सागरोपम आयु बितायेगा।'

'भगवन्...!'

'धन्य हुआ तू, संगम। अमरों की भोग-मूर्च्छा से जाग कर, मर्त्यों की मरण-जयी पृथ्वी पर अब तू मोक्षलाभ का परम पुरुषार्थ कर सकेगा!'

'इन श्रीचरणों को छोड़ कर, अब कहीं जाना नहीं चाहता, देवार्य!'

'अर्हत् नियति से पलायन नहीं करते। उसे झेल कर ही जीतते हैं। वे सदा सर्वत्र तेरे साथ हैं। वे अन्यत्र कहीं नहीं। शरण मात्र माया है। तू जो आप है, वही रह, संगम! इत्यलम्।'

□

निराले हैं तेरे खेल, ओ अन्तर्ज्ञानी

दृढ़भूमि, विदा लेता हूँ तुम्हारे आँगन से। किसने कह दिया, तुम म्लेच्छ भूमि हो ? तुम तो परम आर्या हो माँ, तुम्हें प्रणाम करता हूँ। आर्यों के देश में मैं अनार्य-पुत्र हूँ, अनार्यों के बीच मैं आर्य-पुत्र हूँ। ठीक ही तो है, तुमने मेरी नियति को अन्तिम रूप से परिभाषित कर दिया। वर्णसंकर। मैं किसी भी देश, जाति और कुल का हो कर नहीं रह सकता। अदेशीय, अजातीय और अकुलीन हूँ, या फिर सर्वदेश, जाति और कुल का हूँ। यही एकमात्र मेरी स्वाभाविक स्थिति है।

ओ अनार्या कहलाती माँ, तुमने पिछली रात अपनी धृति के गर्भ में से मुझे एक और भी पूर्णतर जन्म दिया है। तुम्हारी मरणाक्रान्त गोद में से मरणजयी होकर उठा हूँ। अमरों का ऐश्वर्य और पराक्रम तुम्हारे पैर के अंगूठे पर ठिठका खड़ा रह गया, क्योंकि तुम्हारे वक्ष पर चढ़कर मैं मृत्यु के आलिंगन में उत्संगित हो सका। तुम-सी माँ और प्रिया और कौन हो सकती है ? · · ·

लगता है, आज सूर्य स्वयम् द्विजन्मा होकर उदय हुआ है। बहुत भिन्न, नया और उत्तीर्ण है आज का सूर्योदय। इसके प्रकाश में अखिल वस्तु-जगत का एक नया ही चेहरा देख रहा हूँ। दृढ़ भूमि से निकल कर फिर आर्य भूमि के उपान्त में विहार कर रहा हूँ। बहुत दिनों बाद फिर ऐसी भूख लगी है, जैसी कि मानों पहले कभी न लगी थी। बरसों से देख रहा हूँ, मेरी हर भूख पिछली से आगे की और नवीनतर होती है। वह कोई ऐसा आहार माँगती है, जो पहले कभी न मिला।

गोकुल ग्राम का वह नदी तट बुला रहा है। अमराई तले के कुटीर द्वार पर वह कौन खड़ी है ? गोपी वत्सपालिका। पच्चीस शताब्दियों से वहाँ खड़ी तुम किसका द्वारापेक्षण कर रही हो ? कितनी-कितनी बार तुम्हारी देह वृद्धा हुई, मरी, किन्तु तुम तो अकल कुँवारी ही रही। मुहूर्त आ पहुँचा है, और लो, मैं आ गया हूँ। तुम्हारा वह मनचीता कुमार, जो द्वापर में तुमसे बिछुड़ गया था, और ढाई हजार वर्ष हो गये, तुम्हें कहीं नहीं दिखाई पड़ रहा था।

'तिष्ठ : तिष्ठ : स्वामी, आहार ग्रहण करो, आहार ग्रहण करो। यह तुम्हारा कल्प है, केवल तुम्हारा। · · ·'

भिक्षुक ने पाणिपात्र पसार कर वत्सपालिका के मृत्तिका पात्र से ढलती खीर ग्रहण की। एक अंजुली पयस पीकर, हाथ खींच लिये।

'नाथ · · ·! आ गये तुम, मेरे सर्वस्व, मेरे स्वरूप · · ·।'

'बहुत मधुर है तुम्हारा पयस, वत्सा। अपूर्व।'

'दासी तर गयी, देवता।'

'दासी मर गयी, देवी।'

· · ·दूर-दूर जाता भिक्षुक गोरम्भा नदी के तटान्त में आँख से ओझल हो गया। वत्सपालिका कुटिया में फिर न लौट सकी। वह आँख से आगे के वृन्दावन में विहार कर गई।

◆ ◆ ◆

श्रावस्ती आया हूँ। नगर के प्राँगण में कार्तिक स्वामी की रथयात्रा का महोत्सव भारी समारोह के साथ मनाया जा रहा है। नगरजन मयूरपंखी वस्त्रों में सज कर, विपुल पूजा-सामग्री के थाल उठाये, गाजे बाजे के साथ देवता के पूजन को निकल पड़े हैं।

गंगा पुलिन की एक शिला पर अवस्थित हूँ। शंख, घंटा और तुरहियों के समवेत नाद और जयध्वनियों के साथ देव-प्रतिमा का अभिषेक किया गया है। पूजा-अर्चा समर्पित कर, महामूल्य किरीट-कुंडल, अंशुक, पुष्पहारों से उनका शृंगार सम्पन्न हुआ है। अनन्तर भक्तगण सहस्रों कण्ठों के स्तुति-गानों के साथ, विधि-पूर्वक देव-विग्रह को रथ में विराजमान करने को तत्पर हुए। प्रतिमा को उठाने के लिये बढ़े हुए कई हाथ सहसा ही ठिठके रह गये। · · ·

अरे, यह क्या हुआ? कार्तिक स्वामी स्वयम् ही देवासन से उठ कर चल पड़े हैं। लोगों के आश्चर्य और आनन्द का पार नहीं। रोमांचक हर्ष के आँसुओं में उनकी अन्तहीन जयकारें डूब चलीं। हजारों वर्षों के इतिहास में ऐसा पहले कभी हुआ, किसी ने सुना नहीं था। धातु प्रतिमा में विग्रहीत देवता जीवन्त हो कर, स्वयम् ही पृथ्वी पर चल रहे हैं। अपने चिर जन्मों के दुःख-द्वंद्वों से व्याकुल विराट् मानव-मेदनी के बीच आ कर, उसके कन्धों से कन्धे रगड़ते हुए वे चल रहे हैं। आप ही स्वयम् चल कर, आज भगवान रथ पर आरूढ़ होंगे। मानव-बुद्धि से इतनी परे घटी है यह घटना, कि दृश्य और दर्शनार्थी, पूज्य और पूजार्थी का भेद इस भीड़ की बहिया में लुप्तप्राय हो गया है।

सारा जनप्रवाह देवता के ओरेदोरे कीर्तनगान करता हुआ, कुछ दूर पर खड़े रथ की ओर धँसा जा रहा है। · · ·अरे यह क्या हो रहा है? कार्तिक

स्वामी ने सहसा ही भीड़ की धारा को तोड़ कर, उसके रुख को दूसरी ओर मोड़ दिया है। सुवर्ण-रत्नों का भव्य रथ मुँह ताकता एक ओर खड़ा रह गया है। · · · और ठाकुर गंगा के दूरवर्ती पुलिन की ओर द्रुत गति से बढ़े जा रहे हैं। क्या स्वामी गंगा-स्नान किया चाहते हैं? क्या वे अनादिकाल से बहती गंगा के तरंग-रथ पर आरूढ़ होकर यात्रा करेंगे आज? विस्मय से विश्रब्ध जन-मेदिनी मात्र मुग्ध प्रश्नाकुलता के साथ, देवता का अनुसरण कर रही है। · · ·

गंगा पुलिन की लहरों से विचुम्बित एक शिला पर यह कौन कुमार योगी पर्यंकासन में ध्यानस्थ है? कार्तिक स्वामी अविकल्प चरणों से उसी ओर गतिमान हैं। · · · सहस्रों भक्तों की एकाग्र दृष्टि, ध्यानलीन योगी के भ्रूमध्य में उद्भासित एक जाज्वल्य चक्र में केन्द्रित हो रही। अन्तर-मुहूर्त मात्र में जाने कब कार्तिक स्वामी उस चक्र की अग्निल धुरी में अन्तर्धान हो गये।

शताब्दियों से चली आ रही पूजा की धारा को देवता ने स्वयम् एक नयी दिशा में प्रवाहित कर दिया है। जान पड़ता है, ठाकुर ने आज के पूजा-मुहूर्त में कोई नया ही रूप-परिग्रह किया है। शत-सहस्र मेदिनी असमंजस में पड़ी है, कि देवता के इस नये स्वरूप का किस नाम से जयजयकार करें? सो जयध्वनि स्तब्ध हो रही। मात्र मौन पूजार्पण की राशिकृत पुष्प-मालाओं से, वह तरंगवाही देवासन ढँक गया है।

◆ ◆ ◆

· · · वैशाली, तेरे सुरम्य प्रांगण से विदा हुए ग्यारह वर्ष हो गये। इस बीच कई बार आ कर तेरे भीतर से गुज़र गया। तेरे भूतल पर नहीं आया, तेरे भूगर्भ में ही संचरित हुआ हूँ। मेरा सरोकार तेरे कांचन, कामिनी और आकाशगामी भवन-शिखरों से नहीं, तेरी कोख से है। वह कोख, जिससे मेरा यह शरीर अवतीर्ण हुआ है। तेरे उस हृत्कमल को आज सत्ता और सम्पदा के कर्दम की मोटी-मोटी तहों ने आच्छादित कर दिया है। इस बीच बार-बार लौट कर उसी दल-दल की पाताली तहों में यात्रा की है। ताकि हो सके तो सदियों से जमे इस कादव को उलीच कर, तेरी कोख के हताहत कोकनद को, फिर से उज्ज्वल और ऊर्ध्व-मुख कर सकूँ। इसी से फिर एक बार आया हूँ, तेरी मर्कलत फर्शो पर नहीं, तेरे भूगर्भ के आदिम अन्धकार के तलातल में।

अपने अनगार जीवन का यह ग्यारहवाँ चौमासा तेरे ही निपीड़ित अन्तःपुर में विताना चाहता हूँ। समर-वन नामा उजड़े उद्यान के ध्वस्त और परित्यक्त बलदेव मन्दिर में चार मास-क्षपण अंगीकार, कायोत्सर्ग की महासमाधि में उतर गया हूँ। स्वयम् ही हलधारी बलराम का हल बन कर तेरे मनोदेश की पथरा गई माटियों की पर्तों को भेद रहा हूँ।

· · · विशाला पुरी का जिनदत्त श्रेष्ठी एकदा सामायिक में अपनी अपार वैभव-सम्पदा के मूल तक जा पहुँचा। उस उद्गम को देखते ही उसकी तहें काँप

उठीं। सम्पत्ति मात्र से उसे असह्य ग्लानि हो गयी।...ओह, अनवरत मानुष-हिंसा के विना सम्पत्ति का संचय सम्भव नहीं। उसी के आधार पर वह टिकी है।...परम श्रावक जिनदत्त की चेतना में प्रवल संवेग का संचार हुआ। उसने अपना समस्त धन-वैभव निमिप मात्र में दीन निर्धनों को लुटा दिया।...अव वह एकाकी निर्जनों, खण्डहरों, स्मशानों में सामायिक लीन भाव से अकारण ही विचरता रहता है। कई-कई दिनों में एकाध वार अपनी गिरस्ती में लौटता है, जिसका चरितार्थ वह एक कम्मशाला में कठोर श्रम करके चलाता है। अपनी इस सर्वहारा स्थिति के कारण वह लोक में जीर्ण श्रेष्ठि के नाम से विख्यात हो हो गया है।

...इस वीच जिनदत्त को कई वार अकेला वलदेव मंदिर के निभृत एकान्त में, अपने समीप सामायिक में उपनिविष्ट देखा है। मेरी ध्यानस्थ मुद्रा को निहार उसकी आँखों में उजलते आँसुओं पर निमिप भर दृष्टि ठहरी है। उसके मुख से उच्छ्वसित होते सुना है: 'अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर ?...प्रभु के दुर्लभ दर्शन पा कर यह अकिंचन कृतकृत्य हुआ। कव तक नाथ, कव तक चलेगा तुम्हारी दुर्द्धर्ष तपस्या का यह अनाहत पराक्रम। मुझ से अव नहीं सहा जाता, नहीं देखा जाता।...'

प्रति दिन आ कर जाने कितनी देर वह श्रमण के कर्दमचारी चरणों को अपनी आँखों के जल से धोता रहता है।...चार मासक्षपण की समाप्ति का दिन आ पहुँचा। कार्तिक पूर्णिमा की सन्ध्या में आकर उसने श्रमण से निवेदन किया: 'भगवन्, कल प्रातः मुझ अकिंचन के द्वार पर पारण को पधारें।'

मेरे पास तो सभी वातों का एक ही उत्तर शेप रह गया है: मौन। और पाया है कि हर प्रसंग पर उठने वाले प्रश्न के उत्तर में यह मौन, जन के मन में यथेष्ट मुखरित हुआ है। जिनदत्त को भी उसका उत्तर मिला ही होगा।

...अगहन की प्रतिपदा के पूर्वान्ह में, ठीक मुहुर्त क्षण आते ही भिक्षुक गोचरी पर निकल पड़ा। उसके चाहे विना, उसे कोई पहचान सके यह सम्भव नहीं। श्रमण तो वैशाली में कई आते रहते हैं, एक यह भी सही। वैशाली के उपान्त मार्ग पर वह भूमि के कण-कण पर दृष्टिपात करता भिक्षाटन कर रहा है।... जिनदत्त श्रेष्ठि ने प्रासुक और एपणीय भोजन का पाक किया है। वह अपने गृह-द्वार में आवाहन कलश उठाये, अपने प्रभु के पंथ में अपलक आँखें विछाये है। मन ही मन वह सोच रहा है:

'जिनके दर्शन मात्र से चेतना मोक्ष पा जाती है, वे अर्हत् जव मेरी अंजुलि का आहारदान ग्रहण करेंगे, वह घड़ी कैसी धन्य होगी। कैसी अनुपम! मेरे हाथों वे चार मासक्षपण का पारण करेंगे?'...ऐसी ही तरह-तरह की कल्पनाओं में

वह मुदित और मगन है : प्रभु को अपने आँगन में सम्मुख पाकर कैसा लगेगा? कैसे वार-वार शीश नवाँ कर वह उनकी परिक्रमा करेगा। ···और उनका वह एकमेव दृष्टिपात। प्रीति का यह आवेश वह अपने में समा नहीं पा रहा है।

···किन्तु जो घटित हुआ, उसे देख कर, जिनदत्त वज्राहत-सा रह गया। वह पुकारता ही रह गया :

'भो स्वामिन् तिष्ट : तिष्ठ : ···' और नग्न वल्लम की तरह निर्वाध गतिमान प्रभु सामने से निकल गये। एक निगाह उठा कर भी उन्होंने उसकी ओर नहीं देखा। 'हाय, ऐसा क्या अपराध हो गया मेरा?' जीर्ण श्रेष्ठी की तपस्या से जर्जर काया पत्ते-सी काँपने लगी। उसकी आँखों से आँसू ढरकने लगे। ···प्रभु की पीठ का अनुसरण करती उसकी सजल दृष्टि सहसा ही, कुछ दूर पर गर्वोद्धत खड़ी नवीन श्रेष्ठि की हवेली पर ठिठक गई। ···

उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सम्मुख खड़े हो कर श्रमण ने पाणि-पात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठा कर अपनी दासी को आदेश दिया :

'किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर दें।'

दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन में कुलमाप धान्य ले आयी, और श्रमण के फैले करपात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया। ···

···तत्काल आकाश में देव-दुंदुभियों का नाद गूंजने लगा। चेलोत्क्षेप हुआ। वसुधारा की वृष्टि होने लगी। नानारंगी दिव्य पुष्प और सुगन्धित जल वरसने लगे। लोग एकत्रित हो अभिनव श्रेष्ठि के पास आ पूछने लगे :

'यह क्या चमत्कार हुआ, श्रेष्ठि?'

श्रेष्ठि गद्गद् होकर बोला : 'मैंने स्वयम् पायसान्न द्वारा, प्रभु को पारण कराया है।'

आकाशवाणी ने समर्थन किया :

'अहो दानम्, अहो दानम्!'

सुन कर प्रजाजनों और गणराजन्यों का भारी समुदाय वहाँ आ उपस्थित हुआ, और नवीन श्रेष्ठि की वाहवाही होने लगी।

उधर धरती में निगड़ित-सा जीर्ण श्रेष्ठि यह दृश्य देख कर स्तंभित है। पर उसके भीतर भूचाल है। देव-दुंदभियों का नाद सुन कर और वसुधारा की वृष्टि देख कर वह गहरे विषाद और विचार में डूव गया है :

'क्या सत्य जैसी कोई वस्तु इस सृष्टि में है? या यह सव मात्र इन्द्र-जाल है? ···धिक्कार है मुझ मंदभागी को। त्रिलोकीनाथ प्रभु तक ने मेरी अवहेलना कर दी और माया पर कृपावन्त हुए।'

राजा, श्रेष्ठि, लोकजन वसुधारा से वरसे द्रव्य को जोहने-बटोरने में तन्मय हो गये। श्रमण जाने कब चुपचाप वहाँ से जा चुका था। कुछ विरल जिज्ञासु और मुमुक्षु लोकजन दूर से उसका अनुसरण कर रहे थे।

· · ·समरोद्यान के बलदेव मंदिर में पहुँच कर, अपने आसन पर अवस्थित हो गया हूँ। तभी कुछ आत्मार्थी आकर प्रणत हुए, और पूछा :

'भन्ते श्रमण, इस क्षण इस नगर में कौन आत्मा उज्ज्वल सम्यक् दर्शन से मंडित है?'

'जीर्ण श्रेष्ठि जिनदत्त !'

'सो कैसे भन्ते? उस हतगामी के द्वार पर तो प्रभु का पारण न हो सका। वह तो नवीन श्रेष्ठि के हाथों हुआ। उसके आँगन में दिव्य अतिशय हुए।'

'नवीन श्रेष्ठि के हाथों नहीं, किंचना दासी के हाथों · · · !'

'आश्चर्य प्रभु, नवीन श्रेष्ठि तो कहता है · · ·'

'ठीक कहता है वह, उसे दान करने को विवश होना पड़ा, पर किंचना के हाथों · · · !'

'निगूढ़ है स्वामी की रीत। हम समझे नहीं, भन्ते।'

'श्रमण का भाव-पारण तो जीर्ण श्रेष्ठि के हाथों ही हो चुका था। वह आप्त जन है, सो उसे वाहर से अपनाने का उपचार अनावश्यक ठहरा। मिथ्या दृष्टि नवीन श्रेष्ठि का अहंकार पराकाष्ठा पर था। उसकी भिक्षा ले कर ही, उससे निस्तार सम्भव था। दिव्य अतिशय माया में भूले बालक का मन वहलाव है। सम्यक् दृष्टि जीर्ण श्रेष्ठि उससे ऊपर है।'

'भन्ते श्रमण, जीर्ण श्रेष्ठि की मनस्थिति इस समय कैसी होगी?'

'आर्य श्रावक जिनदत्त अभी-अभी देह-त्याग कर गये। अच्युत देवलोक में संक्रमण कर वे संसार की एक बृहद् साँकल तोड़ गये हैं। अपने को अवहेलित अनुभव कर, पड़ोसी के घर दिव्य अतिशय देख, यदि वे खिन्न न हुए होते, तो अन्तर-मुहूर्त मात्र में उनकी आत्मा परमोज्जवल केवलज्ञान से आलोकित हो उठती। धन्य हैं श्रावक श्रेष्ठ जिनदत्त ! · · ·'

मौन, अविकल्प, अपने में समाहित, ये सारे प्रश्नोत्तर सुने हैं। साक्षी हूँ, श्रोता हूँ केवल इन सबका। और भीतर अनायास प्रबोध की कई नयी पंखुरियाँ खुल आयी हैं।

□

तद्रूप भव, मद्रूप भव, आत्मन्

सुंसुमारपुर आया हूँ। यहाँ के आशोकखंड उद्यान में अशोक वृक्ष तले एक शिला-तल्प पर बैठा हूँ। जो प्रस्तुत है, उसे बस देख रहा हूँ। वस्तु अपनी जगह पर है, होती रहती है: मैं अपनी जगह पर हूँ, होता रहता हूँ। उसके और मेरे बीच है केवल दर्शन। शुद्ध, अविकल्प, अकम्प दर्शन। यह दर्शन अब ऐसा अस्खलित और धारावाहिक हो गया है, कि चिन्तन अनावश्यक हो गया है। ···पहले भी सोचना मेरे स्वभाव में नहीं रहा: बचपन से ही अपने को केवल देखते पाया है। लगा है कि सोचना, सम्पूर्ण देखने के आनंद में बाधक होता है। सोच हमारे और वस्तु के बीच आवरण पैदा करता है। उसमें अहम् और राग अनिवार्य है। इसी से सोचना मिथ्या दर्शन है: केवल देखना सम्यक् दर्शन है। अखण्ड भाव से देखना ही एक मात्र शुद्ध वस्तु-स्थिति है।

···सो सतत देखता रहता हूँ। और यह एकाग्र दर्शन की तन्मयता ही, अनायास जाने कब ध्यान हो जाती है। आँखें मैं मीचता नहीं, जाने कब वे आप ही मिच जाती हैं: अर्धोन्मीलित हो जाती हैं।

···अशोक का एक रातुल फूल माथे पर टपका। फिर सामने आ गिरा। भ्रूमध्य में विद्युत् का तीव्र प्रकर्षण अनुभव हुआ। अशोक फूल की ललित लाली में, आरक्त ज्वालाएँ उठने लगीं। भीतर एक दूरातिदूर छोर पर कोई आकाशी खिड़की-सी खुल पड़ी। दृश्यों और ध्वनियों का एक प्रवाह उसमें उफन रहा है। उसमें एक तरंग उठी और व्याप कर कई पटलों वाले असुर लोक में रूपान्तरित हो गई।

···देख रहा हूँ, असुर-राज्य की अमरचंचा नगरी। असुरेश्वर चमरेन्द्र इसी क्षण अपनी उपपाद शैया में जन्म ले कर, अपनी देवसभा के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है। शक्ति के मद में चूर, उसने भ्रू उचका कर अपने अवधिज्ञान के वातायन से ऊपर-नीचे चारों ओर निहारा। ऊर्ध्व दृष्टिपात करने पर उसे दिखाई पड़ा सौधर्मेन्द्र। अपने सौधर्मावतंस विमान की सुधर्मा सभा में सहस्रों देव-परिकर से घिरे, महर्द्धिक वज्रधारी शक्रेन्द्र का वैभव और प्रताप देख कर वह गर्जना कर उठा:

'अरे यह कौन इन्द्रजाली है, जिसने मुझ से ऊपर अपनी सत्ता का सिंहासन विछाया है। अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाला यह कौन दुरात्मा देव मेरे मस्तक पर वैठ कर निर्लज्जता से विलास कर रहा है!'

असुरेन्द्र के सामानिक देवों ने मस्तक पर अंजुलि धारण कर नम्र निवेदन किया :

'हे स्वामी, ये महापराक्रमी और प्रचण्ड सत्ताधारी सौधर्म कल्प के शक्रेन्द्र हैं।'

चमरेन्द्र भभक उठा। भृकुटियाँ तान कर नथुनों से फुँफकारते हुए वह वोला :

'ओ अज्ञानी असुर देवो, मेरे प्रताप को तुम नहीं जानते, इसी से अपने स्वामी के सम्मुख तुम मेरी चरण-धूलि के एक कण जैसे तुच्छ इस शक्रेन्द्र की प्रशंसा कर रहे हो। तुम देखोगे कि मैं इसे अपनी एक साँस से पिस्सू की तरह नष्ट कर दूँगा। मेरे होते, ऐसे कीट-पतिंगे देवों की जगती पर शासन करेंगे ?'

चमरेन्द्र के सेवक सामानिक देवों ने वहुत अनुनयपूर्वक फिर चमर को समझाया :

'स्वामिन्, पूर्वोपार्जित पुण्य से ये शक्रेन्द्र सौधर्म पति हुए हैं। महासत्ता की व्यवस्था में उनकी समृद्धि और पराक्रम, असुरेश्वर चमरेन्द्र से कई गुना अधिक है। पर अपनी जगह आप भी तो कम नहीं, हमारे जैसे सहस्रों असुरों के राज-राजेश्वर हैं। पूर्व कर्मोपार्जित पराये वैभव की ईर्ष्या करने से क्या लाभ ? हमारी सेवाओं से सन्तुष्ट रह कर अपने स्वार्जित ऐश्वर्य और सत्ता का आप निश्चिन्त उपभोग करें, इसी में आपका कुशल-मंगल है।'

अपने ही अधीनों के इस प्रतिवोध ने चमरेन्द्र की ईर्ष्या को ज्वाला-गिरि की तरह वन्हिमान कर दिया। वह चीत्कार उठा :

'ओ हततेज नपुंसको, हट जाओ मेरी आँखों के सामने से। मुझे तुम्हारी सहाय की जरूरत नहीं। अपने इस प्रतीन्द्र का ध्वंस करने को मैं अकेला ही काफी हूँ। आज के वाद सुर और असुर राज्य का भेद समाप्त हो जायेगा। इन दो लोकों के अव दो इन्द्र नहीं, एक ही इन्द्र होगा। वह एकमेव इन्द्रेश्वर मैं हूँगा, और प्रतिस्पर्द्धाहीन मैं अखण्ड देव-साम्राज्य पर शासन करूँगा।'

तत्काल आकाश-मार्ग से उड़ कर कल्प स्वर्गों पर आक्रमण करने को उद्यत चमरेन्द्र, हवा पर तमाचे मारता हुआ, अपनी आयुधशाला की ओर धावमान हुआ। उसके मस्तिष्क की फटती नसों में विवेक की एक चिनगारी फूटी :

'मेरे मातहत ये सहस्रों असुर देव, मेरे शत्रु नहीं, सेवक ही तो हैं। मेरी हितेच्छा से प्रेरित जान पड़ता है इनका भाव।···शायद···शायद···

देवयोग से कभी · · ·मेरी · · ·पराजय हो जाये, तो इस शक्रेन्द्र से अधिक पराक्रमी ऐसी कौन सत्ता हो सकती है, जिसकी शरण मैं जा सकूं · · ·?'

· · ·चमरेन्द्र के अवधिज्ञान की एक और उच्चतर प्रकाश-श्रेणि उसके भीतर झलक उठी। और अनति दूर, अनति पास, उसे एक भव्य दृश्य दिखाई पड़ गया है। · · ·संसुमारपुर के अशोक वन में चरम तीर्थंकर महावीर अपनी छद्मस्थ अवस्था में महातप के हिमाचल की तरह, अपनी कायोत्सर्ग मुद्रा में अटल हैं। वह, जिसके अंगुष्ठ पर, जगत के सारे सत्ताधीशों का मान मर्दन हो जाता है! जिसके चरण त्रिलोक के सारे अधीश्वरों की चूड़ामणि से चुम्बित हैं। · · ·जिनके चरणों में स्वर्ग शरण खोजते हैं!

आश्वस्त हुआ चमरेन्द्र। और अपनी आयुधशाला में से अपना वज्रपाणि नामा मुद्गर उठा कर, आकाश के मण्डलों को उसके अघातों से कम्पित करता हुआ, वह चमरेन्द्र, विपल मात्र में मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुआ है। परिघ आयुध को दूर रख, तीन प्रदक्षिणा दे, नमन कर वह बोला :

'भगवन्, अचूक है मेरी यह प्रतीति, कि मैं इन श्रीचरणों की कृपा से उस दुर्जय, दुर्मत्त शक्रेन्द्र को लीला मात्र में जीत लूंगा। जब तक वह मेरे मस्तक पर बैठा है, तब तक मेरे चित्त को चैन नहीं, नाथ! मेरा यह मनोकाम्य पूरा करो, और मेरी इस असह्य पीड़ा को हरो, स्वामी। तुम्हारे सिवाय ऐसे कष्टी को और कहाँ शरण है · · ·।'

· · ·अवलोक रहा हूँ, अवबोध रहा हूँ, इसकी वेदना के बीहड़ों को। इसके कष्टों के सर्पिल आलजालों को। · · ·इससे पूर्वभव में इस आत्मा ने, अगले भव में अप्रतिम सत्ता, महत्ता पाने की लालसा से घोर अज्ञानी तप किया था। बलात्कारी देह-दमन और अन्तहीन भुखमरी के साथ सन्थारा करके इसने स्वेच्छतया मृत्यु का वरण किया था। ज्ञानी का भोग भी मोक्षदायक होता है, किन्तु अज्ञानी का अहंकार से आर्त्त, रौद्र तप मन चाहा फल प्रदान करके भी, चेतना में नित नये पापों, सन्तापों, कषायों के अन्तहीन नरक खोल देता है। ' · · ·चमरेन्द्र, तेरे इन सारे नरकों की ज्वालाओं को सहूँगा मैं, यदि तू जाग सके · · ·। बुज्झह · · · · ·बुज्झह · · ·बुज्झह, आत्मन्।'

· · ·कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, आत्म-समर्पण के साथ प्रार्थी होने पर वह माहेश्वरी सत्ता का अनुगृह प्राप्त कर लेता है। · · ·जानता हूँ, तू नहीं सुन रहा है इस क्षण प्रतिबोध की वाणी। तेरी मान कषाय इस समय घटस्फोट की अनी पर पहुँच चुकी है। अक्षम पात्र आप ही फूट पड़ेगा, उसके बाद तू, चमरेन्द्र, तू अपने आमने-सामने होगा। स्वयम् अपनी शरणागत। अन्य कोई किसी को शरण नहीं दे सकता, अमुर। · · ·जा, अपनी सामर्थ्य की सीमा देख ले। कल्याणमस्तु। · · ·

···और देख रहा हूँ, अपना परिघ आयुध ले कर चमरेन्द्र ईशान दिशा में गतिमान है। एक अरोक प्रभंजन। उसने अपनी आसुरी विभूति के वल, वैक्रिय समुद्घात से, अपने रूप को योजनों के विस्तार में विकुर्वित कर दिया है। श्याम कान्ति से उद्भासित एक महा शरीर। जैसे मूर्तिमान आकाश हो। नन्दीश्वर महाद्वीप का अंजनगिरि जैसे जंगम हो कर धावित है। फैली डाढ़ों की करवतों से भयंकर हो उठा है इसका चेहरा। इसके मुखाग्र के अग्निकुंड से उठ रही ज्वालाओं से सारा अन्तरिक्ष पल्लवित हो रहा है। कज्जल-गिरि जैसे इसके वक्षस्थल से सूर्य-मंडल आच्छादित हो रहा है। इसके भुजा-दण्डों के संचालन से ग्रह, नक्षत्र और तारे झड़ रहे हैं। इसके नाभि पद्म पर एक कुण्डी मार कर बैठा महासर्प फुंफकार रहा है। इसके लम्बे-लम्बे जानु डग भरते हुए, पर्वत-चूलिकाओं से टकरा कर, विस्फोटक ध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं। अपने पग के अवष्टंभ से यह भूमंडल को व्याकुल किये दे रहा है।

भैरव गर्जना करता हुआ वह ब्रह्माण्ड को फोड़ रहा है। प्रति-यमराज की तरह व्यंतरों को भयार्त करता हुआ, अपनी सिंह-छलाँगों से ज्योतिष्क देवों के विमानों को सन्त्रस्त करता हुआ, ना कुछ समय में ही, सूर्य-चन्द्र के मण्डलों का उल्लंघन करता हुआ, वह शकेन्द्र के मण्डल में जा पहुँचा है। उस भयंकर कालमूर्ति को यों अकस्मात् विजली के वेग से सम्मुख आते देख कर, किल्विष देवता छुप गये। आभियोगिक देवता भय-त्रस्त हो, गठ-रियाँ वन लुढ़क पड़े। अपने सैन्यों सहित सारे देव-सेनापति पलायन कर गये। सोम तथा कुवेर प्रमुख सारे दिक्पाल उसकी हुंकारों से पसीज कर भूसात् हो गये। सारे परिकर और अंगरक्षकों से परित्यक्त एकाकी सौधर्मेन्द्र, इस अकल्प आक्रामक को सामने पाकर स्तंभित है। अटल गंभीर मुद्रा के साथ वह सन्नद्ध भाव से अपने सिंहासन से उठ खड़ा हुआ है।···

चमरेन्द्र ने दानवी हुंकार के साथ अपने एक पग से पद्म-वेदिका को चाँपा, और दूसरा पग सुधर्मा सभा में पटका। फिर परिघ आयुध द्वारा इन्द्र-कील पर तीन वार ताड़न कर, उत्कट भृकुटि-भंग के साथ दुर्मद चमरेन्द्र ने शकेन्द्र को ललकारा :

'सावधान्, शक्कर। चाटुकारों के वल तू कापुरुष कब तक देवलोकों पर राज्य कर सकता है? देख, तेरा प्रतियोद्धा और विजेता जन्म ले चुका। अव तू और तेरे सारे सुरलोक, असुरेश्वर चमरेन्द्र के चरणों तले रहेंगे।··· सावधान, मैं इस ब्रह्मांड को शीर्षासन करा दूंगा. अन्तरिक्ष गुलाट खायेंगे। मैं और मेरा असुर साम्राज्य ऊपर हो रहेगा। तू और तेरा अमर लोक, हमारा पादपीठ हो कर रहेगा···।'

···शकेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से अन्धकार राज्य के अधीश्वर चमरेन्द्र को पहचाना। विस्मय के साथ सहज मुस्कुरा कर वे सौम्य स्वर में बोले :

'अमर, अपना अस्तित्व चाहे, तो यहाँ से भाग जा। यथास्थान रह, आयुष्यमान्।'

चमरेन्द्र इस सौम्यता से अवमानित हो, सौगुना अधिक कोपायमान हो, धमपछाड़ करने लगा।· · ·शक्रेन्द्र की कमनीय भौंहें प्रत्यंचा-सी तन उठीं। अविकल्प, निरुद्वेग भाव से उन्होंने चमरेन्द्र पर अपना वज्र फेंका। जैसे प्रलय-काल की अग्नि सहसा ही प्रकट हो उठी है। तमाम सागरों के गर्भ में संचित विद्युत्‌राशि और वड़वानल एक वारगी ही फूट पड़े हैं।· · ·तड़· · · तड़· · ·तड़· · ·तड़ित् टंकार करता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र के मस्तक पर भन्नाता आ रहा है। सूर्य को सहने में असमर्थ उलूक की तरह आँखें मीच, पत्ते की तरह थरथराता चमरेन्द्र, वट-वँदरिया की तरह शीर्पासन करने लग गया है।· · ·और अव वह, चित्ता को देख जैसे चमरी मृग भाग जाता है, वैसे ही महावीर के चरण आँखों में उजाले वहाँ से सुंसुमारपुर की ओर पलायमान है।· · ·

· · ·और अपने पीछे उसे सौधर्म विमान के हज़ारों सामानिक देवों की धिक्कार वाणी सुनाई पड़ रही है।

'अरे ओ सुराधम, अपनी दुर्गति को तू स्वयम् देख। मेंढ़क हो कर सर्प के साथ मुठभेड़ की तूने। भेड़ का वच्चा तू, हाथी के साथ भिड़ गया। हाथी का यह दुःसाहस, कि अष्टापद पर आक्रमण करे? सर्प की ऐसी दुर्मति की गरुड़ को लील जाना चाहे? ओ अनात्मज्ञ, अपनी स्थिति को जाने विना तूने प्रकृति के परम नियम-विधान को तोड़ना चाहा, इसी से तेरी ऐसी दुर्दशा हुई है। अहंकारवश ब्रह्मांडी देह धर कर आया था तू, पर क्षुद्र रजकण की लघु देह में रहना भी तुझे मुहाल हो गया।· · ·देवेन्द्र होने की स्पर्धा की तूने, परम सत्ता ने तेरी आसुरी महाशक्ति भी तुझ से छीन ली। धिक्कार है, सौ वार धिक्कार है, तेरे इस दुर्घृण अहंकार को। सत्यानाश की खंदक के सिवाय, अव तुझे कहीं शरण नहीं, ओ जघन्य पापात्मा!'

· · ·देख रहा हूँ, शक्रेन्द्र का वज्र दिगन्त व्यापी ज्वालाएँ विस्तार करता हुआ चमरेन्द्र का पीछा कर रहा है, और चमर लघुतम देह हो जाने को छटपटाता, अपनी अन्तिम नियति की ओर, गति से परे भागा जा रहा है।· · ·

शक्रेन्द्र के विस्मय का पार नहीं। सोच में पड़ा है वह, किसी भी असुर की यह सामर्थ्य नहीं कि वह प्रकृति की मर्यादा को तोड़ सके, देवेन्द्र की पद्‌मवेदी को पदाक्रान्त कर सुधर्मा सभा में पैर धर सके, शक्रेन्द्र की इन्द्रकील का ताड़न कर सके। इस विभूति का स्वामी हूँ, फिर भी यह अपनी नहीं लगती। यह व्यवस्था मेरी नहीं, स्वयम् सत्ता की है। मैं यहाँ कोई नहीं होता। फिर वह कौन ताक़त है, जिसके वल यह असुर सत्ता की मर्यादा तक को तोड़ गया?

···शक्रेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान का सन्धान किया ।···'ओह, योगीश्वर वर्द्धमान का शरणागत है यह असुर ! हाय, मुझ से भारी अपराध हो गया । मैंने इस पर वज्र प्रहार किया । मेरा वज्र तो क्या, लोक की कोई दैवी, दानवी, मानवी शक्ति इसका संहार नहीं कर सकती । श्री भगवान् के शरणागत को मार सके, ऐसी ताक़त लोक में विद्यमान नहीं ।···तपोवल से वड़ा और कोई वल नहीं !'

···वेदम, वेतहाशा, आत्मभान भूल कर इन्द्र अपने वज्र को लौटा लाने को भाग रहा है। सव से आगे चमरेन्द्र, उसके पीछे आक्रान्ता वज्र का ज्वालामुखी, और उसके पीछे शक्रेन्द्र मर्त्यलोक की ओर विद्युत्-वेग से धावमान हैं।···

वज्र चमरेन्द्र के मस्तक पर मँडलाता, ब्रह्मांडीय विस्फोट के साथ अभी-अभी उस पर फट पड़ने को है।···कि लो, विपल मात्र में झींगुर से भी क्षुद्रतर हो कर चमर, 'त्राहिमाम् नाथ, त्राहिमाम्···!' शब्द करता हुआ तपो-हिमाचल महावीर के चरण-युगल के वीच अन्तर्धान हो गया। और वज्र तत्काल एक क्षुद्र चिनगारी की तरह वुझ कर, शक्रेन्द्र की मुट्ठी में समा गया।

···सौधर्मपति पश्चात्ताप से विव्हल हो कर, त्रिलोकीनाथ के श्रीचरणों में भूमिसात् हो रहा। फिर कातर स्वर में प्रार्थी हुआ :

'अज्ञानवश मुझ से परम भट्टारक प्रभु का अपराध हो गया। समस्त चराचर के माता-पिता, परित्राता के शरणागत पर मैंने वज्र प्रहार किया। क्षमा करें, भगवन् !'

'सृष्टि में सब कुछ, यथास्थान, यथोचित घटित हो रहा है, शक्रेन्द्र। महासत्ता की इस द्वंद्वात्मिका लीला से पार हो कर ही आत्माएँ, अपने स्वरूप में प्रतिक्रमण कर सकती हैं। यहाँ कौन किसी का न्याय कर सकता है ? आत्म-निर्णय कर, आत्मन्, सर्व-निर्णय आप ही हो रहेगा !'

समाधीत हो कर शक्रेन्द्र लौट गया। तब श्रीचरण गुहा से निकल कर, वह क्षुद्र कुंथु हो रहा चमरेन्द्र सम्मुख हुआ। अनेक विध पश्चात्ताप-विलाप करता वह लघु से लघुतर हुआ जा रहा है।

'नाथ···नाथ···मुझ पापी से अधिक क्षुद्र लोक में कोई नहीं। निगोदिया जीव भी नहीं। इस ग्लानि और पीड़ा में अव नहीं जिया जाता, स्वामी !"

'क्षुद्र भी नहीं, महत् भी नहीं। परिमाण और तुलना से परे, अपने निज रूप में, तू अतुल्य है आत्मन्, अनुपम ! केवल तू, केवल मैं। अनन्त, अमाप केवल आप जो न पुण्य है, न पाप।...विंध्याचल के बिभेल ग्राम

वासी गृहस्थ पूरण, पहचान रहा हूँ तुझे। घोर अज्ञानी तप करके, तूने विश्व पर प्रभुता पाना चाही। तप कभी निष्फल नहीं होता। संकल्पित फल देता ही है। तेरा अहंकृत मनोकाम सिद्ध हुआ। विश्व-पीड़क असुरेन्द्र की सर्वसंहारक सत्ता तुझे प्राप्त हुई। उस सत्ता की सीमा भी देखी तूने। अब देख, इससे परे की अनन्त सत्ता को। आत्म-सत्ता, स्वयम् अपनी सत्ता!'

'उसे तो समक्ष भगवान में मूर्तिमान देख रहा हूँ, हे परमेष्ठिन्।'

'तद्रूप भव, आत्मन्! मद्रूप भव, आत्मन्!'

'प्रबुद्ध हुआ, भगवन्...।'

...पदनख पर एक और अशोक फूल आ कर टपका। नीलेश्वरी ध्यान-ज्योति के आलिंगन से मुक्त हो कर, बहिर्मुख हुआ। ध्यान में अभी देखी अनन्त संसार समुद्र की एक तरंग-लीला का स्मरण हो रहा है। इसमें कौन किसका अपराधी है, कौन निर्णय करे? अपने सिवाय, कौन यहाँ किसी का कर्त्ता, धरता, हर्ता हो सकता है? केवल एक ज्ञान, एक क्रिया अन्तिम निर्णायक है, निर्मायक है। आत्मज्ञान, आत्मक्रिया।...

प्रश्न अनिवार्य हो कर सामने आ खड़े होते हैं। उत्तर जहाँ है, वहाँ से अचूक प्रतिध्वनित होता ही है। मैं तो कुछ सोचता नहीं, बोलता नहीं, करता नहीं। केवल चुप रहता हूँ, स्वयम् होता रहता हूँ, और सब देखता रहता हूँ। यह महावीर कौन है? ...नहीं मालूम।...

☐

जो यहाँ है, वही वहाँ है

विचित्र है यह स्थिति। समय जैसे सिमट गया है। सारा अवकाश भीतर समा गया है। गति एक मात्र, अपनी रह गई है। अन्य सारी गतियाँ मानों उसी का अंश हो गयी हैं। सारे पदार्थ, भूगोल, इतिहास मेरी रक्त-शिराओं में तरंगित हैं। चल नहीं रहा, अपने को चलते हुए देख रहा हूँ। अनेक पर्वत, नदी, ग्राम, नगर मेरे चलते पैरों के गोपुरों में से यों गुज़र रहे हैं, जैसे वहते पानियों की तहों में जलचर रिलमिलाते दिखाई पड़ते हैं।

और देखा, कि विन्ध्याचल पार कर रहा हूँ। शाश्वत पर्वत विन्ध्याचल। जिसकी चट्टानों, कान्तारों और जंगलों में लाखों वर्षों की स्थावर, जंगम और मानव पीढ़ियों के उल्लास, संघर्ष, पराक्रम और जयलेखाएँ अंकित हैं। चढ़ते हुए सूर्य के साथ, शीतल सघन वनस्पतियों के लोक वाष्पित हो रहे हैं। उनकी पानीली गन्धों में भवान्तरों की जीवन-लीलाएँ संसरित हो रही हैं। इस हरियाली तरलता में कालातीत हो कर सृष्टि का सारा इतिहास तैरता दिखाई पड़ रहा है। शाश्वती में जिये हुए अपने जाने कितने ही पूर्व जन्मों को इस क्षण जैसे एक साथ सम्पूर्ण जी रहा हूँ। ...

अव से सत्ताइस भवान्तरों पहले, अपने पुरूरवा के साथ उसकी भीलनी काली को, अपनी डग भरती टाँगों में अटूट युगल की तरह इस क्षण भी चलते देख रहा हूँ। ...और जी रहा हूँ, अभी और यहाँ, अपनी कुमारावस्था की वह सन्ध्या, जव इसी विन्ध्याचल की चट्टान पर वह कोई एक अनामा काली फिर मिल गई थी। इस आदिम पर्वत की आत्मा उस दिन देह धारण कर मुझ से मिलने आयी थी। और इस क्षण भी वह मेरी नाड़ियों में स्पन्दित है। अनादिकाल से अव तक का देखा, जिया, भोगा, सहा-सव कुछ मानों मेरे रक्ताणुओं की दीवारों पर चंचल चित्रपट-सा उभर आया है। कहीं कुछ टूटा या छूटा नहीं है। एक अटूट जीवन-मेखला को अपने आस-पास परिक्रमायित अनुभव कर रहा हूँ।

विन्ध्याचल की सर्वोच्च चूड़ा पर खड़ा हूँ। और अपार दूरियों में फैले मालव के सुरम्य हरियाले पठारों को देख रहा हूँ। और कहीं अलक्ष्य में अंकित आद्या नगरी उज्जयिनी मेरे पैरों को खींच रही है। उसके महाकाली

मन्दिर के प्रांगण में नर-बलि का वार्षिक उत्सव बड़े समारोह से मनाया जा रहा है। आर्यावर्त के श्रावक श्रेष्ठ वैशालीपति चेटकराज की पुत्री महारानी शिवादेवी की राजनगरी उज्जयिनी में नर-बलि का महोत्सव हो रहा है। वर्द्धमान की मौसी शिवादेवी।···बलि के लिये उपयुक्त सर्वलक्षण-सम्पन्न पुरुष अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। महाप्रतापी अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत के अश्वारोही उसकी खोज में दिशाएँ खूँद रहे हैं।

···आश्वस्त होओ शिवा, चण्डप्रद्योत, वह बलि पुरुष स्वयम् ही तुम्हारे महाराज्य की देहरी पर आ उपस्थित हुआ है। देखो, वह तुम्हारे विन्ध्याचल की इस चूड़ा पर खड़ा है।

◆ ◆ ◆

···दिन डूबने की वेला में क्षिप्रा के एक सुनसान तट पर आ कर मेरे पैर आपोआप रुक गये। चारों ओर निगाह उठा कर देखा : यह श्मशान भूमि है, उज्जयिनी का अतिमुक्तक नामा श्मशान-घाट।···घिरते प्रदोष की वेला में कोई एकाकी चिता जल रही है। मृतक के परिजन उसके चितालीन शव का परित्याग करके अभी-अभी जा चुके हैं। केवल नीली-सिन्दूरी ज्वालाएँ उसकी एकमात्र साथी हैं। कहीं बहुत दूर अलक्ष्य में एक कुत्ते ने भूंक कर मेरा स्वागत किया है।···उस परित्यक्त उदास सन्नाटे के मर्म का वही एकमात्र संगीत है। चिता में चिटखती हड्डियाँ और चर्बी उसके अन्तरे हैं : आन्तरिक स्वरग्राम।···और यह संगीत भी जिस तट में अवसान पा गया है, नीरवता के उस छोर पर मैं अनायास ही ध्यानस्थ हो गया हूँ।

···क्षिप्रा की चिरकाल से अविराम प्रवाहित धारा एकाएक रुक गई। उसने मुड़ कर देखा। उसकी विकल रागिनी मेरे भीतर आ कर स्तब्ध हो गई है। नदी ने मुझे पहचाना। उसकी और मेरी निगाहें मिलीं। और उसी क्षण एक तीसरी निगाह हमारे बीच खुल उठी। '···त्रिलोचन महाकाल, और कोई नहीं, मैं ही आया हूँ : तुम्हारा त्रितीय नयन!' महेश्वर प्रीत हो कर मुस्कुरा आये। उनके लीला-नाट्य की इस अन्तिम भूमिका का अतिथि और कौन हो सकता है?···

रात गहराती जा रही है। शेष चिता की भस्म में ढँका एकाकी अंगारा रह-रह कर दहक उठता है। वह एकमात्र आँख, जो चिर जागृत है, जो यहाँ की एकमात्र उपस्थिति है। जो मेरी अकेली संगी और साक्षी है। पीपल अन्तिम बार मर्मरा कर अभी-अभी खामोश हो गया है। अब हवा तक स्तब्ध हो गई है। और इस अफाट सन्नाटे में केवल भय-भैरव की नग्न पदचाप स्पष्ट सुनी और देखी जा सकती है।···

···क्षिप्रा के पर पार बहुत दूर, अवन्तीनाथ चण्डप्रद्योत के विपुल ऐश्वर्य से जगमगाते हुए राजमहालय जाने क्या देख कर स्तंभित हैं। उनकी आकाशगामी चूड़ाओं के रत्नदीप चौकन्ने हो उठे हैं।···कल प्रातःकाल ही, नरवलि का मुहूर्त है, पर अभीष्ट वलि-पुरुष का दिशान्तों तक पता नहीं है। सारे आश्वारोही पृथ्वी के छोरों तक जा कर निराश लौट आये हैं। और अब अवन्ती के महा सेनापति, महामात्य और कोटिभट योद्धा स्वयम् चंडी-यज्ञ के आखेट नरोत्तम की खोज में, अँधियारों की तहें उलट रहे हैं। इससे पूर्व बलि-पुरुष कभी इतना दुर्लभ न हुआ। इस वार शून्य की चट्टान सामने आ खड़ी हुई हैं।

···उज्जयिनी के महायाजक कहते हैं, कि यदि मुहूर्त टल गया तो अवन्ती का सिंहासन भूसात् हो जायेगा। उसकी रक्षा का अन्तिम उपाय होगा केवल यह, कि स्वयम् अवन्तीनाथ···वलिवेदी पर···? कल्पना मात्र से चण्डप्रद्योत एक साँस में सौ बार मरण की काली वहिया में गोते खा रहा है। रत्नों और फूलों से लदी राजशैया शृंगारित अर्थी-सी थरथरा रही है। महारानी शिवादेवी शव के पैरों जैसे ठंडे अपने पतिदेव के चरण-तलों में माथा ढाल कर, अनवरत बहते आँसुओं से उन्हें गरमा रही हैं, और सिसकियाँ भर रही हैं।···

'शान्तम्, शान्तम् शिवा, चण्डप्रद्योत ! बलि-पुरुष स्वयम् ही आ गया है। मुहूर्त से पहले ही तुम्हारा नरमेध संपन्न हो चुकेगा। जिस मृत्यु और स्मशान से तुम इतने भयभीत हो, तुम्हारी वर्तमान सुख-शैया और सिंहासन उसी में बिछे हैं: वहीं पड़े हैं उनके पाये। तुम्हारे उस स्मशान को अपनी छाती पर धारण किये खड़ा हूँ। मुझे पहचान सको, तो कल के यज्ञ-मुहूर्त में, तुम्हारी शैया, और तुम्हारा सिंहासन, शाश्वत जीवन की भूमि पर आरूढ़ हो सकते हैं।'

◆ ◆ ◆

···देख रहा हूँ, उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का गर्भगृह। काल की चंचल धारा पर, अनादिकाल से अविचल अधिष्ठित है यह स्वयम्भू ज्योतिर्लिंग। यह किसी मर्त्य मानव-शिल्पी की कृति नहीं: स्वयम् सृष्टि के महाशिल्पी ने इसके भीतर अपने आपको पिण्डीकृत किया है, रूपायित होना स्वीकारा है। लिंग, जो सृष्टि के जीवन का स्रोतोमूल और मृत्यु एक साथ है, उसी के रूप में प्रकट होना, यहाँ स्वयम् अमृतेश्वर ने अंगीकार किया है। मर्त्य पृथ्वी की कामेश्वरी योनि को भेद कर, वे यहाँ उत्तिष्ठित हैं। जीवन के संवाहक मरण-धर्मा काल को उन्होंने अपने मस्तक पर महासर्प के फणा-मण्डल के रूप में धारण किया है। चिर प्रवाही विशुद्ध काल-तत्व यहाँ

महाकालेश्वर के अँगूठे तले स्तंभित है। देवाधिदेव योगीश्वर शंकर आज अपने ही इस पिंडीकृत लिंग पर आरूढ़ हो कर, अपूर्व प्रसन्न मुद्रा से मुस्कुरा रहे हैं।···

क्षिप्रा तट के केतकी और मालती कुंजों के सारे ही फूल पूजा बन कर धूर्जटी को चारों ओर से आवरित किये हैं। मध्य रात्रि के गभीर सन्नाटे में, छत में टँगे रत्न-कुम्भ में से रह-रह कर लिंग पर टपकते जल-विन्दु का 'टप···टप' शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ता है। धूपायनों से उठ रही दशांग धूप की अगरु-कपूरी गंध। उससे सुवासित गर्भालय की दीवारें गल-गल कर, धूम्र-लहरों में असंप्रज्ञात गहरावों के अलिन्द खोल रही है। एकाकी सुवर्ण दीप की अखण्ड जोत उस स्तब्धता में अनहद नाद को साकार कर रही है। कोने के सहस्र-जोत दीपाधार में नानारंगी मणियों की आभाएँ प्रतिपल नव्य-नूतन आकृतियाँ रच रही हैं। सृष्टि सारे लीला-खेल उनमें एक बारगी ही तरंगित हैं।

···स्थाणु रुद्र अभी-अभी अतिमुक्तक स्मशान से लौट कर मन्दिर में आया है। वह ज्योतिर्लिंग के योनि-मुख पर मस्तक ढाले साष्टांग प्रणिपात में जाने कितनी देर से निश्चल लेटा है। मन ही मन उसके ओठों से प्रार्थना फूट रही है:

'हे त्रिलोक और त्रिकाल के अधीश्वर, देवों के देव, ईश्वरों के ईश्वर, परम परमेश्वर, महेश्वर, पृथ्वियों की पृथ्वी, आकाशों के आकाश, ? महामण्डलाकार शून्यों के एकमात्र कैवल्य-विहारी, एकलचारी विराट् पुरुष, भगवान महाकालेश्वर, सुनें।···यह कौन दिगम्बर पुरुष तुम्हारा प्रतिस्पर्द्धी हो कर आज तुम्हारी लीला भूमि अतिमुक्तक स्मशान में आ खड़ा हुआ है? मर्त्य मानव-पुत्र का ऐसा दुःसाहस, कि वह स्वयम् मृत्युंजय महाकालेश्वर की सत्ता को चुनौती दे रहा है!

'···मैं और कोई नहीं भगवन्, आपका परम कृपापात्र और प्रियपात्र सेवक स्थाणु रुद्र हूँ। मैं स्वयम् उसके सम्मुख गया। मैंने उसे ललकारा। अरे आप के ही अंगीभूत मैंने, स्वयम् शंकर ने, उसे सम्बोधन किया। पर वह उद्धत आपकी प्रलयंकरी दहाड़ सुन कर भी टस से मस न हुआ। अविकम्प, सुधीर, धृतिमान साक्षात् मन्दराचल की तरह निर्भय और निश्चल रहा। मेरी ओर आँख उठा कर भी उसने नहीं देखा। पृथ्वी में ऐसा कोई पौरुष आज तक नहीं जन्मा, जो उस भयंकर भैरव स्मशान में यों आधी रात विचरण कर सके, और स्वयम् महाकाल की गर्जना सुन कर भी जो अविचल रह सके।

'· · ·आज्ञा दें भूतनाथ, शक्ति दें सकल ब्रह्माण्डपति, कि मैं देवाधिदेव शंकर की सत्ता को चुनौती देने वाले इस मानव-पुत्र तापस के दुर्जय तपो-गर्व को छिन्न-भिन्न कर सकूँ। उसकी समाधि को पैरों तले रौंद कर, उसे जीवित जला कर, उसकी भस्म से महाकालेश्वर के श्रीचरणों को चर्चित कर सकूँ · · ·।'

स्थाणु रुद्र को अनुभव हुआ कि ज्योतिर्लिंग कम्पायमान हुए हैं। और गुम्बद में से गभीर प्रतिध्वनि हुई :

'यथा अत्र तथा अन्यत्र : जो यहाँ है,वही वहाँ है। आदिनाथ · · ·आदिनाथ! · · · यहाँ भी वही, वहाँ भी वही। अन्य कोई नहीं। · · ·'

· · ·वाणी चुप हो गई। सन्नाटा और भी गहरा हो गया। शब्दातीत परम शान्ति में जगत का अणु-अणु विश्रब्ध हो गया है। · · ·अशान्ति शेष रह गई है केवल स्थाणु रुद्र की कषाय से पंकिल आत्मा में। अपने अहंकार के सिवाय वह और कुछ भी देख पाने में असमर्थ है। सो यह वाणी उसके जड़ित हृदय को जागृत न कर सकी। किंकर्तव्यविमूढ़ पहेली बूझता-सा, वह चहुँ ओर ताकता रह गया है। उसके अहम् ने जो समझाया: वही उसने समझा 'जो यहाँ है, वही वहाँ है। जो आदि-नाथ यहाँ है, वही उस श्मशान में भी मेरी सहाय को उपस्थित है, उस नंगे शिवद्रोही के मानभंजन में वे अचूक सहाय करेंगे ही। · · ·ओरे उलंग उत्पाती. छद्म दिगम्बर, ले मैं आता हूँ, और तेरे दिगम्बरत्व के मद को चूर-चूर करके ही चैन लूंगा। · · ·'

· · ·और स्थाणु रुद्र दुर्मत्त अहम् से गरजता हुआ, विद्युत् वेग से अतिमुक्तक श्मशान की ओर धावमान है।

• • •

· · ·ध्यान में चेतना का अभिसरण देह के सीमान्तों को पार कर गया है। एक आयामविहीन गहन में प्राण रक्षातीत हो कर, ऊपर, नीचे, चहुँ ओर अपरिछिन्न भाव से व्यापते जा रहे हैं। एक अनाहत प्रसारण, प्रवाहन और उड्डयन के अतिरिक्त और कोई बोध शेष नहीं रह गया है।

· · ·हठात् ब्रह्माण्डीय विस्फोट के साथ, सारी श्मशान भूमि तुमुल कोलाहल से भर उठी। देख रहा हूँ, मेरे आसपास सैकड़ो चिताएँ जल रही हैं · · · 'रामनाम सत्य है!' की गूंजों के साथ, एक पर एक कई श्मशान-यात्राएँ चली आ रही हैं। मेरे पादप्रान्त में अर्थियों और नग्न भयावने शवों के ढेर लगते जा रहे हैं। काले घूंघट काढ़े स्त्रियों के विशाल समुदाय छाती-फाड़ विलाप करते आ रहे हैं। गिद्ध, कौवे, उल्लू और कुत्ते शवों के अस्थि-मांस नोचते हुए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। और नाना प्रकार से, शोक-विषाद के उद्बोधक करुण रुदनगान, तार-स्वर में गा रहे हैं। · · ·औचक ही जाने कहाँ से धमाके पर धमाके हुए : पृथ्वी फट कर कई पाताल लोक खुल पड़े। अन्तरिक्ष विदीर्ण होते दीखे। · · ·उनकी विकराल

जबड़ों-सी दरारों में से निकल कर भूतों, प्रेतों, व्यंतरों, वैतालों, चुड़ैलों, डायनों के अन्तहीन समूह मंडलाकार अपने चारों ओर नाचगान करते देख रहा हूँ। वीभत्स, भीषण, भयंकर हैं उनके शरीर, जो कभी ऊँचे और विस्तृत हो कर आकाश को छा लेते हैं. कभी सिकुड़ कर टिड्डी दल-से मुझ पर टूट पड़ते हैं। उनकी गान-तानों, नक्काड़ों, ढोलों. मृदंगों, शृंगों और तुरहियों के संगीत में यह कैसा गहरा विषाद है। उसमें सृष्टि के प्राणि मात्र के संघर्ष, मार-फाड़, दुःख, आक्रन्द, शोक, विलाप एक बारगी ही आलापित हो कर दिगन्तों को थर्रा रहे हैं।

सहसा ही क्या हुआ कि, इन नाचते-कूदते प्रेत-मण्डलों पर छलाँग मार कर, एक तुंगकाय तमसाकार दनुज मूर्ति प्रचंड हुंकार और धमाके के साथ, ठीक मेरे सामने आ धमकी। कोयले के पहाड़-से उसके विद्रूप बीहड़ शरीर पर सिंदूर की प्रवाहित-सी धारियाँ हैं। उसकी क्रोध से विस्फारित्त रतनारी आँखों में ज्वालामुखी थमे हैं। उसके हाँफते जबड़ों में हिंस्र पशुओं से भरी अँधियारी खन्दकें हैं।··· उसने अपने दोनों हाथों के प्रकांड त्रिशूल बिजलियों की कड़कड़ाहट के साथ अंतरिक्ष मे उछाल कर, हड़कम्पी अट्टाहास किया। फिर अपने त्रिशूलों को झेल कर उन्हें मेरी ओर संचालित करने लगा।

. . .और हठात् क्या देखता हूँ, कि वे सारे नाचते-गाते दनुज-मण्डल तितर-बितर हो कर गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं।···और चारों ओर से मुझ पर जलती चिताएँ बरस रही हैं। नोचे-खसोटे, लहूलुहान, दुर्गन्धित शव मेरे अंग-अंग पर आ कर पड़ रहे हैं। मेरे मस्तक और कन्धों पर जलती मशालें फेंकी जा रही हैं। प्रहार, पीड़न, ताड़न, दहन की ये सारी आक्रान्तियाँ गुणानुगुणित हो रही हैं।···पर देख रहा हूँ, विन्ध्याचल हो कर रह गया हूँ। और इस असह्य संत्रास से घायल मेरा चारों ओर फैला प्राण उद्वेलित हो उठा है। वह मेरे हृदय-गव्हर से वेदना और करुणा के निर्झर की तरह फूट पड़ा है। विन्ध्याचल के अन्तस्तल से. चर्मणवती भूतल पर बह आयी है। श्रमण के पास तो इसके अतिरिक्त और कुछ देने को है नहीं।···पर. कौन है यह महावीर, जो विन्ध्याचल की चूड़ा पर अचल खड़ा, अर्ध्ववाहु आवाहन दे रहा है : 'देखो, मैं आ गया हूँ, तुम्हारा बलि-पुरुष···!'

···चिताओं, शवों, त्रिशूलों, मशालों की अन्तहीन बौछारों के बीच भी वह ऊपर, और ऊपर ही उठता जा रहा है। हार कर रुद्र देवता का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। दानवीय दहाड़ के साथ उसने अपने समस्त रुद्रलोक को इस नंग-धड़ंग ढीठ पर टूट पड़ने का इंगित किया। हुंकारों और हूलकारों के साथ हजारों भयावह आकृतियाँ आकाशिनी हो कर एक साथ मुझ पर टूट रही हैं।···

···कि हठात् एक मशालधारी सैन्य के बेदम दौड़ते घोड़ों ने उन्हें रौंद डाला। विपल मात्र में ही भय और मृत्यु का वह अपार्थिव दृश्य जाने कहाँ लुप्त हो गया।

अवन्ती के महासेनापति, महामात्य और सैनिक स्तंभित, इस सर्वलक्षण सर्वांग सुन्दर नग्न पुरुष को देखते रह गये !

आनन्द से उन्होंने जयनाद किया :

'जय महाकाली, जय जगदम्बे, जय महाकाल, जय महाकाल, जय महाकाल···!'

मान-संभ्रम पूर्वक उस नग्न वलि-पुरुष को एक भव्य-दिव्य रत्नों के रथ में बैठाया गया। पुरुष ने उन्नत वदन, निष्कम्प, मुस्कुराते हुए इस वलि-सम्मान का का वरण कर लिया।

···ब्राह्ममुहूर्त की संजीवनी हवा में वलिपुरुष के रथ को घेरे दौड़ते अश्वारोही, हर्षाकुल जयकारें करते हुए, महाकाली मंदिर के चण्डी-मण्डप की ओर उड़े जा रहे हैं।

◆ ◆ ◆

···महाकाली मंदिर के तहखाने में ध्यानस्थ हूँ। देख रहा हूँ, मेरी मूर्द्धा पर, अपने गर्भगृह की चट्टनी वेदी के मध्य, विराजमान है महिषासुर मर्दिनी महाचण्डिका। उनकी विप्लवी तांडव मुद्रा अनायास कोमल लास्य की भंगिमा में परिणत होती जा रही है। उनकी विकराल लपलपाती जिव्हा उनके मुख में अपसारित हो गई है। उनकी नथड़ी तले, उनके अधर-सम्पुट में, चुम्बन के मकरन्द से भरा ललित लोहित कमल मुस्करा उठा है। उनके सर्व-संहारक तांडवी चरणों में मृदु-मन्द नूपुर-रव रुनझुना रहा है। उनकी सुनग्ना मोहिनी जंघाओं ने फैल कर मानो मुझे समूचा अपने उरुमूल में समाहित कर लिया है।···और ध्यान में ऐसी सर्वाश्लेषी समाहिति अनुभव कर रहा हूँ, कि मानो अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड माँ के स्तन-मण्डल में विसर्जित हो कर मेरे मस्तक का सिरहाना बन गया है।···

वाहर से सुनाई पड़ रहा है दुंदुभियों का आकाश-विदारक महाघोष। कई-कई डमरुओं और मृदंगों का लोमहर्षी अविराम वज्र-निनाद। युगान्त के समुद्र-गर्जन को प्रतिध्वनित करने वाले शंखों की समवेत ध्वनियाँ। रण-भेरियों का तुमुल नाद। और अनुभव कर रहा हूँ, मेरे कुंभकलीन श्वास में किसी अपूर्व सृष्टि-संगीत के स्वर-ग्रामों की रचना हो रही है।

देख रहा हूँ, वलि-पुरुष का विविध प्रकार के गंधजलों और पंचामृत से अभिषेक किया गया है। महार्घ फुलेलों से उसकी अनंग-मोहन काया के प्रत्येक सुकोमल अवयव को बसाया गया है। फिर उसके सारे ही अंगांगों पर सुकोमल दिव्य अंगरागों का आलेपन किया गया है।···महाभाग है यह वलि-पुरुष, जिसकी वधस्थल पर चढ़ने वाली देह का, मृत्यु के तट पर, ऐसा दुलार-शृंगार हो रहा है। मुझे उससे ईर्ष्या हो आई !

. . . वाजिवों, शंखों, नक्काड़ों का घोप चण्ड से चण्डतर होता दिग्गजों को दहला रहा है। हीरों से जगमगाती हंस-धवल पालकी में, नग्न खड्ग् के समान दण्डायमान वलि-पुरुप को चण्डी-मण्डप में लाया गया है। उज्जयिनी के दुर्दण्ड मल्ल भी उसकी निश्चल काया को मोड़ कर उसे वैठाने में समर्थ नहीं हो सके हैं। वलिदान के मुहूर्त में कायोत्सर्ग मुद्रा ही तो वलि-पुरुप का एकमात्र आसन हो सकता है। इसी मे महाश्रमण का कायोत्सर्ग आज हिमवान की तरह अनम्य हो उठा है।

देख रहा हूँ : चण्डी-मण्डप के विशाल वितान तले, मालव-जनपद की सहस्रों मानव-मेदिनी भय-विव्हल कण्ठ से अविराम जयजयकार कर रही है :

'महिपासुर मर्दिनी, शुंभ-निशुंभ संहारिणी, भगवती महाकाली जयवन्त हों। महामहेश्वर, रुद्र-प्रलयंकर भगवान महाकाल जयवन्त हों . . . जयवन्त हों . . . जयवन्त हों।'

ठीक मन्दिर द्वार के सम्मुख लाल-माटी से आलेपित प्रशस्त मंडलाकार वलि-वेदी वनी है। उसके चारों ओर कई पंक्तिवद्ध हवन-कुण्ड धधक रहे हैं। ऋत्विकों के मंत्रोच्चारों के साथ सहस्रों याजनिक उनमें नाना सुगन्धित हव्यों की आहुतियाँ दे रहे हैं। वलि-वेदी के ठीक केन्द्रस्थल में विशेप रूप से काट कर लायी गई विन्ध्या-चल की एक ऊँची चट्टान आरोपित है। उसके शीर्प को फूलों से आच्छादित किया गया है। चट्टान को वर्तुलाकार घेर कर कई भयंकर आकृति वाले भैरव और कापालिक खड़े हैं। उनके प्रचण्ड कज्जल-लेपित शरीर सिन्दूरी त्रिशूलों से चित्रित हैं। वे परिघ, मुशल, पाश, परशु, त्रिशूल आदि विविध शस्त्र धारण किये हैं। ठीक चट्टान के अगल-वगल दो प्रमुख वधिक विजलियों-से चमचमाते नग्न खड्ग ताने खड़े हैं। गले में वे मुण्ड-मालाएँ धारण किये हैं।

ठीक वलि-वेदी के सम्मुख, विशाल मानव-समुद्र के बीच एक सब से ऊँचे तख्ते पर विछा है अवन्तीनाथ का सुवर्ण-रत्निम सिंहासन। उसमें चण्डप्रद्योत अपनी महारानी शिवादेवी के साथ, मर्कत-मुक्ता की झालरों से सुशोभित सफेद चंदोवे तले ईशत् मन्द मुस्कान के साथ आरूढ़ हैं। प्रतिहारियाँ उन पर चँवर ढोल रही हैं। . . . पर यह क्या हो गया है महारानी शिवा को, कि उनकी देह शव की तरह श्वेत और जड़ित हो गई है। उनकी आँखें पथरा गई हैं।

. . . सहसा ही 'जय महाचण्डिके, जय महाकाली, कराली, करवाली, मुण्डमा-लिनी . . .' की तुमुल चीत्कारें और हुँकारें गूँज उठीं। उसके साथ ही कई कापा-लिकों के हाथ खड्गासन वलि-पुरुप को पालकी में से उठाने के लिये वढ़े। किन्तु उस नरोत्तम ने दोनों हाथ उठा कर उन्हें रोक दिया। . . . और पलक मारते में वह एक ही छलांग में स्वयम् ही, यथावत् खड्गासन मुद्रा में, मारण-शिला पर आ खड़ा हुआ। विस्मय की एक विराट् निस्तब्धता व्याप गई। ऐसा तो पहले कभी हुआ

नहीं। यूप सूना ही मुँह ताकता रह गया । उससे बँधने की विवशता इस नरपुंगव ने स्वीकार नहीं की। स्वयम् ही इसने वलि-वेदी का वरण कर लिया । हज़ारों कण्ठों से 'जय भोलानाथ ··· जय शिवशंकर ! ' की जयध्वनि वरवस फूट पड़ी।

उस दिगम्बर कामदेव के वधस्थल पर आसीन होते ही, उपस्थित मानव-मेदिनी में मूर्च्छा के हिलोरे दौड़ गये । सहस्रों नारी-कण्ठों से कातर सिसकारियाँ फूट पड़ीं। 'हाय, यह किस माई का लाल होगा? धन्य है वह कोख, जिसने इसे जना है !' और सहस्र-सहस्र कोमल कोखें, और गोदियाँ उसे झेलने को आकुल-व्याकुल हो उठीं। सहस्र-सहस्र रमणी-स्तन उमड़ आये और उनके आँचल भींज गये । मालव-वसुन्धरा के वक्ष की काली, लचीली, मृदुला माटी धसकने लगी। उसके अतलों के भीतर दूध के समुद्र हिल्लोलित होने लगे।

···वलि-पुरुष पर कमलों और नाना सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ वरसने लगीं। मल्लिका, पारिजात और वेला फूलों की वृष्टि ने उसे ढाँक दिया। मेघ-मन्द्र ध्वनि में, महाऋत्विक मंत्रोच्चार और स्तोत्र पाठ करने लगे :

'···ॐ नमश्चण्डिकायै, ॐ नमश्चण्डिकायै, ॐ नमश्चण्डिकायै···।

ॐ ऐं ह्रीं चामुण्डायै विच्चे । ॐ ग्लौं हुं क्लीं जूं सः ज्वालय ज्वालय ज्वल ज्वल प्रज्जवल प्रज्जवल ऐं, ह्री क्लीं चामुण्डायै विच्चे ज्वल हं मं लं क्ष फट् स्वाहा।

'···धां धीं धूं धूर्जटे : पत्नी वां वी वू वागधीश्वरी।

क्रां क्रीं क्रूं कालिका देवि शां शीं शूं मे शुभं कुरु।

हुं हुं हुंकार रूपिण्यै जं जं जं जम्भनादिनी । भ्रां भ्री भ्रू भैरवी

भद्रे भवान्यैते नमो नम :। अं कं चं टं तं पं यं शं वी दं ऐं वी हं

क्षं धिजाग्रं धिजाग्रं त्रोटय त्रोटय दीप्तं कुरु-कुरु स्वाहा।···

'शं शं शं माँ, द दं दं माँ, महाचामण्डे, महाकाली, करवाली, विकराली, सर्व-असुर-संहारिणी, दिगम्बरी, ताण्डवकरी, इदं वलि ग्रह ग्रह ग्रह माँ ···!'

नक्काड़ों और डमरुओं के वज्रघोष पराकाष्ठा पर पहुँचे । धरती विदीर्ण होने लगी । आकाश फटने लगा । महाऋत्विक के संकेत पर अगल-बगल खड़े वधिकों की नग्न तलवारें बिजलियों की तरह कौंध कर वलि-पुरुष के मस्तक पर सन-सनाने लगीं।

···हठात् ब्रह्माण्डों को हिल्लोलित करता हुआ एक घनघोर विप्लवकारी विस्फोट हुआ । वधस्थल के ठीक पीछे वलि-वेदी फट पड़ी। ···रुद्र हुंकार करती भगवती महाकाली साक्षात् प्रकट हो कर, वलिदान-शिला पर आरूढ़ हो गईं। कई

मुण्डमालाओं से शोभित, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, सहस्रभुजा, नाना शस्त्रास्त्रों, से सज्जित वे भयंकारी, दिगम्बरी, प्रलंयकरी महाताण्डव करने लगीं। लोक-हृदय में शवीभूत हो गये शिव की छाती पर पैर धर कर, वे अपनी तमाम शोषित, पीड़ित, आर्त, त्रस्त, आक्रन्द करती कोटि-कोटि भूखी-नंगी मानव-सन्तानों के परित्राण के लिये, दिगन्तव्यापी असुरों, पीड़कों, शोषकों आततायियों पर भयंकर विस्फोट-कारी आग्नेय अस्त्रों की वर्षा करने लगीं।

'त्राहिमां माँ, त्राहिमां माँ' पुकारते, भयार्त क्रन्दन करते ऋत्विकों, याजनिकों और शत-सहस्र प्रजाजनों को दिखायी पड़ा :

'···चण्डप्रद्योत का रत्निम राज-सिंहासन सत्यानाश की ज्वालाओं से घिर कर नीचे धसक रहा है। और उसके साथ ही, उसके आसपास जाने कितने ही सत्ता-सिंहासन आग के समुद्र में ऊभ-चूभ होते दिखाई पड़ रहे हैं। चण्डप्रद्योत और महा-रानी शिवादेवी सिंहासन से लुढ़क कर, बलि-चट्टान के पादप्रान्त में आ पड़े हैं। वे आर्त स्वर में अविराम पुकार रहे हैं :···'त्राहिमां माँ, त्राहिमां माँ !···

हठात् प्रलय, विनाश और वह्नि-मंडलों की वह रुद्रलीला जाने कहाँ विलीन हो गई। चरम-परम नग्ना सर्वसंहारिणी महाकाली, सर्व मनमोहिनी ललिता भुवने-श्वरी के कोमल रूप में मुस्कुराती दिखाई पड़ीं। उन परात्परा दिगम्बरी के लावण्य सिंधु में ज्वारित नीलोत्पल वक्षदेश पर वह दिगम्बर बलि-पुरुष निर्दोष शिशु की तरह उत्संगित है। अपनी सर्वकामिनी बाहुओं से माँ ने अपने उस आत्मजात बेटे को अभिन्न भाव से आलिंगन में बाँध लिया है।···प्रकृति ने अपनी कोख से इस बलि-मुहूर्त में, अपने अपूर्व नूतन विश्व-सृजन के लिये, एक ऐसे पुरुष को जन्म दिया है, जो अद्यावधि पुराण, इतिहास और कालचक्र में अतुल्य है, अप्रतिम है।···

अनिमेष नयन सबको दिखाई पड़ा : पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रोदय की तरह माँ के उस हेमाभ मुखमण्डल से अमृत-कलाएँ बरसने लगीं। विराट् में खिले एकाकी कुमुद की पँखुरियों जैसे उनके मुस्कुराते ओंठ स्पन्दित हुए। गगनमण्डल के गहन अथाह में मे अतिशय मार्दवी वाणी सुनायी पड़ी :

'मैं प्रीत हुई, मैं परितृप्त हुई। मेरा चिर प्रतीक्षित पुरुषोत्तम आ गया, मेरा परित्राता आ गया।···अब तक जो भी बलिपुरुष मेरी बलिवेदी पर आये, वे स्वार्थियों के बलात्कार के आखेट हो कर आये। वह आत्मलिप्सु शोषकों का यज्ञ था, मेरा नहीं। उससे सर्वभक्षी बलात्कार की पाशवी शक्तियाँ जन्मीं और आज आर्यावर्त सर्वनाश के आसुरी जबड़े में आ पड़ा है।···

'···अरे सुनो, प्रथम बार आज आये हैं पुरुषोत्तम पशुपतिनाथ।···प्रथम बार आत्माहुति देने आये हैं, स्वयम् यज्ञपुरुष। आत्महोता वेदपुरुष, पूषन्।···

'मैं प्रीत हुई, मैं परितुष्ट हुई। असुर-निर्दलित मेरी कोटि-कोटि सन्तानों के परित्राता, मुक्तिदाता आ गये।···आ गये मेरे महाकाल पुरुष, मानव-तनधारी हो कर आ गये।···

'ओरे अज्ञानी ऋत्विको, परवलि नहीं, निर्दोष पशुबलि नहीं, आत्मबलि, आत्माहुति, आत्महवन करो । अपने ही भीतर छुपे स्वार्थलिप्सु पशु की बलि दो । स्वयम् अंगिरा, अग्निहोत्री हो कर जन्मे हैं आज मेरी कोख से । वे स्वयम् ही आत्माहुति देते आये हैं । हे ऋत्विको, हे आर्यजनो, इन परम यज्ञेश्वर के चरणों में अपने जन्म-जन्मान्तरों के संचित पशुत्व का बलिदान करो । आ गये मेरे महाकाल पुरुष, आ गये मेरे परम परमेश्वर, आ गये मेरे दिगम्बर, शिवशंकर, भोलानाथ आ गये···!'

इस अनाहत वाणी में, समस्त लोक का प्राण एकीभूत, विश्रब्ध हो गया । सहस्रों आँखों से झरते आँसू एकमेव क्षिप्रा की धारा हो गये।···

···और तभी महाकाल मन्दिर के सुवर्ण-शिखर से प्रतिध्वनि सुनायी पड़ी :

'यथा अत्र तथा अन्यत्र : जो यहाँ है, वही वहाँ है : जो यहाँ है, वही वहाँ है ।····आदिनाथ···आदिनाथ···आदिनाथ । विश्वनाथ वर्द्धमान··· विश्वनाथ वर्द्धमान···विश्वनाथ वर्द्धमान !

'इत्थ प्रभव ऋषभोऽवतारो हि शिवस्य मे ।
सतां गतिर्दीन बन्धुर्नवम.कथित स्तव ॥'

···और विन्ध्याचल के शिखरों से गुंजायमान हुआ : 'महाकाल महावीर जयवन्त हों, महाकाल महावीर जयवन्त हों, महाकाल महावीर जयवन्त हों।'

···शृंग से शृंग पर डग भरता एकाकी आर्यावर्त के आरपार चल रहा हूँ । मेरी धमनियों में महाकाल का डमरू बज रहा है । मेरे रक्त की बूंद-बूंद में महाकाली ताण्डव नृत्य कर रही है।···

□

मैं चन्दन बाला बोल रही हूँ

'वर्द्धमान, आखिर तुम चले ही गये···?' : तुम्हारे महाभिनिष्क्रमण की खबर पा कर, इतना ही तो मेरे मुँह से निकला था।···उदास हो कर वातायन की मेहराव थामे, उसके खम्भे पर माथा ढाल कर खड़ी रह गयी थी और सूर्यास्त तक भी मुझे होश नहीं आया था। मूर्तिवत् स्तंभित थी, और दिशाओं के पार दूर-दूर जाती तुम्हारी पीठ देखती रह गई थी।··· जानती थी तुम्हारी नियति। फिर भी इसके लिये मन को तैयार न कर सकी थी।

···कि औचक ही तुम झटका दे कर जा चुके थे।···और मेरी नियति? नन्द्यावर्त महल में, प्रथम वार तुमसे मिलने के वाद उस ओर से ध्यान ही हट गया था। केवल तुम्हारी ओर निगाह लगी रहती थी। अपनी ओर देखने की सुध ही कहाँ रही थी! जैसे मैं रह ही नहीं गयी थी। फिर किसकी नियति? कौन सोचे?

लेकिन जब तुम चले गये, तो अपने में लौट आने को तुम मुझे विवश कर गये। अपनी ओर देखने के सिवाय, और तुमने कुछ भी मेरे लिये सम्भव न रहने दिया। और तव मेरी अपनी नियति सामने आ कर खड़ी हो गई। कितनी प्रश्नाकुल और अँधियारी! अन्धकार की पर्वत-श्रेणियाँ, जो आवाहन दे रही थीं : 'आरोहण करो हम पर!' इतने अचूक, सुन्दर, उजियाले, पारदर्शी तुम! केवल यही वरदान मेरे लिये पीछे छोड़ गये?

पहचानते हो वर्द्धमान, मैं चन्दना बोल रही हूँ? तुम्हारी चन्दन मौसी। मौसी तो दूर, अपनी चन्दन की भी अव तुम्हें कहाँ याद होगी।··· दिगन्तों पर विहार कर रहे हो। अन्तरिक्षों में विचर रहे हो। देह और पदार्थ से ले कर प्राणि मात्र के मन-मनान्तरों में समान रूप से गतिमान हो। जड़ और जंगम का भेद भूल कर यकसा सव के आरपार यात्रित हो। ऐसे में मुझे अलग से पहचानने की जरूरत तुम्हें कहाँ रही? उससे तुम आगे जा चुके। तुम्हारे दर्शन के अनन्त विराट् में एक लड़की का क्या मूल्य? सारे ही पुरुषोत्तम हमारी ही गोद से उठ कर भी, अन्ततः हमें विसार गये। हमें आधी रात शैया में सोती छोड़ जाने में भी वे कभी नहीं

हिचके। और फिर लौट कर भी नहीं देखा। तिस पर तुम तो तीर्थंकर हो कर जन्मे हो। लोक के आज तक के सारे सूर्यों के अनन्य प्रतिसूर्य। सूर्य को क्या गरज कि वह किसी विशेष को पहचाने। वह तो सब पर समान रूप से चमकता है।

तुम्हारे महाप्रस्थान की सूचना, पूर्व सन्ध्या में ही वैशाली पहुँच गयी थी। सुन कर नसों में बिजलियाँ कड़क उठी थीं। तनी प्रत्यंचा की तरह प्रतीति हुई थी: 'तुम्हारी हर यात्रा के छोर पर मैं खड़ी हूँ। ··· ओ दिगम्बर, मैं हूँ तुम्हारी दिगम्बरी, तुम्हारा दिगम्बरत्व। तुम्हारी दिग्विजय के दिगन्तों को मैंने अपनी कलाइयों पर चूड़ियों की तरह धारण कर रक्खा है।' ··· अभिमान आ गया था मन में। नहीं, मैं नहीं आऊँगी तुम्हें विदा देने। मेरी सत्ता के हर पणिमन में जो खेल रहा है, उसकी विदाई कैसी? सारे लोक-लोकान्तरों को जय कर के एक दिन तुम्ही को लौट आना होगा मेरे पास।

···बड़ी भोर ही कई रथ माँ, पिता, भाइयों-भाभियों, अनेक परिजनों को ले कर कुण्डपुर को प्रस्थान कर गये। मुझे साथ ले चलने को सारे महलों और उद्यानों के कोने-अँतरे छान डाले गये। पर मेरा पता कोई न पा सका। इन्द्रों और माहेन्द्रों के सारे स्वर्ग तीर्थंकर के दीक्षा-कल्याणक का उत्सव रचने को, कुण्डपुर के प्रांगण में उतरे थे। पर चन्दना उस में कहीं नहीं थी। अपने अन्तर-कक्ष की वैभव-शैया को भेद कर, नग्न पृथ्वी से आलिंगित थी वह। अपनी छाती की व्यथा में, गमनागमन की सारी माया को उसने व्यर्थ कर दिया था। ···मुझ से जा कर मुझी तक पहुँचने की इस महायात्रा के यात्रिक का स्वागत करूँ या उसे विदा दूँ, इसी असमंजस में पड़ी थी। ···अन्तर्तम में यह प्रतीति चाहे जितनी ही अटल रही हो, पर देह, प्राण, मन, चेतन, इन्द्रियाँ चूर चूर होती चली गयी थीं। अपने अस्तित्व की अस्मिता और इयत्ता को पार्थिव में बाँधे रखना मेरे वश का नहीं रह गया था।

···मेरे बार-बार बुलाने पर भी तुम कभी वैशाली नहीं आये। आखिर हार कर मैं ही आयी थी तुम्हारे पास। उस दिन काया भले ही वहाँ से लौटी हो, पर मैं फिर उस कक्ष से लौट कर आ नहीं सकी। प्रथम दृष्टि-पात में ही जो तुम्हारा स्वरूप देखा, तो विस्मय में अवाक् रह गई। लगा था कि ···रंच भी नया, अपरिचित, अन्य कोई नहीं है यह! स्मृति जागने के दिन से ही मेरे स्वप्न के क्षितिज पर जो अज्ञात अनंग युवा खेल रहा था, वही आँखों आगे साकार हो गया। चक्षुओं का देखना जहाँ समाप्त हो जाता है, वह अवाङ्-मनस-गोचर रूप देखा। मेरी हर उमंग और चाह

का अचूक उत्तर! ···वहुत तर्क और कसौटी करके भी, अपने से अन्य, भिन्न, प्रतिकूल तुम्हें अणु मात्र भी कहीं से न देख सकी, ना पा सकी।

चलती वेर पूछे विना न रह सकी थी: 'फिर कव मिलोगे?' उत्तर में तुम समर्पित हो कर स्वामी हो उठे थे: 'जव चाहोगी! ···जव पुकारोगी, आऊँगा।' ···एकदम निष्ठुर हो कर लौटी थी: नहीं ···नहीं चाहूँगी, कभी नहीं पुकारूँगी। मौत सामने आ खड़ी हो, तव भी नहीं। ···आज इस क्षण जहाँ हूँ, वहाँ से भी नहीं। यमराज को पुकार सकती हूँ यहाँ से, पर तुम्हें नहीं ···तुम्हें हर्गिज़ नहीं। मेरे पैरों की यह वेड़ी और इस तल घर का यह अँधेरा, मुझे तुम से अधिक प्रिय है। क्योंकि यह मेरा अर्जन है, यह मेरा स्वयंवरण है। तुम कौन होते हो मेरे? तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं: तो मुझे भी तुम्हारी आवश्यकता नहीं। मिलन की चाह और पुकार मेरी ही हो, तुम्हारी नहीं? यही तो कहा था, तुमने उस दिन विदा के क्षण में। ···नहीं, तुम्हारी कृपा की मुझे ज़रूरत नहीं है। ···नहीं, तुम्हारी चाहत की भिखारिणी नहीं हो सकूँगी। तुम्हारी वीतरागता तुम्हें धन्य और मुवारक़ रहे। आँसू, दूध, खून, व्यथा से भींगी धरती हूँ मैं: अनुरागिनी धरित्री, तुम्हारी जनेत्री। जिसकी कोख से तुम जन्मे, जिसकी गोद से तुम उठे, जिसकी छाती खूंद कर तुम वीतरागता के शिखर पर आरूढ़ हुए हो। ···तुम अपने में रहो। मुझे अपने में रहने दो। नहीं, मुझे तुम्हारी क़तई ज़रूरत नहीं है। ···

···ठीक लग्न-मुहूर्त आने पर एकाएक तुम वैशाली आये। आर्यावर्त का भावी तीर्थंकर, लिच्छवियों का कुल-सूर्य, अपनी प्रजाओं से मिलने आया था उस दिन। मेरी पुकार पर, मुझ से मिलने तुम नहीं आये। ···नहीं, मैंने तुम्हें पुकारा भी नहीं था। जो अनवरत पुकार भीतर मची थी, उसे यों चुप कर दिया था, जैसे दीये की लौ पर तर्जनी रख कर उसे मसल दिया हो। ···पर यह कैसे छुपाऊँ कि वह कुचली हुई लौ, जंगल-जंगल दावाग्नि की तरह फैल गयी थी। एक पागल पुकार के सिवाय, और कोई अस्तित्व ही मेरा नहीं रह गया था।

वैशाली के जन-समुद्र पर आरोहण करते, तुम्हारे 'त्रिभुवन-तिलक' रथ में, तुम्हें सिंह-मुद्रा में आरूढ़ देखा। कितने अपरिचित, कितने सुपरिचित, कितने अपने, कितने पराये, कितने पास, कितने दूर तुम एक साथ लगे! ···रोंया-रोंया रोमांच से रो आया। सारी देह कपूर की तरह प्रज्ज्वलित हो कर गलती ही चली गई। तुम्हारे युगतीर्थ की महाधारा को प्रत्यक्ष सामने से वहते देखा: उसकी एक अज्ञात तरंग हो कर, उसमें चुपचाप विसर्जित हो रही। ···फिर भी रह-रह कर, रथ में तुम्हारे वायें कक्ष में वैठी दिखाई पड़ रही थीं पगली चन्दना!

सोचा था, नहीं जाऊँगी संथागार में। नहीं सुनना मुझे तुम्हारा अभि-भाषण। क्या नया सुनना है उसमें चन्दना को? उसके अणु-अणु में निरन्तर ही तो बोल रहे हो। प्रतिपल तुम्हारी अजस्र सरस्वती की निपट-निरीह श्रोता ही तो हो कर रह गई हूँ। तुम्हें सुनते ही चले जाने की तरस और प्यास का अन्त नहीं रहा।···तो तुम चुप कैसे रह सकते थे। मेरे एकान्त का आकाश तुम्हारे सदेह शब्दों से आकुल होकर मुझे छाये रहता। और एक बार देख लेने पर जो रूप मेरी पुतली बन कर रह गया, उसे अलग से और क्या देखना था। बरौनियों के गवाक्ष-रेलिंग पर खड़ा, वह कौन सदा झाँक रहा है?···पलकों के कपाट मूंदते ही, अन्तर-कक्ष की कमल-सेज पर अकेली तो कभी न रही।···

···फिर भी कुछ ऐसा लगा, कि छाती का एक टुकड़ा काट कर सामने आ खड़ा हुआ है। उसकी ऊष्मा को सहे बिना, और उसकी धमनी को सुने बिना चैन नहीं।···संथागार में तुम बोले। श्रवण और दर्शन से परे, मेरी देह मात्र किसी की आग्नेय वाणी हो कर रह गयी।···अन्तिमेतम् दिया तुमने, कि तुम वैशाली छोड़ कर चले जाओगे: तुम हमारे ऊष्मा भरे रस-रंग भरे, संसार की सीमाओं से निष्क्रान्त हो जाओगे। तुम इन अप्सरा-कूजित रंगमहलों से मुंह मोड़ जाओगे। अनागार हो कर वीरानों में विचरोगे।

तुम्हारे षड्यंत्र और चक्रव्यूह को खूब समझ रही थी। सो उसकी धुरी बन कर प्रस्तुत हो गयी थी।···लेकिन तुम सचमुच ही चले जाओगे, यह तो कल्पना भी न कर सकी थी।···पर, एक दिन अचानक सुनाई पड़ा: 'वर्द्धमान गृह-त्याग कर गये।'···एक ठोकर सीधी आ कर मेरी छाती पर लगी थी। मानो वह चुनौती वैशाली और लोक के प्रति न हो कर, सीधी मेरे ललाट के तिलक पर आ कर टकराई थी। बेशक···क्यों अनिवार्य हो कि मुझे पूछ कर जाओ तुम? मैं होती ही कौन हूँ? अनन्तों का सम्राट् किसी की अनुमति लेकर नहीं चलता!

संथागार से महालय लौटने को मन मुकर गया। वैशाली के सूर्य ने जिन महलों के ऐश्वर्य में आग लगा दी, उनमें लौट कर क्या करूँगी। और फिर यह भी जानती थी, कि तुम घर आओगे, सब आत्मीय परिजनों से मिलने। तब सामने न आऊँ, यह कैसे हो सकता है।···मेरे बुलाये तो तुम आये नहीं, फिर सामने आने की विवशता मेरी क्यों रहे?···नहीं, मुझे नहीं मिलना है तुमसे। मेरी गरज की पुकार जब होगी तब देखा जायेगा। तुम्हारे भीतर तो ऐसी कोई पुकार नहीं, कि तुम्हें केवल मेरे पास आना पड़े, या मैं तुम्हारे पास आने को फिर विवश हो जाऊँ। तुम्हें मुझ से कुछ पूछना नहीं है, कहना-सुनना नहीं है, तो मुझे भी तुम से क्या पूछना

का अचूक उत्तर! ···बहुत तर्क और कसौटी करके भी, अपने से अन्य, भिन्न, प्रतिकूल तुम्हें अणु मात्र भी कहीं से न देख सकी, ना पा सकी।

चलती बैर पूछे बिना न रह सकी थी: 'फिर कब मिलोगे?' उत्तर में तुम समर्पित हो कर स्वामी हो उठे थे: 'जब चाहोगी! ···जब पुकारोगी, आऊँगा।' ···एकदम निष्ठुर हो कर लौटी थी: नहीं ···नहीं चाहूँगी, कभी नहीं पुकारूँगी। मौत सामने आ खड़ी हो, तब भी नहीं। ···आज इस क्षण जहाँ हूँ, वहाँ से भी नहीं। यमराज को पुकार सकती हूँ यहाँ से, पर तुम्हें नहीं ···तुम्हें हर्गिज़ नहीं। मेरे पैरों की यह बेड़ी और इस तल घर का यह अँधेरा, मुझे तुम से अधिक प्रिय है। क्योंकि यह मेरा अर्जन है, यह मेरा स्वयंवरण है। तुम कौन होते हो मेरे? तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं: तो मुझे भी तुम्हारी आवश्यकता नहीं। मिलन की चाह और पुकार मेरी ही हो, तुम्हारी नहीं? यही तो कहा था, तुमने उस दिन विदा के क्षण में। ···नहीं, तुम्हारी कृपा की मुझे ज़रूरत नहीं है। ···नहीं, तुम्हारी चाहत की भिखारिणी नहीं हो सकूँगी। तुम्हारी वीतरागता तुम्हें धन्य और मुबारक़ रहे। आँसू, दूध, खून, व्यथा से भींगी धरती हूँ मैं: अनुरागिनी धरित्री, तुम्हारी जनेत्री। जिसकी कोख से तुम जन्मे, जिसकी गोद से तुम उठे, जिसकी छाती खूँद कर तुम वीतरागता के शिखर पर आरूढ़ हुए हो। ···तुम अपने में रहो। मुझे अपने में रहने दो। नहीं, मुझे तुम्हारी क़तई ज़रूरत नहीं है। ···

···ठीक लग्न-मुहूर्त आने पर एकाएक तुम वैशाली आये। आर्यावर्त का भावी तीर्थंकर, लिच्छवियों का कुल-सूर्य, अपनी प्रजाओं से मिलने आया था उस दिन। मेरी पुकार पर, मुझ से मिलने तुम नहीं आये। ···नहीं, मैंने तुम्हें पुकारा भी नहीं था। जो अनवरत पुकार भीतर मची थी, उसे यों चुप कर दिया था, जैसे दीये की लौ पर तर्जनी रख कर उसे मसल दिया हो। ···पर यह कैसे छुपाऊँ कि वह कुचली हुई लौ, जंगल-जंगल दावाग्नि की तरह फैल गयी थी। एक पागल पुकार के सिवाय, और कोई अस्तित्व ही मेरा नहीं रह गया था।

वैशाली के जन-समुद्र पर आरोहण करते, तुम्हारे 'त्रिभुवन-तिलक' रथ में, तुम्हें सिंह-मुद्रा में आरूढ़ देखा। कितने अपरिचित, कितने सुपरिचित, कितने अपने, कितने पराये, कितने पास, कितने दूर तुम एक साथ लगे! ···रोंया-रोंया रोमांच से रो आया। सारी देह कपूर की तरह प्रज्ज्वलित हो कर गलती ही चली गई। तुम्हारे युगतीर्थ की महाधारा को प्रत्यक्ष सामने से बहते देखा: उसकी एक अज्ञात तरंग हो कर, उसमें चुपचाप विसर्जित हो रही। ···फिर भी रह-रह कर, रथ में तुम्हारे बायें कक्ष में बैठी दिखाई पड़ रही थी पगली चन्दना!

सोचा था, नहीं जाऊँगी संथागार में। नहीं सुनना मुझे तुम्हारा अभिभाषण। क्या नया सुनना है उसमें चन्दना को? उसके अणु-अणु में निरन्तर ही तो वोल रहे हो। प्रतिपल तुम्हारी अजस्र सरस्वती की निपट-निरीह श्रोता ही तो हो कर रह गई हूँ। तुम्हें सुनते ही चले जाने की तरस और प्यास का अन्त नहीं रहा।···तो तुम चुप कैसे रह सकते थे। मेरे एकान्त का आकाश तुम्हारे सदेह शब्दों से आकुल होकर मुझे छाये रहता। और एक वार देख लेने पर जो रूप मेरी पुतली वन कर रह गया, उसे अलग से और क्या देखना था। वरौनियों के गवाक्ष-रेलिंग पर खड़ा, वह कौन सदा झाँक रहा है?···पलकों के कपाट मूँदते ही, अन्तर-कक्ष की कमल-सेज पर अकेली तो कभी न रही।···

···फिर भी कुछ ऐसा लगा, कि छाती का एक टुकड़ा कट कर सामने आ खड़ा हुआ है। उसकी ऊष्मा को सहे विना, और उसकी धमनी को सुने विना चैन नहीं।···संथागार में तुम वोले। श्रवण और दर्शन से परे, मेरी देह मात्र किसी की आग्नेय वाणी हो कर रह गयी।···अन्तिमेतम् दिया तुमने, कि तुम वैशाली छोड़ कर चले जाओगे: तुम हमारे ऊष्मा भरे रस-रंग भरे, संसार की सीमाओं से निष्क्रान्त हो जाओगे। तुम इन अप्सरा-कूजित रंगमहलों से मुँह मोड़ जाओगे। अनागार हो कर वीरानों में विचरोगे।

तुम्हारे षड्यंत्र और चक्रव्यूह को खूब समझ रही थी। सो उसकी धुरी वन कर प्रस्तुत हो गयी थी।···लेकिन तुम सचमुच ही चले जाओगे, यह तो कल्पना भी न कर सकी थी।···पर, एक दिन अचानक सुनाई पड़ा: 'वर्द्धमान गृह-त्याग कर गये।'···एक ठोकर सीधी आ कर मेरी छाती पर लगी थी। मानो वह चुनौती वैशाली और लोक के प्रति न हो कर, सीधी मेरे ललाट के तिलक पर आ कर टकराई थी। वेशक···क्यों अनिवार्य हो कि मुझे पूछ कर जाओ तुम? मैं होती ही कौन हूँ? अनन्तों का सम्राट् किसी की अनुमति लेकर नहीं चलता!

संथागार से महालय लौटने को मन मुकर गया। वैशाली के सूर्य ने जिन महलों के ऐश्वर्य में आग लगा दी, उनमें लौट कर क्या करूँगी। और फिर यह भी जानती थी, कि तुम घर आओगे, सव आत्मीय परिजनों से मिलने। तव सामने न आऊँ, यह कैसे हो सकता है।···मेरे वुलाये तो तुम आये नहीं, फिर सामने आने की विवशता मेरी क्यों रहे?···नहीं, मुझ नहीं मिलना है तुमसे। मेरी ग़रज़ की पुकार जव होगी तव देखा जायेगा। तुम्हारे भीतर तो ऐसी कोई पुकार नहीं, कि तुम्हें केवल मेरे पास आना पड़े, या मैं तुम्हारे पास आने को फिर विवश हो जाऊँ। तुम्हें मुझ से कुछ पूछना नहीं है, कहना-सुनना नहीं है, तो मुझे भी तुम से क्या पूछना

है? तुम अपनी मर्ज़ी के मालिक हो। और मैं हूँ केवल तुम्हारी मर्ज़ी। फिर देखने-सुनने, मिलने-मिलाने की बात ही कहाँ उठती है?

महालय को न लौट कर, सीधी आयुधशाला को चली गई थी। अश्वपाल को आदेश दिया था, कि मेरा घोड़ा सज्ज करके प्रस्तुत करे। फिर शस्त्रागार में जा कर योद्धा का वेश धारण किया था। ठोकरें मार-मार कर, दीवारों और आलयों में टँगे, वैशाली के आदि पुरातन महामूल्य शस्त्रास्त्रों का ढेर लगा दिया था। अनन्तर कवच और शिरस्त्राण पर, मनमाने कई शस्त्रास्त्र धारण कर लिये थे। और फिर मुक्त केशों को हवा में लहराती, उन्मादिनी की तरह वैशाली के राजमार्गों पर अपना घोड़ा फेंकती चली गई थी। हाथ में सनसनाती नंगी तलवार को सामने के अन्तरिक्ष में फेंक कर, अपने घोड़े को उछाल कर, उसकी टापों से उसे निर्दलित करती निकल गयी थी। एक-एक कर अपने ऊपर धारण किये सारे शस्त्रास्त्रों को राह पर लुटाती चली गयी थी।

मेरी नसों में तुम्हारे शब्दों की मांत्रिक् विजलियाँ लहरा रही थीं। सो शस्त्र मात्र की शक्ति को निरस्त कर देने के उद्वेलन से मैं पागल हो गयी थी।···और देखना चाहती थी तुम्हारी उस अस्मिता और प्रभुता को, जो उस सवेरे वैशाली के जन-जन और आकाश-वातास पर छा गयी थी। केशरिया धारण किये, लिच्छवि युवा-युवतियों के दल के दल, नगर के हर राजमार्ग, हट्ट, पण्य, अन्तरायण, और वीथियों में तुम्हारा प्रशस्तिगान करते, नाचते-कूदते दिखाई पड़ रहे थे। मेरे फेंके शस्त्रास्त्रों को उद्दाम उल्लास के साथ अपने पदाघातों से कुचलते हुए, वे तुम्हारी जयकारों से आकाश थर्राने लगते थे।

···फिर वैशाली के सिंहतोरण पर पहुँचते-पहुँचते मैंने कवच और शिरस्त्राण भी उतार फेंके थे। मेरा केशरिया उत्तरीय भी, थरथराते कुलाचलों जैसे मेरे कन्धों पर ठहर नहीं सका था। उन्मुक्त केशावलियों को भेद कर उछलती सुनग्ना छाती को दिशाओं पर फेंकती हुई, मैं सिंहतोरण के पार हो गई थी। तुम्हारे जय-निनादों से आक्रांत उस आकाश और पृथ्वी में क्या असम्भव था? तमाम जड़ीभूत मर्यादाएँ ध्वस्त हो कर, उस अन्तरिक्ष-मंडल में धूल के वगूलों और घास-फूस की तरह उड़ रही थी। उड्डीयमान प्रभंजन जैसे अपने घोड़े की पीठ पर, कितने भूवलयों और द्युवलयों को पार करती चली गई, पता ही न चल सका।···अगले दिन सवेरे ही लौटना हो सका था।

···सामने पड़ते ही माँ मुझे भुजाओं में भींच कर रो पड़ी थीं। इस अनहोनी वेटी से क़ैफियत माँगने का साहस तो वे कभी कर नहीं सकी

थी, सो आज भी पूछ न सकी कि कहाँ चली गयी थी मैं? पर बड़ी ललक और सिसकियों के साथ बताया था उन्होंने कि तुम आये थे और मुझ को पूछ रहे थे। ... उन्हें तुम्हें कोई अचम्भा या शिकायत नहीं थी, कि मैं क्यों नहीं हूँ यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा में! उलटे समर्थन और साक्षी दी थी तुमने माँ के समक्ष, कि मैं जैसी हूँ और जो करती हूँ वह सब अचूक और ठीक है. चन्दनबाला गलत हो नहीं सकती!

... भाग कर, अपने कक्ष में चली गई थी। द्वार बन्द कर, धड़ाम से फ़र्श पर जा गिरी थी। फूट-फूट कर रोती ही चली गई थी। धरती मुझ से अलग तो कहीं रह नहीं गई थी, जो फट कर मुझे समा लेती। फटी केवल अपनी ही छाती, और उसमें समा कर जहाँ पहुँची, वहाँ तुम खड़े थे अविचल और एकाकी, मुस्कुराते हुए। ... लोकाकाश का वह तनुवातवलय, जिसके आगे सिद्धात्माओं और परमात्माओं की भी गति नहीं। मैं हार गई। मेरी सारी मतियाँ और गतियाँ खामोश हो गयीं।

• • •

महाप्रस्थान के बाद के इन दस-ग्यारह बरसों में, कई बार तुम वैशाली आये। आकर जब चले जाते थे, तभी हवा में उदन्त सुनायी पड़ता था, महाश्रमण वर्द्धमान यहाँ आ कर चले गये। तुम्हारे बिन चाहे तुम्हें कोई पहचान सके, यह तुमने किसी के हाथ नहीं रक्खा था। अपनी सत्ता का स्वामी जो हो गया था, वह एक ही रूप की इयत्ता का बन्दी हो कर कैसे रह सकता था। जिसे कुछ भी छुपाना नहीं था, वह हमारे चर्म-चक्षुओं के देखने-दिखाने में कैसे सिमट सकता था? ...

... और फिर तुम्हारे लिये मेरी प्रतीक्षा, वैशाली की सरहदों और राजमार्गों पर कैसे अटक सकती थी? क्योंकि मेरी आँखें तो सदा से तुम्हें क्षितिज के मण्डलों पर चलते देखने की अभ्यस्त हो गई थीं। तारों भरी रातों में तुम्हें अक्सर एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक डग भर चलते देखा था। तब मैं स्वयम् भी कहाँ इस शरीर की सीमा में रह पाती थी? ...

फिर यह भी तो मुझ से छुपा नहीं था, कि अपने काल और लोक की विकृतियों के विरुद्ध, एक अप्रतिरुद्ध षड्यंत्री की तरह तुम उठे थे। तुम निरे पृथ्वी-पट के परिव्राजक नहीं, समस्त विश्वप्राण के परिव्राट् हो कर विचर रहे थे। तुम वैशाली के राजमार्गों पर नहीं आते थे, अपने सर के बल उसकी कोख के तलातल में धँसते चले जाते थे। तब अपनी कुँवारी कोख में जो फटान की असह्य मधुर पीर अनुभव होती थी, उसी से जान जाती थी कि तुम आये हो। ... तब तन-बदन की सारी सुध-बुध ही चली जाती थी। मूर्छा के उस माधुर्य में कब कहाँ होती थी और क्या करती थी, पता ही नहीं चलता था।

फिर यह भी था, कि तुम्हारे जाने के बाद उन ऐश्वर्य-महलों की छतें; दीवारें और सुख-शैयाएँ ही मुझे वैरन हो गयीं थीं। कहाँ रहती थी, और क्या करती थी, पूछ कर क्या करोगे? और वह जानने का होश ही कहाँ रह गया था। बलात् जो पहले ही मिलन में, मेरी सारी गति-विधियों का स्वामी हो गया था, उससे अलग मेरी और क्या गति-विधि हो सकती थी? · · ·

◆ ◆ ◆

· · · बरबस ही आज बालापन की याद आ रही है। देख रही हूँ, सोलह बरस की चन्दन को। अपने ही मृणाल से उच्छिन्न हो कर, दिशाओं के छोरों पर खेलने चली गयी वह कमलिनी। अपनी ही पँखुरियों के आलिंगन में न समा सकने वाली वह चंचल लड़की। याद आता है, वैशालीपति की सबसे सुन्दर, छोटी और लाड़िली बेटी होने से, सारे आर्यावर्त के आत्मीय राजकुलों का मुझ पर बेहद प्यार था। मुझे लिवा ले जाने को, प्रायः ही मेरी सब दीदियों, मौसियों, बुआओं के राज्यों के रथ आते थे। कई-कई दिन वे महालय के राजद्वारों पर मेरे लिए प्रतीक्षमान रहते थे। माँ-पिता, भाई, परिजन सब समझा कर थक जाते थे। पर अपने एकान्त कक्ष से हिलने का नाम तक नहीं लेती थी।

फिर, कक्ष में ही कहाँ टिक पाती थी। कभी रथ ले कर, और कभी घोड़े की पीठ पर चढ़ कर जाने कहाँ-कहाँ उड़ी फिरती थी। विपुलाचल, वैभार और गृद्धकूट के शिखरों पर खड़ी हो कर, राजगृही के रत्न-कुट्टिम प्रासाद-वातायनों को एकटक निहारा करती थी। कल्पना करती थी, चेलना दीदी इन्हीं महालयों के जाने किस अन्तर-कक्ष में, जाने क्या कर रही होंगी, जाने किस सोच में डूबी होंगी। खड़े जानू पर चिबुक टिकाये; उदासी में डूबी उनकी मुख-मुद्रा की छाप ही मेरे मन पर सबसे गहरी अंकित थी। उनके कौमार्य के एकान्तों में उन्हें प्रायः इसी भंगिमा में देखा था। उस समय उनके पास जाने की हिम्मत नहीं होती थी। कभी जी न माना, तो जा कर पीछे से गलबाँही डाल कर, उनकी पीठ पर झूल जाती थी। तब मुझे खींच कर वे गोद में ले लेती थीं, और छाती से चाँप कर कितना प्यार करती थीं। मेरे बालों को सहलाती हुई, मुझे चुम्बनों से ढाँक देती थीं। उनकी भीनी आँखों में बँधे समन्दरों के लौटते ज्वारों को मैं देख लेती थी। उनकी आँखों में आँखें डाल कर पूछ लेती थी:

'दीदी, ऐसे उदास क्यों हो जाती हो? सच बताना, मेरी शपथ है!'

रुआँसी हँसी के साथ वे खिलखिलाकर कहती थीं:

'पागल कहीं की, मैं क्यों उदास होने लगी? देखती तो है, कितनी हँसी आ रही है मुझे!'

और उनके मुख से हँसियों के फव्वारे फूट पड़ते थे।

सच ही तो कहती थीं दीदी, उन जैसी हँसोड़ और विनोदी प्रकृति तो हमारे घर में किसी की नहीं थी। कारण-अकारण दुरन्त, अल्हड़ बालिका की तरह वे शरारत, विनोद और हँसियों में कल्लोल करती रहती थीं। उनकी उन कौतुक-क्रीड़ाओं से सभी तंग आ जाते थे।... पर उनकी अकारण उदासी के एकान्तों का रहस्य मेरे सिवाय कोई नहीं जानता था। इसी से अपने सब परिजनों और दीदियों में, केवल उन्हें ही मैंने अपने अन्तरंग के निकटतम पाया था। इसी कारण जिस दिन अभय राजकुमार उनका हरण कर ले गया था, उस दिन मैं अपने कक्ष को बन्द करके, कितनी रोई थी, कोई नहीं जान सका था। लगता था, वही तो मेरी अकथ अतर्वेदना की एकमात्र संगिनी थीं। अद्भुत साम्य था, हम दोनों की अन्तःप्रकृति में। फ़र्क़ इतना ही कर सकती हूँ, कि वे प्रकट में सबके बीच रस-बस कर चुलबुलापन करती रहती थीं, जबकि मैं अपने एकान्तों से ही बाहर नहीं आ पाती थी। हमारे बीच इतना आन्तरिक एकत्व होने पर भी, यह कभी सम्भव न हो सका, कि हम अपने हिये की पीड़ा को होठों पर लायें। जिस पीड़ा का कोई प्रकट कारण ही न हो, उसके विषय में क्या बात हो सकती थी। अपनी-अपनी गहराइयों में डूबते-उतराते, उस अबूझता को चुपचाप सहना ही तो होता था।...

...उस दिन जो अभय राजकुमार उन्हें हर ले गये, उसके बाद वे फिर कभी प्रकटतः अपने पीहर न लौट सकीं। साम्राज्य-लोलुप मगधपति ने चेलना को अंकस्थ करके, मानो वैशाली को अपने पैरों तले रौंदने की आत्म-तुष्टि महसूस की थी। उनकी साम्राज्य-स्थापना की राह में, अजेय वैशाली ही तो सबसे बड़ा रोड़ा थी। उस वैशाली की सूर्यांशी बेटी को अपनी शैयाङ्गना के रूप में पा कर उनका अहंकार असीम हो उठा था। जब मगध और वैशाली का संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था, और विदेहों की मुक्तिवाहिनी भूमि को बलात्कारी मागध अपनी फौलादी पदचापों से थर्रा रहे थे, तब बरसों बाद विवश हो कर, पतिदेव की आज्ञा का उल्लंघन कर, गुप्त रूप से दीदी वैशाली आयीं थीं। उसमें भी केवल वैशाली की रक्षा का स्वार्थी भाव ही नहीं था, शायद मगधनाथ की कल्याण-कामना ही सर्वोपरि रही हो।

तभी वे सहायता की प्रार्थिनी हो कर, तुम्हारे पास भी आयीं थीं, मान! पर तुम तो किसी के सगे नहीं थे, अपने तक नहीं। तुमने चेलना मौसी को चोट देने में कोई कसर नहीं रक्खी थी। पर विचित्र हुआ था, कि वे तुम्हारे निकट अपना हृदय हार आयीं थीं। उनके होठों पर एक ही बात थी:

फिर यह भी था, कि तुम्हारे जाने के वाद उन ऐश्वर्य-महलों की छतें; दीवारें और सुख-शैयाएँ ही मुझे वैरन हो गयीं थीं। कहाँ रहती थी, और क्या करती थी, पूछ कर क्या करोगे? और वह जानने का होश ही कहाँ रह गया था। बलात् जो पहले ही मिलन में, मेरी सारी गति-विधियों का स्वामी हो गया था, उससे अलग मेरी और क्या गति-विधि हो सकती थी? ...

◆ ◆ ◆

...वरवस ही आज वालापन की याद आ रही है। देख रही हूँ, सोलह वरस की चन्दन को। अपने ही मृणाल से उच्छिन्न हो कर, दिशाओं के छोरों पर खेलने चली गयी वह कमलिनी। अपनी ही पँखुरियों के आलिंगन में न समा सकने वाली वह चंचल लड़की। याद आता है, वैशालीपति की सवसे सुन्दर, छोटी और लाड़िली वेटी होने से, सारे आर्यावर्त के आत्मीय राजकुलों का मुझ पर वेहद प्यार था। मुझे लिवा ले जाने को, प्रायः ही मेरी सव दीदियों, मौसियों, वुआओं के राज्यों के रथ आते थे। कई-कई दिन वे महालय के राजद्वारों पर मेरे लिए प्रतीक्षमान रहते थे। माँ-पिता, भाई, परिजन सव समझा कर थक जाते थे। पर अपने एकान्त कक्ष से हिलने का नाम तक नहीं लेती थी।

फिर, कक्ष में ही कहाँ टिक पाती थी। कभी रथ ले कर, और कभी घोड़े की पीठ पर चढ़ कर जाने कहाँ-कहाँ उड़ी फिरती थी। विपुलाचल, वैभार और गृद्धकूट के शिखरों पर खड़ी हो कर, राजगृही के रत्न-कुट्टिम प्रासाद-वातायनों को एकटक निहारा करती थी। कल्पना करती थी, चेलना दीदी इन्हीं महालयों के जाने किस अन्तर-कक्ष में, जाने क्या कर रही होंगी, जाने किस सोच में डूवी होंगी। खड़े जानू पर चिवुक टिकाये; उदासी में डूवी उनकी मुख-मुद्रा की छाप ही मेरे मन पर सवसे गहरी अंकित थी। उनके कौमार्य के एकान्तों में उन्हें प्रायः इसी भंगिमा में देखा था। उस समय उनके पास जाने की हिम्मत नहीं होती थी। कभी जी न माना, तो जा कर पीछे से गलवाँही डाल कर, उनकी पीठ पर झूल जाती थी। तव मुझे खींच कर वे गोद में ले लेती थीं, और छाती से चाँप कर कितना प्यार करती थीं। मेरे वालों को सहलाती हुई, मुझे चुम्वनों से ढाँक देती थीं। उनकी भीनी आँखों में वँधे समन्दरों के लौटते ज्वारों को मैं देख लेती थी। उनकी आँखों में आँखें डाल कर पूछ लेती थी:

'दीदी, ऐसे उदास क्यों हो जाती हो? सच वताना, मेरी शपथ है!'

रुआँसी हँसी के साथ वे खिलखिलाकर कहती थीं:

'पागल कहीं की, मैं क्यों उदास होने लगी? देखती तो है, कितनी हँसी आ रही है मुझे!'

और उनके मुख से हँसियों के फव्वारे फूट पड़ते थे।

सच ही तो कहती थीं दीदी, उन जैसी हँसोड़ और विनोदी प्रकृति तो हमारे घर में किसी की नहीं थी। कारण-अकारण दुरन्त, अल्हड़ बालिका की तरह वे शरारत, विनोद और हँसियों में कल्लोल करती रहती थीं। उनकी इन कौतुक-क्रीड़ाओं से सभी तंग आ जाते थे।...पर उनकी अकारण उदासी के एकान्तों का रहस्य मेरे सिवाय कोई नहीं जानता था। इसी से अपने सब परिजनों और दीदियों में, केवल उन्हें ही मैंने अपने अन्तरंग के निकटतम पाया था। इसी कारण जिस दिन अभय राजकुमार उनका हरण कर ले गया था, उस दिन मैं अपने कक्ष को बन्द करके, कितनी रोई थी, कोई नहीं जान सका था। लगता था, वही तो मेरी अकथ अतर्न्वेदना की एकमात्र संगिनी थीं। अद्भुत साम्य था, हम दोनों की अन्त:प्रकृति में। फ़रक़ इतना ही कर सकती हूँ, कि वे प्रकट में सबके बीच रस-बस कर चुलबुलापन करती रहती थीं, जबकि मैं अपने एकान्तों से ही बाहर नहीं आ पाती थी। हमारे बीच इतना आन्तरिक एकत्व होने पर भी, यह कभी सम्भव न हो सका, कि हम अपने हिये की पीड़ा को होठों पर लायें। जिस पीड़ा का कोई प्रकट कारण ही न हो, उसके विषय में क्या बात हो सकती थी। अपनी-अपनी गहराइयों में डूबते-उतराते, उस अबूझता को चुपचाप सहना ही तो होता था।...

...उस दिन जो अभय राजकुमार उन्हें हर ले गये, उसके बाद वे फिर कभी प्रकटत: अपने पीहर न लौट सकीं। साम्राज्य-लोलुप मगधपति ने चेलना को अंकस्थ करके, मानो वैशाली को अपने पैरों तले रौंदने की आत्म-तुष्टि महसूस की थी। उनकी साम्राज्य-स्थापना की राह में, अजेय वैशाली ही तो सबसे बड़ा रोड़ा थी। उस वैशाली की सूर्यांशी बेटी को अपनी शैयाङ्गना के रूप में पा कर उनका अहंकार असीम हो उठा था। जब मगध और वैशाली का संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था, और विदेहों की मुक्तिवाहिनी भूमि को बलात्कारी मागध अपनी फौलादी पदचापों से थर्रा रहे थे, तब बरसों बाद विवश हो कर, पतिदेव की आज्ञा का उल्लंघन कर, गुप्त रूप से दीदी वैशाली आयीं थीं। उसमें भी केवल वैशाली की रक्षा का स्वार्थी भाव ही नहीं था, शायद मगधनाथ की कल्याण-कामना ही सर्वोपरि रही हो।

तभी वे सहायता की प्रार्थिनी हो कर, तुम्हारे पास भी आयीं थीं, मान! पर तुम तो किसी के सगे नहीं थे, अपने तक नहीं। तुमने चेलना मौसी को चोंट देने में कोई कसर नहीं रक्खी थी। पर विचित्र हुआ था, कि वे तुम्हारे निकट अपना हृदय हार आयीं थीं। उनके होठों पर एक ही बात थी:

'वर्द्धमान है, तो फिर चिन्ता किस बात की? वैशाली और मगध की तो बात क्या, सारा जम्बूद्वीप इसकी तर्जनी के इशारों पर टँगा हुआ है!'

...सो तो स्वयम् ही अपनी आँखों देख आयी थी। तुम्हें देख लेने के बाद, कोई सोच शक्य ही नहीं रह गया था।

दीदी के चले जाने के बाद अन्तिम रूप से एकाकिनी हो गयी थी। तब अपने एकाकीपन को आँखों के सामने सदेह खड़ा देखती थी। लेकिन विचित्र लगता था, कि वह तुम्हीं तो हो। मानो कि, उतनी अकेली हुए बिना, तुम्हें संगी के रूप में नहीं पाया जा सकता!...

□

अन्तर-द्वीप की एकाकिनी राजकन्या

तब अपने पीछे छूटी किशोरी की याद बड़ी मधुर कसक के साथ आती थी। स्मृति जागने पर, पहलेपहल जब अपने मन से परिचय हुआ, तभी जान गयी थी, कि सबसे अलग और अनोखा मन पाया है मैंने। सबसे बिरानी होती-सी ही मैं बड़ी हो रही थी। मानो कि सबसे हट कर, और अलग ही जन्मी हूँ। बचपन में माँ की गोद में, निर्जन द्वीप में निर्वासित जिस एकाकिनी राज-कन्या की कहानी सुन कर मैं रो पड़ती थी, होश में आने पर पाया कि वही तो मैं हूँ। उसे खोज कर, उसको अपनी छाती से लगा आश्वस्त करने की जो व्याकुल पीड़ा मेरे बाल्य हृदय में टीसती थी, सो कुछ बड़े हो कर, उस तक पहुँच कर ही चैन मिला। यानी वही मैं स्वयम् हो रही।

उस निःसंग मन-प्राण को ले कर, फिर बाहर के लोक में कोई सखी-सहेली पाना मेरे वश का न रहा। हमारे गण-राज-कुलों की कई समवयस्का कन्याएँ मुझे आकर घेर लेतीं थीं। अपने महलों, उद्यानों और वन-क्रीड़ाओं में वे मुझे बरबस खींच ले जातीं थीं। पर उनके बीच मैं अपने को बहुत ही अजनबी पाती थी। मेरा तो बोल ही नहीं खुलता था। उनके खेलों और क्रीड़ा-कल्लोलों में मेरा जी रंच भी नहीं जुड़ पाता था। वे खींच-खींच कर मुझे अपने बीच लेती थीं, पर मैं गिलहरी की तरह छटक कर डाल-डाल, पात-पात, फुदकती फिरती थी। ऐसा लगता था, कोई बनैली हिरनी किसी सुन्दर उपवन में क़ैद कर दी गयी हो। उनके बीच महर्द्धिक वेश-भूषा और अलंकारों की होड़ लगी रहती थी। उनके अपने-अपने अनोखे प्रसाधन, केशराग और इत्र-फुलैल होते थे। एक से एक बढ़ कर द्वीप-समुद्रों के रत्नों और मुक्ताफलों की उनकी अपनी-अपनी रोमांचक कथाएँ थीं। सुख-वैभव की प्रतिस्पर्द्धाओं के इस जटिल जाल में मेरा दम घुटता था। सो तंग आ कर मैं अपने ही एकान्तों में छुपी फिरती थी।

मेरे वातायन पर से, दूर दिगन्त में कोई एकाकी वृक्ष दिखायी पड़ता था। उसकी फुनगी पर ठहरी सन्ध्या की अन्तिम किरण को विलीयमान होते एकटक देखती रहती। उसके लुप्त होते ही, मैं बहुत उदास हो जाती थी।

उस फुनगी पर उड़ रहे, पक्षी के पंख पकड़ कर, मैं उस पार जाने कहाँ उतर गयी उस पीली किरण-बाला की खोज में जाने को अकुला उठती थी।

वसन्त ऋतु की निस्तब्ध दुपहरियों में, और संध्याओं में, अज्ञात आम्र-डाली में कुहुकती कोयल की टेर मेरे प्राण को जाने किन वनान्तों में उड़ा ले जाती थी। लगता था, जाने कौन अन्तहीन पुकार के साथ मुझे ही टेरता चला आ रहा है।···मंजरियाँ अंबियाँ हो जाती थीं, अंबियाँ आम हो कर खा ली जाती थीं। और कोयल की टेर न जाने किस तट में डूब जाती थी। मेरा जी चाहता कि मँजरियाँ कभी न अंबियाएँ, वे आम हो कर कभी न खायी जाएं। बस अपने ही रक्त की-सी उनकी खट-मीठी गन्ध सदा वातास में बहती रहे और कोयल सदा बोलती रहे। कोई मुझे सदा टेरता ही रहे।···पर आम खाने वाले, मेरा शाश्वत वसन्त मुझ से छीन कर मुझे बहुत हताहत कर देते थे। उन पर मेरे रोष का अन्त नहीं था। स्वयम् ही अपनी मंजरी बन कर, स्वयम् ही उसकी गन्ध हो कर, अपने प्राण की कोयल का उन्मन् गान उसमें सुनती रहती। खाने-पीने वाले जगत के लोगों से मेरा मन दूर ही दूर भागा फिरता । मानों उनसे मेरा कोई नाता ही न हो।

ग्रीष्म में पके और पियराते आमों की गन्ध से आकुल, श्यामल अमराइयाँ मुझे पुकारती थीं। मैं उनके तले खेलने चली जाती थी। जाने कौन एक श्यामल-नील मोहन तनों की ओट मुझसे आँख-मिचौनी खेलता था। उसके पीताम्बर की कोर मात्र आँख में झलक जाती थी। और एक मुस्कान अपने चारों ओर भाँवरें देती-सी लगती थी।···दूर कहीं जंगल में अमलतास की झीमती फूल-डालों में मेरी पलकें तन्द्रालस हो कर स्वप्नलीन हो रहतीं। पास ही कृष्ण-चूड़ा की केसरिया फूलों से लदी वनाली में किसने मेरा चीर-हरण कर लिया है? सारा जंगल एक टक मेरी ओर देख रहा है ।···

···लाज से मर रहती थी। अपने ही भीतर की सरसी में डुबकी लगा कर छुप रहने के सिवाय और चारा ही क्या था? पर जलों की उस गोपन गहराई में भी, एक लचीले शरीर का जो गहन मार्दव चारों ओर से मुझे आवरित कर लेता था, उससे बचत कहाँ थी।···

पांशुल दुपहरियों में, उड़ते पत्तों के धूसर प्रान्तरों में भटक जाती थी। दूर-दूर तक छितरी किंशुक-झाड़ियों में झरते पलाश-फूल मेरे सीमन्त में सिन्दूर भर देते थे।···

···कोयल की डाक दूर-दूर तक सुनाई पड़ती है। हाय, किस तट से वह आयी थी, और कहाँ लौट रही है, उसका पता किससे पूछूं? बिछुड़न की इस पीर का साथी, इस जगत में कहाँ मिलेगा?

आषाढ़ के पहले ही दिन वनान्त में नील-मेदुर मेघ उमड़ आये हैं। बादलों की नीरव प्रशान्त में छाया में मयूर पँख खोल कर नाच उठे हैं। उनके केकारव से सारी अरण्यानी पागल हो उठी है। नदी पार के अंजन-छाया छाये नील प्रान्तर में किसकी डाक सुनायी पड़ती है? लौट कर जाने को कोई महल-वातायन अब पीछे नहीं छूटा है। बादलों के इन गन्ध-मादन हस्ति-कानन में जिसकी मातंग-मोहिनी वीणा बज रही है, उसका पता पाये बिना प्राण को विराम नहीं है।...

सिन्धुवार और सप्तपर्ण की वनालियों में कृष्णसार और कस्तूरी-मृग मन्त्र-मोहित से खड़े दिखायी पड़ रहे हैं। इनकी नाभि की कस्तूरी ने मेरी साँसों को छा लिया है।...बेतहाशा रथ दौड़ाती हुई वाग्मती के तीर पर आ पहुँची हूँ। कहाँ से आयी है यह उज्ज्वल वसना नदी, और कहाँ जा रही है? क्या इसका कोई घर कहीं नहीं है? इसकी नीलमी जलिमाओं में झिलमिलाती मछलियाँ मेरी आँखें हो कर रह गयी हैं। फिर भी इनके जलों के उद्गम मेरी दृष्टि की पकड़ में नहीं आ रहे हैं!...

...क्यों है यह जगत्? कहाँ है इसका उद्गम, कहाँ है इसका अन्त? कौन जान सका है आज तक? अनेक ज्ञानियों ने, अनेक तरह से इस जगत को कहा है। उनके कथनों में अन्तर है। यदि वे सब सत्य-ज्ञानी थे, तो सभी के कथनों में एकता क्यों नहीं है? जान पड़ता है, विश्व-तत्व को कहा नहीं जा सकता, केवल अनुभव में साक्षात् किया जा सकता है। लगता है कि अनन्त और अनेकान्त है यह सब, जो दिखाई पड़ता है। और अनन्त सब एक साथ दिखाई कैसे पड़ सकता है? तो फिर कहा भी कैसे जा सकता है? काल में इसके परिणमन का अन्त नहीं।...

काल से परे खड़े हुए बिना, काल में चल रही इस जगत की तमाम तरंग-लीला को एक साथ उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आँख एक बात कहती है, स्पर्श में कोई और ही बोध होता है, गन्ध और ध्वनि में कुछ दूसरा ही प्रतिभासित होता है। क्या कुछ ऐसा नहीं जिसमें सब इन्द्रियाँ और इनका राजा मन एक हो जायें, और एक ही अनुभूति पा कर, एक ही बात कहें? क्या कुछ ऐसा नहीं, जिसमें घटन और विघटन एक बिन्दु पर मिल जायें? क्या कुछ ऐसा नहीं, जो उत्पत्ति और विनाश के इस खेल में शरीक हो कर भी, सदा एक वही और अक्षुण्ण बना रहे, और उससे अप्रभावित रह कर उसका सम्पूर्ण बोध पाता रहे? जो इस खेल को खुल कर खेले, फिर भी इसकी उठान, मिटान और हार-जीत का आखेट न हो, उस सब में एक-सा बना रहे?

...कुछ भी तो यहाँ ठहर नहीं पाता है। जो इस क्षण है, अगले ही क्षण नहीं भी हो सकता है। फिर अपने होने पर कैसे विश्वास करूँ?

और अपने होने पर ही जब भरोसा नहीं किया जा सकता, तो किस सहारे पर जिया जाये, और कौन जिये? शीत ऋतु की हिम-पाले की रातों में अंगीठी के पास माँ की गोद में दुबक कर कहानियाँ सुनने वाली वह बालिका कहाँ गयी? अब माँ की गोद में दुबक कर *आश्वस्त और निश्चिन्त नहीं* हुआ जा सकता। वह सहारा और विश्वास जाने कब का टूट गया। अब वहाँ दुबक कर निश्चिन्त होना भी चाहूँ, तो हो नहीं सकती।

···सब कुछ को खुली आँखों देखने और समझने लग गयी हूँ। अपने ही इस शरीर में होने वाले सारे परिवर्तनों से परिचित हो गयी हूँ। देख रही हूँ, कि परिवर्तन की इस लीला में सभी विवश हैं, निराधार, अनाथ और कातर हैं। अपनी आँखों के सामने, अपने ही परिवेश में, लोगों को क्षय होते, बूढ़ा होते, मर जाते देखा है। हर चीज में क्षण-क्षण क्षय का घुन लगा देख रही हूँ। क्षय, विनाश, रोग, बुढ़ापे और मृत्यु के भीतर ही यह सारा खेल चल रहा है। यहाँ का सारा सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द क्षय और मृत्यु के अधीन है। मृत्यु है, तो फिर जीने का क्या अर्थ रह जाता है? ···

उत्पत्ति और विनाश के दो छोरों के बीच वह रही इस जग-जीवन की धारा में क्या कुछ भी ऐसा नहीं, जो सत् हो, जो नित हो, जो सत्य हो, जो नित्य हो, जिस पर भरोसा किया जा सके, और जिसमें सुरक्षित और निश्चिन्त जिया जा सके? क्या है इस सबका आधारभूत सत्य, क्या है इसका सत्व और प्रयोजन? यदि जगत और जीवन का कोई प्रयोजन और अर्थ नहीं, तो इसमें कैसे जीऊँ? किस लिये जीऊँ? ···सभी कुछ तो यहाँ अर्थहीन, प्रयोजन हीन, अनाथ, अरक्षित दिखायी पड़ता है। हम एक-दूसरे के भीतर सहारा खोजते हैं, लेकिन मजा यह है कि हम सभी बेसहारा हैं। एक-दूसरे को हम ज्ञान सिखाते हैं, लेकिन स्वयम् ही अज्ञानी हैं। जो स्वयम् ही अनाश्वस्त है, उसमें आश्वासन कैसे खोजूँ? जीवन को, जगत को, चीज़ों को पूरी तरह जाने बिना, इन्हें कैसे जीऊँ, कैसे भोगूँ? किस आधार पर इन्हें अपनाऊँ? इस बेसहारगी में जीवन-धारण असह्य हो गया है। इस अनाथत्व और शरणहीनता में साँस तक लेना दूभर लगता है। पूछती हूँ, जगत और जीवन की यह सारी लीला यदि केवल मिथ्या-माया ही है, तो फिर यह है ही क्यों? जो है, वह निरर्थक और निष्प्रयोजन कैसे हो सकता है? वह असत्य और निराधार कैसे हो सकता है?

परिजनों, गुरुजनों और श्रमणों से आत्मा, कैवल्य, मोक्ष और निर्वाण की बात सुनी है। वे यही तो कहते सुनायी पड़ते हैं: 'इस विनाशीक, भंगुर और मायावी जगत के मोहपाश काट कर, मुक्त हो जाओ, नित्य, बुद्ध, सिद्ध हो जाओ। वह हो भी जाऊँ, तब भी यह प्रश्न तो अनुत्तरित ही रह

जाता है, कि 'अभी और यहाँ' जो यह जीवन और जगत की ऊष्मा भरी, आनन्दभरी, मोहक लीला है, वह क्या निरर्थक ही है? अपने आप में इसकी कोई सार्थकता और परिपूर्ति नही? तो फिर क्यों यह अनादि-अनन्त काल में चल रही है? जो है, और मरण, क्षय और विनाश में भी बराबर जारी है, वह मिथ्या, निरर्थक और प्रयोजनहीन कैसे हो सकता है? केवल सिद्धात्मा ही नित्य है, और जगत-जीवन अन्ततः मिथ्या ही है, यह अपने आप में ही एक अन्तर्विरोधी बात है। अजीब है वह सर्वज्ञ, जिसका पूर्ण ज्ञान केवल मिथ्या-माया के खेल को देखने में ही अनन्तकाल लगा हुआ है?

...वय के बढ़ते हुए वर्षों के साथ ये प्रश्न ऐसे तीव्र होते गये, कि सत्ता में रहना ही कठिन हो गया। घर में तो ठीक, धरती और आकाश तक में पैर टिक नहीं पाते थे। निराधार, निरुत्तर के शून्य में कैसे खड़ी रहूँ, कैसे ठहरूँ, कैसे इसे जीऊँ और भोगूँ? सो जंगलों और पहाड़ों की वीरानियों में भटकने लगी। अभेद्य और वर्जित में धँसती चली गई हूँ। दुर्गमों में चढ़ी और उतरी हूँ। भयावह अरण्यों की कँटीली, पथरीली दुर्भेद्यता का भेदन किया है। पर्वतों की चोटियों से मानों सीधी छलांग भर कर, नदियों के दुर्दान्त प्रवाहों पर आ पड़ी हूँ। जहाँ मनुष्य कभी न गया होगा, ऐसी आदिम गुफ़ाओं के मरणान्धकारों में भटकती चली गई हूँ। हिंस्र पशुओं और सरिसृपों की कराल डाढ़ों के भीतर भी यात्रा की है। ...जानना होगा, सब कुछ को अणु-अणु में जानना होगा! जाने बिना, जिया नहीं जा सकता, ठहरा नहीं जा सकता, भोगा नहीं जा सकता। किन्तु जीते जी मृत्यु के भीतर से गुज़र कर भी तो कल नहीं पड़ी, चैन नहीं आया।...

मेरी उस अन्तिम विकलता के छोर पर, जाने क्यों, वर्द्धमान, केवल तुम्हीं खड़े दिखायी पड़ते थे। उसी चरम अनाथत्व और शरणहीनता की प्रतिकारहीन वेदना को ले कर, उस दिन आख़िर तुम्हारे पास दौड़ आयी थी। नन्द्यावर्त में पहुँच कर तुम्हारे कक्ष के उस एकान्त साम्राज्य को भंग करने को विवश हो गयी थी। अन्तहीन प्रश्नों की जलती शूलियाँ मेरी कुँवारी छाती में कसक रही थीं।

...पर यह क्या हुआ कि तुम्हारे सामने आते ही, तीखे प्रश्नों का वह असिधार जंगल, सुरम्य बादलों के खेल-सा बिखर गया। दृष्टि से परे कपूर की डली जाने कहाँ उड़ गयी; साँसों में केवल उसकी शीतल, शामक सुगन्ध भर रह गई। बरसों बाद उस दिन जैसे मेरी साँसें एक अनादिकालीन फाँसी के फन्दे से मुक्त हो गईं। क्या उत्तर मिला, पता नहीं। पर देखा, कि सामने बैठा, यह जो लीला-चंचल लड़का अपने हँसी-विनोद से मेरी

सारी पृच्छाओं को फूंक मार कर उड़ाये दे रहा है, यही अपने आप में काफी है मेरे लिये। यही वह आधार है, आश्वासन है, अन्तिम उत्तर है, जो उत्तर नही देता, व्याख्या नहीं करता, वस, मुझे अनायास जीवन और जगत में निश्चिन्त भाव से वसाये दे रहा है, रम्माण किये दे रहा है।

···यह है तो फिर, यहाँ का कुछ भी क्षण-भंगुर और नाशवान नहीं है। यह है तो क्षय, रोग, शोक, विछोह, जरा-मरण कुछ भी नहीं है। वह सब केवल माया है, भ्रान्ति है। यह है तो जगत के सारे ही सौन्दर्य, प्यार, आनन्द नित्य-सत्य, और अविनाशी हैं। इसके होते निश्चिन्त और सुरक्षित भाव से सत्ता में ठहरा जा सकता है, जीवन-प्रवाह में मछलियों की तरह खुल कर तैरा जा सकता है, खेला जा सकता है। मुक्त पंछियों की तरह स्थिर पंखों से जीवन के इस अनन्त विराट् लीलाकाश में उड़ा और विहरा जा सकता है।···यह है तो प्रश्न और पूछना समाप्त हो जाता है। एक अन्तहीन आश्वासन और अमरता में घनसार की तरह घुलती ही चली गयी थी।···मानों जन्मान्तरों के वाद उसी रात वेखटक, और पूर्ण निश्चिन्त हो कर सो सकी थी।···

लेकिन मानो मेरा वह सुख, तुम से सहा न गया। तुमसे अधिक मेरा ईर्ष्यालु और कौन हो सकता था : और मुझ से अधिक तुमसे ईर्ष्या और किसे हो सकती थी?···यहीं अटक कर, वेखटक हो जाऊँ, यह तुम कैसे सह सकते थे? मानों कि मेरे उस सहारे को तोड़ने के लिये ही तुम वैशाली आये। हज़ार वहानों से तुमने यह घोपित कर दिया, कि तुम इस सुरम्य संसार को त्याग कर चले जाओगे। एक ही झटके में तुमने अपना ही दिया चैन मुझसे छीन लिया। एक ही भ्रू-भंग में मानों, महावीर ने मेरा वह वर्द्धमान मुझसे झपट कर छीन लिया, जिसे एक दिन इतने प्यार से उसने मुझ खेल-खेल में ही दे दिया था। मानों कि कह गये तुम : 'वर्द्धमान-निरपेक्ष होकर जीना होगा तुम्हें, चन्दन!' उल्का के अक्षरों में बीज-मंत्र की तरह तुमने यह वात मेरे चित्त-पटल पर उकेर दी। विपल मात्र में ही तुमने अपने ही दिये धरती और आकाश मुझसे छीन लिये। एक ही ठोकर में तुमने मेरे संसार-पाश को छिन्न-भिन्न कर दिया। 'संसार सारम्' हो कर जो एक दिन मेरे जीवन में आया था, वही उस दिन संथागार से मेरा 'संसारहारी' हो कर प्रकट हुआ।

सोच में पड़ गई, इस मित्रहीन जगत में जिसे एक मात्र मित्र के रूप में पाया था, वही सव से वड़ा शत्रु हो कर सामने आ गया है। तुम्हें प्यार कर सकूँ, यही तुमने मेरे लिए सम्भव न रहने दिया : और तव केवल तुम्हें

ही प्यार करने की मेरी विवशता को तुमने अन्तहीन कर दिया। अन्तिम अवलम्ब जो बन गया था मेरा, उसने स्वयम् ही, अपनी उस अवलम्बिता को चूर-चूर कर दिया। फिर जो नहीं रह गयी थी, उस लड़की की अवशेष नियति का खेल आरम्भ हुआ। तुम्ही बताओ मान, वह कैसे फिर वैशाली के ऐश्वर्य-महलों की फूल-शैयाओं में लौट सकती थी? अपनी अन्तिम नियति से टकराये बिना, उसके लिये और चारा ही क्या रह गया था···? नियति-पुरुष इसी को तो कहते हैं! ···

पहली बार तुमसे मिल कर जब लौटी थी, तो बाहर कुछ भी पाने और खोजने को शेष नहीं रह गया था। सारे ही प्रश्नों और जिज्ञासाओं का एकमेव उत्तर अन्तर के देवालय में मूर्त पा लिया था। विराट् प्रकृति के बीहड़ों में जिसे खोजती फिर रही थी, सहसा ही पाया कि वह जाने कब चुपचाप भीतर आ बैठा है। मेरी भटकनों की उस निखिल चराचर प्रकृति को वह अपने उत्तरीय की तरह धारण किये था। बाहर की यात्राओं के अगम विस्तार, उत्तुंग ऊँचाइयाँ और भयावने गहराव भीतर ही खुल पड़े थे। सो अपने कक्ष में बन्द होकर अपनी सुख-शैया में आँखें मूँदे कई-कई पहर लेटी रहती थी, और अकारण ही सारे अगम्यों में यात्रा एक सुगम खेल की तरह चलती रहती थी। ···

लेकिन जब तुम महाभिनिष्क्रमण कर आरण्यक हो गये, तो अपने अनन्त अभियान के पहले ही पद-संचार से, तुम मेरे बाहर-भीतर के बीच की ओट को छिन्न-भिन्न कर गये। शैया में ही नहीं, इस तन में भी काँटे उग आये। ··· अंग-अंग में नुकीली चट्टानें और तुम्हारे आरोहण के पर्वत-शिखर फूट निकले। बाहुमूल और उरुमूल के गहराव तुम्हारी दुर्दान्त छलांगों के बीच की खन्दकें, घाटियाँ, समुद्र और नदियाँ हो कर फैल गये। तन का अणु-अणु तुम्हारी राह की धूल हो कर रह गया।

तब बोलो, वैशाली के परकोटों और महालयों की दीवार-छतों में ठहर पाना कैसे सम्भव होता। ···पहले की तरह जब निकल पड़ने को हुई, तो पाया कि मेरे स्वैराचार पर पहरे बैठ चुके हैं। पाया कि स्वातंत्र्य की सिर-मौर नगरी वैशाली में नजर-क़ैद हूँ। महल, उद्यान, रथागार, अश्वागार, नगर-द्वार, सर्वत्र ही मुझे गमनोद्यत देख कर प्रतिहारी, रथी, अश्वपाल और प्रहरी, मेरी राह में झुके मस्तक बिछा कर राजाज्ञा के पालन को विवश और मूक दिखायी पड़े। समझ गयी, कि यह सब क्यों हुआ है।

तुम्हारे दीक्षा-कल्याणक से लौट कर, माँ और परिजनों ने मेरी जो बेकली और बेहाली देखी थी, उससे वे समझ गये थे, कि अब इस ऐश्वर्य-राज्य में मैं ठहर नहीं सकूंगी। मानों कि उन्होंने चीन्ह लिया था कि मेरी

आँखें उन दिगन्तों पर बिछी थीं, जिनका तुम निरन्तर अतिक्रमण कर रहे थे।...उन्हें स्पष्ट दीखा कि, मूर्तिवत् ठगी-सी, घायल पंखिनी-सी मैं उन दूर-दूर जा रहे चरणों में लोटती चली जा रही हूँ।...तब उन सबको प्रतीति हो गई, कि अब मेरा स्वैर-विहार खतरनाक ही हो सकता है। सो चिर दिन की मुक्त आकाशिनी को पिंजड़े में पूर दिया गया।

...नहीं, तुम्हारी निष्ठुर पीठ का पीछा नहीं किया चाहती थी। जाने से पहले तुम एक बार मुझे सन्देशा तो भेज ही सकते थे। मैंने तुम्हें पुकारा या नहीं, सो तो तुम जानो, पर तुम मुझे पुकारो, यह तुम्हारे पौरुष को कैसे गवारा हो सकता था? नहीं, तुम्हारी खोज में भटकूँ, यह मुझे अब सह्य नहीं था। जिस खोज की मधुर कसक मेरा एक मात्र जीवन था, उसे तो सामने पड़ते ही, तुमने समयातीत भाव से समाप्त कर दिया था।...अब तो केवल इतना ही शेष रह गया था, कि अपने को खोजूँ।...मैं हूँ कि नहीं हूँ? मेरी कोई सत्ता भी है या नहीं? यदि हूँ, तो कौन हूँ मैं? इसका उत्तर पाये बिना छिन भर भी सृष्टि में कहीं ठहराव् सम्भव न रह गया था।

तुम्हारी विरागी मुद्रा देख आयी थी, पर अपने प्रति जो अनुराग तुम्हारा इतना ज्वलन्त देखा था, उसके बावजूद तुम मेरे प्रति इतने निर्मम भी हो सकोगे, यह तो कल्पना में भी नहीं आ सकता था। मूलाधार को बींध कर जब प्रश्न मेरी शिराओं और अस्थियों के पोलानों में गूँजता था कि 'कौन हूँ मैं?' तो केवल उस दिन की तुम्हारी लीला-चंचल छवि मेरे दृष्टि-पथ और सारे आकाश-पथ पर छा जाती थी। तुम्हारे प्रति रोष और क्षोभ से मेरी नस-नस में गाँठें पड़ जाती थीं। अपनी ठोकर के योग्य भी जिसे नहीं समझा, उसकी राह रोक कर, हर परमाणु पर क्यों आ खड़े हुए हो? मेरी छाती पर, मेरे निकलने के एक मात्र द्वार बन कर क्यों जड़ गये हो?

...पर कृपा हुई तुम्हारी, अभागिनी चन्दना पर, कि उस पर किवाड़ बन कर बन्द नहीं हुए, द्वार ही बने कि जहाँ चाहूँ, जा सकती हूँ। और किस मोह-ममता या राजसत्ता का पहरा, उस द्वार की राह को रूँध सकता था, जो कि महावीर स्वयम् था। कृतज्ञ हूँ तुम्हारी, कि भले ही परित्याग कर गये, पर भीतर-बाहर के सारे कारागारों से निकल पड़ने का निर्बाध द्वार मेरे लिये मुक्त कर ही गये।...

◆ ◆ ◆

...सो उस आधी रात, जब विकलता से तन का तार-तार टूट गया, और बेसुध बेबस पागल-सी चल पड़ी थी, आत्महारा, सर्वहारा, दिशाहारा, तब कोई दीवार, छत, परकोट, प्रहरी कहीं दिखायी नहीं पड़ा। विक्षिप्त नागिन-सी धरती की तहों को तराशती हुई निकलती ही चली गयी।

'''सूर्योदय की वेला में, नूतन वसन्त की हरियाली आभा से मंडित, जिस कानन-भूमि में अपने को विचरते पाया, उसके भूगोल का कोई अनुमान पाना शक्य नहीं लगा।'''नाना रंगी फूलों की छाया से चित्रित इस सारे आकाश-वातास में एक विचित्र दूर-देशीय गन्ध व्याप्त है। वहाँ दूर पर जो हरियाले टीले दिखायी पड़ रहे हैं, उनकी तृणाली में कहीं गायें चर रही हैं, तो कहीं भेड़-बकरियाँ। लाल-पीली ओढ़नी ओढ़े कोई एकाकिनी लड़की चौपायों को हाँक दे रही है। कौन विदेशिनी है यह कन्या? क्या कहीं इसका कोई घर होगा? लग रहा है, टीले में से ही जन्म लेकर वह वहाँ खड़ी हो गयी है। उस तृणाली के अन्तराल में जो आकाश झाँक रहा है, वही उसका घर है। हाय, वह कितनी अकेली है! क्या वह भी मेरी तरह अपने ही को खोज रही है?'''टीले के पर पार से बाँसुरी का गान सुनायी पड़ रहा है। लड़की चौंक उठी है।'''अरे इस निर्जन में उसे किसने पहचान लिया है?

'''नहीं, इस पहचान के देश में नहीं ठहरना चाहूँगी।'''और मैं तेजी से भागती हुई, अपने ही से भागती हुई, जाने कितने वन-प्रदेशों के सुरम्य छाया-प्रान्तर पार कर गई।'''दिन चढ़ आया है। सामने दिखायी पड़ी है, एक वन-पुष्करिणी। प्राकृतिक श्वेत पत्थरों के घाटों से वह घिरी है। पीले कमलों की सोनल केसर उस पर नीहार-सी टँगी है। सरसी के जल में पैर डाल कर, उसके घाट पर बैठ गयी हूँ। एकाएक अपने ही मुखड़े की परछाँही देख कर काँप उठी हूँ।'''यह कौन मायाविनी है? नहीं, नहीं पड़ूँगी इसके सम्मोहन-जाल में। यह पुष्करिणी की सौन्दर्य-देवता मुझे आत्म-विमोहित किये दे रही है। पर हाय, इससे बच कर निकलना कठिन हो गया है! किसे पुकारूँ इस निर्जन में, कौन मेरा त्राण करेगा इस मोहिनी से?'''और आँख मींच कर मैं अपने बावजूद चीख उठी'''!

•

'''आँख जब खुली तो देखा, कि एक अति रमणीय विमान की छत पर एकाकी खड़ी उड़ी जा रही हूँ। नीचे पड़ी धरती का सारा भूपट ऐसा लगा, जैसे एक विशाल चित्र कुछ सूक्ष्म रेखाओं में सिमटता जा रहा है।

औचक ही किसी पदचाप से चौंक कर पीछे देखा।'''एक रत्न-किरीट धारी सुन्दर युवा सामने खड़ा है।'''सहसा ही उसने सम्बोधन किया :

'सुन्दरी, वैताढ्यगिरि का विद्याधर वसन्त-मित्र, तुम्हारी एक चितवन का प्रार्थी है!'

मेरी सारी नाड़ियाँ झनझना उठीं। सूखे पत्ते-सा थरथराता मेरा शरीर, मानों अभी-अभी झर पड़ेगा। उस सुन्दर युवा की रातुल कमल-सी सुन्दर

आँखों में जो आर्त तृषा देखी, वह मेरे लिये सर्वथा नयी थी। सुन्दर रूप की आरसी में, ऐसा असुन्दर और कुरूप भाव मैंने कभी नहीं देखा था। पद्मराग मणि के प्याले में जैसे कोई पिघली हुई विषाक्त ज्वाला लपलपा रही थी।

···हठात् दो सशक्त पुरुष-भुजाएँ फुँफकारते पीले नागों-सी मुझे घेर लेने को बढ़ीं। और मैं बिजली की तरह कड़क कर, उड़ते विमान तले गुज़र रही, एक ख़न्दक में कूद पड़ने को हुई।

···तभी एक कोमल नारी-कण्ठ की आह, अचानक सुनायी पड़ी।··· विद्याधरी मदनवेगा ने आ कर अपनी बाँहों में मेरी कूदने को उद्यत काया को जकड़ लिया था। क्रुद्ध भृकुटियों से उसने अपने विद्याधरराज की भर्त्सना की, पर बोली कुछ नहीं। विद्याधर धरती में गड़ रहा। विद्याधरी मेरी काया की अग्निलेखा को देख कर भयभीत, स्तंभित हो रही। उसके संकेत पर विद्याधर ने विमान धरती पर उतारा।···मैं तत्काल छलांग मार कर एक चट्टान पर कूद पड़ी।···पलक मारते में विद्याधर का विमान अदृश्य हो गया।

···एक भयावह निर्जन अरण्य में, अकेली इस चट्टान पर खड़ी हूँ। सल्लकी और बाँसों की घनी अरण्यानी में, वनस्पतियों की आदिम सुगन्ध से भरी ईषत् गर्म हवा सीटियाँ बजा रही है।···मनुष्य का यहाँ कोई चिह्न नहीं दिखायी पड़ता। वनौषधियों की झाड़ियों में, सुगन्ध से मूर्च्छित भयंकर नागों के युगल रतिक्रीड़ा में लीन हैं।

'···ओ आरण्यक, समझ रही हूँ, इसी सर्प-संकुल कुटिल अटवी में से तुम्हारा मार्ग गया है। भय की इसी भुजंगम घाटी में, आज ग्यारह बरस हो गये, तुम दुर्दान्त वेग से भ्रमण कर रहे हो।···पर मानवीय रूप में यहाँ कोई तुम्हारा आकार-प्रकार शेष नहीं है। निरी नग्न मृत्यु के इस भयारण्य में, भालुओं, रीछों, सरिसृपों के बीच तुमने मुझे ला पटका है। और स्वयम् आप जाने कहाँ चम्पत हो?

'···नहीं, मुझे तुम्हारी रक्षा और शरण की ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हारी खोज में नहीं, अपनी खोज में आयी हूँ। और इस संकट की घाटी में, मुझे तुम्हारा नहीं, अपनी मौत का इन्तज़ार है। मेरे रक्त के प्रत्येक स्पन्दन में इस क्षण केवल विनाश की वीणा बज रही है।'···नहीं, अब धीरज नहीं है। देह का रोंया-रोंया नरक के सेमर-वृक्षों के तीर-फल जैसे पत्तों की तरह धारदार हो कर, अपनी ही मांस-पेशियों को तराश रहा है।···पीड़ा की सर्प-कुण्डली में गुंजल्कित होती हुई, अपने एक-एक साँधे को जैसे ऐंठ कर तोड़े दे रही हूँ।···मूर्छा के ये नीले-हरे हिलोरे, जाने किस काले पानी की ओर मुझे ढकेल रहे हैं। लगा कि अभी थोड़ी ही देर में इस अस्थि-पंजर से मुक्त हो जाऊँगी।

···अचानक एक तीर सन्नाता हुआ मेरी आँख के कोने के पास से गुज़र गया। पलक मारते में मेरा होश जाता रहा।···होश में आने पर देखा, वह काला भयंकर अरण्य, स्वयम् देह धारण कर मानों सामने खड़ा है।

'···भीलराज, क्या चाहते हो?'

'अपनी वनदेवी की आराधना करते उमर बीत गयी।···आज साध पूरी हुई। मेरी नागकन्या मेरे लिये प्रकट हो गई!'

भील की आँखों में इस सारे हिंस्र जंगल की भूख दहाड़ती दिखायी पड़ी। सारी चराचर सृष्टि की चिर अतृप्त वासना। काश, इसे तृप्त कर सकती! पर अपनी इस एक स्वल्प, लचीली, नाजुक काया को ले कर, क्या इस विराट् बुभुक्षा को शान्त कर सकूँगी···? नहीं, इस काया की सीमा में वह सम्भव नहीं। क्या मेरे इस शरीर के भीतर, कोई ऐसा दूसरा शरीर नहीं, जिसका पार न हो, अन्त न हो? अपने को जानती ही कितना हूँ? शायद किसी दिन···।

किरातराज चण्डकाल ने कई दिन अनेक तरह से मेरी सेवा-परिचर्या की। मुझे बहलाया-भुलाया। वन-फूलों के बिछौने बिछाये, वनौषधियों की दिव्य मदिरायें सामने धरीं।···रक्षा और चिर सुख का आश्वासन दिया।··· पर क्या करूँ, मैं उसका मनचीता न कर सकी। रात-दिन उसी तप्त चुभीली चट्टान पर पड़ी उस भील की कातर आर्त विकलता को देखती रहती थी। वनचारी जंगली हो कर भी, वह बलात्कारी नहीं था। पर सर्प जिस वासना से दंश करता है, बिच्छू जिस पीड़ा से उमड़ कर काट लेने को विवश होता है, भालू के पंजे जिस हिंसा से विवश हो कर फाड़ खाने को लाचार हो जाते हैं, वही बेबस और रक्ताक्त हिंस्रता उस भील की आँखों में सुलगती रहती थी। काश, प्राणि मात्र के रक्त में चिरकाल से जल रही इस पिपासा की दावाग्नि को सदा-सदा के लिये शान्त कर सकती।··· मेरे कुँवारे स्तनों में यह कैसा दूध का पारावार-सा उमड़ता है। हाय, यह अज्ञानी भील क्या मेरी इस पीर को समझ सकेगा?···

···कई दिनों बाद भील हार कर मुझसे बोला: 'चलो सुन्दरी, तुम्हें तुम्हारे देश पहुँचा आऊँ!'···सोचा: 'क्या सचमुच यह जंगली बर्बर पुरुष मेरे उस देश का पता जानता है, जहाँ जाने को जगत की सारी माया-ममता त्याग कर निकल पड़ी हूँ?···

□

दासियों को दासी चंदना

एक विशाल सुन्दर नगरी के चौराहे पर पहुँच कर, भील ने मुझे बैल से उतरने को कहा। उतर कर पाया कि अपने जैसी ही कई अनाथ, सर्वहारा, देश-देश की सुन्दर स्त्रियों के बीच घिरी खड़ी हूँ। भील ने उस नारी-समूह के सरदार से कुछ बातचीत की: फिर कुछ सुवर्ण मुद्राएँ पा कर मेरी ओर तरसभरी आंखों से देखता, वह नगर की भीड़ में खो गया।···थोड़ी-ही देर में पता चल गया कि यह जगत-विख्यात विलास-नगरी कौशाम्बी का दासी-पण्य है। और मैं दासियों के सौदागर के हाथ बेच दी गयी हूँ।

···जो हुआ है, ठीक ही तो हुआ है। बचपन से ही आर्यावर्त के दासी-पण्यों के बारे में सुनती रही हूँ। मनुष्य की निराधार, अनाथ, नाम-कुल-गोत्रहीन, सुन्दरी बेटियाँ इन पण्यों में बेची जाती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के उच्च कुलीन, अभिजात वर्गीय लोग अपने सुवर्ण के मोल इन रूपसियों को खरीद कर अपने अन्त:पुरों में सेवा-दासियों के रूप में रखते हैं। क्षत्रिय राजन्यों, और धनकुबेर श्रेष्ठियों की सर्व मनोकामना पूर्ति के हेतु यज्ञ-यागादि करने पर, ब्राह्मण पुरोहित विपुल द्रव्य और भोग-सामग्रियों के साथ ही, कई-कई सुन्दरी दासियाँ भी दक्षिणा में पाते हैं। हमारी वैशाली में भी अभिजातों के घर क्रीत दासियाँ तो होती हैं, पर वहाँ उनका शोषण-पीड़न उतना नहीं होता। कोई अत्याचार बलात्कार भी नहीं। यथा सम्मान सेविका के रूप में वे रहती हैं।···पर सुनती रही हूँ, अन्य महाराज्यों में मनुष्य की इन लावारिस बेटियों पर अमानुषिक जुलम-ज़ोर अत्याचार होते हैं। सत्ता-प्रमत्त राजन्यों और श्रेष्ठियों के महालयों में, तथा दक्षिणा जीवी मालदार याजनिक श्रोत्रियों के घरों में, वे उनकी दुर्मत्त भोग-लालसाओं की आखेट हो कर रहती हैं।

ठीक ही तो आयी हूँ, अपनी इन चिर काल की बिछुड़ी बहनों के बीच। इनकी जीवन-कथाएँ प्राय: अपनी दीदी-महारानियों से सुन कर, मेरे प्राण हाहाकार कर उठते थे। अपने कमरे में जा कर पड़ जाती, और आँचल मुँह में दे कर फफक-फफक कर रोती थी। इनके दुर्भाग्यों और विपत्तियों की करुण गाथाएँ मेरी समूची चेतना को हताहत कर देती थीं।

मेरी धमनियाँ प्रचण्ड प्रतिकारी रोष और विद्रोह के लावा से उबलने लगती थीं।···आज अपने को अपनी इन बहनों के साथ दासी-पण्य में बिकने को खड़ी पा कर, मेरी छाती में ऐंठती चिर दिन की एक मर्म-पीड़ा को जैसे गहरी शान्ति मिली।···उनके सुन्दर निर्दोष मुखड़ों, उनकी भोली-भाली निरीह आँखों, उनके अनिश्चित, अरक्षित भाग्य-भविष्य को खुली आँखों सामने देख कर, अपने कुलीन रक्त के प्रति मेरे धिक्कार का अन्त नहीं था।

ठीक ही तो हुआ।···अपने ही राजवंशी रक्त के शताब्दियों-व्यापी, पीढ़ियों-व्यापी अनाचार का बदला, अपने ही हृदय के खून से चुकाये बिना आज क्षण भर भी चैन नहीं है। उनमें से हर लड़की अपने आप में एक मूक वेदना का द्वीप बनी खड़ी थी। आर्यावर्त के समर्थों के पशुत्व ने, उनको निरी लाचार आखेट-पशु बना छोड़ा था।

टुकुर-टुकुर एक-दूसरी को ताकती, वे अपने अन्धे भविष्य की अँधेरी खन्दक में ढकेल दिये जाने की प्रतीक्षा में थीं। एक नरक से निकल कर, दूसरे नरक में फेंक दिया जाना ही, उनके जीवन का एकमात्र अभिक्रम था। उन सब की ओर देखती, मैं अकुला कर मन ही मन बोली :

'मेरी प्यारी बहनो, सदियों से जो निर्घृण अत्याचार तुम पर अभिजात कुलीनों ने किये हैं, उन सब का बदला तुम मुझ से जी भर चुकाओ। मैं आर्यावर्त के चूड़ामणि राजवंश इक्ष्वाकुओं की एक बेटी हूँ। मेरी नसों में ऋषभदेव, भरत, रघु और राम का रक्त बहता है। और मैं तुम्हारी एकमात्र अभियुक्त हो कर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। जो चाहो दण्ड मुझे दो, सहर्ष झेलूंगी। भारतों के समस्त इतिहास में व्याप्त, तुम्हारे शोषण-पीड़न का प्रतिशोध लेने को, सूर्यवंश की इस जाया का रक्त कम नहीं नहीं पड़ेगा। जो तुमने और तुम्हारी पीढ़ियों ने आदिकाल से भोगा है, उस नरक का सहर्ष वरण करने आयी हूँ। ताकि उसे तलछट तक जानूँ, जीऊँ, भोगूँ, और उसके मूलों को अपनी नसों में धारण कर, अपनी आत्माहुति से ही उन्हें निर्मूल जला कर भस्म कर दूँ।···

'वर्द्धमान, आर्यावर्त के चौराहों पर मूक रुदन से बिलखती, इन सहस्रों अनाथिनियों को त्राणहीन दशा में छटपटाती रहने को छोड़ कर, तुम किस मुक्ति की खोज में, निर्जनों में भटक रहे हो? लोक में जीवित मानवता को, मनुष्य द्वारा ही रचे गये फाँसी के फंदों से जो मुक्तात्मा नहीं छुड़ा सकता, उसकी लोकोत्तर मुक्ति का मेरे मन कौड़ी भर मूल्य नहीं। उसका अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य मुझे आज पुंसत्वहीनता का एक पर्याय ही लग रहा है। क्या कोई पुरुषोत्तम हो कर, आदिकाल के पीड़ित लोक से यों पलायन कर सकता है?···

'नहीं मान, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं। अपने लिये, और अपनी इन सहोदराओं के लिये मैं ही काफी हूँ। कहा न, अपनी खोज में निकली हूँ, तुम्हारी नहीं। और इन खाँचियों निर्दोष सुन्दर आत्माओं के जख्मों में, अपना पता कुछ-कुछ पा गयी हूँ। इनकी भय, आरति, और आसन्न पीड़न-वलात्कार से काँपती-थरथराती नसों में मैंने अपनी जागृत जीवनी-शक्ति का परिचय पाया है। इनकी आशाहीन अँधियारी आँखों की आरसी में मैंने अपना एकमेव चेहरा स्पष्ट देख लिया है। इनके साथ मैं भी विकूँगी, और इनकी ही तरह अपने अन्धे भाग्य को, किसी धन-सत्ता के अँगूठे तले दव कर एक वार भरपूर भोगूँगी। देखूँगी, कि उस अँगूठे में कितना वल है, उसके वलात्कार की सामर्थ्य कितनी दूर तक जा सकती है।

'मेरी महारानी-दीदी मृगावती,' तुम्हारी ऐश्वर्य-नगरी कौशाम्वी के चौराहे पर, तुम्हारी लाड़िली वहन चन्दनवाला दासी-पण्य में विकने को खड़ी है। ···वत्सराज उदयन, तुम्हारी मातंग-विमोहिनी वीणा का संगीत-सौन्दर्य नारी-निर्यात के रक्त में नहाया हुआ है। तुम्हारी चन्दन मौसी, तुम्हारे अजेय विक्रम-प्रताप, कला, और प्रणय-लीलाओं की छाँव में नीलाम पर चढ़ी है ···!

'उदयन के मौसेरे भाई वर्द्धमान, सुनो, मैं तुम्हें नहीं पुकारूँगी! ···'

◆ ◆ ◆

वृपभसेन श्रेष्ठि की इस हवेली में रहते, कितने दिन, मास, वर्ष वीत गये हैं, उसकी गिनती मेरे पास नहीं है। जिस क्षण तुम्हें पहली वार देखा था, मान, उसी मुहूर्त में वाहर के समय का भान मानों चला गया था। भीतर के समय में ही तव से जीवन की यह विचित्र यात्रा आरम्भ हो गयी थी। ···कष्ट की काली रात के सिवाय और कोई पथ तुमने मेरे लिये नहीं छोड़ा था, महावीर! तव वाहर के विपम चक्रावर्तों के समक्ष, भीतर के स्वसमय की शुद्ध क्रिया में जीने में को मैं विवश हो गयी थी। वह विवशता ही मेरे लिये वरदान वन गयी, यह तुम्हारे सिवाय कौन जान सकता है। भापा-परिभाषा से परे के उस भवितव्य को केवल भोगते ही तो वना है। कष्ट की तो अवधि न रही, पर उसकी अवमानना मुझसे न हो सकी। तुम्हारी दी हुई दुःख की हर थाती को, छाती से चाँप कर, अपने भीने आँचल में उसे सहलाती रही। इतना सुख था उसमें कि कभी अणु मात्र भी कोई अनुयोग-अभियोग मन में नहीं आया। ···

वरसों पहले, उस दिन कौशाम्वी के दासी-चौहट्टे पर, श्रेष्ठि वृपभसेन का रथ एकाएक अटक गया था। निकट आकर एक टक वे मेरी ओर देखते रह गये थे। उस भव्य गौर वर्ण भद्र मुख पर एक विचित्र अनतिशय विपाद था। और उन आँखों में विछल रहा था करुणा का समुद्र। अकारण वात्सल्य से आविल थी

वह दृष्टि। नीलम के कण्ठहार से विभूषित अपने उस समर्थ क्रेता पर मुझे जाने कैसी दया-सी आ गयी थी ! श्रेष्ठि मौन ही रहे। कोई मोल-भाव उनके वश का नहीं था। आँख के एक इंगित पर, सौदागर का मुंह माँगा मोल उन्होंने उसकी हथेली पर रख दिया।··· मैं सहज ही अनुगामिनी हुई, और रथ में जा बैठी। दासी भाव से नर झुका कर ही अपने भाग्य को समर्पित हुई थी : लेकिन सहसा ही बोध हुआ था, कि स्वामिनी हो कर ही रथ पर चढ़ी हूँ।

श्रेष्ठि वृषभसेन की सेठानी, सुन्दरी दासी को सामने पा कर चौकन्नी हो गयी। उन काली-पीली आँखों की वह कराल दृष्टि आज भी भूली नहीं है। भाग खड़े होने को जी अकुला उठा था। पर क्रीता दासी के जी जैसी कोई चीज़ कैसे हो सकती है ! अपनी नियति को शिरोधार्य कर, आज्ञा पालन को प्रस्तुत हो गयी।

श्रेष्ठि निःसन्तान थे। देखती थी, मुझे पुत्री के रूप में पा कर वे भर आये थे। घर की दासी होने के कारण, गृह-स्वामिनी मूला सेठानी के शासन में ही मुझे रहना होता था। एक तो दासी होने के कारण ही, स्वभावतः मालकिन के अपमान, उपेक्षा और दण्ड-ताड़न की पात्र ही हो सकती थी। तिस पर दासी अनन्य रूपसी थी, सो सेठानी के तिरस्कार और डाह का अन्त नहीं था। सेठानी के घायल गर्व की तुष्टि के लिये, मुझसे अच्छा आखेट और कहाँ मिल सकता था। सो मुझे निकाल बाहर करना भी उन्हें सह्य नहीं था। मेरा प्रतिपल अपमान, तिरस्कार, शोपण, पीड़न करके, जो तृप्ति वे अनुभव करती थीं, वह अन्यथा कैसे सम्भव थी।

फिर मुंह माँगे मोल पर ख़रीद कर लायी गयी थी, सो मेरी हर बोटी से, हर पल दाम तो वसूल करना ही रहा। मुझे निकालना हर तरह से सेठानी के लिए बहुत घाटे का सौदा था। पर श्रेष्ठि की सहज स्नेह-भाजन पुत्री के रूप में ही क्यों न हो, एक सुन्दरी कन्या को यों विनत-नयन, स्वामी की तनिक-सी सेवा करते देख कर भी, सेठानी के तन-वदन में आग लग जाती थी। हाय रे मानव मन, विचित्र कुटिल है तेरी गति। कषायों द्वारा प्रति पल अपने पीड़न में भी तू कितना गहरा रस लेता है ! मानों कि कषायों और परितापों के सहारे जीना ही तेरा एक मात्र सुख हो गया है।···

इस हवेली में आ कर, ना कुछ समय में ही समझ गयी थी, कि वयोवृद्ध श्रेष्ठि के हृत्तल में कहीं बहुत गहरे एक रिक्त निरन्तर टीस रहा है। उनकी आँखों में एक विचित्र शून्यमनस्कता और उदासी सदा बनी रहती थी। मानों एक अन्तहीन वीरान में उनका जी सदा खोया-भटका रहता था। कई बार एकान्त में उनकी शून्य मुद्रा देख कर मेरा मन हाहाकार कर उठता था। बचपन से ही ऐसी प्रकृति पायी थी, कि किसी का भी कष्ट मुझ से देखा नहीं जाता था।

जी चाहता था कि हर पीड़ित जन की पीड़ा में भाग ले सकूँ। उसकी वेदना मेरी हो जाती थी, और उसे दूर न कर सकूँ, तो मुझे चैन नहीं आता था।

इस हवेली में आकर थोड़े ही दिनों में समझ गयी थी, कि श्रेष्ठि सारे सुख-सद्भाव और वैभव के होते भी, यों उचाट क्यों रहते थे। सन्तान के अभाव से अधिक, उनके कष्ट का कारण यह था कि वे अपने को नितान्त अकेला पाते थे। मूला सेठानी स्वभाव से ही शुष्क, भावहीन और कर्कशा थी। नारी-सुलभ स्नेह, सहानुभूति और ऊष्मा का उनमें सर्वथा अभाव था। कारण-अकारण वे अपने स्वामी पर सदा बिगड़ती रहती थीं। छोटी सीधी-सी बात का भी वे बहुत कर्कश स्वर में वक्र उत्तर ही देती थीं। दम्पति के बीच आत्मीय आदान-प्रदान का कोई सेतुबन्ध था ही नहीं। पारस्परिक प्रीति, सहानुभूति और समझ जैसी कोई चीज़ वहाँ थी ही नहीं। युगल दाम्पत्य वहाँ घटित ही नहीं हो सका था।

स्वभाव से ही अति मृदु, वत्सल और धार्मिक प्रकृति के श्रेष्ठि चुप रह कर सब कुछ सहते रहते थे। इतने मर्यादावान और विवेकी थे वे, कि अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर कहीं अपने अभाव की पूर्ति खोजना उनके वश का ही नहीं था। जब मैं इस घर में आ गयी, तो पाया कि उनके चित्त का सारा चिर उपेक्षित स्नेह-सद्भाव मुझ में केन्द्रित हो गया है। वे मुझे बेटी की तरह मानते थे, और चुपचाप एकान्त भाव से मेरी सम्मान-रक्षा, मेरे हित-साधन और आश्वासन की मूक चेष्टा वे करते रहते थे। उनके वात्सल्य की इस अन्तःसलिला को अपने भीतर प्रवाहित होते मैंने स्पष्ट अनुभव किया था।

एक बार अवसर पा कर उन्होंने मेरे देश-गाँव, कुल-नाम-गोत्र, माता-पिता और कष्ट की कथा को जानने के भाव से सांकेतिक पृच्छा की थी। सायं-काल के अधोमुख कमल की तरह नतशिर, मूक, उदासीन मैं चुप खड़ी रह गयी थी। मेरा सारा हृदय उमड़ कर मेरे ओठों पर जैसे एक चिरकाल की बन्द मंजूषा पर लगी निषेध-मुद्रा सा अंकित हो रहा था। मेरी निरुत्तर कठोर खामोशी से उनके हृदय पर जो आघात हुआ, उसे मैंने मन ही मन बूझ लिया। मेरे मुँह से इतना ही अस्फुट स्वर निकला :

'बापू, मुझे कोई दुःख नहीं, अभाव नहीं। आप हैं, फिर चिन्ता किस बात की। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ।...'

इसके उपरान्त मैंने देखा था, कि वे बहुत प्रसन्न, परितुष्ट और सक्रिय रहने लगे थे। उनके चेहरे की उदासी और वीरानी ग़ायब हो गयी थी। एक निरुद्वेग, प्रसन्न शान्ति उनके मुख पर विराजित दीखती थी।

एक दासी अपनी सीमा-मर्यादा में रह कर उनकी जो भी सेवा-संभाल कर सकती थी, वह मुझसे सहज ही होती थी। वस्तुतः गृह-दासी होने के कारण, मैं

गृह-स्वामिनी के अधिकार-क्षेत्र की वन्दिनी थी। उनका आतंक इतना भयावह था, कि उस घर के साये में प्रवेश करते हुए आकाश की मुक्त पंखिनी भी डरती थी। भूल से आ जाये तो उसकी बोली बन्द हो जाती, उसके पंख मानो कट से जाते। एक दासी के नाते उच्छिष्ट या वासे अन्न पर ही मेरा निर्वाह था। पर अन्न जीविता मुझ में आरंभ से ही नहीं थी, सो बचे-खुचे फल-मूल से ही मैं सन्तुष्ट हो रहती थी।

श्रेष्ठि चुपचाप मेरी अचूक परिचर्या, अखूट धैर्य और सहिष्णुता को देख कर बहुत कातर विगलित दिखायी पड़ते। कई बार एकान्त का अवसर पा कर वे कपिशा के अंगूर, या सुदूर गान्धार के दुर्लभ फलों की छोटी-सी टोकनी दुबका कर मुझे दे जाते। मुझे लगता था कि कभी भी लंका-काण्ड हो सकता है। और बापू के चिर मर्माहत हृदय को मरणांतक आघात लग सकता है। सो एक दिन मैंने धीरे से कह दिया :

'बापू, इस तरह क्या इस घर में मुझे कोई रहने देगा ? यह क्या कम है, कि आपके वात्सल्य की छाँव में, व्याध के तीर से त्राण पा कर, एक नीड़हारा पंखिनी सुरक्षित है। आपकी सेवा करने का भाग्य मेरा नहीं, पर आपकी आँखों आगे हूँ, यही मुझ अभागिनी के लिए क्या कम सन्तोष की बात है ? ···और किसी दिन निकाल बाहर कर दी गयी तो,···तो···तो···तुम्हारा क्या होगा··· बापू··· ?'

इसके बाद मेरे लिये चीज़-वस्तु लाना उन्होंने बन्द कर दिया था। पर देखती थी, मेरे तिरस्कार, अपमान और उपेक्षा को देख कर उनका हृदय सदा टीसता रहता था। मैं उनके पूजा-गृह की परिचर्या करती, अपने हाथों सब झाड़-पोंछ कर, उपकरणों को धो-माँज कर रखती। बाग़ की कुइया में से प्रासुक जल का भृंगार भर ला कर रख देती। पूजा के फूल-फल, दीप, धूप, नैवेद्य सब सजा कर रख देती। ब्राह्म-मुहूर्त में किसी के उठने से पहले ही यह सारी व्यवस्था मैं चुपचाप कर देती थी। किसी को पता ही नहीं चल पाता था। उसके उपरान्त अपने सामायिक ध्यान में बैठ जाती। गृहचर्या आरम्भ होते ही, दासी ठीक समय पर सेठानी की चाकरी में हाज़िर हो जाती। मैंने देखा कि मेरी इस अदृश्य सेवा से बापू गहरी तृप्ति और शान्ति अनुभव करने लगे थे।

किन्तु कुटिल नियति, सारी सावधानियों को विफल कर, किस समय घट-स्फोट कर देगी, कौन जान सकता है। कैसी षडयंत्री हो कर आयी थी, ग्रीष्म की वह भयावह दोपहरी ! ···बापू को उस दिन अपने गाँव-खेतों से लौटने में बहुत अवेर हो गयी थी। भोजन के उपरान्त घर में सब विश्राम करने जा चुके थे। बापू का निजी भृत्य भी योगात् सो गया था। उस सन्नाटे में ओसारे के एक खम्भे

के सहारे बैठी मैं सचिन्त भाव से बापू की प्रतीक्षा कर रही थी। उनके मरने-जीने की चिन्ता करने वाला इस संसार में कोई नहीं था, यह मैं अच्छी तरह जानती थी।

···मध्याकाश में जेठ का सूरज तप रहा था। प्रचण्ड लू भरी उस दुपहरी में एकाएक बापू सहन में दिखायी पड़े। उनके पैर धुलाने को वहाँ कोई नहीं था। वे पसीने से तर-बतर, धूल-धूसर देह और चेहरे के साथ, बहुत मलिन, विपण्ण और क्लान्त दिखायी पड़े। उनकी वह निरीह, कातर मुद्रा मुझे असह्य हो गयी। क्या उनके लिये संसार में किसी को प्रतीक्षा नहीं···?

मुझ से रहा न गया। उठ कर आँगन के कदली-क्यारे के पास चौकी बिछा दी, और कुम्भ में जल तथा तौलिया लेकर खड़ी हो गयी। माँ के आँचल की झलक पाते ही, जंगल में भूला-भटका बालक आश्वस्त हो जैसे पास ढलक आये, वैसे ही बापू चौकी पर आ खड़े हुए। मैं कुम्भ से जल धारा उनके पैरों पर डालने लगी।···क्षण भर मन-मन ही सोचा · इन चरणों को अपने हाथों धो सकूँ, ऐसा भाग्य मेरा कहाँ ? मेरी आँखें उमड़ आयीं। मुझ से रहा न गया, मैं चुपचाप उन चिर श्रान्त गौर चरणों को अपने हाथों से धोने लगी। आँखें उमड़ती ही चली आयीं। आँसू छुपाने को ग्रीवा एक ओर मोड़ ली। कि तभी मेरे ढेर सारे काले-काले, भँवराले लम्बे केशों का जूड़ा खुल कर, सारी केशराशि बापू के पैरों पर आ गिरी और क्यारे की कीचड़ में उन केशों के छोर सन गये। बापू से रहा न गया, उन्होंने तुरन्त ही मेरे केशों को दोनों हाथों से सादर उठा कर, मेरे कन्धे पर डाल दिया।···इसके पहले कि मेरी सिसकी फूट पड़े, मैं द्रुत पग वहाँ से भाग खड़ी हुई।

···पता नहीं कब कैसे मूला सेठानी जाग उठी थीं, और अपने कक्ष के अलिन्द पर से उन्होंने यह दृश्य देख लिया था।···साश्चर्य उसी साँझ अचानक देखा कि बापू को जाने किस अज्ञात बाध्यता के कारण कुछ दिनों को कौशाम्बी से बाहर चले जाना पड़ा है।···अगले दिन बड़ी भोर ही अनभ्र वज्रपात-सा स्वामिनी का आदेश सुनायी पड़ा:

'आओ महारानी, तुम्हारे काले-कुटिल केशों के इन नागों को नागलोक पहुँचा दूँ, नहीं तो मेरे घर का सर्वनाश हो कर रहेगा।'

मैं समझ गयी, किस मूल में से यह विष उमड़ आया है। संज्ञाहत, शून्य, स्तंभित हो रही।···अगले ही क्षण मेरी गर्दन ढकेल कर नापित की कैंची के नीचे ठेल दी गयी। चन्दना के जिस केशपाश से देवी आम्रपाली तक ईर्ष्या करती थी, वह विपल मात्र में कट कर उसकी आँखों आगे ढेर हो गया। पिटारी में बन्द करके नागों को रसातल पहुँचा दिया गया।···

अत्यन्त मोटा खुर्दरा वसन मुझे पहना दिया गया। आँखों पर पट्टी बाँध कर स्वामिनी के आदेश पर, हवेली के तहख़ाने की एक अंधी कोठरी में मुझे ढकेल दिया गया। तब आँखों की पट्टी उतार दी गयी, और मेरे पैरों में लोहे की बेड़ियाँ डाल दी गयीं। मुंडित केशी, बन्दिनी दासी चन्दना के इस स्वरूप को देख कर मुझे एक विचित्र मुक्ति अनुभव हुई।···समस्त आर्यावर्त की हज़ारों दीन-दलिता अपनी दासी-बहनों के शतियों व्यापी आमरण कष्ट-निर्दलन के एकीभूत प्रतिशोध की पात्र आज मैं यथेष्ट रूप में हो गयी हूँ।···

'···ओ परम सत्य, ओ परम न्याय, तुम कहीं हो अस्तित्व में तो देखना, यह प्रतिशोध मेरा तिल-तिल दहन कर, अचूक सम्पन्न हो। दासियों की दासी चन्दना का यह यज्ञ अमोघ हो, कोई कसर न रह जाये।···'

···निर्जल, निराहार, उन्निद्र दिन-रात बीतने लगे। डाँस-मच्छर, कीड़े-मकोड़े, बर्र-ततैये तथा विचित्र सरिसृपों की इस तमसाच्छन्न सृष्टि में पाया, कि मेरा एकाकी जीव जाने कितने भव-भव के बिछुड़े जीवों का संग-साथ सहसा ही पा गया है। जीवों के परस्पर उपग्रह की निर्बाध और नग्न अनुभूति सतत भीतर संचरित रहने लगी। भूखा-प्यासा तन-बदन निढाल समर्पित, अवश भाव से धूल भरे फर्श की शिलाओं पर पड़ा है। और उस अक्रिय निश्चेष्टता में, नाना जीव-जन्तुओं के तरह-तरह के दंश, चुभन, पीड़न, सरसराहटों को अवारित भाव से सहना ही मेरा एकमात्र सुख हो गया है। देह के अणु-अणु में अपने को निःशेष दे देने की, चुका देने की ऐसी विकल वेदना उमड़ती रहती है, कि कहने में नहीं आती। किसी चुम्बन, आलिंगन, अथवा शिशु के ओठों में उमड़ते माँ के स्तन की आनन्द-वेदना क्या ऐसी ही नहीं होती होगी?···

एक तन्द्राच्छन्न झिल्ली-रव में स्तब्ध मेरी चेतना में, विगत जीवन की सारी चित्रमाला, छाया-खेला की तरह खुलती रहती है।···उस दिन तुमने कहा था, मान :

'तुम कितनी सुन्दर हो, मौसी!···ऐसा सौन्दर्य यदि कहीं भी है, तो मेरे लिये विवाह अनावश्यक है!'

···और उसके बाद कहने में तुमने कुछ भी तो शेष नहीं रहने दिया था। निःशब्द, निर्विचार हो गयी थी सुन कर। केवल इतना ही बोध शेष रह गया था: मेरा नियति-पुरुष बोला है! अचूक और अविकल्प है यह वाणी।···मेरा कर्तृत्व समाप्त हो गया है।

जाने कैसे समझ गयी थी, कि इस सौन्दर्य को पार्थिव में सहेजा और सहा नहीं जा सकता। माटी के तन में यह ज्वाला सिमटी नहीं रह सकती।

उसे जला कर भस्म कर देगी, या उसे भी आग में रूपान्तरित करके ही चैन लेगी। ···खतरनाक़ हो तुम, ओ अनहोने युवान्! निरन्तर ख़तरे में जीने वाले तुम, मुझे अपने पीछे सुरक्षित जगत में जीने को कैसे छोड़ जा सकते थे!

···मेरा क्या वश था। अपने बावजूद तुम्हारी सहचारिणी, अनुगामिनी हो कर रह गयी। हिंस्र वासना के खूंख़ार जंगलों और अन्धी ख़ंदकों में अपने को विचरते देखा। जिस सौन्दर्य पर तुमने अपनी मुद्रा आँक दी थी, उसे अपनी ही आग में तप कर, अपनी अस्मिता सिद्ध करनी ही थी। अन्तिम अन्धकार के लोक में प्रवेश कर के ही जान सकी थी, कि एकमात्र इसी सौन्दर्य की रोशनी के सहारे तो मृत्यु में भी चला जा सकता है!

···हिंस्र जन्तुओं से भरे इस अंधियारे तलघर की तमसाकार दीवारें उस रूप का आइना बन गयी हैं। बेड़ियों में बँधी पड़ी मुंडिता दासी ने अपनी वासुकी अलकों के सामुद्रिक वैभव को आज पहली बार पहचाना। तुम्हारे शब्द मिथ्या कैसे हो सकते थे, ओ काल-पुरुष! दासी भिक्षुणी हो कर मेरे सामने खड़ी है। इसे भिक्षा देने योग्य मेरे पास अब क्या बचा है? सर्वस्व छीन कर भी तुम्हें चैन नहीं? अब भी यदि मुझ में कुछ अवशिष्ट बचा हो, तो ले लो। प्रस्तुत हूँ। निर्जन, निराहार, शिथिल हो रहे इस गात के तट पर यह कौन गरुड़ पंख मार रहा है? कौन आया है इस वैनतेय पर चढ़ कर? ···

शैशव से इस क्षण तक की चन्दना एक समग्र जीवन्त चित्रपट की तरह सामने खुलती रहती है। खण्ड-खण्ड स्मृतियाँ अब मुझे नहीं सता पातीं। कभी कहीं और थी, और तरह थी, और अब यहाँ इस अवस्था में हूँ, ऐसी कोई टीस भी नहीं सताती। जो वहाँ थी, वही तो यहाँ भी हूँ। मेरे एक रक्ताणु में वह सब जैसे एकत्र सिमट आया है। माँ, पिता, भाई, भाभियाँ, परिजन, वैशाली के महल और वैभव, सभी कुछ तो जहाँ का तहाँ है। चाह कर भी चिन्ता नहीं कर पाती, कि मेरे उस आकस्मिक विलोपन से मेरे आत्मीयों पर क्या बीती होगी, बीत रही होगी? मेरे विछोह का कितना गहरा आघात मेरी वृद्धा माँ को लगा होगा? ···क्या करूँ, कोई शोक-सन्ताप और विरह-वेदना मेरे जी को विकल नहीं कर पाती। क्या जड़ हो गयी हूँ?

ऐसा तो नहीं लगता। ···महलों का वह ऐश्वर्य-विलास और यह कारा-वास, बहुत ही संचेतन और एकाग्र चेतना से एक साथ भोग रही हूँ।··· अपने वातायन की मेहराब पकड़ कर, सामने के नील अन्तरिक्ष में तैरती, उस मलय-कपूरी तन्वंगी बाला को, इस क्षण भी अपनी शिराओं में ज्यों

की त्यों महेसूस कर रही हूँ। सोचती हूँ, इन्द्रनील मणि के वातायन-रेलिंग पर जो ठहर नहीं पाती थी, उसे एक दिन चरम अन्धकार की ख़न्दक में कूदना ही था। वहाँ से यहाँ तक, एक ही छलांग में तो चली आयी हूँ···

◆ ◆ ◆

वृद्धा दासी मनसा दूर से ही मुझ पर बहुत ममता रखती है। वह एक दिन आ कर तलघर के बंद द्वार की शलाखों पर बुदबुदा गई थी :

'हाय रे दैया, ऐसी सुन्दर कोमल लड़की कैसी विपद में आ पड़ी है? सेठानी तो इसे बन्द कर उसी दिन पीहर चली गयी थी। सो अब तक लौटने के लक्षण नहीं। श्रेष्ठि को उस कर्कशा ने जाने कहाँ पठा दिया है, कौन जाने? कितने दिनों से उपासी पड़ी है बिटिया इस काल-कोठरी में। ···चोरी से भोजन ला कर, पुकारती हूँ, तो उत्तर तक नहीं देती। उस अंधरे कोने में लाश बनी पड़ी है!'

उत्तर तो नहीं दिया, पर मेरी निर्जीव-सी हो पड़ी सारी देह मनसा मौसी के लिये व्याकुल-विह्वल हो उठी थी। आँसू उमड़ आये थे। मन ही मन फूटा था :

'···और मौसी, तुम स्वयम्? तुम्हारा अपना भाग्य? तुम भी तो चिर जन्म की दासी हो? अपने दुःख-दुर्भाग्य को भूल कर मेरे कष्टों पर आँसू बहा रही हो? कितनी बड़ी हो तुम मौसी? आर्यावर्त की कौन महारानी तुमसे बड़ी हो सकती है?'

एक सवेरे अचानक तन्द्रालोक की परतों को भेद कर सुनायी पड़ा :

'बेटी चन्दन, मैं आ गया, तुम्हारा बापू! ···तुम्हारी यह दशा···?'

सींखचों पर सर ढाल कर, बापू फफक-फफक कर रो रहे थे। ···सहा न गया। उठ कर आयी। आँख उठा कर मेरे उस रूप को देखना उनके वश का न था।

'नहीं बापू, ऐसे नहीं करते। ···देखो···मेरी ओर···मैं हूँ न! कहीं चली थोड़े ही गयी हूँ?' ···बापू ठहर न सके। 'रुको बेटा, अभी आया···।' कह कर वे उलटे पैरों लौट पड़े।

जाने कब पाया कि द्वार खुल गया है। घर की भेदिया मनसा दासी ने कहीं से चाभी टोह निकाली होगी। ···रसोईघर में कहीं कुछ न मिला शायद। भंडार पर मजबूत ताले पड़े थे। बापू एक क्षण भी अब मुझे निरन्न छोड़ कर वहाँ से हटना नहीं चाहते थे। बहुत टटोल कर जो मिला वही तत्काल ले आये। एक सूप में कुलमाप धान्य के कुछ दाने। एक मिट्टी के

कुल्हड़ में जल।...मेरे सामने वह देहरी में रख कर वे भागे, वेड़ी काटने के लिये लोहार को बुलाने, बाजार से फलाहार लाने। मनसा मौसी भी किसी अन्य प्रबन्ध में व्यस्त हो गयी है कहीं।

पूर्वाह्न की धूप का एक टुकड़ा कोठरी की देहरी पर आ कर पड़ रहा है।...कितने दिनों बाद आज मेरे लिये सूरज उगा है? मेरा सूरज...!

यह अन्न-जल तत्काल ग्रहण न करूँगी, तो लौट कर बापू दुखी होंगे। ...तुम्हारे दिये इस अमृत का प्राशन करती हूँ, बापू। बस इतनी ही देर है कि द्वार पर कोई अतिथि आ जाये। अतिथि-देवता मेरे इस भोजन को प्रसाद कर दें।...क्या दासियों की दासी चन्दना के द्वार का अभ्यागत हो सके, ऐसा कोई जन मनुष्य के इस लोक में होगा?'

'...मेरे नाथ...मेरे भगवान...तुम कहाँ हो...?'

...कहीं दूरी पर, कौशाम्बी के राजपथ से ये कैसी ध्वनियाँ सुनायीं पड़ रही हैं। ध्वनियाँ पास से पासतर चली आ रही हैं:

'महाश्रमण वर्द्धमान की जय हो। देवर्षि ज्ञातपुत्र की जय हो।... भगवान महावीर की जय हो...!'

'...ओह, तुम आ गये, मेरे अतिथि...?'

किसी तरह सींखचे पकड़ कर खड़ी हो गयी। एक कदम से आगे तो बढ़ नही सकती। वेड़ी जो पड़ी है पैरों में। एक पैर कोठरी में, और एक पैर देहरी के पार धर कर ठिठकी रह गयी हूँ। सूप में ये तुच्छ कुलमाष के दाने भर हैं। और यह माटी का कुल्हड़ भर पानी। मलिना, मुंडिता, दीन-दुखियारी दासी का यह दान ग्रहण कर सकोगे? ...महालयों की नींव के इस अदृश्य, अँधियारे कोने में, तुम झाँक सकोगे, ओ त्रिभुवन के राजाधिराज?...

☐

कहाँ है वह अश्रुमुखी राजबाला

उज्जयिनी की महाकाली की गोद से उतर कर जो चला, तो गंगा-यमुना के संगम पर आ खड़ा हुआ हूँ। गन्धर्व नगरी कौशांबी की अभ्रंकष प्रासाद-मालाएँ। उनके नाना रंगी रत्नदीपों की प्रभा यमुना के जामली जल में झलमला रही है।

'···वत्स देश की परम श्राविका महारानी मृगावती, तुम चौंक उठी हो? नहीं,···यह भिक्षुक तुम्हारे सिंहतोरण का अतिथि होने नहीं आया। ···उदयन, तुम्हारी मातंग-विमोहिनी वीणा शून्य और स्वरहारा हुई पड़ी है। वासवदत्ता के सिन्धु-भैरवी रूप-यौवन और मद-मातुल हस्तिवनों को पीछे छोड़, तुम किन पथरीले वियावानों में भटक रहे हो?···पर तुम्हारे द्वार-कक्षों और उद्यानों की शाल भंजिकाएँ अकुला कर चलायमान हो उठी हैं। कौशांबी के महालयों के स्वर्ण-शिखर नहीं, उनकी मानुष-भक्षी नीवों के ठंडे अंधियारों का आवाहन मेरे पैरों को यहाँ खींच लाया है।

'महारानी मृगावती, तुम्हारे रत्न-प्रतिमाओं वाले जिन-मंदिरों के शिलीभूत देवता मुझे आकृष्ट न कर सके: तुम्हारे जीवन्त दासी-पण्यों की जंज़ीरें मेरी रक्तवाहिनियों में झनझना उठी हैं।···'

···जाने कितने दिनों का उपासी है भिक्षुक। मायापुरी कौशांबी में कौन उसे आहारदान करेगा?···अरे यह किसने पुकारा:

'मेरे नाथ···मेरे भगवान···तुम कहाँ हो?'

अविज्ञात दूरी में देख रहा हूँ: एक महालय का तलघर। मुंडित शीश, धूलि-धूसरित, दीन-मलिन वसना कोई राजपुत्री।···वेड़ियों में पड़ी वन्दिनी। निष्कम्प दीपशिखा-सी प्राज्जवल्यमान सुन्दरी सती।···वेड़ीवद्ध एक पैर काल-कोठरी की देहरी के भीतर, दूसरा पैर वाहर। दोनों हाथों पर उठे सूप में कुलमाप धान्य के दाने। माटी के कुल्हड़ में निर्मल जल। जाने कव की उपासी, भूखी-प्यासी। उसकी आँखों से वह रहे हैं अविरल आँसू।···

'कौन हो तुम? कहाँ हो तुम, ओ कल्याणी? कामिनी और कांचन के सौ-सौ परकोट पड़े हैं हमारे बीच। रोते-विलखते, मूक पशु की तरह जूआ

ढोते दासत्व की जाने कितनी पीढ़ियाँ राशिबद्ध हो कर पड़ी हैं हमारे बीच। आदिकाल की सन्तप्त, चिर शोषित मानव-सन्तानों के दुःख-परितापों और घटे आँसुओं के धुँधुवाते समुद्र पड़े हैं सामने। इन सब में से संक्रान्त होकर ही तो पहुँच सकूँगा, तेरे द्वार पर, ओ कारावासिनी आत्मा!'

कौशांबी के द्वार-द्वार पर भिक्षुक, उस करुण-मुखी अश्रुलता को खोजेगा · · · !

◆ ◆ ◆

देख रहा हूँ, भिक्षुक हर दिन गोचरी पर निकल कर, अनाहार ही लौट जाता है। कौशांबी के जिनोपासक श्रावकों में इससे भारी विक्षोभ छा गया है। भव्य महालयों के द्वारों पर द्वारापेक्षण करती सुन्दरियों के हाथों के रत्न-कलश और आवाहन मुँह ताकते रह जाते हैं। दिव्य अन्न-पक्वान्नों की रसवती के थाल प्रति दिन पराजित, उपेक्षित, ठुकराये पड़े रह जाते हैं। भिक्षुक एकाक्षी अग्निबाण-सा सिंहावलोकन करता, नगर की सारी वीथियों, अन्तरायणों, चत्रपथों, राजपथों को बेरोक पार करता निकल जाता है। सर्वसाधारण प्रजा से लगा कर, श्रेष्ठि-श्रावकों की हवेलियों और राजमहालयों तक में इससे भारी चिन्ता व्याप गयी है। खलभली मच गयी है।

· · · निष्फल भिक्षाटन के ये चार मास, चार युग की तरह बीते हैं। बड़ी दुःसाध्य परीक्षा ली है, मेरी उस कारावासिनी अन्नपूर्णा ने। शताब्दियों के दौरान, महाजनों के भंडार धन-धान्य से भरे होने पर भी, उन माँ की कोटि-कोटि सन्तानें जो भूखी-नंगी रहती आयीं हैं, उसी का दण्ड शायद वे जगदम्बा मुझे दे रही हैं। उनका जो स्वरूप मेरे अभिग्रह में झलक रहा है, उसे देखकर सिद्धालयों के ज्योतिर्मय शिखरों की ओर से महावीर ने आँख फेर ली है। भीतर झाँकते, पुकारते मोक्ष मन्दिर के कपाट उसने झुंझला कर बन्द कर दिये हैं। · · · और वह कौशांबी की अंधी गलियों में सर्वहारा, मलिन-वदना, अश्रुमुखी माँ के उस संत्रस्त मुखड़े को खोजता फिर रहा है। · · ·

सुगुप्त मंत्री के द्वार-पौर से एक दिन गुज़र रहा था। दूर से मुझे देख उसकी स्त्री नन्दा हर्षाकुल होकर बोल पड़ी :

'लो, महावीर अर्हन्त, सौभाग्य से मेरे द्वार पर ही आ रहे हैं!'

विविध-व्यंजनी रसवती के सुवर्ण थालों से सज्जित दालान में नन्दा आवाहन करती रह गई। पर भिक्षुक उस ओर आँख उठाये बिना ही निकल गया। पीछे सुनायी पड़ा नन्दा के कातर कण्ठ का उदास स्वर :

'हाय, कैसी हतभागिनी हूँ मैं। आज एक-सौ बीसवीं बार मेरी रसवती प्रभु का कल्प न हो सकी। मेरा नैवेद्य हर बार प्रसाद होने से वंचित ही

रह गया।···ओरी भद्रा दासी, यह कैसा पापोदय हुआ है, मेरे और सारी कौशाम्वी के, कि भगवान आज चार महीने से, गोचरी पर निकल कर भी, हमारे अन्न को कृतार्थ नहीं करते। हमारी सारी पूजांजलियों को पीठ देकर वे चले जाते हैं।···'

सुगुप्त मंत्री जब साँझ को घर लौटे, तो देखा कि नन्दा रानी उदास मुख लिये आँसू सार रहीं हैं। मंत्री ने उनकी मनुहार कर कारण जानना चाहा, पर नन्दा के मुख में बोल रुँध गया है। उत्तर नहीं मिलता। मंत्री हारे-से उसके पैरों के पास निरुपाय बैठ रहे। तब बहुत देर बाद आँचल से आँसू पोंछती नन्दा उपालम्भ के स्वर में बोली :

'ओजी मन्त्रीश्वर, वत्स देश का महाराज्य किस बुद्धि से चलाते हो? तुम यह भी पता नहीं लगा सके, कि किस कारण महाश्रमण महावीर भगवन्त, तुम्हारी विपुला नगरी में चार महीने से हर दिन भिक्षाटन करके भी, भूखे-प्यासे ही लौट जाते हैं? धिक्कार है तुम्हारी विलास-नगरी कौशाम्वी का देवोपम वैभव। निःसत्व हैं, तुम्हारे अपार धान्यों से लहलहाते खेत। रसहीन हैं तुम्हारे रसमाते फलोद्यान। दुग्धहीन हैं तुम्हारे दूध-दही की नदियाँ बहाते गोधन। तुम्हारे इस विशाल अन्नकूट में कुछ भी देवार्य वर्द्धमान के लिये कल्प न हो सका? ···

'कैसा दुर्द्धर्ष अभिग्रह धारण कर भूख-प्यास की ज्वालाओं में तप रहे हैं वे महातपस्वी! कौशाम्वी के वैभव से चौंधियाते, धन-धान्यों से भरपूर राजमार्गों की अवगणना कर, वे नगर की भूखी-प्यासी, त्रस्त, अनाथ अन्धी गलियों में चले जाते हैं। और फिर लौट कर आते नहीं दिखायी पड़ते।···

'हमारी लज्जा और अनुशोचना का पार नहीं। हमारे आँचलों के दूध सूख गये हैं, इस दारुण हताशा से। और तुम राजपुरुषों के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। धिक्कार हैं तुम्हारे ये राज्य और पौरुष। धिक्कार हैं तुम्हारे और तुम्हारे राजेश्वरों के ये मुकुट-कुण्डल के अभिमान। गंधशालियों से लहलहाते तुम्हारे गंगा-यमुना के ये दोआव मुझे वन्जर लगते हैं। प्रभु ने तुम्हारे एक तंदुल के दाने को भी अपने आहार के योग्य नहीं समझा!'

मंत्रीश्वर निरुत्तर, लज्जित, नतमाथ धरती में गड़े रह गये हैं। फिर बहुत मनुहार कर रुठी रानी को मनाया है। वचन दिया है कि शीघ्र ही प्रभु के दारुण अभिग्रह का पता चलायेंगे।

महारानी मृगावती के सिंहद्वार पर भी हर दिन आहारदान का भव्य राजसी आयोजन होता है। पर भिक्षुक उस राह तो आया ही नहीं। मौसी-महारानी का मातृ-हृदय उससे मसोस उठा है, और उनके ऐश्वर्य-गर्वी अहंकार

को भी इससे कम ठेस नहीं पहुँची है। इस कोमल हृदया, धर्मात्मा श्राविका ने अपने रत्निम देवालयों में शान्ति के अनुष्ठान आयोजित किये हैं। हर दिन वे कोई रस त्याग करके ही भोजन करती हैं। महाराज शतानीक को हर दिन कोसने में वे कोई कसर नहीं रखती हैं:

'ओ राजेश्वर, धूल-माटी से भी निकृष्ट हैं, तुम्हारे ये सत्ता और सम्पदा के ढूह, तुम्हारी ये माणिक-मुक्ता की राशियाँ। काक-वीटों के ढेर हैं तुम्हारे ख़ज़ानों की ये पुश्तैनी, चिर पुराचीन, महामूल्य निधियाँ। मेरा त्रिभुवन-पति बेटा वर्द्धमान, पहली बार मेरे आँगन में आया, और तुम्हारी इस उर्वरा धरती का एक अन्न-कण भी उसे रास न आया, उसे न भाया!

'कैसे मानूँ कि गंगा-यमुना के कछार जीवन्त और उर्वर हैं। मुझे तुम्हारे गन्ध-शालियों में सड़ते धान्य की गंध आ रही है। तुम्हारे महालय शवालयों से लगते हैं। इस लज्जा और लांछना से कहाँ निस्तार है? ...

'हमारी वैभव-लालित सुकुमार काया तो एक दिन के लिये भी प्रभु के साथ उपासी नहीं रह पाती। पर सुन रही हूँ कि उन अन्धी-गन्दी गलियों के कई नर-नारी, आबाल-वृद्ध-वनिता, अर्हत् प्रभु की इस दारुण परिषह-तपस्या को असह्य पा कर, स्वयम् भी कई दिनों से निर्जल निराहार हो कर पड़ गये हैं। वे अन्धी गलियाँ। वे दैन्य, दारिद्र्य, दुराचार और पाप के अड्डे। नीच वर्गों के वेश्यालय, मदिरालय, जिनमें कभी हम झाँकना भी पसन्द नहीं करते। उन्हीं में जा कर वे निगंठ ज्ञातृपुत्र जाने कहाँ खो जाते हैं। लौट कर आने का नाम नहीं लेते।

'हाय रे भगवान, यह कैसा लज्जास्पद व्यंग्य जन्मा है कौशाम्बी में। और ऐसे में उदयन, तू जाने किन वीरानों की ख़ाक छान रहा है? तेरे प्रताप, कला, सौन्दर्य, प्रणय और विजय की, हवाओं में गूंजती गाथाएँ, मुझे आज मिट्टी में लोटती दीख रही हैं। अपने ही रक्तजात भाई के इस तपो-हिमाचल वैभव को एक बार, काश, तू देखता उदयन! तेरे सारे पराक्रम उसके चरणों में पानी भरते रहते जाते...!'

महारानी मृगावती, मंत्रीश्वरी नन्दा और सम्भ्रान्त कुलों की अनेक अंगनाओं के आँसू-भीने आँचलों ने मानो तूफ़ान बरपा कर दिया है। उससे ताड़ना पा कर समूचा राजपरिकर देवार्य वर्द्धमान के दुरन्त अभिग्रह का पता पाने की कोशिश में प्राणपण से जुट गया है। महाराज शतानीक रात-दिन मंत्रणा-गृह में मंत्रियों, आमात्यों, सेनापतियों के साथ मंत्रणा-परामर्श में

व्यस्त रहते हैं। कौशाम्बी के सारे ही निमित्त ज्ञानी, तांत्रिक, मांत्रिक, दैवज्ञ, ज्योतिर्विद एक-एक कर आये हैं, और महावीर के मनोमंत्र की थाह न पा कर, म्लान मुख लौट गये हैं। विपुल दान-दक्षिणा दे कर राज्य के महा-याजनिकों से हवन-अनुष्ठान करवाये जा रहे हैं। सारे ही जिनालयों में सिद्धचक्र-पूजा के मण्डल-विधान चल रहे हैं।···

पर हुतात्मा वर्द्धमान के क्षुधा-तृषा-यज्ञ की पूर्णाहुति सम्भव न हो सकी है। हर दिन भिक्षा की अंजुलि फैलाये सुकुमार राज-संन्यासी कौशाम्बी की परिक्रमा कर भूखा ही लौट जाता है। कौन घाव उसके मर्म में टीस रहा है? अन्तरयामी के अन्तर की थाह लेने में कौन समर्थ हो सकता है। कौशाम्बी में हाहाकार मच गया है। दासी-पण्यों में आक्रन्द करती दासियाँ, चंडिकाएँ हो उठी हैं। अपने सौदागरों के सारे नागपाशों को तोड़ कर, वे पागल की तरह विलाप करती, इस सुन्दर सुकुमार नग्न अवधूत के पीछे भागी फिरती हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ की धूलि में वे लोटने लग जाती हैं। उसकी चरण-रज को आँचलों में भरने की उनमें होड़ लगी रहती है। दासी-पण्य उजड़ गये हैं। सौदागर हार मान कर हाथों पर हाथ धरे वैठे रह गये हैं। अनेक तो अपनी हट्टी उठा कर, व्यापार की टोह में परदेस चले गये हैं।

कौशाम्बी के वेश्यालयों के कपाट वन्द हो गये हैं। वे रूप-जीवियाँ रूप-यौवन तथा शिश्नोदर की भूख-प्यासें विसर गयीं हैं। साँझों में शृंगार-प्रसाधन और अतिथि-आवाहन की सुध-वुध उन्हें नहीं रह गयी है। दीप-वेला में, अपने इष्टदेव को धूप-दीप फूल-गन्ध चढ़ा कर, आँचल माथे पर ओढ़ कर, वे साश्रु-नयन प्रार्थना में लीन हो रहती हैं:

◆ ◆ ◆

'हे मुझ पापिन के देवता, कव तक कुमार-भागवत ऐसे ही भूखे-भरखे हमारे द्वारों से लौटते रहेंगे, और हम पेट भर शालि-खीर खा कर, सुख की नींद सोयेंगी? जान पड़ता है, हमारे ही जनम-जनम के पापों का प्रायश्चित कर रहे हैं हमारे ये परम प्रीतम, परम पिता। धिक्कार हैं हमारे ये सारे सिंगार और प्रणय-व्यापार, यदि हमारी एकाकिनी आत्मा के ये एकाकी वल्लभ प्रभु उनसे प्रसन्न और परितुष्ट नहीं होते···!' और वे आँसू सारती हुई जहाँ की तहाँ शव की तरह लुढ़क पड़ती हैं।

चार महीने हो गये। हर अन्धी गली के अन्तिम अँधेरे में धँसता ही चला गया हूँ। पाया है कि तमसलोक की उस कुहा का अन्त ही नहीं है। हर पर्दे के वाद एक और मोटा पर्दा है: उसमें भी तह के भीतर कई तहें हैं, पर्त के भीतर कई पर्तें हैं। जाले के भीतर कई जाले हैं। गव्हर में

गव्हर है, और उसके चहुँओर गव्हर पर गव्हर खुलते चले जा रहे हैं। और फिर आयी है वह गुफ़ा, जिसमें जा कर आज तक कोई नहीं लौटा है। ऐसी होड़ लगी है, कि या तो वह गुफ़ा रहे, या फिर मैं रहूँगा।···सुनायी पड़ती है उसके छोरान्त में से एक कातर, कठोर, बहुत महीन, मृदु आवाज़ :

'नहीं···तुम्हें कभी नहीं पुकारूँगी, मृत्यु के जबड़े में पड़ जाऊँ, तब भी नहीं। तुम्हारी खोज में नहीं, अपनी ही खोज में भटक रही हूँ। तुम मेरे होते ही कौन हो···?'

और उस आवाज़ के उद्गम पर पहुँचने की अनिवार्यता बढ़ती ही गयी है। अधिक-अधिक अपना आपा हारता चला गया हूँ। पाया है कि अपना 'मान' मैं नहीं, कोई और ही है। वर्द्धमान का कोई एक मान कैसे हो सकता है?···

जीवन में ऐसी क्षुधा तो कभी नहीं लगी। ऐसी कि शस्य-श्यामला धरती के समूचे रस का एकबारगी ही प्राशन किये बिना, मानो वह शमित न हो सकेगी। कहाँ है वह अन्तिम स्तन, जिसमें कालातीत रूप से दूध स्तन में, और स्तन दूध में परिणत होता रहता है। उस तक पहुँचे बिना प्राण को विराम नहीं है।

'···मेरे नाथ, मेरे भगवान, तुम कहाँ हो?···तुम कहाँ हो?'

अविज्ञात दूरी की वह पुकार अपने ही अन्तरतम में से सुनायी पड़ रही है। अँधेरे की अन्तहीन कुहा यों तिरोहित हो गयी, जैसे एक गहरा रेशमी जामनी आँचल सहसा ही किसी ने खसका दिया हो। उज्जव दूध का पारावार, एक अति गौर वक्षदेश के तटों में थमा हुआ है।···माँ···आत्मा!

···भिक्षुक एक महालय के तलघर की अँधेरी कोठरी के द्वार पर आ कर अटक गया।

'···ओह, वही तो स्वरूप सामने प्रस्तुत है, जो उस दिन संगम के पुलिन पर, मेरे भीतर अभिग्रहीत हुआ था। पर,···आँसू नहीं हैं इसकी आँखों में। नहीं, यहाँ नहीं अटक सकूँगा।···और आगे जाना होगा। कहीं और···! अरे कहाँ है वह करुणमुखी अश्रुलता। कहाँ है वह अश्रुमुखी राजबाला?'

तपाक से भिक्षुक लौट गया।···आगे बढ़ गया। पीछे सुनायी पड़ा :

'नाथ, मुझे नहीं पहचाना? देख कर भी अनदेखी कर गये? मुझी से भूल हो गयी।···तुम्हारी चन्दन तुम्हें पुकार रही है···!'

बन्दिनी की आँखों के बाँध टूट गये। भिक्षुक तत्काल लौट आया।

'भिक्षांदेही···!' अनुगुंजित हुआ हवाओं में।

भिक्षुक ने सहज नम्रीभूत हो कर, दासियों की दासी चन्दना के आगे अपनी भिक्षा का पाणि-पात्र पसार दिया।

चन्दना ने झुक कर अपने अविरल बहते आँसुओं से भिक्षुक के चरण पखार दिये। चरणोदक आँखों और माथे पर चढ़ा लिया।···आँसू की बूंदें टप-टप भिक्षुक की करांजुलि में टपकीं। और उसके साथ ही उस कल्याणी ने सूप के एक कोने से, उसमें पड़े वे कुलमाष के दाने अतिथि के पाणि-पात्र में उँड़ेल दिये।

···कोई वज्र-साँकल विजली के झटके से झनझना उठी। हठात् दासी की वेड़ियाँ टूट गयीं। भिक्षुक की अंजुलि में सुगन्धित पयस छलछला उठा। चिर दिन के क्षुधित वालक की तरह भिक्षुक एक ही घूंट में उसका प्राशन कर गया।

'अनाथिनी के नाथ, मेरे पतित-पावन प्रभु!'

कह कर चन्दना भिक्षुक के चरणों में लोट गयी। आँसुओं से उन धूलि-धूसरित, अविश्रान्त यात्रिक पैरों को पखारती हुई, उन्हें अपने गीले गालों से पोंछने लगी।

'परम परित्राता, पतित-पावन भगवान महावीर जयवन्त हों।'···

अन्तहीन जय-जयकार करती जन-मेदिनी ने देखा: दिव्य वसुधारा वरसाती, नाना वाजित्रों से अन्तरिक्ष को गुंजाती, देव-पंक्तियाँ उस अँधियारी कोठरी के आँगन में उतर रही हैं।

···विपुल उत्सव-कोलाहल में लोकजन खो गये। भिक्षुक जाने कब कौशाम्बी के सीमान्त से पार हो गया।

पीछे उसे एक विधुर विव्हल पुकार सुनायी पड़ी:

'अव मुझे छोड़ कर न जाओ, मेरे नाथ।···मैं आ रही हूँ···मैं आ रही हूँ तुम्हारे साथ···!'

हवा ने उत्तर दिया: 'एवमस्तु···!'

भिक्षुक ने लौट कर नहीं देखा। वह चलता ही चला गया···चलता ही चला गया।

□

सृष्टि का एकमेव अभियुक्त मैं

चम्पा में वर्षावास व्यतीत कर, जृम्भक ग्राम, मेढक ग्राम से विहार करता हुआ, षड्गमानि ग्राम आया हूँ। यहाँ के उपान्त भाग में, सुरम्य शाल्मलि-वन के तलदेश में एक शिलातल पर आ बैठा हूँ। चारों ओर दूर-दूर तक फैले चरागाहों में ग्वाले गायें चरा रहे हैं। दूरान्त में एक टीले पर चरती एकाकी गाय के चतुष्पद में दीखा: आकाश के तट पर झूलता किसी महल का अलिन्द।···उसे एकटक निहारता जाने कब अन्तरगामी देश-काल के जाने कितने ही पटलों में यात्रा करने लगा।···ध्यान गभीर से गभीर-तर होता गया। ऐसा कि जहाँ विस्तार और गहराव एकाकार हो गये हैं। अतीत जीवन-जन्मों की जाने कितनी ही सरणियाँ पार होती चली गयीं।

···हठात् देखा, कि मैं हूँ त्रिपृष्ठ वासुदेव, तीन खण्ड पृथ्वी का अधीश्वर, परम प्रतापी अर्धचक्री। अपने विपुल वैभव मंडित कक्ष में, एक वसन्त रात्रि की शयन-वेला में, कुन्द-पारिजात फूलों की सुख-शैया में अध-लेटा हूँ। फर्श पर दूर द्वीपान्तर से आयी एक किन्नर-मण्डली, अपने अपार्थिव संगीत से चक्री का मनोरंजन कर रही है। उसके स्वरालाप से सम्मोहित मैं स्तब्ध, चित्र-लिखित सा रह गया हूँ। ऐसा संगीत कि जिसकी मीड़-मूर्च्छना में लवलीन हो कर तिर्यंच पशु-प्राणि तक भूख-प्यास भूल कर आत्म-विस्मृत हो जायें।···पहर रात गये मुझ पर गहरी तन्द्रा छाने लगी है। मैंने अपने शैयापाल को आदेश दिया:

'जब मुझे नींद आ जाये, तो तू इस संगीत-सभा को विसर्जित करवा देना।'

मैं गहरी निद्रा में मग्न हो गया, फिर भी संगीत-सभा जारी रही। पिछली रात अचानक मैं जागा, तो पाया कि संगीत की धारा वैसी ही अविराम वह रही है। मेरी भृकुटियाँ टेढ़ी हो गयीं। मैंने शैयापाल को तलब किया:

'मैं सो गया, फिर भी संगीत चल ही रहा है। मेरी आज्ञा का पालन क्यों नहीं हुआ?'

सुधबुध भूला शैयापाल होश में आकर बोला :

'स्वामी, संगीत इतना मोहक था, कि मेरा तो आपा ही खो गया। आज्ञा-पालन कौन करे? दास का अपराध क्षमा करें।'

···उस समय तो निद्रावश होने से मैं अपना क्रोध पी कर सो गया। पर सवेरे राजसभा में आते ही मैंने शैयापाल को तलब किया और ललकार उठा :

'ओ नीच, पामर, तेरा इतना साहस कि चक्रवर्ती की आज्ञा का भंग किया तूने ? त्रिखण्ड पृथ्वी की सत्ता और सम्पदा का स्वामी जिस संगीत सुख का उपभोग करता है, उसी का आनन्द तू भी लेगा रे, पांशुकुलिक ? एक दासानुदास की ऐसी स्पर्द्धा ? एक वर्वर पशुतुल्य क्षुद्र सेवक को क्या अधिकार कि वह मेरे योग्य मनमोहक संगीत को सुन कर मुग्ध हो ? आपा तक विसार दे, मुझे भुला दे, मेरी आज्ञा तक की अवहेला कर दे ?'

शैयापाल काँपता-थरथराता बोला :

'स्वामी, क्या करूँ, मेरे कानों पर मेरा क्या वश है ? पशु तक भान भूल जायें, ऐसा था वह संगीत। लाचारी को क्षमा करें महाराज···मेरे कानों से भारी अपराध हो गया···!'

'ओह, एक दास के कान मेरे संगीत का आस्वाद करेंगे ?···त्रिखण्डाधीश का ऐसा अपमान ? अरे सेवको, हटाओ इस जानवर को मेरे सामने से। लेजा कर इसके दोनों कानों में तप्त सीसे और तांबे का रस उँड़ेल दो। मेरा वश चले तो, मेरे श्रवण-सुख की स्पर्द्धा करने वाले हर कान का मैं मूलोच्छेद करवा दूँ···!'

◆ ◆ ◆

···कहीं नैपथ्य में शैयापाल के कानों में उबलते लावा-सा पिघला हुआ सीसा और तांबा उँड़ेला जा रहा है।···और जाने कितने जन्मान्तरों को पार कर, उसकी वे आर्त क्रन्दन करती चीखें आज मेरे तन के पोर-पोर को बींध रही हैं।···ओ बन्धु शैयापाल, कहाँ हो तुम इस घड़ी ? आज असह्य है मुझे तुम्हारी उस क्षण की वेदना। मेरी अन्तश्चेतना के अतल भेद कर वह मुझे तिलमिला गयी है।

···आओ मेरे प्रिय शैयापाल, सुनो मेरी बात, किन्नरों के संगीत अब मैं नहीं सुनता। सकल चराचर की नाड़ियों का संगीत अब मेरे अन्तर-श्रवण में प्रवाहित है। जानो बन्धु, प्राणि मात्र के सर्वकाल के सारे पाप-अपराधों का उत्तरदायी मैं हूँ। तमाम इतिहास के आरपार, प्रमत्त सत्ता-सम्पदा-स्वामियों ने जो दीन-दलित, अबल-असहायों पर बलात्कार किये हैं, उनका एकाग्र आरोपी मैं हूँ। तुम्हारा और सर्व का चिर जन्मों का अपराधी मैं हूँ। मुझे पहचानो मेरे बान्धव,

सृष्टि का एकमेव अभियुक्त मैं, वर्द्धमान महावीर, यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ। तुम्हारा जी चाहा दण्ड झेलने को उद्यत, प्रस्तुत।...

◆ ◆ ◆

केवल निष्कम्प भाव से समर्पित, कायोत्सर्ग में विजर्सित खड़ा हूँ। जो सम्मुख आये, उसके प्रति उत्सर्गित। और कोई विकल्प या क्रिया सम्भव नहीं रही है इस क्षण। हर परिणमन को केवल देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ। केवल मात्र अपनी चिद्क्रिया में लवलीन, अन्य सारी क्रियाओं का निपट साक्षी, द्रष्टा।

सहसा ही सुनायी पड़ी एक ग्वाले की आवाज़ :

'देवार्य, मेरे ये बैल आपके निकट ही चर रहे हैं। इन पर निगाह रक्खें। गाँव में अपनी गायें दुहने जा रहा हूँ। थोड़ी देर में लौट आऊँगा।'

सुना भी नहीं, अनसुना भी नहीं किया। मैं अपनी जगह पर हूँ : बैल अपनी जगह पर हैं। निरंकुश बैल जाने कब चरते-चरते, बहुत दूर निकल गये, और कहीं झाड़ियों की ओट हो गये। ग्वाले ने जब लौट कर बैलों को यहाँ नहीं देखा, तो बोला :

'देवार्य, मेरे बैल कहाँ चले गये? आपको सौंप गया था न?'

कई बार पूछने पर भी ग्वाले को कोई उत्तर नहीं मिला। वह भभक उठा :

'अरे ओ अधम साधु, उत्तर तक नहीं देता! मानुष है कि पत्थर?'

फिर भी कोई उत्तर नहीं लौटा। अनुत्तर है यह साधु, पत्थर से भी अधिक अविचल।

'अरे ओ जोगड़े, तेरे ये कान हैं, कि कीड़ों के बिल हैं? सुनता तक नहीं रे नराधम! बोल मेरे बैलों को कहाँ छुपा दिया है तेने?'

साधु पर्वत से भी अधिक निश्चल, हवा से भी अधिक लापर्वाह दीखा। केवल कान से तो वह सुनता नहीं। तन के तार-तार से सुनता है। सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है, मानो उसकी वह अनुत्तरता।

'अच्छा, ठहर दुष्ट, तेरे कान के कीड़े अभी निकाल बाहर करता हूँ!...'

नाकुछ समय में ही ग्वाला कहीं से कास की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किये। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों में वे सलाइयाँ बेहिचक खोंस दीं। तदुपरान्त पत्थर उठा कर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा। जब दोनों सलाइयों के छोर भीतर एक दूसरे से भिड़ गये, तो जो सलाइयों के सिरे बाहर रह गये थे, उन्हें दराँते से काट दिया, ताकि उन्हें कोई निकाल न पाये। तब उसने राहत की साँस ली।

फिर वह चुपचाप सन्तुष्ट भाव से खड़ा रह कर श्रमण की वेदना का आनन्द लेने को उद्यत हुआ। '···अरे, इसके तो कान पर जूँ तक नहीं रेंगी।···आदमी है कि जानवर ? ऐसी पीड़ा से तो जानवर भी चीख उठे। पत्थर कहीं का। पत्थर से भी बदतर।' ग्वाला मतिमूढ़, स्तब्ध हो रहा। कैसे इस दुष्ट को दण्डित करे। मार डालता तो तत्काल छुटकारा पा जाता यह दुष्ट। 'पर नहीं··· चाहता हूँ, यह अन्तहीन पीड़ा भोगता रहे। तिल-तिल जल कर मरे। लेकिन जलन और मरण की कौन कहे, ऐसे दारुण शल्यवेध से भी, इसका एक रोंया तक नहीं काँपा ? आश्चर्य !'

···ग्वाले की समझ-बुद्धि गुम हो गयी। उसका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच कर, आपोआप ख़ामोश हो गया। उसे अपनी स्थिति पर अचम्भा हुआ : 'अरे यह हो क्या गया है मुझे ? इस पत्थर से टकरा कर मैं भी पत्थर हो गया क्या ?' गुमसुम, निर्विचार, चुपचाप वह अपने बैलों की खोज में जंगल की ओर चल पड़ा। पर उसके जी में यह कैसी खटक है ? चैन नहीं···!

···आरपार विंधे इन शल्यों की पीड़ा सही नहीं जाती। कही नहीं जाती। देख रहा हूँ, तन की सहनशक्ति का अतिक्रमण कर वह अपार हो गयी है। जान पड़ता है, तन की सीमा को लाँघ कर वह जाने कहाँ विलय पा गयी है। तप्त सीसे और ताँबे के रस की अपेक्षा शायद वह कम पड़ गयी है। इसी से, लगता है, मेरे श्रवणों को वह पर्याप्त कष्ट न दे पाने के कारण व्यर्थ हो गयी है।

भाई ग्वाले की आत्मा के अतल में विंधा बैर का वह शूल मैंने देख लिया था। सो अन्त तक चुप रहा, निरुत्तर रहा, इसीलिये कि उसके कषाय का वह काँटा आमूल उचट कर बाहर आ जाये, मनचाहा कष्ट मुझे देकर, उसका हृदय किसी तरह निष्कंटक हो जाये। चाहा कि वह शूल मेरे कानों के आरपार विंध कर, उस बन्धु की आत्मा में से सदा को निर्गत हो जाये।

पर, क्या उसे चैन पड़ा ? वह तो और भी बेचैन, परेशान, खोया-भटका दीख रहा है।···बैल तो मिल गये उसे, जाने कब के। पर उसके जी में जो खटक है, उसे कैसे दूर करूँ ?···यह शल्यवेध जो अनुक्षण मेरे मस्तक के आरपार जारी है, शायद एक हद के बाद मेरे प्राण हर कर, उसकी पीड़ा हर ले।···

···लेकिन प्राण दे देने की छुट्टी मुझे कहाँ है ? कोई किसी के प्राण ले नहीं सकता, अपने प्राण दे नहीं सकता। यह ख्याल मात्र ही मिथ्या-दर्शन है, भ्रान्त चिन्तन है। मारने और मरने के निमित्त मात्र बनते हैं हम। इस व्यापार को अपने 'मैं' से जोड़ कर, हम इस मिथ्या अहंकार से दुःख ही बटोर पाते हैं, निष्क्रान्त नहीं हो सकते। महासत्ता में मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं। यह जीवन का स्वभाव नहीं, कि हम या और कोई उसका घात कर सकें। पानी की धारा को अपनी तलवार

से काटने का अहंकार हम भले ही कर लें। पर हक़ीक़त कुछ और ही है। अपने ही प्राण से पलायन कर, हम जायेंगे कहां ?···

लेकिन इस शल्यवेध की वेदना से सम्पूर्ण गुज़रे बिना तो निस्तार नहीं। इसे अन्त तक सह कर ही तो इसको जीता जा सकता है। इससे निष्क्रान्त हुआ जा सकता है। वेदना और मृत्यु को सम्पूर्ण संचेता से जी कर ही तो उसे जाना जा सकता है। उसे नकार कर नहीं, स्वीकार करके ही उसे जय किया जा सकता है। इसी तरह उसके मूल स्रोत तक पहुँच कर, उसके और उसके परे के सत्य को साक्षात् किया जा सकता है।

सो समर्पित भाव से इस पीड़ा को सहन कर रहा हूँ। इस वेदना की प्रत्येक कसक, ऐंठन, मरोड़ और मारकता को अपने अणु-अणु में काम करते एकाग्र भाव से देख रहा हूँ। यातना और मृत्यु का निश्चल भाव से निरन्तर साक्षात्कार ही इस घड़ी मेरे ध्यान का एक मात्र विषय रह गया है। पर जो ध्याता इसे ध्या रहा है, देख रहा है, इसका सामना कर रहा है, वह कौन है ?···

···घर छोड़े आज बारह वर्ष हो गये। कभी घर के साये, सुरक्षा या माँ का ख्याल तक नहीं आया।···पर महावेदना के इस चरम एकाकीपन में, हर कसक के साथ माँ का वह वत्सल मुखड़ा, आँखों में झूल जाता है। ओठों तक से फूट पड़ा है: 'माँ···माँ···माँ···माँ···माँ, तुम कहाँ हो···तुम कौन हो ?···लेकिन तुम भी तो अपनी देह की स्वामिनी नहीं। तुम भी तो पीड़ा और मृत्यु के सम्मुख अवश हो···।'

तब अपने आप को छोड़ कर और शरण कहाँ है···? माँ है केवल वही···आत्···मा! आत्मा जो निरन्तर अपने साथ, अभी और यहाँ है···।

◆ ◆ ◆

···चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति। यही तो एक मात्र स्व-भाव है मेरा। सो चलाचल रहा हूँ। वेदना अपनी जगह पर चल रही है, मैं अपनी जगह पर चल रहा हूँ।

मध्य अपापा नगरी आया हूँ। सिद्धार्थ वणिक के द्वार पर आ कर भिक्षा के लियें अंजुलि पसार दी है। उसके हर्ष का पार नहीं। विपुल केशर, मेवा, द्राक्ष से मधुर और सुगन्धित पयस उसने मेरे करपात्र में ढाल दिया है। उसके घूंट कण्ठ से नीचे उतारने में जो कष्ट हो रहा है, वह पास ही खड़े श्रेष्ठि के परम मित्र खरक वैद्य ने लक्ष्य कर लिया। विचक्षण प्राणाचार्य ने अपने मित्र सिद्धार्थ के कान में कहा:

'मित्र, ये सर्वांग सुन्दर भगवन्त वेदना से व्याकुल और म्लान दीख रहे हैं। यह शल्य-पीड़ा का लक्षण है।···शल्य से विद्ध है सौन्दर्य की यह मूर्ति।'

सिद्धार्थ श्रेष्ठि ने त्रस्त होकर खरक वैद्य से अनुरोध किया कि वह श्रमण के शरीर की परीक्षा कर निदान करे कि उनके शरीर में किस जगह यह शल्य भिदा हुआ है।···श्रमण हाथ खींच कर कायोत्सर्गित हो गया है। उसका देह-भान चला गया है। अविचल सुमेरु की तरह, आजानु भुजाएँ लम्बायमान कर वह स्तम्भित खड़ा रह गया है। खरक वैद्य ने बड़ी निपुणता से सूक्ष्मता पूर्वक उसके शरीर के प्रत्येक अंग और अवयव की परीक्षा की। तब श्रमण के दोनों कानों में ठुके शूलों पर उसकी दृष्टि अटक गयी। खरक ने सिद्धार्थ को वे शूलविद्ध श्रवण दिखाये। हाहाकार कर उठा सिद्धार्थ।

'मित्र खरक, तुरन्त तू ऐसा उपाय कर, कि ये सुकुमार प्रभु, किसी महा पापात्मा दुष्ट द्वारा दिये गये इस दारुण दुःख से मुक्त हो सकें। शल्य तो इन भगवन्त के श्रवणों में भिदा है, पर इनकी पीड़ा से मेरा सारा शरीर ऐंठा जा रहा है। शीघ्र इन जगत्पति भगवान को, तू इस असह्य कष्ट से मुक्त कर, आयुष्यमान्।'

'मित्र सिद्धार्थ, ये प्रभु तो एक बारगी ही इस समस्त विश्व का क्षरण और रक्षण करने में समर्थ हैं। पर अपने ही बाँधे कर्मों का क्षरण करने के लिये, इन अर्हत् ने अपने अपकारी पुरुष को भी क्षमा कर दिया है। अपने कर्मक्षय के लिये, स्वेच्छतया इन्होंने इस प्राणहारी वेदना का भी वरण कर लिया है। अपनी ही देह की जिसने उपेक्षा कर दी है, उसकी चिकित्सा करने में मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ? वह तो निरा दम्भ और अहंकार होगा, मित्र!'

'तर्क-युक्ति करने का समय नहीं है, आयुष्यमान्। मुझे प्राणान्तक वेदना हो रही है। तू तत्काल इन भगवन्त को शल्य-मुक्त कर, ताकि मैं जीवित रह सकूँ।'

झलक रहा है मेरे भीतर : यह शल्य-पीड़ा केवल मेरी ही नहीं रह सकी है। सिद्धार्थ में संक्रमित हो कर, वह जैसे प्राणि मात्र में व्यापती जा रही है। इसके सर्जक ग्वाले को भी चैन नहीं।··· वही हो, जिससे सबकी शल्य-पीड़ा दूर हो, सब को साता मिले।···

मैं चुपचाप चल पड़ा। शाल्मली-उद्यान में अपने स्थान पर पहुँच कर पद्मासन में ध्यानस्थ हो रहा।···कुछ ही देर बाद दिखायी पड़ा : सिद्धार्थ और खरक वैद्य आवश्यक औषधि-उपचार के साधन ले कर उद्यान में दौड़े आये हैं। मेरे शरीर को पद्मासन में ही ज्यों का त्यों उठा कर एक तेल की कुण्डी में बैठा दिया गया है। प्रत्येक अंगांग में तेल का अभ्यंगन किया गया है। बलवान मर्दन करने वाले मर्दकों ने मेरी देह के चप्पे-चप्पे का बड़ी मृदुता से मर्दन किया है। इस प्रकार मेरे शरीर के प्रत्येक साँधे को शिथिल कर दिया गया है।

फिर दो व्यक्तियों ने शल्य-उच्छेदक संड़ासियाँ ले कर, दोनों कानों के शूलों पर पकड़ बैठा कर, एक साथ उन्हें पूरी शक्ति से खींचा।··· उस क्षण बरबस ही मेरे मुख से एक भयंकर चीख निकल पड़ी। ऐसी वेदना की अनुभूति हुई, जैसे कोई वज्रबाण ब्रह्माण्ड के हृदय को भेद कर मेरे आरपार निकल गया हो।···

अपनी चीख को दबाने की कम चेष्टा नहीं की मैंने। लग रहा था, कि यह चीख यदि पराकाष्ठा पर फूटेगी, तो त्रिलोक के सकल चराचर प्राणी इससे घायल हो पड़ेंगे। पर एक हद के बाद मेरे वश का क्या था। मेरी यह वेदना सृष्टि के असंख्य जीवात्माओं में व्यापे बिना न रह सकी।...

शूल निकल कर सामने आ पड़े। दोनों श्रवणों से खून के फँव्वारे फूट निकले। ...जन्मान्तरों के बाद एक अपूर्व राहत अनुभव हुई। मेरे श्रवणों से फूटते रक्त की धारा में, कई भवान्तरों पूर्व शैयापाल के कानों में मेरे द्वारा ढलवाया गया तप्त सीसे और तांबे का रस, समूचा बाहर बह आया।

...निःशल्य हो गये, मित्र, शय्यापाल ? ...और अनाद्यन्त इतिहास के ओ जाने कितने शैयापालो, क्या तुम सभी निःशल्य हो सके ? महावीर को क्षमा कर सके तुम ? नहीं जानता। ...पर लगता है, मेरी चेतना जाने कितनी जानी-अनजानी जंजीरों और शूलियों से मुक्त हो कर, किसी चरम-परम समाधि में डूबी जा रही है। ...

...देख रहा हूँ, अपने बान्धव उस ग्वाले को। कुछ देर पहले तक वह एक अबूझ बेचैनी से छटपटा रहा था। अब वह अपने आँगन की नीम-छाँव में, बेखटक हो कर गहरी निद्रा में निमज्जित हो गया है। उसे लग रहा है, कि सुख की ऐसी नींद का ज्वार और खुमार तो उसकी आँखों में पहले कभी नहीं आया था। नींद में ही वह स्वप्नस्थ शिशु की तरह मुस्कुरा आया है।

अनागार होकर विहार करते ही, पहले दिन जगत के एक गोपाल का ही तो अपराधी हुआ था। संसार के अनेक विध दुःख-संत्रासों की परिक्रमा करके, बारह वर्ष बाद फिर शायद उसी बिन्दु पर लौटा हूँ, जहाँ से विश्व-यात्रा पर महाप्रस्थान किया था। और फिर से जगत के एक और, शायद अन्तिम गोपाल का अपराध मुझसे हुआ। ऐसे अन्तहीन मौलिक अपराधी को जगत में कौन क्षमा कर सकता है ?

पर इतना इस क्षण जरूर लग रहा है, कि मेरे और सब के उस मौलिक अपराध का उन्मोचन, इस मुहूर्त में हुआ है। और हम सब ने एक दूसरे को और अपने आप को क्षमा कर दिया है।

प्रतीति हो रही है, अन्ततः यहाँ कोई किसी का अपराधी नहीं, और कोई किसी को क्षमा करने समर्थ में नहीं। हम स्वयम् ही अपने-अपने अपराधी हैं, और केवल हम स्वयम् ही अपने को क्षमा कर सकते हैं।

...वैशाख की प्रखर मध्याह्न वेला में, वायुवेग से विहार करता हुआ, अपनी ही सन्मुख छाया का, आप ही अतिक्रमण करता हुआ, मगध के सीमान्त में प्रवेश कर गया हूँ।

□

भगवान नहीं, मनुष्य चाहिये

'माँ...!'

'आत्...मा!'

आह, यह कैसा शूल मेरी छाती के आरपार हो गया, हठात् इस आधी रात में। देश और काल को भेद कर किसने मुझे पुकारा है, मध्य-रात्रि के इस शून्यांशी मुहूर्त में :

'माँ...!'

'आत्...मा!'

समय की धारा थम गई है। केवल त्रास की एक चीख़ अन्तहीन हो गई है। लोक के सारे अस्तित्व इस पुकार में खो कर तदाकार हो गये हैं।

...यह तो तुम्हारी आवाज़ है, वर्द्धमान! मेरे मान, मेरे कलेजे के टुकड़े। इसे पहचानने में कैसे भूल हो सकती है। सब कुछ को भूल कर, केवल तुम्हें ही तो याद रख सकी हूँ, केवल तुम्हें। बेटा, यह क्या हो गया है तुम्हें? तुम्हारे वज्र को भेद कर कोई तुम्हें पीड़ित कर सके, ऐसी सत्ता तो, सत्ता में तुमने किसी की रहने नहीं दी। सारे प्रहार, अत्याचार, संत्रास, वध तुम्हारी स्वीकृति के भिखारी और शरणार्थी हो कर रहे गये। फिर तुम्हें, तुम्हें, तुम्हें कोई ऐसा प्रहार दे, कि तुम चीख़ उठो, पुकार उठो, कैसे विश्वास करूँ?

पर आवाज़ स्पष्ट ही तुम्हारी है, मान, और मेरा सुप्त गर्भ एकाएक फटा है, भर नींद में, इस निस्तब्ध रात्रि के सन्नाटे में। इसे झुठलाना मेरे वश का नहीं। इसे व्यन्तर-माया कह कर टाल नहीं सकूँगी। क्यों कि कोई माया, कोई छल तुम्हारे और मेरे बीच नहीं खेल सकता। अपने साथ मुझे इतनी तदाकार करके छोड़ गये हो कि, कि तुम्हारे उस सत्य में मिथ्या की ऐसी कोई दरार पैदा हो सके, यह सम्भव ही नहीं है। तुम्हें लेकर जो विछोह की व्यथा भीतर आज भी सुबक रही है, वह भी तुम्हारे प्यार और करुणा के अतिरिक्त और कुछ कभी लग नहीं सकी। ऐसी सघन एकात्मता को जगत का कोई भी तीर कैसे चीर सकता है?

···पर छाती मेरी चिर गई है, गर्भ मेरा दरक गया है। और कोई चरम तीक्ष्णता मेरे पोर-पोर के पार हो गई है, इसे कैसे झुठलाऊँ ? मेरी अंतिम गोपनता छिन्न-भिन्न हो कर मेरे सामने नग्न आ पड़ी है। यह कैसा ख़ून का फ़व्वारा मेरे अतल में से फूट पड़ा है। ये कैसे आँसू मेरी गोदी में उफन रहे हैं। इतने अन्तिम और अनिवार हैं ये, कि इन्हें रोकना और सहलाना मेरे वश का नहीं।

वर्द्धमान, यह ख़ून, ये आँसू तुम्हारे सिवाय और किसी के नहीं हो सकते। क्यों कि ये अन्तिम हैं, अन्तहीन हैं। ये निराधार और निरालम्ब हैं। अपने ही आप में सार्थक और समाप्त हैं।···पर ये इतने मेरे अपने और अत्यन्त निजी लग रहे हैं, कि इन्हें तुम्हारे कह कर अपने से अलग कैसे करूँ ? इतनी विराट् और चरम है यह रक्तधारा और अश्रुधारा, कि मानो हर काल और देश के हर जीव की आत्मा में से यह बही चली आ रही है।···

'प्रियकारिणी त्रिशला, इसी क्षण के लिये तुम्हें यह नाम प्राप्त हुआ था। इसी क्षण के लिए तुम जन्मीं और माँ हुई थीं, कि तुम्हारा गर्भ अन्तिम रूप से विदीर्ण हो कर एक दिन किसी अयोनिज सृष्टि का द्वार हो जाये !··· सो जाओ, प्रियकारिणी, तुम्हारे सिवाय कहीं और कुछ नहीं है। तुम्हीं ने अपने आपे को, अपने आत्मज को क़त्ल किया है, आज की रात।···ऐसा हत्यारा महावीर के सिवाय और कौन हो सकता है ? वह, जो आप ही ही मारता है, आप ही मरता है।···और सब माया है, माँ···!'

'आत्···मा !'

माँ को पुकार कर भी, तुमने उसे परे ढकेल दिया, बेटा ? सोच में पड़ी थी कि यह दूसरी आवाज़ किसे पुकार रही है ! यह मेरे सिवाय दूसरी कौन माँ है—आत्···मा। तुम्हारी पीड़ा से बड़ी हो कर उठ रही थी, यह ईर्ष्या।···अब समझी, मुझे नकार कर तुमने अपनी ही आत्मा को पुकारा अन्ततः।··· ईर्ष्या का आधार पा कर, तेरी यह माँ अपने प्यार को व्यक्त करने का माध्यम पा गई थी। वह भी देकर तुमने छीन लिया। तुम्हारी निर्ममता का अन्त नहीं। तुम्हारी ममता का अन्त नहीं। तुमने अन्तिम रूप से मुझे अपने से अलग कर दिया। तुमने अन्तिम रूप से मुझे अपने में मिटा दिया। फिर भी एक दूसरे शरीर में जिये चले जाने को तुमने मुझे लाचार क्यों छोड़ा ?

गोपन और ग्रंथि का मोचन होने पर कैसे जिया जाये ? जीवन का रहस्य ही नग्न निरावरण हो गया। इस नग्नता को कैसे सहूँ। मृत्यु में भी अन्त नहीं मेरे लिए ? उसे आलिंगन में लेकर जीना होगा !

और यह शूल ? किसने इससे तुम्हें वींध कर, मेरा योनिवेध किया है ? · · · ओह कैसे भयानक, क्रूर हो तुम ? अपने और मेरे हत्यारे के रूप में तुम्हीं खिलखिलाते हुए सामने आ खड़े हुए हो ! अव भी तुम्हारा वचपन गया नहीं, मान ? वही खिलाड़ी रूप, वही लीला-खेल। सोचा था, अव तो तुम गहन गम्भीर हो गये होंगे। पर · · ·

◆ ◆ ◆

'कौन ? वर्द्धमान ? तुम यहाँ कैसे ?'

'मैं सिद्धार्थ, त्रिशला ! · · · यह तुम्हें क्या हो गया है ?'

'तुम क्यों आये ? किसने बुलाया तुम्हें ?'

'तुम्हारी चीख़ सुन कर आया, त्रिशा ? ऐसी चीख़ तो तुम्हारी कभी सुनी नहीं ।'

'मैं चीखूँ या मरूँ, मुझे तुम्हारी ज़रूरत नहीं।'

'शान्त, प्रियकारिणी, शान्त ।'

'तुम्हें मेरी चीख़ और पीड़ा अधिक प्रिय है। मैं नहीं । वर्द्धमान गया, उस दिन के वाद से, तुम्हें मेरी कोई चाह नहीं रही । फिर तुम केवल मेरी ख़ातिर मेरे पास कभी नहीं आये। मेरी सिसकियाँ सुन कर, मेरी पीड़ा और घाव को सहलाने ज़रूर आये। नहीं, मुझे तुम्हारे झूठे दिलासे नहीं चाहिये। मैं अपने लिए काफी हूँ । · · · जाओ वहीं, जहाँ तुम्हारा वेटा गया है !'

'रानी-माँ, तुम्हीं नहीं, तो और कौन समझेगा मुझे ? वर्द्धमान से वढ़ कर और कौन सा प्रेम हमारे वीच हो सकता है ?'

'प्राणाधिक हो कर भी, कोई वेटा, मेरी अपनी आत्मा से वड़ा नहीं हो सकता । क्या वर्द्धमान मेरे कहने से रुका ? मुझे रोती-कलपती छोड़ कर अपनी आत्मा की खोज में वह चला गया । मेरी भी अपनी आत्मा है, और वह हर किसी से स्वतंत्र है ।'

'वही तो महावीर है। तुम्हारी परम स्वतंत्रता। हर आत्मा की अपनी स्वाधीन सत्ता ।'

'मुझे उपदेश नहीं सुनना। अपनी पीड़ा मुझे उससे अधिक प्रिय है।'

'प्राण, मेरी आत्मा ! · · ·'

'मैं किसी की प्राण और आत्मा नहीं । केवल अपना प्राण, अपनी आत्मा हूँ ।'

'इतनी निर्मम तो तुम कभी न हुई, प्रियकारिणी !'

'···मेरी छाती पर से हाथ हटा लो। मेरा ज़ख्म तुम्हारे सहलावों और पुचकारों का क़ायल नहीं!'

'तुम कुछ वुदवदाई थीं, चीख़ने के वाद: 'आह, यह कैसा शूल मेरी छाती के पार हो गया···!'—कहाँ है वह शूल, कौन सा शूल?—वोलो तृशा. मुझे दूर न ठेलो। अव अधिक जीने वाला नहीं हूँ···'

मैंने उनके वोलते ओठों को ऊँगलियों से दाव दिया।

'नाथ, ऐसा न कहो। मन से तो वेटे के महाभिनिष्क्रमण की रात ही तुम मुझे त्याग चुके थे। पर आँखों के सामने रहो मेरी। वहुत अकिंचन हो गयी हूँ···'

'तुम्हें त्याग कर कहाँ जाऊँगा? पर तुम्हें ले सकने की मेरी सामर्थ्य ही उस साँझ समाप्त हो गयी। वहुत, वहुत वड़ी लगीं तुम उस रात।···तुम्हारी सुवकती छाती पर रक्खा मेरा हाथ थरथरा रहा था। तुम्हारे उस रुदन को रोक न सका, ख़ुद ही उसमें गल कर वह गया।'

'नहीं, तुम्हें वहने नहीं दूँगी। पर मेरे रुदन का अन्त नहीं। लगता है, कि इस छाती में सारी सृष्टि का आर्त्त प्राण सिसक रहा है। पर···पर··· मेरे किनारे वन कर रहो। ताकि जगत क़ायम रह सके, ताकि अस्तित्व जारी रह सके। मैं पहले जगत को हूँ, अस्तित्व की हूँ, मोक्ष की नहीं। तुम्हारे वेटे का मोक्ष, मुझे समा नहीं सकेगा। समुद्र की सार्थकता इसी में है कि वह वादलों में घिरे, फिर वरस कर नदी वने। और जव पागल-विकल नदी दौड़ती हुई उसके आलिंगन में आ पड़े, तो वह धन्य हो जाये!'

'ओ मेरी नदी, तुम्हीं मुझे समुद्रत्व देती हो। फिर मेरे खारेपन को तुम्हीं मधुर वनाती हो। तुम न आओ मेरी वाँहों में, तो मेरी उत्ताल तरंगों का क्या अर्थ? मेरी विराटता केवल तुम्हें समेट कर सार्थक हो सकती है।'

एक गहरे आदिम मौन में, समुद्र नदी को वाँधने का विफल प्रयत्न करता रहा।

रानी, वड़ा भयानक सपना देखा मैंने!'

'मेरा लालू तो सुरक्षित है न? वोलो, जल्दी वोलो।'

'एक शूल मेरे दोनों कानों के आरपार भिद कर, मेरी रीढ़ को वेधता चला गया। मेरी मूत्र-नलिका में तीर की तरह सनसनाता हुआ, मेरे मूलाधार के पार हो गया।'

'···और फिर मेरी छाती को आरपार वेध गया!'

'और तभी तुम चीख़ उठीं ?'

'मैं नहीं चीखी, मेरा गर्भ विदीर्ण हो कर चीख़ उठा। मेरा लाल, मेरा बेटा, मेरी छाती का टुकड़ा।···उसे कुछ हो गया है जरूर !'

और मैं उठ कर अपमें स्वामी के वक्ष पर ढलक कर विलबिला उठी। मुझे सहलाते हुए वे धीरे-से बोले :

'लगा तो मुझे भी ऐसा ही, रानी। पर अब तक जो उदन्त उसके उपसर्गों के हमने सुने हैं, उसके बाद अब जगत का कौनसा शूल महावीर की प्राण-हानि कर सकता है ?'

'जानती हूँ, उसे मारने वाली सत्ता पृथ्वी पर नहीं जन्मी। पर जो पीड़न उसने अब तक झेले हैं, उसके आगे का कोई और पीड़न भी तो हो सकता है ?'

'चण्डकौशिक के दंश क्या कम थे ? शलपाणि यक्ष के दानवीय पंजों से कौन जीता निकल सकता था ? और संगम देव ने कौन-सा त्रास उसे नहीं दिया ? उसकी शिराओं में खून नहीं, विच्छू बहे। उसकी अँतड़ियों में प्रलय के समुद्र धँसे। व्याघ्रों और मदोन्मत्त हाथियों ने उसे रौंदा, उसके एक-एक अवयव को फाड़ दिया। फिर भी उसकी सुकुमार काया के ज़ख्म ही नये कमलों की तरह खिल कर, उसके शरीर को और भी तरुण और तरोताज़ा वना गये। हर पीड़न और प्रहार उसके शरीर को अधिक अखण्ड, अधिक अघात्य बनाता चला गया।···'

'सो तो अपनी गोदी के गहरावों में ज्यों का त्यों सहा, और प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उसके साथ ही जैसे मृत्यु के जबड़ों में गई हूँ, और उसकी अमृत लेकर लौटी अंजुलि ने हर बार मुझे मानो नया अमृत-सा पिलाया है। पर यह घटना उसके आगे की लगती है। कारण···'

'क्या कारण ?'

'वे सारे उपसर्ग दैवी माया थे। उसे आक्रान्त और भयभीत करके भी उसकी देह के ठोस पुद्गल को नहीं भेद सके थे। पर आज पहली बार लगा कि, ठोस पुद्गल मनुष्य के, ठोस पुद्गल शूल ने, मेरे बेटे के मानवीय रक्त–मांस को विदार दिया है।···और···और वह चीख़ उठा है !'

'लेकिन, तृशा, क्या लाढ़ और वज्रभूमि के मानुष-भक्षी म्लेच्छों ने उस पर खूख़ार कुत्ते नहीं छोड़े ? क्या उन कुत्तों ने उसकी पिंडलियों और जांघों के ठोस मांस नहीं काट गिराये ? क्या आर्यों के मधुर रक्त-मांस के भूखे-प्यासे उन वर्बरों ने उसकी ठोस बोटियाँ चबा-चबा कर अपनी चिर काल की आर्त्त ईर्ष्या और तृष्णा

को नहीं भुनाया ? ···क्या कुँए में डाल कर उसकी ठोस हड्डियों को पत्थरों पर नहीं पछाड़ा गया ? कितने ही राज्यों के चरों और सिपाहियों ने उसे चोर और मुजरिम समझ कर अपने चाबुकों से उसके चमड़े नहीं उतारे ? ठोस मानुषी पंजों ने ठोस मनुष्य महावीर को फाड़ खाने में क्या कमी रक्खी। पर तब तो उसकी चीख़ तुम्हें कभी न सुनाई पड़ी, देवी ! मुझे तो लगता है कि, महावीर ज़ख्म और चीख से आगे जा चुका, तृशा।'

'नहीं मैं किसी धोखे में नहीं हूँ, देवता। यह उसका अन्तिम ज़ख्म और अन्तिम चीख़ है। उसके प्राण···'

'अशुभ न बोलो, देवी। हम दोनों ही किसी माया के कुचक्र में पड़ गये हैं। हम भ्रम में हैं। महावीर नहीं, तुम चीख़ीं, रानी ! तुम्हारी आवाज़ मैंने साफ़ सुनी है।'

'नहीं···नहीं···नहीं। तुम नहीं समझोगे। सुनो, फिर सुनो वह चीख़ ! ···देखो वह हवा में गूँज रही है। मेरा गर्भ चीख़ा, मेरी छाती विस्फोटित हुई, मेरा विश्व-सम्राट, अखिलेश्वर बेटा चीख़ उठा। मनुष्य की हिंसा, पशु, राक्षस, देव सबसे अधिक भयंकर होती है। आज मनुष्य के अन्तिम हिंसक बेटे ने, मनुष्य के चरम शरीरी बेटे पर आखिरी प्रहार किया है···'

'तुम तो किसी अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी की तरह बोल रही हो, देवी !'

'केवलज्ञानी की तरह क्यों नहीं ? मेरी योनि बोल रही है। मैं नहीं। क्यों कि वह विद्ध हो चुकी। वह जान ली गई। उसका भेद खुल गया। वह जीत ली गई अन्तिम रूप से। किस केवलज्ञान से कम है, उसकी यह चीख़, उसकी यह परम वेदना···!'

एक गंभीर सन्नाटा हमारे बीच अभेद्य हो रहा।

'मुझे कुछ नहीं समझ रहा, तृशा। मुझे आश्वस्त करो, रानी-माँ।'

'तुम्हारा बेटा, अब मौत से आगे जा चुका। जाओ, निश्चिंत हो कर सोओ, मेरे नाथ !'

'लेकिन उसका शरीर ?'

'उसका शरीर सिद्ध और अमर्त्य हो गया।'

'समझा नहीं मैं ? शरीर का स्वभाव नहीं अमरता।'

'महावीर के लिए कुछ अशक्य नहीं !'

'मतलब ?'
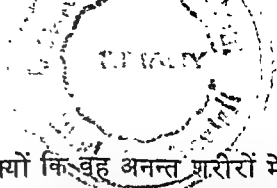
'यही कि एक शरीर से उसे ममत्व नहीं। क्यों कि वह अनन्त शरीरों में अपने को रच और मिटा सकता है। वह एक साथ असंख्य पिण्डों में क्रीड़ा करेगा...!'

'सुना नहीं ऐसा कभी। किसी केवली ने ऐसा कभी नहीं कहा। कोई त्रिकालज्ञानी, त्रिलोक-पति भी ऐसा दावा नहीं कर सका।'

'काल और लोक तीन पर ख़त्म नहीं। अनन्त हैं वे। और महावीर की भृकुटि में वे अपने नित नये आयाम खोल रहे हैं, राजन'

'कहाँ है वह इस क्षण?'

'जहाँ उसके सिवाय और कोई नहीं!'

'त्रिलोक और त्रिकाल से बाहर कहीं?'

'अपने आप में। अपने स्व-समय में, अपने स्व-देश में। जहाँ सारे देश-काल मात्र उसके आत्म-परिणमन की तरंगें हो कर रह गये हैं।'

'केवलज्ञानी महावीर हुआ हो या नहीं आज की रात, तुम ज़रूर वह हो गई हो, रानी!'

'ज्ञान से मेरा क्या लेना-देना? मैं हूँ निरी सम्वेदना, शुद्ध अनुभूति। निपट नारी।'

'माँ...!'

'आत्...मा!'

◆ ◆ ◆

कब कितनी दूर तक वे मेरे भीतर आये, और जाने कब कहाँ, किस पर पार में उतर गये, पता ही न चल सका। बस, एक समुद्र को अपने भीतर घहराता अनुभव करती रही। और सहसा ही वह स्तब्ध हो गया। अब मेरी शैया फूल-सी हलकी होकर, अन्तरिक्ष में तैर रही है। इतनी सार्थक तो वह पहले कभी न हुई। उस रात भी नहीं, जब तुम गर्भ में आये थे, मान!

सुना है, तीर्थंकर की माँ दुबारा गर्भ धारण नहीं करती। पर कितना ज्वलन्त है यह अहसास, कि आज मैंने दुबारा गर्भ धारण किया है। तीनों लोक और तीनों काल मेरी कोख की सीपी में तरल मुक्ताफल की तरह तैर रहे हैं। एक मोती के भीतर, असंख्य मोती हैं। और हर मोती के भीतर अनन्त का समुद्र हिलोरे मार रहा है। कितनी विचित्र है यह अनुभूति! एक नये ही लोक का जन्म होने को है। उसकी प्रसव-पीड़ा को सहने के

लिए यह एक शरीर कम पड़ रहा है। मेरे हर रोयें में से एक नये शरीर का अंकुर फूट रहा है। कोई ऐसा शरीर, जिसमें शुद्ध चैतन्य की तरंग ही मानो आकृत और पिण्डीभूत हो रही हो।

...हठात् यह कैसा विजली का-सा खटका मेरे मस्तिष्क में हुआ। किसी वहुत ऊपरी प्लैन से, वहुत नीचे के प्लैन पर आ पड़ी हूँ। मेरी अन्तरिक्ष में तैर रही फूल-शैया, फिर इस कमरे की ठोस फर्श, छत और दीवारों के वीच आ पड़ी है। क्षण भर पहले भारहीन हो गया मेरा शरीर फिर भारी और सीमित हो गया है।...

मान, उस दिन तुम मुझे आख़िरी वियोग दे कर, वड़ी निर्ममता से मेरा आँचल झटक गये थे। क्या उससे भी तुम्हारे पुरुष का मोक्षार्थी अहंकार तृप्त न हो सका? जो आज फिर वरसों के वाद, मेरे सोये हुए ज़ख्म को छेड़ कर तुमने उसे नये सिरे से रौंदा और मथ डाला है। तुम्हारे लिए यह निरा खेल हो सकता है, पर मेरे लिए यह हर पल मृत्यु से लड़ कर जीने का संघर्ष है।

...अरे, कौन थी वह, जो क्षण भर पहले मुझ में विद्युल्लेखा-सी खेल रही थी, गहन मेघमाला-सी वोल रही थी। अव रह गई हूँ फिर से एक निपट अकिंचन मर्त्य मानवी नारी, एक आदि काल की विरहिणी रमणी और माँ। एक चिर प्यासी, खण्ड-खण्ड दरकती धरती। और उसकी हर दरार में अवूझ अन्धकार के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस रात जैसे पहली वार, तुम से अन्तिम रूप से विछुड़ गई हूँ, मान। इन सारे वरसों में तुम्हारे मरणान्तक उपसर्गों के उदन्त आये दिन सुनती रही हूँ। चाहे जितनी ही वेदना और चिन्ता उनसे हुई हो, पर कहीं भीतर के भीतर में यह प्रतीति अटल रही कि, नहीं, मेरे मान का घात कर सके, ऐसी ताक़त कभी नहीं जन्मी, नहीं जन्मेगी।

पर, आज? इस मध्य रात्रि के शून्य पल में, वह धरती ही मेरे पैरों से किसी ने छीन ली है। तुम्हारे सिवाय ऐसी सामर्थ्य किसकी हो सकती है, जो तुम्हारी माँ को वेधरती कर दे।

...वारह वरस हो गये, तुम्हारा कोई सपना या परछाँहीं तक देख सकूँ, यह तुमने सम्भव न होने दिया। इतने असम्पृक्त, इतने निरासक्त हो कर गये तुम, कि प्रकृति का कोई पुद्गल-परमाणु तुम्हारे तन या मन की छाप ग्रहण कर सके, या तुम्हारी चेतना को विन चाहे रंच भी संक्रमित कर सके, यह शक्य न हो सका। ऐसी वीतरागता, जो सारे लोकाकाश में छा कर रह गई। वह इस अन्तरिक्ष की एक और ही तह, सतह और स्वभाव वन गई। मानो कि सव-कुछ को इस क़दर तुम अपने भीतर अन्तर्लीन कर गये, कि

बाहर से उसके साथ कोई अलग से सम्बन्ध या योग ही अनावश्यक हो गया। तब तुम्हारी माँ तुमसे बाहर कैसे रह सकती थी? तुम्हारा सपना देखने या झलक पाने को वह अलग कैसे छूट सकती थी?

तुम्हारे महाभिनिष्क्रमण की सन्ध्या में, जब लौट कर नन्द्यावर्त आई, तो ऐसा लगा कि घर नहीं लौट सकी हूँ, किसी अजान विदेशी समुद्र-तट के अजनबी वीराने में आ उतरी हूँ।···एक भँकार सूनेपन में सब कुछ जैसे पर्यवसान पा गया था। नन्द्यावर्त का भव्य सिंहतोरण विजयार्द्ध पर्वत के किसी ऐसे प्रकृत चट्टानी महाद्वार-सा लगा था, जिसमें धँस कर कोई अज्ञात-नाम प्रचण्ड नदी, जाने किस विजन कान्तार में खो गई है। महल की सीढ़ियाँ मानो मैं नहीं चढ़ी, कोई रहसीली प्रेत-छाया उन पर अपनी विचित्र चरण-छापें छोड़ती, किसी अन्तहीन ऊँचाई के नैर्जन्य में चढ़ती चली गई थी। मेरे कक्ष के कोने में खड़ा रत्निम दीपाधार किसी पारलौकिक आत्मा के आकस्मिक आविर्भाव-सा भयावना लगा। आतंकित, रोमांचित हो कर बेतहाशा भागती हुई जब अपनी शैया में जा कर लुढ़क पड़ी, तो अगले ही क्षण जैसे काला बुर्क़ा ओढ़े कोई डायन मुझ पर आ टूटी और उसने मुझे समूचा दबोच लिया। चीख़ने को हुई, पर मारे भय के चीख़ तक न निकल सकी। जैसे दो फ़ौलादी पंजों ने मेरे कण्ठ को जकड़ लिया हो।

भय और मृत्यु के उस शरणहीन छोरान्त पर मेरी चेतना सहसा ही स्तब्ध हो गई। एक जामली रेशमीन पर्दा-सा सिमट गया। और देखा कि ज्ञातृ-खण्ड उद्यान के उस अशोक वृक्ष तले, सूर्यकान्त शिला पर निस्पंद खड़ा दूध-सा उजला शिशु, एकाएक मुस्कुरा दिया। उसके प्रभामण्डल में डूबती सूर्य की अन्तिम किरण तले मेरी कोख का कमल पूरा खिल आया, और उसमें तुम चलते ही चले आये। भीतर से भी भीतर, तुम अविराम यात्रित थे, और मेरा भीतर अधिक से अधिकतर खुल कर तुम्हारी पगचापों को झेलता चला जा रहा था। तुम्हारे हर उठते कदम के साथ, अन्तर्देश के भूगोल में खड़े दुर्लंध्य पर्वतों की साँकलें झन्न-झन्न कर टूटती जा रही थीं। इतनी मुक्त, विदेह और प्रांजल हो गई मेरी चेतना, कि जाने कब मैं गहरी निद्रा की समाधि में सुगन्ध-निद्रित हो गई।

···किन्तु फिर मझ रात के पहर में, स्वप्न में ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे लोक-शीर्ष पर से औचक ही गिर कर, किसी घोर अँधियारी ख़न्दक में लुढ़कती चली जा रही हूँ। मेरे मुँह से चीख़ फूट पड़ी।

···तब होश में आ कर पाया था, मान, तुम्हारे बापू मेरे बहुत पास लटे हैं, और अपनी दोनों प्रेमाकुल भुजाओं में मुझे समूची समेट कर पुचकार रहे हैं, आश्वस्त कर रहे हैं। उनके बारम्बार दुलारने और पूछने पर भी मेरा बोल फूट नहीं सका था। एक विदग्ध गर्वीले मान से मन इतना मूक हो गया था,

कि अपनी उस परम एकाकी वेदना को मैं किसी के भी साथ बँटाने को तैयार न हो सकी। तुम्हारे वापू बहुत कातर, विव्हल हुए। फूट कर मेरी छाती पर लुढ़क पड़े। उन्हें ढाँपना तो दूर, उन्हें छूने तक को मेरी बाँह न उठ सकी। उन्हें आश्वासन देने का उपचार भी मुझे निरा मायाचार लगा। अन्तिम एकलता के इस किनारे पर कौन किसी को आश्वासन दे सकता है! ···

···ज्ञातृखण्ड उद्यान से लौटने के बाद की उस सन्ध्या के उपरान्त, इन बारह वर्षों में फिर कभी तुम्हारे बापू केवल मुझी से मिलने मेरे पास न आये। उस रात भी मेरी चीख़ पर ही आये थे। और बाद में भी तुम्हारे उपसर्गों के लोमहर्षी समाचार मिलने पर, जब मैं बहुत हताहत हो कर आक्रन्द करती थी, तो विवश हो कर दौड़े आते और अनेक तरह से मुझे सहला-दुलरा कर ढारस बंधाते रहते। वर्ना तो इस नन्द्यावर्त में हम किसी विजन महासमुद्र के बीच दो अपने आप में बन्द रहसीले द्वीपों की तरह ही रहते हैं। अनिवार्य काम-काजी बातचीत जैसे हम दो यंत्रों की तरह कर लेते हैं। पर फिर भी कैसा अलौकिक है यह अहसास, कि जैसे तेरे बापू चुपचाप मेरी शिरा-शिरा में बहते रहते हैं, और जैसे मैं उनकी धमनियों में ज्वारों-सी उमड़ती रहती हूँ। नितान्त असम्पृक्त एकाकी हो कर भी, हम निरन्तर इस तरह साथ हैं, जैसे धरती पर छाया आकाश। और उस आकाश के किसी नीलमी टीले पर तुम एक निर्द्वंद्व शिशु की तरह मुक्त क्रीड़ा कर रहे हो।···पर हाय, मेरा आँचल तरस कर रह जाता है, मेरे स्तन उमड़ कर झर पड़ते हैं, पर··· पर तुम्हें गोद नहीं लिया जा सकता। बस, विवश हूँ कि वह टीला हो रहूँ, जिस पर तुम खेल रहे हो।

···वैशाली से ख़बरें आती रहती हैं, कि तुम्हारे जाने के बाद से विदेहों की यह वैभव-भूमि एक अधिक-अधिक खौलती कढ़ाई हो कर रह गई है। आये दिन मगध और वैशाली के बीच छुटपुट युद्ध-विग्रह होते ही रहते हैं। कौन जाने, तुम्हें पता हो या नहीं, शील-चन्दना के स्वप्न की जिनेश्वरी देवनगरी चम्पा का मागधों के हाथों पतन हो गया। विष-कन्या के सर्प-दंश से श्रावक श्रेष्ठ महाराज दधिवाहन की हत्या करवा दी गई। तेरी मौसी पद्मावती शील-चन्दन को लेकर श्रावस्ती चली गयी। वहाँ से तुम्हारी खोज में वे राह-राह भटकती फिरीं। जिस भी ग्राम-नगर पहुँचतीं, पता चलता कि तुम उसी प्रातः काल अन्यत्र विहार कर गये हो। तुम्हारा पीछा करके, कौन तुम्हें पा सकता है? हवा और आकाश को कोई कैसे पकड़ सकता है, जबकि हम ही उनकी पकड़ में जीवन धारण किये हैं। अपनी ही आती-जाती साँसों का पीछा कर, हम कहाँ पहुँच सकेंगे? अपने ही में लौट कर विरम जाने को विवश हो जायेंगे। सुनती हूँ, चन्द्रभद्रा शीला को कोई ऐसा आन्तर-

आदेश प्राप्त हुआ है, कि वह कोसल के दासी-रानी पुत्र विडूढव से विवाह कर, श्रावस्ती के राजसिंहासन की जिनेश्वरी अधिष्ठात्री हो जाये । प्रभुता-प्रमत्त शाक्य क्षत्रियों से अवमानित दास-रक्त का वरण करके, वह अरिहन्तों के शाश्वत मुक्ति-यज्ञ को आगे बढ़ाये ।

◆ ◆ ◆

···कुछ बरस तुम्हारे नवम खण्ड के कक्ष में जाने का साहस न कर सकी । अब कभी-कभी चली जाती हूँ, तो देखती हूँ, कि वह रिक्त नहीं है, शून्य नहीं है : एक अद्भुत सुखद उपस्थिति से वह पूरम्पूर भरा हुआ है । एक-एक वस्तु यथास्थान, कुछ इस तरह अक्षुण्ण और अटल है, मानो कि वे शाश्वती (इटर्निटी) में नित-नवीन होती हुई विद्यमान हैं। हर चीज़ में जैसे आँखें खुल उठी हैं, और वे इतनी पूर्णता से मुक्त, आश्वस्त और परिपूरित हैं, मानो उनका भोक्ता उनके रेशे-रेशे में नित्य क्रीड़ाशील है। जब भी कभी एकाएक मन उचाट या उदास हो जाता है, तो तुम्हारे उस कक्ष में चली जाती हूँ। तुम्हारे स्फटिक सिंहासन के पायताने लेट जाती हूँ, और लगता है कि यह कौन लपक कर मेरी छाती के पास आ बैठा है, मानो कि मेरी छाती ही कट कर उसका एक टुकड़ा फिर उस पर आ लेटा है।

···फिर भी नवम-खण्ड से नीचे उतरते-उतरते जाने क्यों मन में गहरे विषाद की कुँवारी जामुनी बदली छा जाती है। इतनी बेकल हो जाती हूँ अचानक, कि हाय इसी क्षण जन्मान्तर या लोकान्तर कर जाऊँ। जैसे यहाँ के इस परिचय और परिवेश में जी नहीं सकूँगी। हर चीज़ में से तुम्हारी याद उद्ग्रीव हो कर बोल उठती है, और मैं रो पड़ती हूँ। घंटों रोती रहती हूँ। और वह रुलाई ही जाने कब तुम्हें मेरी बाँहों में खींच लाती है।···

कोई शिकायत या अभियोग मन में नहीं है, फिर भी रह-रह कर एक प्रश्न जी में हूक उठता है । कि राह-राह, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम, घाट-घाट, जंगल-जंगल , नदी-नदी, कण-कण और दिग्दिगन्त में परिव्राजन कर रहे हो । कि बारह वर्ष से अविराम, अविश्रान्त चल रहे हो। कि वैशाली की धूलि को भी कई बार अपने श्रीचरणों से धन्य कर गये। पर क्षत्रिय-कुण्डपुर की हिरण्यवती का तट कभी तुम्हारी अतिथि पगचाप से चौकन्ना न हुआ ? तुम्हारी परछाँहीं तक योजनों की दूरी से ही नन्द्यावर्त को टाल कर निकल गई। तुमने मध्यान्ह सूर्य-वेला की जलती पर्वत-चट्टानों पर चढ़ना कुबूल किया, पर मेरी तरसती-दरकती छाती के व्याकुल निवेदन को एक बार भी खूंद जाना, तुम्हें मंजूर न हो सका ? शायद इस लिए नहीं आये कि, जो द्वार तुम पार कर चुके थे, जो सीढ़ियाँ तुम उतर चुके थे, उनकी ओर लौट कर आना तुम्हारी निरन्तर पुरोगामी यात्रा के नक़्शे में सम्भव नहीं था। शायद

इस लिए नहीं आये, कि नन्द्यावर्त के सिंहपौर पर भिक्षार्थी हो कर आओगे, और पाणि-पात्र पसार दोगे, तो तुम्हारी माँ को वह सहन नहीं होगा। शायद यह भी सोचा हो, कि जिन माता-पिता और परिजनों का सर्वस्व ही छीन ले गये हो, उनसे और माँगने को कौन-सी भिक्षा शेष रह गयी है ?

कारण जो भी रहा हो, मान, पर यह बात काँटे की तरह मेरे जी में खटकती है, कि सारी दुनिया को अपनाने के लिए क्या यह अनिवार्य था, कि हम तुम्हारे नितान्त पराये हो जायें ? सुनती रही हूँ, सहस्रों आत्माएँ तुम्हारी इस महायात्रा में तुम्हारा प्यार पा कर उत्तीर्ण हो गई। असुरराज चमरेन्द्र के दुर्मद अहंकार को भी तुम्हारे चरणों में शरण प्राप्त हो सकी। पापियों, वेश्याओं और चाण्डालों तक को तुमने गले लगाया। चण्डकौशिक से अपने हृदय-देश तक को दंश करवाया। खोज-खोज कर अपने जनम-जनम के शत्रुओं की प्रतिहिंसा के हाथों तुमने अपने पोर-पोर को नुँचवा डाला। अगम्य जल-लोकों में उतर कर सुदंष्ट्र नागकुमार के उबलते वैर के प्रति आत्मार्पित हो गये।

· · · पर हमारी भूमि, नगर, आँगन और द्वार से तुमने इतना परहेज़ किया, कि फिर लौट कर उस ओर मुँह तक न फेरा। अपने जनक-जनेता की अनन्त प्रतीक्षावती आँखों के उत्तर में, एक झलक दिखाना या आँख उठा कर देखना भी तुम्हें गवारा न हो सका ? सारे कारण बूझ कर भी, यह बात कारणातीत लगती है। क्यों कि इतना ममत्व तुम में कहाँ रह गया है, कि तुम जान-बूझ कर हमसे बच कर निकलो। सोचती हूँ, चरम अवहेलना शायद उसी की की जाती है, जिसे प्यार करने की विवशता छोरहीन हो गई हो। सो तुम्हारी इस अवज्ञा में भी तुम्हारा अनन्त प्यार देखने को लाचार है, तुम्हारी माँ।

पूछ सकते हो, कि 'तृशला, (माँ तो अब तुम मुझे कहोगे नहीं !), तुम्हीं क्यों न मुझे खोज कर मेरे पास आने को विवश हुई ?' · · · यह तो तुम से छुपा नहीं, मान, कि तुम्हारी माँ का जी कितना-कितना उचाट रहा है। कई आधी रातों में इस क़दर बेचैन हुई हूँ, कि इस महल से भाग छूटूँ, और बावली हो कर तुम्हारे पीछे दौड़ी फिरूँ।

· · · और देखो न, मेरी चेतना क्या तुम्हारे विहार के दिगन्तों पर ही हर पल नहीं भटक रही है ? · · ·

· · · पर बार-बार यही लगा है, कि तुम्हारे सामने पड़ कर, तुम्हारी मुक्ति-यात्रा की बाधा ही बनूँगी। वह उपसर्ग अन्य सारे उपसर्गों से अधिक क्रूर होगा तुम्हारे लिए। तुम्हारी माँ तुम्हारी ऐसी हत्यारी कैसे हो सकती थी ? और फिर तुम्हारी उस अवधूत काया, और जंगल-जंगल की धूल से सने और

कांटों से फटे तुम्हारे सुकुमार चरणों को देखने का साहस भी मन में जुटा न सकी। सो अपने एकान्त की इस शैया पर, अपनी छाती विछा कर, अनु-पल तुम्हारे उन विश्व-लालित चरणों की चापें झेलने का सुख अनुभव करती, अपने स्तनों की उमड़न में विसर्जित होती रही।

पर मेरा यह इतना-सा सुख भी क्या तुम्हें सहन न हो सका? जो इस आधी रात, भर नींद में, महाकाल का शूल बन कर तुम मेरी इस चिर प्रतीक्षाकुल छाती को हूल गये। ऐसा लग रहा है, कि इस चरम विदारण के साथ, तुम मानुषिक भूमिका का अतिक्रमण कर, मानुषोत्तर शिखर पर आरो-हण कर रहे हो। हमारी इस ऊष्माविल धरती के कण-कण और जीव-जीव की पीर तुम्हारे हृदय को सदा मर्माहत कर देती रही है। प्राणि मात्र की आत्मा में आत्मा ऊँड़ेल कर ही तुम अब तक जिये हो। पर इस क्षण ऐसा लग रहा है, कि अपने आत्मोत्थान की यात्रा में, तुम प्राण-जगत की सीमा को भी पार कर गये हो। तन और मन के सारे नाते झंझोड़ कर तोड़ गये हो।

तो क्या, मान, तुम अब मनुष्य नहीं रहे, भगवान हो गये? हो नहीं गये, तो हो जाने की अनी पर खड़े हो। भगवानों की तो कमी नहीं इतिहास में। हर पत्थर को मनुष्य की भयभीत आस्था ने आदिकाल से भगवान बना कर पूजा है। उस पत्थर की निर्ममता सदा अनुत्तर रही, फिर भी मनुष्य उसी से चिपट कर त्राण पाने के भ्रम में सदियों से जी रहा है।

उस दूरवासी, सर्व सत्ताधारी पाषाण-भगवान का मैं क्या करूँगी? सिद्धा-लय के सिद्धात्मा से मेरा क्या प्रयोजन? वे अपने त्रिकालावाधित ज्ञान में हमारे संसार की चिर कष्ट-लीला के निरे अक्रिय साक्षी हो कर ही, अपने आनन्द में मगन रहते हैं। उनका वह आत्मलीन चिद्विलास, मुझे हमारे दुःखाक्रान्त हृदयों के साथ अय्याशी लगता है। हम पृथ्वी के वासी, सिद्धालयों में आत्म-रति-मग्न भगवानों के स्वार्थ से अब ऊब गये हैं!

मुझे भगवान नहीं, मनुष्य चाहिये, मान। नितान्त रक्त-मांस में प्रकट हम जैसा ही, हमारा हमराही मनुष्य, जिसके भीतर भगवत्ता स्वयम् उतर आने को विवश हो जाये। और वह पार्थिव की आँसू-रक्त-भीनी माटी में अपने अनन्त और अमृत को उँड़ेल कर पहली बार धन्यता अनुभव करे। मेरे मान, सारे जगत के मान, क्या प्रतीक्षा करूं, कि किसी दिन तुम्हारे उस भव्य मानव रूप में, भगवान आर्यावर्त की धरती पर चलेंगे? हमारे घर-घर, आँगन-आँगन, द्वार-द्वार, घाट-घाट, तुम्हारी भगवत्ता से भास्वर हो उठेंगे?

ऐसा भगवान, जो हर माँ का आँचल हो जाये, हर प्रिया का प्रीतम हो जाये, हर कष्टी की साँसों में बस जाये, जो हमारी इस धरती की धूल में से ही एक नया आकार ले उठे।

···पर कैसे ? इस क्षण तो तुम मेरी मानुषी योनि का भेदन कर, मानुषोत्तर के शून्य-राज्य में उतर गये हो ।

क्या विश्वात्मा होने के लिए, एक वार विश्वोत्तीर्ण हो ही जाना पड़ता है? पर मेरी योनि को धोखा दे जाओ, यह इस वार सम्भव न होने दूंगी। उसी के द्वार से पुनरागमन किये विना, तुम्हारी भगवत्ता को यहाँ कौन पहचानेगा ?

मुक्ति-रमणी इस वार, सिद्धालय की चन्द्रिम शैया त्याग कर, तुम्हारे साथ रमण करने को इस पृथ्वी पर ही उतर आई है। वह यहाँ, मेरी इस शैया में, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है ।

□

शिव और शक्ति

शैशव के बाद, तुम्हारे वयस्क होने पर, बरसों पहले केवल एक बार उस दिन तुम से मिलना हो सका था, वर्द्धमान । तुम्हारे बिन चाहे कोई तुम से मिल सके, यह तुम्हारी सत्ता को कुबूल नहीं । सो वही एक मिलन मानो प्रथम और अन्तिम हो रहा । उस दिन की तुम्हारी सूरत-सीरत और भावभंगिमा मेरी आत्मा की शाश्वती में चिर काल के लिए शिल्पित होकर रह गयी है । ऐसी है उसकी मोहिनी, कि मोक्ष का सुख भी उसके आगे फीका लगता है । उस दिन मेरी साँसों से अधिक तुम मेरे समीप आये, फिर भी आकाश से भी अधिक अछूते ही बने रहे । ठीक सामने बैठे थे, लेकिन लगता था कि कहीं और हो, और तुम्हारी याद से प्राण पागल हो रहे थे । तुम्हारे विरह की व्याकुलता से मैं दग्ध हुई जा रही थी । विदा होते समय तुम्हें अपने आलिंगन में सदा के लिए क़ैद कर लेना चाहा था, लेकिन तब तक तुम जा चुके थे, और मेरी बाँहों में छूट गया था केवल अपना ही आँसुओं से भींगा आँचल । और वह भी इस क़दर अग्निल, जीवन्त और तुमलीन हो गया था, कि उसे छूने का साहस न कर सकी थी ।

चलती बेर तुमने कहा था : 'एक दिन मुझे राजगृही के चैत्य-काननों में विचरता पाओगी ।' सो तो इन बारह बरसों में कई बार देखा ही । लेकिन इससे भी अधिक तुम्हारी अन्तिम बात याद रह गई थी । तुमने कहा था : 'एक दिन तुम्हें लिवा ले जाने को राजगृही आऊँगा, मौसी !'

सो जब मगध में पहली बार, नालन्दपाड़ा की तन्तुवायशाला के श्रमणागार में तुम्हारे आगमन का उदन्त सुना, तो मैं हर्ष से रो आई थी । स्पष्ट अनुभूति हुई थी कि—मेरा मान मुझे लिवा ले जाने को आ गया है ।

सोचा कि जब लिवा ले जाने आये हो, तो तुम स्वयम् ही मेरे द्वार पर आओगे, मैं खुद चल कर क्यों तुम्हारे पास आऊँ ? कैसा विदग्ध मान जाग उठा था मन में ! उसी मान की मधुर तपन में सुध-बुध खो कर, जाने कितने दिन अबोला ले कर, अपने महल के कक्ष में बन्द हो रही थी । सम्राट कितनी ही बार द्वार खटखटा कर चले गये, पर मेरा द्वार नहीं खुल सका था । आकाश, हवा और सूरज भी मेरे उस एकान्त को भंग न कर सकें, इस ख़याल से सारे ही द्वार-वातायन बन्द कर दिये थे ।

एक लौ-सी भीतर अकम्प जल रही थी, और यही लगता था, कि जब तुम मेरे द्वार पर आकर भिक्षा का पाणिपात्र पसार दोगे, तो मुझे अचूक पता चल जायेगा। और मैं क्षण मात्र में दौड़ी आकर तुम्हारे समक्ष समर्पित हो रहूँगी। वह प्रतीक्षा अन्तहीन ज्वाला हो कर रह गई। पर तुम नहीं आये। जान पड़ता है, मन की चाह के चरम सपने को तोड़ देना ही तुम्हारा एकमात्र दस्तूर है।

...फिर भी एक दुर्निवार चुटीले मान की कुण्डलिनी में अपने को क़सती ही चली गई थी। यही लगता था, लिवाने आये हो तो राजद्वार पर भी द्वारापेक्षण क्यों करूँ? मेरे सतखण्डे महल की सीढ़ियाँ चढ़ कर तुम्हें ही मेरे कक्ष के द्वार पर आना होगा। तुम आकर दस्तक दोगे, तभी सम्राज्ञी चेलना के किवाड़ खुल सकेंगे।...तुम्हारी वह अनठोंकी दस्तक हृदय की धड़कनें भले ही हो रही, पर मेरे रत्नों के किवाड़ों पर वह कभी न सुनाई पड़ी। यह मानभंग रह-रह कर अपनी छाती पर एक घूँसे-सा अनुभव होता था। हर क्षण उसके स्मरण से मेरे हृदय की ऐंठन बढ़ती ही जाती थी, और कोई जैसे उसे ठोकर मार कर, एक विजली की-सी छुरी से पर्त-दर-पर्त काटता चला जा रहा था।

एक दिन सोचा कि किस विरते पर ऐसा अभिमान किये बैठी हूँ? शायद यह भूल नहीं सकी हूँ कि सम्राज्ञी हूँ, और आर्यावर्त की आसमुद्र पृथ्वी जिस विजेता की तलवार के तेज से थरथरा रही है, उसकी पट्टमहिषी हूँ।...पर अपने जाने किसी सम्राटत्व से तुम्हें मापने की भूल मुझ से कैसे हो सकती थी। पर अपने भीतर की बद्धमूल हो गयी सम्राज्ञी की सत्ता के आधार को ज़रूर ही कहीं अवचेतन में कस कर पकड़े हुए थी। किन्तु मगधेश्वर की दस्तक पर भी न खुलने वाले किवाड़ों के कक्ष में क्या केवल मगधेश्वरी ही बन्दिनी हुई पड़ी थी? अपने ही आपे के सिवाय, कौन-सा सम्राट् और साम्राज्य मुझे इस क़दर विवश कर सकता था?

छीलती ही चली गई थी अपने को, और अन्ततः पाया था, कि साम्राज्य, सत्ता, महल, कक्ष, किवाड़, रत्न-शैया और सारे ऐश्वर्य पीछे छूट गये हैं। केवल अधर के पलंग पर एक निराधार नंगी लपट छटपटा रही है! कितना निष्ठुर है उसका स्वामी, जो एक दिन उसे आकर उजाल गया था, पर उसके बाद उसने स्वप्न में भी मुड़ कर फिर उसकी सुध नहीं ली। उसी के बल पर तो अपने अन्तर-राज्य की एकाकिनी सम्राज्ञी बनी बैठी हूँ।...पर नहीं, मेरा वह मान भी तुम्हें कुबूल न हो सका। मेरा वह स्वप्न भी तुम्हें झटक कर तोड़ देने लायक ही लगा। नारी के उस आखिरी अरमान का भी तुमने मज़ाक ही उड़ा दिया। मेरे नारीत्व तक से मुझे वंचित किये बिना जैसे

तुम्हें चैन नहीं, ओ अर्द्धनारीश्वर ! मानो कि तुम्हारी नग्नअग्नि-शलाका से योनिभेद झेले विना, कोई नारी तुम्हारी अर्द्धांगिनी नहीं हो सकती।

आख़िर हार गई अपना समूचा आपा। इस बीच टपकाये अपने सारे आँसुओं की पोटली अपनी शैया पर फेंक कर, मानों अन्तिम रूप से सम्राज्ञी अपनी रमण-शैया से नीचे उतर आयी। उस सेज पर चेलना की भुवन-मोहिनी काया का तावूत भले ही छूटा हो।

···अपने टूटे स्वप्न के लहूलुहान टुकड़े और उमड़ती आँखें ले कर, 'इनके' साथ नालन्द के चैत्य-उपवन में तुम्हारे निकट आने को निकल पड़ी। 'इनके' वहुत नाराज़ होने पर भी रथ पर चढ़कर आना स्वीकार न कर सकी थी। पैर-पैदल चल कर ही आयी थी, और उस राह की धूल के कण-कण से ईर्ष्या करती आई थी, जिस पर तुम उन दिनों विचर रहे थे। मन ही मन उस धूल में मिल कर, तिल-तिल मिटती चली गई थी, फिर भी यह अभागी काया निःशेष न हो सकी थी। तुम्हारे श्रीचरणों तक जो उसे पहुँचना था। उनकी रज हुए विना इससे छूट पाना कैसे सम्भव था।

दूर से ही तुम कायोत्सर्ग मुद्रा में, नग्न तेज की तलवार-से खड़े दिखायी पड़े। उस तेज को सहन न कर सकी। आँखें नीची हो गई। धरती में धँस-कती-सी किसी तरह लड़खड़ाते पैरों तुम्हारी ओर वढ़ती चली आई। अर्धोन्मीलित आँखों में केवल तुम्हारे चरणों की ज्योतिर्मय उँगलियाँ श्रेणिवद्ध झलक रहीं थीं। उन्हीं के सहारे तुम तक पहुँच कर, पाद-प्रान्त की धूलि में लोट गई। अग्नि के उन कमलों को छूने का साहस न कर सकी। फिर भी उन्हें आँचल में वटोर लेने को जी चाहा। पर देखा, कि आँचल ही खिच-कर उन ज्वाला की पँखुरियों में लीन हो गया है।···इस तरह अनावरण होती चली गई, कि अपने नारीत्व और उसकी लज्जा का वोध ही समाप्त हो गया।

मगधेश्वर तुम्हारे सम्मुख आ कर नमित हुए या नहीं, यह देखने का भान ही कहाँ रह गया था। किसी तरह सम्हल कर जानुओं के वल जव तुम्हारे चरण-प्रान्तर में उपविष्ट हुई, तो देखा कि ये भी मेरे साथ अटूट यंत्रवत्, उसी तरह वैठे हैं। देखा कि वालक की तरह निपट अज्ञानी और किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये है। भृकुटियों का मान अपनी जगह अविचल था, पर आँखें उनकी विस्मय से अवाक् और स्तब्ध हो कर रह गई थीं। एक टक तुम्हें निहार रहे थे, और मानों प्रश्नायित थे कि क्या षट्खण्ड पृथ्वी के चक्र-वर्तित्व से भी वड़ी कोई सत्ता हो सकती है?

भ्रूमध्य में केन्द्रित, नासाग्र पर स्थिर तुम्हारी वह दृष्टि तनिक भी विच-लित न हुई। तव हमारी ओर आँख उठा कर देख लो, यह प्रत्याशा कैसे कर सकती थी। आकाश, घास के तिनके और चींटी को देख रहे हो, तो

हमें भी देख ही रहे हो। उन में और आर्यावर्त के सर्वोपरि सत्ता-स्वामी और उसकी सम्राज्ञी में तुम्हारे लिये कोई अन्तर नहीं था। रो आई मैं। मन ही मन कितना निहोरा किया, कि मुझे चाहे मत देखो, एक बार निगाह उठा-कर इन्हें जरूर देख लो। कितनी मुश्किल और मनुहार से इन्हें लायी हूँ। जिस मगधनाथ की एक नज़र पाने को आर्यावर्त के वड़े-वड़े छत्रधारी तरसते हैं, वर्तमान इतिहास का जो प्रथम चक्रवर्ती सम्राट है, राजगृही के पंचशैल जिसके आगे शीश झुकाये खड़े हैं, पूर्वी और पश्चिमी समुद्र की मर्यादाएँ जिसके प्रताप से डगमगा रही हैं, वह श्रेणिक चेलना के आँचल की गाँठ-वँधा तुम्हारे चरणों में उपविष्ट है।

···पर तुम्हारी सम्यक् और सम-दृष्टि में एक तृण, कण या कीट से अधिक और अलग क्या कोई हस्ती नहीं? इन्हें आदत नहीं यह देखने की, कि जीवित लोक की कोई सत्ता इनके समक्ष हो कर इन्हें झुके नहीं। इन्हें कैसा लगेगा, कैसे इन्हें सम्हालूँगी ? होड़ लग जायेगी, और चुनौती होगी मेरे सामने, कि तुम दोनों में से किसी एक को मुझे चुन लेना होगा। नहीं तो शायद चेलना को अपने प्राणों का फैसला कर लेना होगा···। विदेहों की वैशाली को जो अपने पैर के अँगूठे से कुचल देने को उद्यत और उद्धत हो उठा है, उस वैशाली की एक बेटी को अपनी छाती की फूलमाला की तरह तोड़ कर, मसल कर फेंक देना, उसकी एक चुटकी का खेल ही तो हो सकता है।

मेरी सारी मौन विनतियाँ और आँसू तुम्हें रंच भी विचलित न कर सके, ओ मेरी आत्मा के एकमेव स्वामी ! हार कर गर्दन अपने खड़े जानू पर ढाल दी, और एक निगाह इनकी ओर देखा। हैरत भरी आँखों से एक टक, ये तुम्हारी आजानुबाहु जंघाओं के विराट स्तंभों को यों देख रहे थे, जैसे मानुषोत्तर पर्वत के महागोपुरम् को सामने पा कर किसी मानव चक्रवर्ती का चक्र-रत्न चूर-चूर हो गया हो।

···कितनी मर्माहत हो कर उलटे पैरों लौट पड़ी थी। हमारे पीछे आ रहा हमारा रथ कुछ दूर पर हमारी प्रतीक्षा में था। इनके साथ चलते हुए रथ तक पहुँचने में भी कितनी कठिनाई हुई थी। मस्तिष्क के केन्द्र से जैसे स्नायु विच्छिन्न हो गये थे। मेरुदण्ड मानो भग्न हो गया था। शिराओं में रक्त का प्रवाह जैसे थम गया था। घुटने टूट गये थे।···ऐसा लगा, जैसे मर्मर की एक निर्जीव पुतली ही रथ तक पहुँची है। हीरे-पन्नों के स्तूप-सा खड़ा रथ, रंग-बिरंगे पत्थरों के ढेर से अधिक न लगा।

भयभीत और काठ-मारी-सी थी, कि पता नहीं अब ये क्या कहेंगे ? पर ये भी मूर्तिवत् ख़ामोश और स्तंभित थे। लेकिन इतना स्पष्ट अपने हृदय में अनुभव कर सकी कि इनके भीतर भूचाल थमा हुआ है। अपनी हार को न

स्वीकारने की हठ से इनकी मुख-मुद्रा इतनी अभेद्य और पथराई लगी, कि मेरी पुतलियाँ भी इनकी ओर देखते-देखते मानो पथरा कर रह गईं। मेरी चितवन को देख कर ये विगलित न हो जायें, ऐसा पहली बार हुआ था। मौन-मौन ही हम महल लौट आये।

• • •

उस दिन नालन्द से लौट कर फिर ये मेरे कक्ष में नहीं आये। इनकी अनमनस्कता को मैं एक क्षण भी नहीं सह सकती। पर इनके पास स्वयम् जाने की हिम्मत भी नहीं हुई। मुझसे अधिक इनको कौन समझेगा, सिवाय तुम्हारे, मान ! इनकी रग़-रग़ को अपने रेशे-रेशे में महसूस करती हूँ। जो काँटा इनके जी में गहरा गड़ गया था, उसकी चुभन को अपने हृदय में अचूक अनुभव कर रही थी। अपराजेय मगधेश्वर को, इतना पराजित, म्लान और सर्वहारा तो कभी नहीं देखा था। लगता था कि अपने पलंग पर एक परवश नन्हें शिशु की तरह सोये पड़े हैं।···उसे जगाना, तो प्रलय को जगाना है। और उस प्रलय की निष्फलता पर मेरा मन अपार करुणा से भर आया।

···सोचो, ऐसी स्थिति में, कितनी मुश्किल से इन्हें उठा कर फिर दुवारा तुम्हारे पास ले आयी थी। रास्ते में मेरे कहे को इन्होंने चुपचाप सुना और गुना था।

जब हम आये, तुम तन्तुवायशाला के एक कोने में ध्यानस्थ खड़े थे। समझ नहीं सकी, कि सैकड़ों कर्घों की उस खटखटाहट में, तुम कौन-सा ध्यान कर रहे थे ? ध्यान तो एकान्त नीरव में होता है, ऐसा ही सुनती आई हूँ।···पर वहाँ उपस्थित तुम्हारी मुद्रा देख कर, स्पष्ट अववोधन हुआ कि तुम्हारे लिए ध्यान निरा अन्तर्मुख एकान्त-सेवन नहीं, वह प्रतिपल का सम्पूर्ण जीवन है। तुम्हारी दृष्टि में लगा, कि वह सारी तन्तुवायशाला तुम्हारे भीतर चल रही है, और तुम अपने में अविचल स्तब्ध हो। गति और स्थिति के सन्तुलन का ऐसा सचोट दर्शन पहली बार हुआ।

पास पहुँचते ही इन्होंने विनम्र निवेदन किया :

'मगधनाथ श्रेणिक प्रणाम करता है, भगवन्।'

और ठीक इनके अनुसरण में मेरे मुँह से उच्चरित हुआ :

'वैदेही चेलना प्रणाम करती है, भन्ते।'

और फिर एक स्वर में ही मानो हम दोनों ने अनुरोध किया :

'मगध के साम्राजी श्रमणागार का आतिथ्य स्वीकारें, भगवन् !'

···पर न तुम हमारी ओर उन्मुख हुए, न तुमने कोई उत्तर दिया। उत्तर मिला केवल इस रूप में—कि तुमने अपना दायाँ हाथ उठा कर, कर्घों पर तेजी से घूम रहे हज़ारों पंक्तिवद्ध हाथों पर ऊँगली उठा दी।

मानो कि तुमने कहा हो : 'देख श्रेणिक, पृथ्वी का आगामी साम्राज्य चुना जा रहा है !'

मैंने फिर कातर कंठ से अनुनय की :

'देवानुप्रिय, हमारी सेवा स्वीकारें। मगध के महालय को अपनी पदरज से पावन करें।'

लेकिन तुम चुप रह कर फिर प्रतिमा-योग में निश्चल हो गये।

◆ ◆ ◆

मैं तो और भी गल कर ही लौट सकी। व्यथा का पार नहीं था, फिर भी तुम्हारे प्रति कोई अनुयोग-अभियोग मन में नहीं जागा। तुम्हें केवल समझते और सहते चले जाना है। और कोई गति मेरी नहीं है।

पर अब रूठने और बन्द होने की इनकी बारी थी। इनके कक्ष के नीलमी कपाट सारी दुनिया के लिए बन्द हो गये। चेलना के हलके-से दूरागत नूपुर-रव से भी विदग्ध हो जाने वाले प्रीतम के बन्द कपाट पर चेलना के माथे की पछाड़ और चीत्कार भी व्यर्थ हो गई।

तब एक ही मार्ग मेरे लिए शेष रह गया।··· तुम्हारी प्रतीक्षा की राह में बिछती ही चली जाऊँ। देखूँ, कैसे नहीं आओगे मेरे पास। प्रतिदिन बड़ी भोर से ही राजद्वार पर श्रीफल-कलश ले कर तुम्हारा द्वारापेक्षण करने लगी। हर दिन गोचरी की बेला सूनी ही टल जाती। मगध की असूर्यपश्या अपरूप सुन्दरी राजराजेश्वरी को, यों घंटों द्वार पर अडिग खड़े रह धूप में तपते देख कर, सारी राजगृही और उसका वैभव सनाका खा गया। मगध में अपवाद फैल गया कि महारानी चेलना देवी, निगंठ नाथपुत्त की तापसी हो गई है।

समुद्र-कम्पी मगधेश्वर का सिंहासन और देवोपम ऐश्वर्य तुम्हारी प्रतीक्षा में पथरा गया। मगध का साम्राजी सिंहतोरण तुम्हारी पदरज का भिखारी हो कर रह गया। पर भिक्षुक हमारी राह नहीं आया। हमारा महाद्वार ठोकर खाया-सा मानो धूलिसात हो रहा।

पंचशैल के अरण्यों में तुम तमाम जड़-जंगम के पास स्वयम् ही गये। कंकड़-पत्थर, कीट-पतंग, कास-कुस, जाला-मकड़ी, मच्छर-पिस्सू तक तुम्हारे पूर्ण स्पर्श का सुख पा सके। गृध्रकूट की गुफाओं के सदियों पुराने अगम अँधेरे भी तुम्हारे आलिंगन में भास्वर उठे। राह के हर दीन-अकिंचन ग्रामीण, खेतिहर, कम्मकर, डोम, चाण्डाल तक के लिए तुम चलते-चलते रुक जाते। मुस्कुरा कर उद्‌बोधन का हाथ उठा देते। तंतुवायशाला के कर्घो तक से तुम एकतान हुए। मतिमन्द मंखलि गोशाल की मूढ़ वाचालता को भी तुम हर समय सहते

रहते थे। वैभार की उपत्यका के दुर्दान्त हिंस्र कान्तार में अकारण ही घुसते चले जाना, तुम्हारा मामूली क्रीड़ा-कौतूहल था।

पर चेलना की राजगृही की ओर देखना, तुम्हें किसी भी तरह गवारा न हो सका। संकल्प तो तुम में था ही नहीं, फिर कैसे कहूँ कि तुम हठ-पूर्वक हमारी अवज्ञा कर रहे थे। विकल्प और विद्वेष के राज्य से उत्तीर्ण हो कर ही मानो तुम जन्मे थे। सोचती थी, जो अपने प्राणहारी शत्रु की भी अवहेलना नहीं करता, खुद होकर उसके पास जाता है और उसे गले से लगा लेता है, वह हमारी अवज्ञा करे, इतना छोटा वह कैसे हो सकता है।

तुम्हें समझने में चेलना भूल नहीं कर सकती, महावीर! फिर भी अबूझ है यह रहस्य कि सारे लोक को अपनी बाँहों में समेट कर भी, तुम मुझे पीठ दे कर क्यों निकल गये हो?···पर चोट जिस मर्म पर तुमने दी है, उसी ने समझा दिया है, कि मैं तुम्हारी कौन होती हूँ। मौसी नहीं, मगध की राजेश्वरी नहीं, सौन्दर्य की मानकेश्वरी नहीं।···केवल एकमेव चेलना, सब से अलग, केवल तुम्हारी। इतनी तुम्हारी, कि अलग से उसे लक्ष्य करना सम्भव ही नहीं, अतः आवश्यक भी नहीं। सो जितनी ही अधिक दूर ठेल रहे हो, उतनी ही अधिक तुम्हारे निकट आ रही हूँ।

पर सम्राट का समाधान कैसे हो? तुम तो उन्हें सदा से बेहद प्यार करते रहे हो। दूर से ही तुम उनके दिल की हर हरकत को पढ़ते रहे हो। कपट की कुंचना तो उनमें कहीं है ही नहीं। फिर यह क्या हो गया है तुम्हें, कि तुमने प्रथम मिलन में ही उन्हें उठा कर दूर फेंक दिया? उन्हें स्वीकारने से तुमने इनकार कर दिया। उनके मान को तुम ठुकरा सकते थे, पर उनके प्रणाम को भी तुमने ठुकरा दिया। कहीं ऐसा तो नहीं है, कि वैशाली का राजपुत्र श्रमण, वैशाली के आक्रमणकारी और शत्रु को भूल नहीं सका है?

···तो जानो लिच्छवि-पुत्र वर्द्धमान, मैं केवल वैशाली की बेटी नहीं, मगध की सम्राज्ञी भी हूँ। मेरे हृदय-सम्राट का अपमान मेरा अपमान है। यह नहीं हो सकता कि तुम चेलना को उनसे छीन लो। यह नहीं हो सकता, कि तुम चेलना को ले लो, और उन्हें टाल कर अकेला कर दो। यह नहीं हो सकता, कि वैशाली की विजय के लिए वैशाली का तीर्थंकर राजपुत्र अपने अजितवीर्य के प्रताप से मगध को रौंद जाये।

···हाय, बलिहारी है मेरी दुर्बुद्धि की। चण्डकौशिक महासर्प की डाढ़ में अपना हृदय दे देने वाले महावीर पर ऐसी शंका करना क्या असत्य, अज्ञान और अन्याय की पराकाष्ठा ही नहीं है? यह भी कैसे कहूँ कि तुम्हारे प्यार में इनके और मेरे बीच अन्तर हो सकता है।

तुम एक बार इनके साम्राजी महाद्वार पर अपने श्रीचरणों के कमल आँक देते, तो इनकी आत्मा की जनम-जनम की फाँसियाँ, एक ही झटके में कट जातीं। तुम्हारे एक दृष्टिपात मात्र से इनकी सारी ग्रंथियाँ सुलझ जातीं। तुम्हारे प्यार की एक चितवन मात्र से ये चिन्मय हो जाते।

···फिर यह क्या हुआ, वर्द्धमान, कि इनको इतनी निर्ममता से नज़रन्दाज़ करके तुमने इनके हृदय को अन्तिम ग्रंथि से कस दिया? इनकी पीड़ा की कल्पना मात्र से मैं सहम उठती हूँ, और रो-रो पड़ती हूँ। पर तुम हो कि मेरी छाती-तोड़ रुलाइयों के प्रति भी निरे पाषाण हो कर रह गये हो।

जब नहीं रहा गया है, तो भरी दोपहरियों में, पंच-शैल के अरण्यों में तुम्हारी खोज में बावली-सी भटकती फिरी हूँ। और आखिर तुम्हें अचानक सामने पा कर, तुम्हारे चरणों में पछाड़ खा कर पड़ गई हूँ। तुम्हारे पदनख पर अपनी लिलार का तिलक और माँग का सिंदूर रगड़-रगड़ कर बिलखती रही हूँ। और इस तरह अपने सौभाग्य की भीख तुमसे माँगी है। पर हार कर पाया है, कि उस अँगूठे की अविचल कठोरता के आगे मन्दराचल भी पानी भर गया है।

घंटों, पहरों, तुम्हारे चरणों के निकट बैठी बिसूरती रही हूँ, आँसू सारती रही हूँ। तब मुझे देख कर विपुलाचल का शिखर काँप उठा, तमाम जड़ जंगम कातर हो आये, पर तुम्हारी समाधि नहीं टूट सकी। पीड़ा का पार नहीं है, पर ऐसा लगता है, कि जिसे अपना कर तुम अपने समान बनाना चाहते हो, उसी की ऐसी दारुण परीक्षा तुम लेते हो। तुम्हारी अविचलता की कसौटी पर जो ठहर सके, वही तो निश्चल होने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। जान पड़ता है, भगवान अपने प्रियतम जन को इसी तरह प्यार करते हैं।

◆ ◆ ◆

एक आधी रात अचानक मेरे कक्ष के किवाड़ पर दस्तक हुई। पल मात्र में पहचान गई, क़ौन आया है। किवाड़ खोल कर उलटे पैरों लौट आई। अचानक जैसे बिजली क़ड़की :

'वर्द्धमान क्या चाहता है?'

'जो तुम चाहते हो, देवता।'

'साम्राज्य?'

'धरती का नहीं, धर्म का।'

'मेरे ऊपर हो कर?'

'धर्म तो सबसे ऊपर है ही, स्वामी!'

'मेरी धरती पर?'

'धरती किसी की नहीं। न कभी हुई है। पूरा इतिहास भ्रम में है।'

'श्रेणिक बिम्बिसार किसी भ्रम में नहीं।'

'हो भी, तो इसके बाद नहीं रह सकोगे?'

'चेलना...!'

'स्वामी...!'

'मैं या वह?'

'मेरे मन में तुम्हारे और उनके बीच की दीवार टूट गई!'

'इसी लिए तो गंगा-शोण के संगम-जल पर मागधों और वैशालकों की तलवारें टकरा रही हैं।'

'पर क्या वे गंगा की अखण्ड धारा को काट सकीं?'

'मैं अपनी भुजाओं से गंगा की धारा मोड़ दूंगा। उसके ग़लत प्रवाह को तोड़ दूंगा।'

'वह तलवार से सम्भव नहीं। वह महावीर से सम्भव है।'

'मतलब?'

'यही कि तुम्हें कष्ट नहीं करना होगा। बाहुबल और तलवारें आपोआप गिर जायेंगी। महावीर अपनी मुस्कान मात्र से वह कर देगा।'

'उसकी सामर्थ्य? उसकी हैसियत?'

'यही कि उसके तन पर तुम्हारी धरती का एक तार भी नहीं। उसकी ताक़त तलवार और प्रहार की क़ायल नहीं। सम्राटों की धरती उसकी एक पदचाप को तरसती है। पर तुम्हारी ज़मीनों पर उसका पैर टिकता नहीं। बहते हुए आकाश की अपनी कोई सत्ता नहीं, इयत्ता नहीं। फिर भी सारी सत्ताएँ उसके भीतर क़ायम है। उसके साम्राज्य से बाहर कुछ भी नहीं। तुम भी नहीं, मैं भी नहीं, नाथ!'

'तुम्हें निर्णय कर लेना होगा, चेला। मगध या वैशाली?'

'ऋजुबालिका नदी के तट पर वह सीमा अन्तिम रूप से टूट गई। मेरी रक्तधारा में वैशाली और मगध एक हो गये।'

'काश, मैं तुम्हें इतना प्यार न करता होता, चेला! मेरे हृदय में आखिरी चाकू उतार दिया तुमने। फिर भी...।'

'फिर भी क्या?'

'तुम अधिक प्यारी लग रही हो!'

चेलना की शैया, अपने स्वामी की प्रतीक्षा में है।'

'अंगारों पर कौन लेट सकता है?'

'मेरी आग से बच कर कहाँ जाओगे ?'

'आसमुद्र पृथ्वी का साम्राज्य मेरी प्रतीक्षा में है।'

'चेलना की शैया से बाहर वह कहीं नहीं है !'

'तुम्हारे इस मान को तोड़े बिना, श्रेणिक को चैन नहीं।'

'मान तो अपना कोई नहीं रक्खा, सिवाय वर्द्धमान के। और वह तुम्हारे प्रहार के इन्तज़ार में है।'

'उसे टूट जाना होगा।'

'हर टूटन पर जो अधिक अखण्ड होता गया, उसे तोड़ कर क्या पाओगे ?'

'तुम्हें। इतिहास का एक अश्रुतपूर्व साम्राज्य।'

'तो तुम अब तक मुझे पा नहीं सके ? ···सुनो, चेलना और वह साम्राज्य तुम्हें अन्तिम रूप से दे देने को ही तो महावीर आया है !'

'यह मेरे वीर्य का अपमान है।'

'मेरे होते वह कौन कर सकता है ! पर···पर मुझे पहचानने को तुम्हें अजितवीर्य हो जाना पड़ेगा।'

'इसका निर्णायक कौन ?'

'मेरी शैया !'

एक गहरा, अटूट सन्नाटा।

'बैठोगे नहीं ? आओ मेरे पास।'

'मेरी धरती ही तुमने छीन ली, चेला। बैठने को अब क्या बचा है।'

'इस ओर देखो। पहचानो अपनी धरती को। अब भी ज़मीन पर ही रहोगे ?'

मैं धप से फ़र्श पर बैठ गई। और वे मेरी गोद में ढलक आये।

◆ ◆ ◆

···लेकिन फिर उस रात जो मेरी गोद से उठकर वे गये, तो जैसे खो ही गये। महल तो क्या, मगध के सीमान्तों तक भी उनका पता न चल सका। ऐसा पहली बार नहीं हुआ था। पर इस बार उनका यह गुम हो जाना, बाहरी से अधिक भीतरी लगा। यों उनके भीतर के भूगोल को भी मैंने हदों तक जाना है। लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ, कि इस बार वे उन हदों

तक को तोड़ कर, उस आखिरी अन्धकार रात्रि में खो गये हैं, जिसका अन्त उजाले के सिवाय और हो नहीं सकता।· · ·

चिन्तित कम नहीं हूँ, पर निश्चिन्त भी कम नहीं हूँ। फिर भी अनिवार्य हो गया है, कि अपने को और अधिक तलाशूँ, अपनी स्थिति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझूं। कहीं ऐसा तो नहीं है, कि मेरा पातिव्रत्य खतरे में पड़ गया है? क्या पति और त्रिलोकपति के बीच कोई खाई सम्भव है ?

आर्यावर्त की सतियों की तो यही परमोज्ज्वल परम्परा रही है, कि अपने पति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण के द्वारा ही उन्होंने स्वयम् परमात्मा को प्राप्त कर लिया। और फिर अपनी आत्मा को भी प्राप्त कर लिया। इसी समर्पण की राह वे स्वयम् भगवती-स्वरूप हो रहीं। सावित्री ने सत्यवान से बढ़ कर किसी और भगवान को नहीं जाना, नहीं माना, और अपने इस सम्पूर्ण प्यार के बल वह स्वयम् यमराज से अपने पति का प्राण जीत लाई। मृत्युंजयिनी तक हो गई। राधा अपने आराध्य परम प्रीतम कृष्ण से सदा विछुड़ी ही रही। पर अपने देवता की आजन्म कुँवारी रानी रह कर, अनन्त काल में भगवान के साथ अभिन्न भगवती हो कर खड़ी हो गई। उसने ब्रह्म-पुरुष के लिंगातीत एकाकीपन के मान को सदा के लिए भंग करके, इतिहास में युगल भगवत्ता का अपूर्व नया मान स्थापित कर दिया।

· · ·दक्ष-कन्या सती ने अपने पति शंकर की सम्मान-रक्षा की खातिर जीते जी हवन-कुण्ड में कूद कर अपने प्राण दे दिये। और अपनी इस आत्माहुति के बल स्वयम् देवात्मा हिमालय की बेटी हो कर वह फिर जन्मी। और तब अपनी अटल तपस्या से, दुर्द्धर्ष एकाकी अवधूत महाशिव की समाधि के कैलास-शिखर को उसने कँपा दिया। और तब स्वयम् कामदेव की सहायता से उसने कामातीत शंकर को सदा के लिए जीत लिया। फलतः आर्यावर्त के लोक-हृदय पर, वे अखण्ड एकल विहारी ब्रह्मचारी शंकर, पार्वती के साथ ही सदा के लिए खड़े हो रहने को वाध्य हो गये !

· · ·बोलो महावीर, तुम क्या कहना चाहते हो? मेरी यह प्रतीति ग़लत तो नहीं? हज़ारों वर्ष का इतिहास और पुराण इसकी साक्षी दे रहा है। फिर भी तुम चुप क्यों हो, महावीर? भले ही चुप रहो। मेरा यह संकल्प अचूक और अटल है, कि नारी अपने स्वधर्म में रह कर ही तुम्हें प्राप्त करेगी। और इसी के बल वह तुम्हारे मोक्ष-मन्दिर के कपाट बलजबरी तोड़ कर, तुम्हारे बराबर में आ खड़ी होगी। मुझे अपने साथ लेकर चलोगे,

तभी मेरी देह-रूप पृथ्वी पर, तुम अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर सकोगे। मेरी कोमल माटियों में अपने कैवल्य के बीज वो कर ही, वसुन्धरा पर तुम्हारा तीर्थंकरत्व सिद्ध और सफल हो सकेगा।

···वे तो मेरी नजरों से ओझल हो ही गये हैं। और यह जानते हुए भी कि तुम इस समय कहाँ खड़े हो, तुम्हारे पास आने की हिम्मत नहीं हो रही है, वर्द्धमान। अपने पराजित और म्लान नारीत्व को ले कर, किस मुँह से तुम्हारे निकट आऊँ ? जव आऊँगी, इन्हें अपने साथ अटूट युगलित ले कर ही भरीपूरी और प्रफुल्लित आऊँगी। और तव देखूंगी, कि शक्ति को इनकार करके तुम्हारे शिवत्व की सत्ता कैसे खड़ी रह पाती है!···

□

कामधेनु पृथ्वी का चरम दोहन

इस उदास सन्ध्या में अकेली विपुलाचल के पादप्रान्त में आ बैठी हूँ। भीतर मानो जनम-जनम की यादों के जंगल हहरा उठे हैं। याद आ रहा है, अपनी विलक्षण नियति का वह षड्यंत्र, जिसने मुझे मगध की सम्राज्ञी बनाया। आज बरसों बाद पहली बार, अपने अतीत की उस मर्म-कथा को अपने अणु-अणु में फिर से जी रही हूँ।

याद आ रहा है, अयोध्या का वह अनोखा चित्रकार भरत। उस अकिंचन कलाधर ने अयोध्या की राजकुमारी वासवी को प्यार करने का अपराध किया था। एक बार पावस की एक बादल-छायी बेला में वन-क्रीड़ा करती वासवी की एक चितवन मात्र उसने देख ली थी। उसके मनोवन में एक कुरंगी और मयूरी नाच उठी थी। उसके बाद उसके प्रेम की तन्निष्ठ आग और एकाग्रता ने उसकी कल्पना को इतना पारदर्शी, अचूक और ज्वलन्त कर दिया, कि उसने अपने सैकड़ों चित्रपटों में, वासवी की पल-पल की हर भंगिमा के साथ उसे सर्वांग साकार कर दिया। स्वाभाविक था कि वासवी के आत्म-राज्य को उसने अपनी विदग्ध कचौट से आरपार भेद दिया था। उसके मन की हर तरंग को उसने अपनी तूलिका से गिरफ़्तार कर लिया था।

भरत के वे अग्निम चित्र वासवी तक पहुँचे बिना न रह सके। उसे लगा कि यह कौन तेज-पुरुष है, जिसने उसकी रग-रग और रोंये-रोंये को अपने फलकों पर अनावरण कर दिया है? वह उसे देखने और पाने को बावली हो गई। वह प्रायः मूर्च्छित और विक्षिप्त-सी रहने लगी। अयोध्यापति को इस रहस्य का पता लगाने में देर न लगी।...बात की बात में भरत को मुश्कियों से बँधवा कर, अयोध्या की सीमा से निर्वासित करवा दिया गया।

इस निर्वासन और विरह-व्यथा से, भरत की कल्पना और उसका विज्ञान अधिकाधिक सतेज और वेधक होता चला गया। आर्यावर्त के जनपदों में भटकता हुआ वह अपने नित-नव्य चित्रों की मोहिनी के बल जाने कितनी ही असूर्यपश्याओं का मनमोहन हो गया।

अपने इसी अलक्ष्य भ्रमण के दौरान वह एक बार महानगरी वैशाली आया। उसने एक दिन वैशालीपति की परमा सुन्दरी बेटियों—ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा,

चन्दना और चेलना को, 'महावन उद्यान' में वसन्त-क्रीड़ा करते देख लिया। कुछ समय में ही उसने चारों राजकुमारियों का एक भव्य चित्र आँका, और अपना चित्रपट ले कर वह वैशालीपति महाराज चेटक के राजद्वार पर आ उपस्थित हुआ।

···हमारे उदात्तमना, निर्मल हृदय, सम्यक्-दृष्टि बापू ने उस रूपदक्ष का स्वागत किया। हृदय से उसका सम्मान किया। उसके चित्रपट देख कर वे उसके कला-कौशल पर मुग्ध विभोर हो गये। हम लोगों को बुलवा कर चित्रकार से हमारा परिचय कराया गया। याद आता है, जब हम चारों सम्मुख हुईं, तो केवल एक बार आँखें उठा कर भरत ने सहज शीलपूर्वक हमारा अभिवादन किया था। उसके बाद वह मौन-मुग्ध मात्र नमित नयनों से ही जैसे हमारे पदनखों को देखता रहा। आँख उठा कर दुबारा उसने हमारी ओर नहीं देखा। पर प्रथम साक्षात्कार की उसकी वह उज्ज्वल दृष्टि आज तक मैं भूल नहीं सकी हूँ। अलख सौन्दर्य का वह चितेरा, अपनी भाव-भंगिमा से कुछ ऐसा लगा, मानो कि स्वर्ग से च्युत हो कर कोई देवकुमार पृथ्वी पर भटक रहा है।

उस दिन के बाद फिर भरत से मेरा कभी आमना-सामना नहीं हुआ। बस, एक झलक भर ही तो उसने मुझे देखा था, पर ऐसा लगा था, जैसे कोई बिजली की-सी तूली मेरे रेशे-रेशे में जाने कितने रंग बहा गई हो।

बापू ने बड़े गौरव के साथ हम चारों बहनों का वह चित्रफलक राज-द्वार के कक्ष-गवाक्ष पर टँगवा दिया था। सारी वैशाली उसे देखने को उमड़ी थी। और भरत के चित्र-कौशल की कीर्ति सौरभ बन कर लक्ष-लक्ष हृदयों में व्याप गई थी।

यह भी सुनने में आया था कि भरत ने देवी आम्रपाली को केवल एक सन्ध्या में, उनके गवाक्ष पर पूनम के चन्द्रमण्डल-सी उदीयमान देखा था। और उसी एक दर्शन के आधार पर उसने, उनके एकान्त बन्द कक्ष की, ऐसी गोपन शैयागत मुद्रा में उन्हें अंकित किया था, जो किसी महायोगिनी की तल्लीन समाधि से कम नहीं लगती थी। देवी के पास जब वह चित्रपट पहुँचा, तो वे स्तम्भित रह गई। अपना सब से प्रिय हीरक-हार उन्होंने पुरस्कार-स्वरूप भरत को भेजा। भरत ने यह कह कर वह लौटा दिया कि : 'देवी की दृष्टि ने मुझे पहचाना, तो मेरा चित्रांकन कृतकाम हो गया। हीरक-हार से उस दृष्टि को बाधित करूँ, ऐसा अभागा मैं नहीं।···और प्रवासी के पास उसे रखने की जगह भी कहाँ है?'

कहते हैं कि देवी आम्रपाली यह उत्तर सुन कर बहुत कातर हो आई थीं। स्वयम् अपने रथ पर आरूढ़ हो कर वे 'महावन उद्यान' में भरत के कुटीर-द्वार पर उसे लिवा लाने गई थीं। उनके जी में आया था, कि उसे वे 'सप्त-भूमिक प्रासाद' में राजसी वैभव के साथ रक्खेंगी। उसे 'वह घर' देंगी, जिसकी खोज में कलाकार चिर काल से भटक रहा है। ताकि अपना वह अभीप्सित 'घर' पा कर, वह अभिशप्त कामकुमार चेतना और सौन्दर्य के नित-नये स्वर्ग अपने फलकों पर खोलता चला जाये।

भरत के कुटीर-द्वार पर पहुँच कर देवी ने उसे शून्य पाया। पंछी अपनी उड़ान पर कहीं और निकल चुका था। बहुत खोज-तलाश करने पर भी फिर देवी भरत को न पा सकीं।

योगायोग कि चैत्र के एक अपरान्ह में मेरी तीनों छोटी बहनें—ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चंदना, मँजरियों से महकते और कोयल से कुहकते एक आम्र-कानन में विचर रही थीं। तभी एकाएक भरत कहीं से उनके सामने आ खड़ा हुआ। पता-ठिकाना पूछने पर उसने कोई उत्तर न दिया। बहोत मनु-हारें करके वे हार गईं, पर भरत को वे बहला और बुलवा न सकीं। मुस्कुरा कर वह चुप हो रहता, और अन्यत्र देखने लगता।

तब मेरी चतुर-चालाक बहनों ने उसे मुखर-मुखातिब करने की एक युक्ति सोची। उन्होंने भरत से प्रस्ताव किया कि वह चेलना का एक सच्चा, तद्रूप, नग्न चित्र अंकित करे। परीक्षा की चुनौती के साथ उन तीनों ने उन पर कटाक्ष पात किया। भरत तब बोला :

'भगवती चेलना चाहेंगी, तो अवश्य वे मेरे फलक पर निरावरण हुए बिना रह सकेंगी। मैं कौन होता हूँ उन्हें नग्न करने वाला।'

लौटने पर चन्दना ने जब भरत का यह उत्तर मुझे सुनाया, तो एक ऐसी सम-र्पिति मेरे हृदय में उमड़ी कि मेरा पोर-पोर खुल कर निवेदित हो आया। मेरे कुमारी जीवन का वह विलक्षण संवेदन मुझे आत्मानुभूति के प्रथम पारस-परस सा लगा था।

...एक दिन अचानक तड़के ही भरत आया, और द्वार-पौर पर चन्दना को बुलवा कर चित्रपट सौंप दिया। और चुपचाप उलटे पैरों लौट गया।

...मेरा नग्न चित्र देख कर, मेरी बहनें विस्मय से अवाक् रह गईं। जब मैंने भी एकाग्र उसे देखा, तो लगा कि हाय, विदेह हुई जा रही हूँ। जन्मजात वैदेही को भरत ने आरपार देख लिया। मेरी आँखें नीची हो गईं। मेरा बोल न फूट सका। अपने सारे गुह्यांगों में एक विप्लव का-सा अनुभव हुआ। मेरे गोपन अंगों और अवयवों के सूक्ष्म से सूक्ष्म उभारों, भंगों और लयों को

भी उसने अपनी रेखाओं में तादृष्ट उजाल दिया था।···चेलना के गुप्तांगों के तिल, लांछन और अन्य सूक्ष्म रेखा-चिन्ह तक उसने ज्वलन्त आँक दिये थे।

इतने बड़े सत्य और सौन्दर्य पर पर्दा कैसे डाला जा सकता है। बात वैशाली के महलों और अन्तः पुरों में व्यापती हुई, ज्वाला की तरह जन-जन तक पहुँच गई। मुझे और भरत को जोड़ कर अनेक कलंक-कथाएँ तक चल पड़ीं। सरल चित्त महाराज-पिता चेटक और माँ सुभद्रा बड़े असमंजस में पड़ गये। लज्जा से उनके माथे झुक गये।···यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि किसी कुमारी के गोपन देह-प्रदेश को देखे बिना, उसे कोई इतना तादृष्ट आँक सके ? सवाल बहुत तीखा और जायज़ था। पर इसका उत्तर सिवाय मेरे या कलाकार के, जगत में और किसी के पास नहीं था। पर मैं चुप ही रही। इस रोशनी की कैफ़ियत देना, मुझे अपनी आत्मा का अपमान लगा।

वैशाली के न्यायालय में भरत पर नालिश हुई, कि उस आवारा ने वैशाली की सती राजपुत्री चेलना का नग्न चित्र आँक कर, सारे वैशाली गण को अपमानित और कलंकित किया है। पर उस चित्र को बनवाने वाली मेरी छोटी बहनों के कौतुक-कौतूहल का अन्त नहीं था। किन्तु मेरे इशारे पर वे भी चुप रहीं, और चुहुल-मज़ाक से ही सबको बहलाती रहीं।

परमोच्च न्यायालय के ऐलान पर, वैशाली के चौक-चौराहों, राहों और उपवनों तक में घंटे-दमामे बजा कर, भरत की सार्वजनिक तलबी घोषित हुई। पर अभियुक्त का दिशान्तों तक पता न चल सका। वैशाली के सैन्य और गुप्तचर पातालों में बल्लियाँ डाल कर भी, उसे खोज लाने में समर्थ न हो सके। उस दिन सवेरे जो हमारे अन्तःपुर की ड्योढ़ी में चन्दना को वह चित्र सौंप कर गया, उसके बाद उसने मुंह नहीं दिखाया। यह जानने की जिज्ञासा भी उसे नहीं रही, कि उसके चित्र का क्या प्रभाव पड़ा होगा।

···वैशाली के परमोच्च न्यायालय के कठघरे उस अभियुक्त को पाने में समर्थ न हो सके।

समय के साथ बात बिसारे पड़ गई। पुरानी हो गई। रहस्य, शाश्वत रहस्य हो कर ही रह गया। एक दिन वह प्रसंग फिर छिड़ने पर चन्दना ने मुझ से पूछा :

"दीदी, क्या रहस्य था उस बात में ?'

'वही, जो तुम समझ रही हो, चन्दन। यानी उसे खोलना पवित्र नहीं होगा। वह अनन्त ही रहे।'

'ठीक मेरे मन की बात तुमने कैसे कह दी, दीदी!'

'तुम से अधिक कौन मुझे यहाँ समझता है?'

'एक बात पूछूँ, दीदी ?'

'पूछो।'

'वह कलंक तुम्हें छू सका?'

'कलंक तो सदा सती को ही लगता आया है, चन्दन, कुलटा को नहीं !'

'फिर भी पूछती हूँ, तुम्हें कैसा लगा था ?'

'जानते हुए भी क्यों पूछ रही हो ?'

'मन की तहों का पार नहीं, दीदी।'

'अपने तन को अपने मन से अलग तो तुम्हारी दीदी कभी रख न सकी। क्या मेरे चेहरे को तुमने कभी मलिन, पराहत देखा ?'

'उज्ज्वलतर होता देख रही हूँ, तुम्हारा चेहरा !'

'सुनो चन्दन, दूरी में नियति का कोई विषम चक्रव्यूह देख रही हूँ। मेरी चित्रांकित नग्नता की लौ में कोई ज्वालामुखी सिसक रहा है !'

'दीदी, बहुत डर लग रहा है। साफ़-साफ़ कहो न, क्या बात है ?'

'सो तो मुझे भी ठीक पता नहीं, चन्दन। यह अदृष्ट का खेल है। जान लिया जाये, तो अदृष्ट कैसा ? जो आये उसे झेलने को सन्नद्ध हूँ।'

'कोई संकट है, दीदी?'

'पता नहीं, पर इतना जान लो कि तुम्हारी दीदी ऊपर ही जा सकती है, नीचे नहीं आयेगी। और निश्चिन्त हो जाओ।'

चन्दना एक भ्रूभंग के साथ उल्कापात की तरह हँस पड़ी। हम दोनों बहनें आनन्द मगन हो कर एक-दूसरी से लिपट गयीं।

◆ ◆ ◆

बहते समय के पानी पर बात इतनी दूर जा कर खो गई, कि उसका कहीं कोई ज़िक्र ही नहीं रहा।

अचानक एक दिन हमारे अन्तःपुर में ख़बर हुई कि हंसद्वीप के कोई रत्न-श्रेष्ठि कई जौहरियों को साथ ले कर वैशाली में आये हुए हैं। उन्होंने कुछ अलभ्य रत्न वैशालीपति महाराज चेटक को भेंट किये हैं। सादर उन्हें हमारी अतिथिशाला में ही ठहराया गया है। और वैशाली के रत्न-हाटक में उनकी विलक्षण रत्न-सम्पदा से एक विचित्र रोशनी पैदा हो गई है।

कई मीना-खचित रत्न-मंजूषाओं के साथ, एक दिन हमारे अन्तःपुर में भी उनका आगमन हुआ। श्रेष्ठि के रूप-स्वरूप को देख कर ही मैं इतनी अभिभूत हो गई, कि उनके रत्न-अलंकारों पर मेरा ध्यान ही न जा सका।

···एक अनिर्वार जिज्ञासा मेरे हृदय को कुरेदने लगी। यह पुरुष महज़ व्यापारी नहीं। यह केवल समुद्रों की सतह का सार्थवाह नहीं, समुद्र के तलातल का प्रवासी कोई रत्न-अन्वेषी है। एक दिशावेधी धनुष मेरे भीतर टंकार उठा। मैं वहाँ ठहर न सकी। अपने कक्ष में जा द्वार बन्द कर लिया, और आँखें मूँद कर एक स्वप्नमाया में खो रही।

इस बीच प्रायः सवेरे, पार्श्ववर्ती अतिथि-शाला की छत पर बने चैत्यालय में से पूजा की बहुत ही ललित-कण्ठी गान-ध्वनि सुनाई पड़ती थी। और मुझे एक अजीब बेचैनी-सी हो आती।

एक सवेरे आख़िर मैं अपने को रोक न सकी, और पूजार्घ्य चढ़ाने के बहाने, अतिथिशाला के छतवर्ती जिनालय में चली गई।···मुझे यों अचानक वहाँ हाथ जोड़े, वन्दन-मुद्रा में विनत देख कर रत्न-श्रेष्ठि के पूजागान की धारा भंग-सी हुई। हमारी निगाहें मिलीं, और ऐसा लगा कि जैसे उन्होंने मुझे पहचान लिया हो। मानो कि टोका हो, कि अरे, तुम आ गई?···तुम्हारी ही तो खोज में हूँ।···

मैंने आँखें उस ओर से फेर लीं, और मैं दीवार ताकने लगी। आश्चर्य!··· दीवार के ठीक बीचोबीच एक विशाल चित्र-फलक टँगा था। उसमें एक देवोपम सुन्दर, भव्य प्रतापी राजपुरुष का चित्र अंकित था।···दृष्टि पड़ते ही मेरी चेतना के अतल में जैसे विस्फोट-सा हुआ। कई जन्मों की यादों से मानो मैं व्याकुल हो आई। नख से शिख तक मैं पसीने में नहा आई।··· हाय, यह कैसी अपूर्व ममता मेरे रक्त में उमड़ी आ रही है। इससे पूर्व ऐसी मोहाकुलता मैंने किसी पुरुष के प्रति अनुभव न की थी। चित्रांकित पुरुष की आँखें, मुझे एक टक घूरती हुई, मेरे प्राण को खींचे ले रही थीं। और मैं आँख मूँद कर भी जैसे उस ओर से दृष्टि हटाने में समर्थ नहीं हो पा रही थी।

···मुझे मूर्च्छा के हिलोरे-से आने लगे। लगा कि अभी गिर पड़ूँगी। तभी रत्न-श्रेष्ठि का मधुर कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा :

'देवी, आपकी जिज्ञासा को समझ रहा हूँ!···'

मैंने चौंक कर आँखें खोलीं। श्रेष्ठि एकदम ही समीप खड़े थे। एक असह्य पृच्छा का कटाक्ष मेरी आँखों में कौंध गया। और मेरी पलकें लज्जा से ढुलक पड़ीं।

'ये मगध-सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक हैं, देवी। इनकी तलवार के तेज से आर्यावर्त की पृथ्वी और समुद्र के सीमान्त काँप रहे हैं।'

सुन कर मेरा चेहरा फूटती ऊषा-सा लाल हो आया। मेरी आँखें फिर उठ न सकीं। मैं मूर्तिवत् स्तम्भित, बेहद नम्रीभूत हो रही।

'आपका क्या प्रिय कर सकता हूँ, देवी चेलना? आर्यावर्त की सौंदर्य-शिखा चेलना की सेवा करके कृतार्थ होना चाहता हूँ।'

अपना नाम एक अपरिचित दूर द्वीपवासी रत्नश्रेष्ठि के मुख से सुन कर मेरी तहें काँप उठीं। वहाँ ठहरना दुष्कर जान पड़ा। पर जैसे किसी अपार्थिव सम्मोहन से कीलित मैं, वहाँ से हिल तक न सकी।

'भन्ते श्रेष्ठी, आपके सम्राट अनन्य हैं, अप्रतिम हैं।'

'सो तो हैं, कल्याणी। वैशाली की राजबाला का यह अभिनन्दन उन तक चौकस पहुँचा दूँगा।'

'महानुभाव श्रेष्ठी, श्रेणिकराज की राजगृही, ऐसी कोई बहुत दूर तो नहीं। आपके दिग्विजेता सम्राट में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं। पर क्या··· इस चित्रपट के श्रेणिक कुमार···'

'निःसंकोच आज्ञा करें, देवी।'

'क्या वे वैशाली के सीमान्त पर मुझ से मिल सकते है?'

'आज की सूर्यास्त बेला में, श्रेणिक कुमार वैशाली के सीमान्त पर आपकी प्रतीक्षा में होंगें!'

'तो क्या वे यहीं पर हैं?'

'दिगन्त-विजेता श्रेणिक बिजली के घोड़े पर सवारी करते है, सुन्दरी। आपका संदेश उन तक पहुँच गया। वे मनोवेध विद्या के पारंगत है।'

'···तो वैदेही चेलना, ठीक सूर्यास्त के मुहूर्त में गगा-तट के 'चन्द्रोदय-उद्यान' में उपस्थित होगी।'

'आज पूर्णिमा है, देवी। ठीक सूर्यास्त और पूर्ण चन्द्रोदय के लग्न-मुहूर्त में आपके श्रेणिक कुमार, आपके दर्शन की प्रतीक्षा में होंगे।'

···हाय, निगोड़ी पृथ्वी फट क्यों नहीं पड़ी! कैसे मैं इतनी निर्लज्ज हो गई, क्या-क्या मैं कह गई, कुछ सुध-बुध ही नहीं थी। कोई तीसरी शक्ति जैसे मुझ में से बोल रही थी। इतनी सम्मोहित, परवश, आत्महारा हो गई थी, कि अपने ऊपर मेरा कोई अधिकार ही नहीं रह गया था। कैसे मैं महालय लौटी, और कैसे वह सारा दिन बीता, मुझे मानो पता ही नहीं चल सका।

···ठीक नियत समय पर, गुप्तवेश में, अपना रथ स्वयम् ही हाँकती हुई, 'चन्द्रोदय उद्यान' में, मानो ठीक नियत स्थल पर यंत्रवत् आपोआप ही जा पहुँची ।

एक भव्य रत्न-जटिल रथ, चारों ओर रंगीन रेशमी यवनिकाओं से आवेष्टित, वहाँ खड़ा था। और उसकी वल्गा थामे एक राजपुरुष पास ही खड़ा था। चित्रपट का श्रेणिक न हो कर, वह ठीक उसकी प्रतिच्छवि लगा।

रथ से उतर कर दिग्भ्रमित-सी उसके सम्मुख जा खड़ी हुई। शब्द शक्य न हो सका। किसी षड्यंत्र के आतंक से मैं काँप-काँप उठी ।

'आश्वस्त हों देवी, मैं श्रेणिक नहीं, उनका ज्येष्ठ राजपुत्र अभय राजकुमार आपका अभिवादन करता हूँ ।'

'और वे रत्न-श्रेष्ठि कहाँ हैं ?'

'अभय राजकुमार अनेक रूपों में एक साथ खेलता है, कल्याणी ! उसकी इस बदनामी से आर्यावर्त का कौन-सा अन्तःपुर अपरिचित है !'

मेरे पैरों के नीचे की धरती धँसकती लगी।

'आप यहाँ कैसे, भन्ते युवराज ? आपकी साहस-कथाओं से मैं अपरिचित नहीं।···पर यह रहस्य मैं बूझ नहीं पा रही।'

'मैं आपको लिवाने आया हूँ, भारतेश्वरी !'

'भारतेश्वरी ? पहेलियाँ न बुझायें, भन्ते युवराज।···मैं···मैं अकेली हूँ। आप मुझ से क्या चाहते हैं ?'

'अब आप अकेली नहीं, राजेश्वरी। आर्यावर्त का एकमेव चक्रेश्वर आपके दायें कक्ष में खड़ा है !'

'हाय, यह क्या सुन रही हूँ मैं ? हे भगवान, मैं कहाँ आ गई ?'

'आप ठीक अपनी नियत जगह पर आई हैं, देवी । मगधेश्वर का आधा चक्रवर्ती सिंहासन, सम्राज्ञी चेलना की प्रतीक्षा में है।'

'नहीं··नहीं···यह सब सुनने को मैं नहीं आई।···मैं चली, मुझे क्षमा करें, भन्ते राजपुत्र।'

'वैशाली लौटने का रास्ता अब बन्द हो चुका, मगधेश्वरी । यह नियति है, देवी। यह टल नहीं सकती। आओ माँ···!'

···मेरी आँखों में एक बिजली-सी कौंधी। विपल मात्र में ही एक बलशाली, किन्तु अति कोमल भुजा ने जैसे मुझे अधर, अनछुए ही उठा कर रथ की यवनिका में बन्द कर दिया। मानो कुछ हुआ ही नहीं । और सब-कुछ समाप्त हो गया ।

···तूफ़ान पर आरोहरण करता रथ गंगा के तटान्त को पार कर गया। बन्द रथ के उस विचित्र सुगन्ध-निविड़ अन्धकार में मुझे एक जन्मान्तर की-सी अनुभूति हुई। चेतना के एक नये ही तट पर उतर कर मैंने अपने को नये सिरे से पहचानना चाहा। सहज स्वस्थ हो कर, मैंने रथ के अगले भाग की यवनिका को सरका दिया। पूर्णिमा का पूर्णाकार केशरिया चन्द्र-मण्डल उत्तरोत्तर पीताभ होता हुआ, दूरान्त की वनलेखा पर किसी सम्राट की गरिमा से उद्योतमान दिखायी पड़ा।

'भन्ते आयुष्यमान, अब तो मेरी नियति की वल्गा तुम्हारे हाथ है। बताओ, यह सब क्या खेल चल रहा है?'

'सुनो माँ, सब स्पष्ट जान लो।···कोई भरत नामक यायावर चित्रकार एक दिन अचानक, जाने कैसे सम्राट के गोपन क्रीड़ोद्यान में प्रवेश पा गया। उसने वैदेही चेलना का एक नग्न चित्रपट उनके सामने अनावरित किया।··· उसे देखने के बाद सम्राट कई-कई रातों पलक न झपका सके। उनकी अन-मस्कता को भाँपने में मुझे देर न लगी। एक दिन अवसर पा कर मैं, दबे पैरों आधी रात को उनके क्रीड़ोद्यान-महल के शयन-कक्ष में चुपचाप प्रविष्ट हो गया।···देखा कि उस चित्रपट के समक्ष वे कुछ इस तरह ध्यानस्थ, आँसू सारते बैठे हैं, जैसे कोई योगी हों···।'

'ओह, देवानुप्रिय, आश्चर्य! एक स्वप्न में यह दृश्य मैंने भी देखा था। मानव मन की गति और शक्ति इतनी दूरगामी और सूक्ष्म भी हो सकती है, यह तो कभी जाना नहीं था। समझ गई हूँ सब, फिर भी कहो। सुनना चाहती हूँ।'

'मगध के सारे ज्योतिर्विद, मांत्रिक-तांत्रिक भी महाराज की मनोवेदना की थाह न ले सके। सारे मंत्रीश्वर और आमात्य पानी भर गये। पर सम्राट के मनोराज्य की कुंजी केवल मेरे पास है, यह मैं बहुत लड़कपन में ही जान गया था।···वे मेरी निर्वाक् मनोवेधक दृष्टि को टाल न सके। खुल आये मेरे सामने। मैंने उन्हें अचूक आश्वस्त कर दिया। वे प्रफुल्लित हो आये···।'

···कहते-कहते पल भर अभय राजकुमार ठिठक रहे।

'चुप क्यों हो गये, आयुष्यमान?'

'रत्न-श्रेष्ठि के षड्यंत्र को क्या दोहराना होगा, सम्राज्ञी! सम्राट का वह चित्रपट मेरी ही तूली का खेल है।'

'कितनी विद्याएँ जानते हो, भन्ते युवराज, कोई गिनती है?'

'यह पूछो, माँ, कि कौन विद्या नहीं जानता ?'

'मैं धन्य हुई तुम्हें पा कर, अभय !'

'माँ···!'

'तो तुम मेरा हरण करने को वैशाली आये ! तुम अपनी अनजान, स्वप्न-कल्पा माँ का हरण कर लाये। तुम्हारे इस पुत्रत्व को कैसे दुलारूँ ?'

'माँ का हरण, आर्यों की मर्यादा में वर्जित न हो, तो वह करके मैं गौरव ही अनुभव करता हूँ। पर सच तो यह है, कि मैं मगधेश्वर की मनोमणि, मगध की भावी सम्राज्ञी का हरण करके लाया हूँ। आपको कोई आपत्ति तो नहीं।'

अत्यन्त निगूढ़ लज्जा से पसीज कर मैं अपने में ही मर रही। फिर उमग कर बोली :

'वह हरण तो इतिहास में नया नहीं, अभय अपूर्व यह है, कि मेरा अन्य कोख से जन्मा बेटा, अपनी मनचीती माँ को बलात् उड़ा लाया है।'

'बलात् कहोगी, माँ ? अभय ब्राह्मणी का गर्भजात है, और क्षत्रिय का वीर्यांशी है। बलात् नहीं, सूर्यात् कह सकती हो !'

'सूर्य का तो बलात्कार ही चेलना को प्रिय हो सकता है। मैं नारी हूँ, अभय राजकुमार !'

'माँ···!'

'बेटा···!'

◆ ◆ ◆

···कितनी दूर चली आई हूँ, अपने अतीत जीवन में। इससे एक अनोल प्रतीति हो गई। पूनम की उस पूर्णचन्द्रा रात में, महारानी होने से पहले ही माँ हो गई थी। प्रभंजन पर आरोहण करते उस रथ में स्पष्ट अनुभूति हुई थी, कि अभय जैसे बेटे को पा कर, पृथ्वी पर कुछ भी पाना शेष नहीं रह गया है। प्रसव-पीड़ा के बिना ही पाया यह पुत्र, सूर्यांशी कर्ण से कम नहीं लगा था। प्रतीत हुआ था कि यह साथ खड़ा है, तो मौत भी मुझे सामने पा कर मेरी गोद का छौना हो रहने को विवश हो जायेगी।

तब राजगृही के राजमहालय में आ कर, नया तो कुछ भी पाने को शेष नहीं रह गया था। राजेश्वरी की सोहाग-शैया और सम्राज्ञी का सिंहासन भी, मानो संसार के अन्तहीन संघर्ष और संत्रास से पीड़ित और भयभीत, मेरे वक्ष में आ दुबके थे।

उस पहली ही रात जो 'इनका' पागलपन देखा, तो नितान्त आत्महारा हो गई। क्या कोई सम्राट भी इतना अकिंचन, निरीह और नादान हो सकता

है? मगध और वैशाली के संघर्ष से अपरिचित तो नहीं थी।··· चाहती तो उस रात अपनी छाती में, वैशाली पर तनी इनकी तलवार को सदा के लिये गला दे सकती थी। पर इनकी अभीप्सा और इनके साम्राज्य-स्वप्न को तोड़ने में मुझे अपनी हार, और अपनी ही आसामर्थ्य अनुभव हुई। बिना किसी माँग और शर्त के अपने को निःशेष दे देने पर जो साम्राज्य प्राप्त हो सकता है, उससे कम पर, तुम्हारी मौसी कैसे अटक सकती थी, महावीर? अपने को अचूक और सम्पूर्ण दे कर पल भर को स्पष्ट साक्षात्कार हुआ था, कि सम्राज्ञी केवल मगध की नहीं, सत्ता मात्र की हो गई हूँ। सकल चराचर की माँ होने का गंभीर गौरव और मान मेरे अंग-अंग में उमड़ आया था।

पर उस परम अनुभूति को जीवन के पल-पल के यथार्थ में जीना क्या इतना सरल हो सकता है? किन्तु प्यार, सौन्दर्य, वैभव, ऐश्वर्य, भोग, सत्ता, सिंहासन — सभी का अपार सुख दिन-दिन कम पड़ता गया था। ना कुछ समय में ही उस सब की सीमा नग्न सामने आ कर खड़ी हो गई थी। भीतर के मर्म में एक ऐसा रिक्त और अभाव अनुपल टीसता रहता था, कि जिसकी पूर्ति बाहर के देश और काल में कहीं सम्भव नहीं लगती थी।

बचपन से ही जिस चरम अभाव की वेदना मेरे भीतर निगूढ़ रूप से कसक रही थी, और मेरे कौमार्य की रातों में जिसकी बेचैनी ने जीना दूभर कर दिया था, वह जगत के सारे सम्भाव्य सुखों से गुज़र कर, अब नितान्त अनाथ हो उठी थी। इन्हें कभी नहीं लग सका, कि कहीं से कम पड़ी हूँ, या मेरा जो कहीं अन्यत्र भटका हुआ है। पर तुम्हारे समक्ष तो यह स्वीकार कर ही सकती हूँ, महावीर, कि सम्राट के आलिंगन में हो कर भी चेलना उससे बाहर थी, रमण की शैया में हो कर भी वह रमणी वहाँ नहीं थी। हाँ, वह शैया भले ही उसके भीतर की एक तरंग मात्र हो रही हो। राजगृही के साम्राजी राजमहालय में चेलना सर्वत्र हो कर भी, कहीं नहीं थी, यह तुम्हारे सिवाय कौन जान सकता है?

···उस दिन जो बहुत बेचैन हो कर, आखिर तुम्हारे पास नन्द्यावर्त में चली आई थी, उसके पीछे अपनी यह अन्तिम अभाव की वेदना ही प्रधान थी। मगध और वैशाली के संघर्ष की पीड़ा भी कम नहीं थी। पर वह भी मानो लोक के प्राणि मात्र के बीच चिर काल से चल रहे राग-द्वेष, मोह-मात्सर्य, युद्ध-संघर्ष से संत्रस्त एक माँ की महावेदना का अंश मात्र थी। सो वह समस्या तो एक निमित्त और माध्यम भर थी, तुम तक आने के लिये। अपने अन्तरतम के चिरन्तन् सन्ताप को सीधे आ कर तुम्हारे सामने खोल देना, रमणी-माँ के स्वभाव में सम्भव नहीं था।

पर तुम हो, मान, कि सृष्टि का कौन रहस्य तुम्हारी आँख से बचाया जा सकता था। और उस सृष्टि की उत्स और चरम ग्रंथि नारी तुम्हारे

सम्मुख आ कर अपना परम गोपन अवगुण्ठन या आँचल हटाने को विवश न हो जाये, यह कैसे सम्भव था ?

एक 'नेति-नेति' की मर्मभेदी शलाका से, क्रीड़ा-कौतुक और खेल-खेल में ही तुम मेरी चेतना के अन्तरतम कुंचुकि-बन्ध और नीवि-बन्ध खोलते चले गये थे। मगध और वैशाली का द्वंद्व तो क्या, लोक के तमाम संघर्षों के ध्रुवों को तुमने शतरंज की समाप्त बाज़ी की गोटों की तरह व्यर्थ करके लुढ़का दिया, और शतरंजी उलट कर चुपचाप मुस्कुरा दिये। संसार के सारे खेल को चुटकी मात्र में ख़त्म कर के, तुमने आँखों में आँखें डाल कर मुझे अंतिम रूप से उच्चाटित कर दिया।

अपने नारीत्व और मातृत्व की भूमि को फिर भी मैं कस कर पकड़े रही। और सम्राट से मिलने आने के बहाने, तुम्हें राजगृही आने का आमन्त्रण दिया। मानो कि अपने अनजाने ही मेरे भीतर की प्रकृति ने उस व्याज से अपनी अचूक मोहिनी सत्ता के परिचक्र में तुम्हें आमंत्रित कर, अपने साम्राज्य में तुम्हें क़ैद करना चाहा था। समाप्त चौसर के फिर लुढ़क कर सामने आ पड़े ढीठ पासे को एक चुटकी से दूर फेंक देने की तरह, तुमने सम्राट को हमारे बीच से हटा दिया। उनसे मिलने आने की बात पर तुम बोले कि: 'नहीं, ठीक समय पर वे ही मेरे पास आयेंगे।'

· · · अब मानो मगध में कोई सम्राट नहीं रह गया था, केवल सम्राज्ञी अपने महल में अकेली छूट गई थी। और ठीक अपनी उस स्वायत्त भूमिका पर तुमने हँस कर सीधे अपनी अन्तिम चाल चल दी थी:

'मेरे साथ चलोगी, मौसी ?'

'कहाँ · · · ?'

'जहाँ मैं ले जाना चाहूँ।'

'तब क्या न आना मेरे वश का होगा, मान !'

'तो जानो मौसी, एक दिन मैं तुम्हें लिवा ले जाने को राजगृही आऊँगा।'

और उसके बाद का तुम्हारा अति सूक्ष्म, अदृष्ट भ्रूभंग कितना प्राण-हारी था, कैसे बताऊँ। अस्तित्व में रह पाने की विवशता से विकल हो कर, तुम्हें अपनी छाती में सदा को बाँध लेने के लिये उमड़ पड़ी थी। पर हाय, अपनी बाँहों में तुम्हें घेर सकूँ, उसके पहले ही, तुम जाने कहाँ चम्पत हो गये थे।

उसके बाद, सब-कुछ के बीच रहते हुए भी, इन बारह-पन्द्रह वर्षों में, अस्तित्व में रह पाना कितनी पीड़क कसौटी रहा है मेरे लिये, सो तुम्हारे सिवाय और कौन जान सकता है। रातों-दिन का भेद भूल कर, सारी मर्यादाएँ तोड़ कर चाहे जब राजगृही के चैत्य-काननों में, तुम्हें टेरती फिरी हूँ।

···हठात् एक दिन लगा, कि सच ही मगध की हवाओं का रुख़ बदल गया है। पंचशैल के आकाशवेधी शिखर झुक गये हैं। जान गयी, कि तुम आ गये हो।···इन्हें ले कर, तुम्हारे निकट आ उपस्थित हुई।···तुम्हारा वह निरंजन अवधूत रूप देख कर एक अकथ आनन्द-वेदना से प्राण हाहाकार कर उठे। पर हाय, तुम्हारी एक चितवन के योग्य भी न हो सकी। मानो कि बोले : 'नितान्त अकेली हो कर आओ, चेलना!'

····उस तरह भी आ कर, पंचशैल की तलहटियों में कितनी न बार तुम्हारे पद-नख के सुमेरु पर अपना माथा पछाड़ा। पर तुम एक के दो न हो सके। सर्वस्व छीन कर भी तुम्हें चैन न आया। सारे महलों और कक्षों के, सारे कपाट तुमने तोड़ दिये। तुम्हारी चरण-धूलि पाने को मगध का साम्राजी सिंहतोरण धूल में लोट गया।···चेलना और श्रेणिक के बीच तुम नंगी तलवार की तरह अटल खड़े हो गये।

बोलो, अब और क्या चाहते हो?···

वैशाली को पीठ दे कर पीछे छोड़ आये हो। मगध की भूमि पर अन्तिम रूप से आ खड़े हुए हो।

जृम्भक ग्राम के निकट, ऋजु-वालिका नदी के तटवर्ती जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक गाथापति के शालि-क्षेत्र में, सघन शाल-वृक्ष के तलदेश में, गोदोहन मुद्रा में, जानू पर जानू मोड़, ऊपर नीचे बँधी मुट्ठियों से यह कौन महाकाल-पुरुष कामधेनु पृथ्वी के स्तनों को अविचल अंगुष्ठों से दबा कर, अन्तिम रूप से उसका दोहन कर रहा है?

···ऋजु-वालिका नदी की लहरों पर लहराती तुम्हारी तूफ़ानी अलकें चुपचाप दूर से देख आई हूँ।

काल-वैशाखी की पानी भरी आँधियाँ, पंचशैल के मूलों और वन-कान्तारों के अँधेरों को झंझोड़ रही हैं।

···मगधेश्वर श्रेणिक का दिशान्तों तक कहीं पता नहीं है। और चेलना विपुलाचल के काँपते शिखरों पर, केवल मात्र आँधी का उत्तरीय ओढ़, और तड़कती दामिनी की कंचुकी धारण किये, किसे रो-रो कर पुकारती हुई फेरी दे रही है।

□

तुम रहो या मैं रहूँ

मैं हूँ कि नहीं हूँ ? अपने होने पर ही सन्देह करने लगा हूँ। . . . क्या वर्द्धमान के होने की यह शर्त है, कि मैं न रह जाऊँ ? लेकिन ऐसा तो नहीं लगता कि वह किसी शर्त या दावे के ज़ोर पर क़ायम है। इतना वेशर्त आदमी मैंने आज तक नहीं देखा। लेकिन फिर भी अजीव है, कि एक शर्त-सी लग गई है, कि वर्द्धमान को स्वीकार कर के ही मैं अस्तित्व में रह सकता हूँ।

विचित्र है यह विदेह-वंशी, कि कहीं कोई कोण या धार इसमें है ही नहीं, कि जिससे टकराया जा सके। लेकिन फिर भी इसमें कोई ऐसी अदृश्य और सूक्ष्म धार है, कि आँख तक उठाये विना, यह निमिष मात्र में तह-दर-तह मेरे समस्त को काट-छाँट कर रख देता है। कोई ऐसा पानी और हवा से भी अधिक महीन फल है, जो अपने मनचाहे ढँग से मुझे तराश कर, मेरी कोई नयी ही आकृति उकेर देता है। रह-रह कर अपनी स्थापित पहचान ही हाथ से चली जाती है। श्रेणिक के नाम और रूप के साथ अपनी तदाकारिता को महेसूस करने में कठिनाई होती है।

या तो इन नग्न श्रमण को सामने पाकर ऐसी अभेद्य कठोरता से मुक़ाविला होता है, कि जिससे टकराने में अपने चूर-चूर हो कर समाप्त हो जाने का अचूक ख़तरा अनुभव होता है। या फिर ऐसी अव्यावाध कोमलता सम्मुख होती है, कि टकराव या संघर्ष को सम्भव ही नहीं होने देती। एक ऐसा विशाल कमल, जो वृहत से वृहत्तर होता हुआ, मेरे समस्त को वरवस अपने में समाहित कर लेता है, और निखिल के आरपार अपनी पँखुड़ियाँ फैलाता चला जाता है। एक ऐसा कोणाकार तीखा पर्वत-शृंग जो मुझे आपाद मस्तक भेद कर, अपनी ही तरह अभेद्य कठोर और निश्चल वना देना चाहता है।

और तिस पर मुसीवत यह है, कि मैं काल के किसी आख़िरी तट पर अकेला स्वयम् होने को छूट जाता हूँ। चुनौती होती है सामने, कि अपने को पहचानूँ। अजीव है यह व्यक्ति कि जीने भी नहीं देता, मरने भी नहीं देता। जो हूँ, वह नहीं रहने देता, जो होना चाहता हूँ, वह नहीं होने देता, और समाप्त हो जाने की छुट्टी भी नहीं देता। अपूर्व भयंकर और ख़तरनाक़

है यह आदमी। ऐसा बलात्कारी, जिसने मेरी आत्मा पर क़ब्जा कर लिया है, फिर भी मेरी इच्छा-शक्ति को आज़ाद रक्खा है, कि मैं अपनी नियति का निर्णय करूँ, मैं अपनी हर इच्छा पूर्ण करूँ। मेरा सब कुछ लूट कर, यह सर्वस्वहारी अब मुझसे किस चुनाव की आशा करता है?

बोलो वर्द्धमान, तुम्हारे साथ कैसे सलूक किया जाये?

···सामने सुमेरु पर्वत भी आ कर मेरी राह रोक ले, तो उससे टक्कर ले सकता हूँ। उसे अपने बाहुबल से झंझोड़ कर उखाड़ फेंकने का दम रखता है श्रेणिक। कहीं कुछ ठोस ग्राह्य हो तो सामने, कि जिस पर अपनी पकड़ बैठा सकूँ, चोट कर सकूँ। लेकिन यह सुकुमार संन्यासी, सुमेरु से अधिक अटल और अभेद्य सघन होने पर भी, पकड़ाई से बाहर लगता है। अन्तरिक्ष से कोई कैसे टकराये, उसे कहाँ से पकड़ा जाये? वज्र से अधिक ठोस है यह वैशालक। लेकिन वज्र से भिड़ कर, मेरा प्राणान्त भले ही हो जाये, वह तो टलने या गलने से रहा। इस असमंजस में पल-पल का जीना दूभर हो गया है। बैठ या लेट भी नहीं सकता। दिन-रात सतत चलता रहता हूँ। अविश्रान्त चंक्रमण के चक्र में घूम रहा हूँ। इस महल से उस महल, इस उद्यान से उस उद्यान, इस प्रमदवन से उस क्रीड़ा-पर्वत, इस प्रमदा से उस रमणी तक, इस सीमान्त से उस सीमान्त तक भटकता फिर रहा हूँ। ठहराव मेरी साँस को क़ुबूल नहीं। भीतर कोई मुक़ाम नहीं। पैर टिकना भूल गये हैं। दिवा-रात अविश्रान्त बेचैन चल रहा हूँ, चल रहा हूँ, चल रहा हूँ।

किसी प्रमदा का रूप मुझे नहीं रोक पाता। किसी रानी की समर्पित गोद मुझे समा या सहला नहीं पाती। अभय की माँ महारानी नन्दश्री कई महीनों से तीखे पत्थरों की शैया पर सो कर मुझे बिरमाने और पिघलाने को दारुण तप कर रही है। मेरे सर्वस्व की स्वामिनी चेलना, आज कितनी परायी और दूर लगती है। जिस चेलना की एक चितवन पर मेरा जीवन और मरण तुलता रहता था, उसकी छाया तक से आज मैं कतराता हूँ। उसके उस दिव्य उज्ज्वल मुख-मण्डल में मुझे अपना काल दिखाई पड़ता है। उसके उन उशीर शीतल केशों में मुझे कई छुपे षड़यन्त्रों की गन्ध आती है। उसकी उस महीन दर्दीली आवाज़ की विदग्धता मुझे हर पल प्रवंचित करती-सी लगती है।

उस आधी रात चारों ओर से सर्वथा निराश हो कर, बरबस ही सालवती के नीलकान्ति प्रासाद में चला गया था। हरे पन्नों की आभा से छाये उसके शयन की शीतलता में आदिम अजगरों का आतंक छाया दीखा। ···काँपते-थरथराते, अपने लड़खड़ाते शरीर को जब सालवती की फैली बाँहों

में ढल जाने दिया, तो लगा कि असह्य नागपाश में जकड़ गया हूँ। · · ओह, इन केशों की भँवराली मोह-रात्रि में अब प्राण को विश्राम नहीं। इस शालिनी के कुँवारे वक्षोज-गव्हर में जब पहली बार सर डुबोया था, तो लगा था कि यही मोक्ष है, यही मोक्ष है, मोक्ष यहीं है। · · · आज उसी वक्षमंडल के अधिक सघन और औंडे गहराव में जब खो जाना चाहा, तो वह कितना ठंडा, उथला और नीरस लगा। कहाँ गई वह अगाधता, वह अथाह मार्दव, जिसमें एक दिन अमरत्व और अनन्त का आश्वासन मिला था।

अपने राज्य के हर सीमान्त पर घोड़ा टकरा आया हूँ। एक अन्तहीन वीरानियत में सर पछाड़ कर लौट आने के सिवाय, उसमें क्या पाया। मेरे राज्य को चारों ओर से घेर कर जैसे अलंघ्य खाई खोद दी गई है। मानो किसी इन्द्रजाली का भेदी षड़यंत्र सर्वत्र चल रहा है। · · · ओह, वैशाली का यह राजपुत्र श्रमण ऐसा अनिर्वार आक्रमणकारी भी हो सकता है? शत्रु के ही राज्य में आ कर जो इतना अटल और अभय खड़ा हो गया है, ऐसे योद्धा से कैसे पेश आया जाये? अकेला, निहत्था, मातृजात नंगा, नितान्त घात्य, हर प्रहार को समर्पित, जो सामने हर कभी प्रस्तुत और सुलभ है, उस पर प्रहार करने में भी अपने वीरत्व और क्षात्रधर्म का अपमान अनुभव होता है।

एक दम निरीह, अकिंचन, अकिंचित्कर है यह युवान। यह कुछ नहीं कर रहा। केवल अकम्प, निर्द्वन्द्व खड़ा है। · · · और मानो मेरा साम्राज्य-स्वप्न बादल के महलों की तरह बिखरता चला जा रहा है। अपनी प्रभुता और महत्ता को रेत-घड़ी में गिरती रज की तरह बेकाबू बह जाती देख रहा हूँ।

· · · कुछ थामने को न होगा, तो अभी-अभी गिर पड़ूँगा। · · · और अपने अस्तित्व को महसूस करने की कशमकश में भागा हुआ अपने गोपन मंत्रणा कक्ष में जा कर, दीवारों पर टंगे विशाल नक़्शों पर अपने साम्राज्य की सरहदों को टोहता हूँ। पर लगता है, कि मेरी घूमती ऊँगली के नीचे सरहदें टूट रही हैं, नक़्शे सिमट रहे हैं। धरतियाँ काँप रही हैं, मंत्रणा-ग्रह की दीवारें धड़धड़ा कर टूट रही हैं। अन्तःपुरों में आग लग गई है। शैया में सोयी सुन्दरी महारानियों के लवाण्य में से ही जैसे लपटें फूट पड़ी हैं। कैसे सर्वनाश की इन लपटों से बचना होगा? कहाँ जाना होगा? क्या करना होगा? अरे कहीं, कहीं भी तो इस विस्फोट से बचने को कोई दिशा नहीं छूटी।

मंत्रीगण, आमात्य, सेनापति, सेनाएँ, अपने खोये हुए सम्राट को जंगलों, पहाड़ों, दर्रों, रुद्ध अरण्यों, कन्दराओं तक में खोज रहे हैं। पर उसका कहीं कोई पता या निशान नहीं मिल रहा। उफ्, कैसा चुप्पा ख़ामोश खड़ा है, यह दुर्दान्त नग्न आक्रान्ता, ऋजुबालिका के इस एकान्त तट पर! · · · और इसका यह बालक-सा मासूम, निर्दोष चेहरा इतना षड़यंत्री है, कि इसने मगध सम्राट
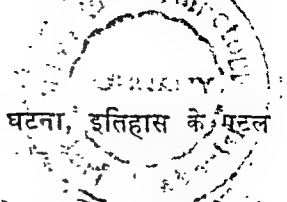
का ही अपहरण कर लिया है। अश्रुतपूर्व है यह घटना, इतिहास के पटल पर।

मैं तुम में अपना प्रतिस्पर्द्धी, प्रतिद्वंद्वी खोज रहा था, महावीर! मगर तुम कुछ इतने अनिरुद्ध, खुले और उत्सर्गित हो हर शै के प्रति, कि तुमसे कोई आखिर कैसे मुक़ाबिला करे। जो आजानु अपनी भुजाएँ निश्चिन्त ढाल कर, निस्तब्ध खड़ा है, उस पर अपने बाहुबल को कहाँ, कैसे आज़माया जाये? तलवार की धार पर ही जो हर क्षण चल रहा है, उसका वध जगत की कौन-सी तलवार कर सकती है?

अजीब फ़ितरती है तुम्हारी हस्ती, ज्ञातृपुत्र काश्यप! तुम बचाव की लड़ाई नहीं लड़ते। तुम शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करते। तुम स्वयम् ही प्रलय के पूर की तरह मेरी भूमि में धँसते चले आये हो। बेरोक, दुर्दाम, अनिर्वार। ओ दुर्दण्ड आक्रमणकारी, मेरी धरती के गर्भ में तुम एक ध्रुव-कील की तरह ठुक कर अटल खड़े हो गये हो, और देखता हूँ कि मगध पर सर्वग्रासी आक्रमण हुआ है। तुम्हारे अविचल चरण-युगल की धँसान से मगध का साम्राजी सिंहासन डोल रहा है। राजगृही की देवरम्य प्रासाद-मालाओं के ऐश्वर्य में भीतर ही भीतर ज्वालामुखी धधक रहे हैं। चारों ओर अशनिपात, उल्कापात, ध्वंस और विनाश का दृश्य देख रहा हूँ।

अपने इस 'मैं' को ठहराने के लिये कहीं कोई जगह बच नहीं सकी है। अस्तित्व और अस्मिता के सारे अवलम्बन चूर-चूर हो गये हैं। जिसने मेरे 'मैं' को ही मुझसे छीन लिया, उससे बड़ा मेरा शत्रु और कौन हो सकता है? कंस के जन्मजात काल कृष्ण का ख्याल आ रहा है। लेकिन मेरी कठिनाई उससे आगे की है। यह ऐसा विकट शत्रु है, जो मुझे मार कर सन्तुष्ट नहीं हो सकता, यह मुझे जिन्दा पकड़ कर अपने भव्य सुन्दर सीने पर कुचल देना चाहता है। अपनी एक चुटकी में यह मुझे शून्य कर देना चाहता है। आह, इस दुर्वार पराक्रान्त शत्रु से कैसे जूझा जाये, जो नितान्त अक्रिय, हाथ ढाले, कायोत्सर्ग में खड़ा है। लड़ने के कोई लक्षण नहीं, मगर हर पल मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है।...

महावीर, क्या इसी को तुम प्यार कहते हो? तो फिर शत्रुता की शायद कोई नयी परिभाषा खोजनी होगी।... कैसे कहूँ, कि तुम पाखण्डी हो। आरपार प्रज्वलित नग्न हुताशन को, पाखण्ड, झूठ, धूर्तता कहूँ, तो सत्य किसे कहना होगा?

...मेरे सामने से तुम्हें हट जाना होगा, काश्यप, मैं तुम्हें सहन नहीं कर सकता। लेकिन अजीब लाचारी है, कि मैं अब तुम्हें अपनी आँख से एक क्षण भी ओझल नहीं होने दे सकता। ऐसे रहस्यीले सर्वस्वहारी शत्रु का भरोसा

क्या, जो किसी भी क्षण मेरे गाढ़तम प्रणयालिंगन में भी विस्फोटित हो सकता है। जो मेरे प्राणों की परमेश्वरी चेलना के सीने में शेषशायी विष्णु की तरह अपनी शाश्वत नागशैया बिछाये लेटा है, उससे बच कर मैं आखिर कहाँ जा सकता हूँ।

···लेकिन आज कहीं चले जाना होगा। मगध की सीमा को अतिक्रान्त किये बिना आज चैन नहीं।···लेकिन मगध की सीमा ही जो हाथ नहीं आ रही। लग रहा है, कि भूगोल और इतिहास से निर्वासित कर दिया गया हूँ। तब पराक्रम, विजय और साम्राज्य का क्या अर्थ रह जाता है?

···लेकिन साम्राज्य से बड़ी चीज़ है मेरा स्वप्न। मेरा सौन्दर्य-स्वप्न।··· वैशाली नहीं, आम्रपाली! ओ मेरी स्वप्न, तुम कहाँ हो इस क्षण, क्या कर रही हो? निश्चय ही, तुम भी भूगोल और इतिहास से बाहर हो आज की रात। ऐसा सौन्दर्य भूगोल, खगोल और इतिहास का बन्दी हो कर कैसे रह सकता है? और मैं भी उससे निष्क्रान्त हूँ इस क्षण। मैं आता हूँ, मैं आ रहा हूँ, मैं आ रहा हूँ····।

◆ ◆ ◆

इस दौरान कितने न छुपे वेशों में जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरा हूँ। जिसे अपना ही मुँह देखना अब अच्छा नहीं लगता, ऐसा पराजित सम्राट औरों को अपना मुँह कैसे दिखाये। अनेक तरह के रूपों और वेशों में अपने को छुपा कर और अदल-बदल कर ही तो इन दिनों जीना सम्भव हो रहा है। इस क़दर छिप गया हूँ अपने ही आपसे भी, कि मगध का अप्रतिम राज-परिचक्र भी अपने खोये सम्राट को खोजने में हार मान बैठा है।···

···वैशाली की एक विलास-सन्ध्या में, ताम्रलिप्ति के किसी रत्न-श्रेष्ठि का रथ, देवी आम्रपाली के सप्तभूमिक प्रासाद के सामने आ कर रुका। श्रेष्ठि ने पाया कि महल बेशक अब भी असंख्य दीपमालाओं और रत्न-विभाओं से जगमगा रहा है, लेकिन देवी अपने लोहिताक्ष-जटित रत्न-वातायन पर नहीं आयीं हैं। उसके शून्य मेहराब में केवल एक शतदीप आरती का नीराजन झूल रहा है। मानो किन्हीं अदृश्य कोमल ऊँगलियों के पोरों पर से इस आरती की जोतें उजल रहीं हैं। किसकी प्रतीक्षा में?···

···और ठीक वातायन के नीचे के भव्य रत्न-शिल्पित सुवर्ण द्वार के कपाट मुद्रित हैं। ताम्रलिप्ति के रत्न-श्रेष्ठि सागरदत्त का चित्त यह दृश्य देख कर उदास हो गया। पूछताछ करने पर उन्हें पता चला कि एक अर्से से इधर देवी आम्रपाली अस्वस्थ हैं। वे किसी से मिलती नहीं, वातायन पर सान्ध्य-दर्शन भी नहीं देतीं। उनके द्वार अतिथियों के लिये बन्द हो गये हैं!

श्रेष्ठि ने अभिवादन पूर्वक देवी के पास सन्देश भेजा, कि वे एक ऐसा रत्न देवी को भेंट करने लाये हैं, जो हज़ारों वर्षों में एकाध बार ही पृथ्वी पर प्रकट होता है। समय और अवकाश के व्यवधान जिसकी विभा में व्यर्थ हो जाते हैं। देवी आज्ञा दें, तो रत्न-श्रेष्ठि वह निधि लेकर सेवा में प्रस्तुत हो।

इस बीच की लम्बी अवधि में पराक्रम, प्रताप, पुरुषार्थ, रूप, रत्न-कांचन, कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि सब देवी के बन्द कपाटों पर टकरा कर पराजित लौट गये थे। किन्तु आम्रपाली का द्वार न खुल सका था। लेकिन आज यह क्या हुआ कि देवी ने श्रेष्ठि सागरदत्त को भेंट की अनुज्ञा दे दी।

···शीतल किरणों से आविल मर्कत और मुक्ताफल की शैया में देवी आम्रपाली एक उपधान पर सीना टिकाये अधलेटी हैं। विपुल आलुलायित कुन्तलों तले, उदास सौन्दर्य की अपूर्व मोहिनी देख, श्रेष्ठी विकल-विव्हल हो आये। बन्धूक फूलों-सी रतनारी मदिरा का चषक, उस चेहरे की सान्ध्य विभा तले, पन्ने की चौकी पर अछूता पड़ा था। उन बड़ी-बड़ी कटावदार आंखों में बिन पिये ही एक अगाध खुमारी मचल रही थी।

'ताम्रलिप्ति के रत्न-कलाधर का स्वागत है!'

'आभार, कल्याणी!'

'आप के अलभ्य रत्न को देख सकती हूँ?'

'प्रस्तुत है, देवानुप्रिये।'

'ओ···यह तो मनस्कान्त मणि लगती है। हमारे पास यह है।···'

और देवी ने अपने हृदय पर झूलते एक बहुत महीन पर्तीले दूधिया रत्न की ओर संकेत किया। फिर बोलीं:

'लेकिन यह हमारा मन न थाह सका, श्रेष्ठि! मनोमणि रत्न से परे है।'

'क्षमा करें, भगवती. मेरा यह रत्न मनस्कान्त नहीं, अन्तरिक्ष-वेध चिन्तामणि है।'

'इसकी सामर्थ्य?'

'इसमें दृष्टि केन्द्रित करने पर आप, जब चाहें देश-काल में कहीं भी अवस्थित अपनी मनोकाम्य वस्तु या व्यक्ति को देख सकती हैं।'

'क्या मैं इसी क्षण इसमें. मगध की भूमि पर निष्कम्प खड़े अर्हत् महावीर को देख सकती हूँ?'

'यदि वे सच ही आपके अनन्य काम्य और दर्शनीय हों!'

'महावीर से अधिक दर्शनीय और काम्य इस समय पृथ्वी पर क्या है, श्रेष्ठि ?'

'सावधान, देवी आम्रपाली···!'

'मुझे सावधान करने वाले तुम कौन, ओ अजनवी ?'

'पूर्वीय समुद्रेश्वर सम्राट बिंबिसार श्रेणिक···!'

आम्रपाली अप्रभावित, अचल, एकटक मुझे क्षणैक ताक रही।

'सम्राट का अभिवादन करती हूँ। प्रचंड सूर्यप्रतापी मगधेश्वर को मेरे पास चोरी से आना पड़ा ?'

'अपनी स्वप्न-सुन्दरी के पास देश-काल में कैसे आया जा सकता है। अन्तरिक्ष-मणि में ही वह मिलन सम्भव है।'

'क्षमा करें सम्राट, यदि आम्रपाली किसी दूसरे ही स्वप्न में जी रही हो, तो आपकी अन्तरिक्ष-मणि में वह अनुपस्थित भी हो सकती है !'

'देवी का वह स्वप्न-पुरुष कौन महाभाग है ?'

'संसार में आज जिससे अधिक कमनीय, कामनीय, दर्शनीय और कुछ नहीं !'

'मगधनाथ श्रेणिक का कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं हो सकता !'

'वह आपकी प्रतिस्पर्द्धा से ऊपर है, राजेश्वर ! वह वर्तमान लोक में एकमेव और अद्वितीय सौन्दर्य-सत्ता है !'

'उसका नाम जानने की धृष्टता कर सकता हूँ ?'

'जो एकमेव नाम आज दिगन्तों पर लिखा हुआ है, उसे आपने नहीं पढ़ा, नहीं सुना ? आश्चर्य !'

'शायद नहीं···।'

'उस अनन्त, अनाम को, रूप और नाम में कौन बाँध सकता है ?'

एक गहरी मर्माहत, घायल ख़ामोशी क्षण भर व्याप रही।

'आह पाली, मेरे चिरकाल के स्वप्न को तुमने बहुत निष्ठुरता से तोड़ दिया। तुमसे अधिक कोमल तो मैंने किसी को नहीं माना। अपनी अभिन्न अंकशायिनी चेलना को भी नहीं।···लेकिन तुमसे कठोर और कौन हो सकता है?'

'मेरे मन मेरे इस भाव से अधिक कोमल कुछ नहीं, सम्राट !'

'अमिया, क्या तुम नहीं जानतीं कि···'

'···कि श्रेणिक बिंबिसार मुझे अपनी आँखों में अंजन की तरह आँजे हुए हैं। कि मैं उनकी हर अगली साँस का कारण हूँ।···'

'सब कुछ जान कर भी, मेरी आत्मेश्वरी, तुमने मुझे अविकल्प पाताल में फेंक दिया?'

'ताकि आप वहाँ आ सकें, जहाँ मुझसे अचूक मिलन सम्भव है। केवल मात्र जहाँ आपका स्वप्न सिद्ध हो सकता है।'

'वह तुम्हारे और मेरे बीच न होकर अन्यत्र कहाँ सम्भव है?'

'आपके और मेरे बीच पूरे संसार-चक्र का पर्दा पड़ा है, महाराज। हमारे सीने सट कर आरपार गुंथ जायें, तब भी उनके बीच जरा, मृत्यु, रोग, विछोह, देश-काल की अलंघ्य खाइयाँ फैली पड़ी हैं।'

'···मैं खड़ा नहीं रह पा रहा, अम्बे! तुम्हारे अतिरिक्त अब लौटने को कोई स्थान नहीं छूटा। तुम बहुत निर्मम हो रही हो।'

'इससे अधिक ममता क्या दूं आपको, सम्राट, कि आपको अन्तिम विछोह की वेदना से बचा लेना चाहती हूँ।'

'अर्थात्···?'

'यही कि आप मुझे वहाँ मिलें, जहाँ फिर बिछुड़न नहीं, जहाँ सौन्दर्य का क्षय नहीं। जहाँ स्वप्न टूटता नहीं, अन्तिम रूप से साकार होता है।'

'कहाँ है वह स्वप्न-भूमि, भगवती?'

'ऋजुबालिका नदी के तट पर···!'

···हठात् एक अफाट यवनिका हमारे बीच पड़ गई। मैं उलटे पैरों लौट कर अन्धकार के जाने किन अतल पातालों में उतरता चला गया।··· महावीर, तुमने मेरा अन्तिम आश्रय भी तोड़ दिया! मेरी मनोमणि को भी तुमने सदा के लिये चूर-चूर कर दिया। मेरे अन्तरतम स्वप्न-द्वीप की शैया के चरम विराम से भी तुमने मुझे वंचित कर दिया। तुम रहो, या मैं रहूँ, ऐसी शर्त लग गई है। हम दोनों एक साथ अस्तित्व में दो हो कर नहीं रह सकते, नहीं रह सकते।···

• • •

तुम सच ही कहते हो, महावीर, श्रेणिक सौन्दर्य और प्यार का प्यासा है। अपनी उस चिरन्तन् प्यास की अतृप्ति से तड़प कर ही, वह दिग्विजय और साम्राज्य-स्वप्न में पलायन करता रहा है। बेशक, अपने बाहुबल और पराक्रम से मैंने कुशाग्रपुरी के छोटे से पैतृक राज्य को, वर्तमान आर्यावर्त के सर्वप्रथम साम्राज्य में परिणत कर दिया। उज्जयिनी के दुर्जय चंडप्रद्योत को भी अपने शूरातन से आतंकित कर दिया। तब पारसिक देश का दुर्दान्त शासानुशास भी मेरी मैत्री के लिये लालायित हो गया। फलतः

वीतिभय का अधीश्वर उदायन मुझे प्रणामांजलि अर्पित करने लगा। नतीजा यह हुआ कि हिन्दूकुश के दुर्गम्य दर्रे और पश्चिम समुद्र के पानी मेरी रण-हुंकार से थरथराने लगे।

...मेरी दिग्विजय के लक्ष्यीभूत भूगोल के नक़्शे तो अब बनने लगे हैं। वह भी मैंने नहीं, महामात्य वर्षकार और महत्वाकांक्षी कुणीक ने बनवाये हैं। मैंने तो होश में आने के दिन से ही, अपने भीतर केवल एक नाम-हीन निराकार अनिर्वार आवेग को अनुभव किया था। वह एक संयुक्त महा-वासना थी, किसी ऐसे अप्राप्य को पाने की, जिसे पाये बिना जिया नहीं जा सकता, जीवन और जगत की सार्थकता को अनुभव नहीं किया जा सकता। मेरे भीतर की वह अविराम आर्त्त पुकार और पीड़ा प्यार के लिये थी, सौन्दर्य के लिये थी, या साम्राज्य के लिये, मुझे कुछ भी पता नहीं था। मुझे नहीं पता था, मैं क्या खोज रहा हूँ, लेकिन मेरा अबूझ अबोध हृदय जाने किस शै को ढूंढे चला जा रहा था।

उसी एकाग्र महावासना का चिर बेचैन सामुद्रिक हिल्लोलन कभी मेरी बलशाली भुजाओं में सर्वजयी शूरातन बन कर प्रकट हुआ, तो कभी अछूते रूप-सौन्दर्यो का दुर्दाम आलिंगन। एक ओर अपनी दायीं भुजा से मैं आसमुद्र पृथ्वी पर अपनी तलवार की बिजलियाँ कड़काता रहा, भूगोल और खगोल की हदों पर अपनी विजय पताकाएँ फरकाता रहा। तो उसी एक संयुक्त क्षण में मैं अपनी बायीं भुजा में पृथ्वी की श्रेष्ठ सुन्दरियों को अपने परिरम्भण-पाश में बाँधता चला गया।

हर देश, द्वीप और समुद्र-मेखला की निर-निराली कुमारिका के लावण्य में डुबकी लगाने को मेरा वक्ष हर पल विकल रहता। हर नयी बार, किसी और ही प्रिया के, गाढ़तर गहनतर सौन्दर्य और प्यार को पाने के लिये मेरी आत्मा सदा तरसती रहती। कुमार काल में पिता द्वारा निर्वा-सित किये जाने पर द्रविड़ देश की अनुपम सुन्दरी ब्राह्मण-कन्या नन्दश्री को अपनी बाहुलता बना लाया। कोसलेन्द्र की इकलौती बहन कोसलवती को व्याह कर मैंने गंगा-यमुना के दोआब की सौंधी हरियाली माटी को आलिंगन-बद्ध करने का सुख पाया। ऊपर से दहेज़ में पाये काशी-कोसल के एक विशाल भूखण्ड पर मेरा विजय ध्वज भी गड़ गया। हर भूमि और उसकी सारांशिनी सुन्दरी को अंकस्थ करने का सुख मैं एक साथ पाता चला गया।

उज्जयिनी की जनपद-कल्याणी पद्मावती का हृदय अपने रूप और प्रताप से जीत कर, उसे मैंने राजगृही में ला बसाया। मालवे की उस परम मृदुला काली लचीली माटी में अपने तेज को सींच कर, उसकी कोख में

एक अनन्य प्रतिभाशाली पुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार पुराण-प्रसिद्ध मालव की भूमिजा को बाहुबद्ध करके मैंने उसे मगध की माटी में समो देने का अकथ्य विजयोल्लास अनुभव किया।

और अन्ततः समकालीन विश्व की शिरोमणि महानगरी वैशाली की अनंग-जयिनी बेटी चेलना को अपनी अंकशायिनी बना लाया। और यों मैंने पृथ्वी के सर्वोपरि गणतंत्र की स्वातंत्र्यवाहिनी हवा को अपने सीने में गिरफ्तार कर लिया। और आज दुर्जय स्वातंत्र्य-गर्वी वैशाली की स्वतंत्रता पल-पल मगधेश्वर श्रेणिक की तलवार तले थरथरा रही है।

फिर भी क्या मुझे चैन आया? भीतर के भीतर में बराबर ही ऐसा अहसास होता रहा, कि चेलना समूची मेरे बाहुबंध में बँध कर भी, उससे बाहर ही रह गई है। पृथ्वी और समुद्र के जाने किन अपरिक्रमायित कटिबन्धों में जाने कहाँ-कहाँ खेलने चली गयी है। उसकी आँखों की काजली गहराइयों में, पूर्व जन्मों की जाने कितनी ही दर्दीली रातों के द्वार खुलते चले जाते हैं। उनमें इस तरह बेतहाशा खोता चला जाता हूँ, कि देह-गुंफन के सारे किनारे हाथ से छूटते चले जाते हैं। एक अन्तहीन आत्म-विस्मृति में डूबता चला जाता हूँ। पर पार में उतर कर याद के जिस तट पर अपने को खड़ा पाता हूँ, वहाँ चेलना कहीं नहीं होती है। एक अजीब असमंजस में होता हूँ, कि यहाँ जो एकाकी उपस्थित है, वह मैं हूँ, या चेलना है, या कोई और ही है? कोई हो, क्या फ़र्क पड़ता है।

तब मेरी खोज वहाँ कैसे रुक सकती थी।... उन अचीन्हे विदेशी तटों की जल-वेलाएँ हृदय में टीस उठतीं, जिनके सुदूर छोरों में चेलना को खो जाते देखता था।... लगता था कि यह चेलना एक नहीं, देश-देशान्तरों की अनगिनत सुन्दरियाँ एक साथ हैं।... और उनमें से हरेक को अपने स्पर्श की ठोस पकड़ में लिये बिना कैसे चैन आ सकता है...!

और तब नाना देश और नाना वेश में, मेरी छुपी जल-यात्राएँ और अन्तरिक्ष-यात्राएँ होती थीं। मगध, अंग, वत्स और अवन्ती के सार्थवाहों के जहाज़ों पर चढ़ कर, जानी हुई पृथ्वी के हर कटिबन्ध को परिक्रमा कर आया।... हर तट की अनुपम लावण्या कुमारिका को हर लाया। मगध के उपान्त भागों में ताम्रलिप्ति, सुवर्ण-द्वीप, हंसद्वीप, मिस्र, महाचीन, यूनान और पारस्य की सुन्दरियों के अपने-अपने हर्म्य और उद्यान बन गये।... जाने कितनी ही माधवी सन्ध्याओं में, उन उद्यानों की स्फटिक-छतों पर अपने सपनों के साथ मन-माना खेला हूँ।

लेकिन क्या फिर भी जी की कसक को विराम मिल सका है...?

याद आता है वसन्त का वह कोकिल-कूजित अपरान्ह। जब नील नदी के देश की वासिनी एक बाला के हर्म्य-उपवन में उसके साथ, पारिजात-

वन में विहार कर रहा था। तभी वैशाली का एक अज्ञात-नाम कवि-चित्रकार, अचानक किसी गन्धर्व की तरह सामने आ खड़ा हुआ। उसके अनधिकार-प्रवेश को टोक सकूं, उससे पहले ही उसने एक चित्रपट चुपचाप मेरे सम्मुख अनावृत्त कर दिया। जाने किस छठवीं इंद्रिय से तुरन्त पहचान गया, अरे, यह तो आम्रपाली है! वही आम्रपाली, जिसकी लावण्य-प्रभा से जम्बूद्वीप के दिगन्त झलमला रहे हैं। और जो मेरा प्रतिपल का दिवा-स्वप्न हो उठी है इन दिनों।

और तब कवि ने आम्रपाली के सौन्दर्य का जयगान, जिस रस-विदग्ध वाणी में किया, उसके दरद ने मेरे अस्तित्व के मूलों को हिला दिया।···विपुल महामूल्य पुरस्कार पा कर कवि-रूपदक्ष चला गया। नील नदी की नीलागिनी बाला मेरी अन्तर-पीर को थाहने में विफल, उदास हो रही।···

मैं चुपचाप अत्यन्त उन्मन हो कर अपने महालय लौट आया।··· हाय हायरी, मेरी नियति-नटी वैशाली! चेलना की चोट क्या मुझे तड़पाने को कम थी, कि तूने एक और चित्रपट खोल कर, मेरे चिर विकल चित्त को यह आख़िरी चोट दे दी: आम्रपाली! इस उच्चाटन के वाद पृथ्वी पर मेरे पैरों का टिकाव जैसे अन्तिम रूप से समाप्त हो गया।···

अभय ने फिर मेरी उन्मन् उदास भटकनों के एकान्तों को ताड़ लिया। वार-वार उसकी सहानुभूति से कातर विनती भरी आँखें मेरे चहुँ ओर फेरी देती दिखाई पड़ीं।···आख़िर उसने मेरे मरम की इस पीर का भेद भी जान ही तो लिया।

'चिन्ता न करें वापू, राजगृही की विलास-सन्ध्याएँ अव और सूनी नहीं रहेंगी। उनके चमेली-वातायन पर ऐसी एक लोक-कल्याणी खड़ी दिखायी पड़ेगी, कि सौ आम्रपालियाँ पानी भर जायें···!'

और तब ऐंद्रजालिक अभय राजकुमार मगध की लावण्य-खानि में से, एक अपूर्व सौन्दर्य-रत्न खोज लाया। सालवती।···नीलकान्ति प्रासाद के माणिक्य-वातायन पर जिस साँझ पहली वार सालवती फूलों भरी आरूढ़ हुई, उस क्षण मानो लोकाकाश में एक दूसरे ही चन्द्रमा का उदय हुआ। फाल्गुनी पूर्णिमा की उस पूर्ण चन्द्रिला उत्सव-सन्ध्या में सारे मगध का प्राण पागल हो गया। पल भर को वैशाली की आम्रपाली भी मेरी आँखों में फीकी पड़ गयी।···

···उस सालवती को अपने अंगों की अत्यन्त विश्वसनीय पकड़ में समूचा गह कर भी क्या मुझे चैन आया? तन और मन की यात्रा, किसी दूसरे तन और मन में जितनी दूर हो सकती थी, होने में कोई कसर न रही।

उसकी चरम फल-श्रुति के रूप में सालवती की कोख से आर्यावर्त को भगवान धन्वन्तरी का एक और अवतार भले ही प्राप्त हो गया, पर क्या मेरे प्राण की विकलता को विराम मिल सका? ···देखते-देखते में, सारे उत्सव कोलाहल के बीच भी, राजगृही की मधु-मालती विलास-सन्ध्याएँ फिर मेरे लिये कुम्हला गईं। सूनी हो गयीं।

···और मन्त्रणा-ग्रह की दीवारें मेरी दिग्विजय के नक्शों से अधिकाधिक पटती चली गईं। मगध के साम्राजी नक्काड़ों के युद्ध-घोष से धरती के गर्भ दहलने लगे। वैशाली-विजय के लिये, या आम्रपाली-विजय के लिये? ···नहीं, नहीं, जाने हुए जगत के हर सीमान्त पर अपनी दिग्विजय के स्तम्भ गाड़ देने के लिये। पृथ्वी और समुद्र के छोरान्तों का अतिक्रमण कर जाने के लिये!

···लेकिन महावीर, ऐसे भयंकर और अनिर्वार हो तुम, कि मेरी दिग्विजय के हर दिगन्त पर तुम्हीं खड़े हो। प्रतिक्षण एक चुनौती मेरे सामने मशाल की तरह जल रही है, कि इस दिगम्बर पुरुष का अतिक्रमण कर जाना होगा! ···पर कैसे?

मेरे अन्तर्तम चेतना-कक्ष में एक स्वप्न की सीपी तैर रही है। उसमें बन्द मोती की तरल आभा में शायद विश्राम मिले। अम्बपाली के केशों के सघन सुरभित अम्बावन भीतर पुकार उठे। और उस रात ताम्रलिप्ति के रत्न-कलाधर ने, हर शै के लिये बन्द हो गये अम्बा के किवाड़ खुलवा लिये। ··· सामने पड़ते ही, उन आलुलायित घनसार केशों की कस्तूरी छाया में सदा के लिये सो जाने को कैसा विव्हल हो उठा था। पर हाय, मेरे प्यार के उस कल्प-वन में भी तुम्हीं अनिर्वार खड़े मिले, महावीर! मानो तुम्हें पाये विना यहाँ का कोई सौन्दर्य, प्यार, साम्राज्य नहीं पाया जा सकता। सत्ता के कण-कण पर तुम्हारा चेहरा छपा हुआ है। तुम्हें पाये विना न चेलना को पाया जा सकता है न आम्रपाली को, न वैशाली को।

···प्रायः ही चेलना के मुख से यही सुनता रहा था कि तुम मुझे बेहद प्यार करते हो, वर्द्धमान! तुम्हारी जिस विश्वमोहिनी भाव-भंगिमा को चेलना देख आयी थी, उसका वर्णन उसके मुंह से सुनते-सुनते मैं आपा हार गया था। भर-भर आया था। बहुत गहरी आर्द्रता के साथ अनुभव किया था, कि सच ही तुम से अधिक प्यार मुझे कोई नहीं कर सकता। तन्मयता के किसी भी क्षण में श्रेणिक वर्द्धमान हो जाता था, और वर्द्धमान श्रेणिक। और तब घंटों-पहरों तुम्हारे साथ जाने कैसा हृदयहारी सम्वाद चलता रहता था। अपनी इयत्ता को किसी दूसरे जीवित मनुष्य के समक्ष पहली बार विसर्जित हो जाते अनुभव किया था।

इसी से दुर्दान्त तापस के रूप में जब तुम पहली बार नालन्दपाड़ा के उपान्त में दिखायी पड़े, तो खबर मिलते ही अपनी मनोमणि चेलना के साथ तुम्हारे श्रीचरणों में आ उपस्थित हुआ। पर तुम्हारी निश्चल नासाग्र दृष्टि किंचित् भी विचलित न हुई। तुम हमारी ओर रंच भी उन्मुख न हुए। हमारी उपस्थिति की भी मानो तुमने अवहेलना कर दी। इससे अधिक श्रेणिक का अपमान और मर्मछेदन, कोई जीवित सत्ता आज तक न कर सकी थी।···जितना ही अधिक आहत हुआ, उतना ही अधिक तुम्हारे पास आने को फिर-फिर विवश हुआ।

नालन्द की तन्तुवायशाला में फिर हम तुम्हारे दर्शनार्थ आये। अजीब थी तुम्हारी वह ध्यान-भंगिमा। सैकड़ों कर्घो की खड़खड़ाहट में मानो तुम संचरित थे। बुनकरों के सहस्रों हाथों में दौड़ती शटलों में तुम खेल रहे थे। निर्जीव यंत्रों के उस कोलाहलपूर्ण कर्म-चक्र में तुम लापरवाह बालक की तरह अकारण ही क्रीड़ा कर रहे थे। और अपने उस निरुद्देश्य लीला-खेल में हमारे प्यार और पीर से उमड़े हृदयों को तुमने सहज ही नज़रन्दाज़ कर दिया। उसके बाद भी कितनी न बार वैभार और गृध्रकूट की हिंस्र प्राणि-संकुल भयावह अटवियों में, अकेला भी तुम्हारे कायोत्सर्गलीन चरणों में घंटों आकर बैठा रहा। लेकिन तुम्हारी एक नज़र तक पाने से वह मगधनाथ मजबूर रहा, जिसका नज़राना हो जाने को दुनिया की हर विभूति तरसती है।

मगधेश्वर के साम्राजी श्रमणागारों के आतिथ्य को तुमने अपनी एक मर्मीली मुस्कान से उड़ा दिया। पर राजगृही के परिसरवर्ती जाने कितने ही ग्रामों की कम्मशालाओं का अनामंत्रित मेहमान होना तुमने अधिक पसन्द किया। लोहकार, वर्द्धिक, शिलाकार, जुलाहे, चर्मकार, और चंडकर्मी चाण्डाल तक तुम्हारे मनभावन मेजवान होने का सौभाग्य पा सके, लेकिन मगध के साम्राजी सिंहद्वार पर झाँकना तक तुम्हें मंज़ूर न हो सका। चेलना, नन्दश्री, कोसला, क्षेमा जैसी केसर-कोमला महारानियाँ कई-कई दिन व्रती और उपासी रह कर, अनेक तपस्याएँ धारण कर, हमारे राजद्वारों में महाश्रमण वर्द्धमान का द्वारापेक्षण करती थक गईं। लेकिन निगंठ-नाथपुत्र के हृदय को हमारी कोई आरति, पुकार, पीर, प्रार्थना पिघला न सकी, छू तक न सकी। फिर भी चेलना, तुम्हारी हर अवहेलना से अधिकाधिक मर्माहत हो कर, अधिकाधिक तुम्हारे निकट मिटती ही चली गई। अन्य महारानियाँ भी अपने ही अन्तराय-कर्म को कोसती हुई, तुम्हारी अनन्त महिमा से अधिकाधिक अभिभूत होती चली गईं।

···लेकिन मानो श्रेणिक को तुमने विगलित होने से भी वंचित कर दिया। मेरे विसर्जित अहम् के मूर्छित नागचूड़ को तुमने फिर अपनी ठोकर

की चोट से जगाया। तुम्हें यह स्वीकार्य नहीं था, कि श्रेणिक का सम्राटत्व तुम्हारे चरणों में समर्पित हो विश्राम पा जाये, चैन पा जाये। मेरे भीतर के, अपने द्वारा पदमर्दित सम्राट को तुमने हज़ार गुने अधिक वेग के साथ फिर से जगाया है। मेरी इयत्ता और अस्मिता को, मेरे चक्रवर्तित्व के गर्व को, फिर तुमने पराकाष्ठा तक उभारा है। मुझे तुम्हारे चरणों में मिट जाने तक की छुट्टी नहीं। क्या यही है मेरे लिये तुम्हारा प्यार ?

···एक मौन ललकार है मेरे सामने। कि मुझे तुम्हारे मुक़ाबिल खड़े रहना होगा। मुझे तुमसे टकराना होगा।···समझ रहा हूँ विदेह-पुत्र वैशालक, तुम मुझे युद्ध देने आये हो। अपनी नग्न काया के कायोत्सर्ग में तने खड्ग् की धार से, तुम मेरी दिगन्त-जयिनी तलवार के पानी उतार देने आये हो। स्वदम् मेरी तलवार की धार पर चल कर, तुम मुझे हर पल चुनौती दे रहे हो कि, मैं तुम पर प्रहार करूँ? अपनी अरक्षित नग्न देह के पिण्ड रूप में सारी वैशाली को उसकी समस्त शक्ति और ऐश्वर्य के साथ तुमने मेरी भूमि में ला पटका है। और मौन मुस्करा कर मुझे आहूत कर रहे हो कि : 'लो श्रेणिक, यह वैशाली है—तुम्हारे चक्रवर्ती साम्राज्य की अनिवार्य शर्त। सामर्थ्य हो तो इस पर प्रहार करो, क़ब्ज़ा करो। यह खुली है, और प्रस्तुत है, तुम्हारे सामने। इसकी हृदयेश्वरी आम्रपाली तुम्हारे विश्व-विजय के गर्वी वीर्य को परखना चाहती है। प्रहार करो उस पर। भुवनेश्वरी अम्बा तुम्हारे बेशर्त समर्पण से प्रसन्न नहीं हो सकती। वह तुम्हारे पुरुष की आख़िरी चोट को ही समर्पित हो सकती है।'···

तुम मेरे वीर्य की बूंद-बूंद में आग लगा रहे हो, महावीर ! तुमने मेरे मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी को भयंकर पदाघात दे कर जगा दिया है। मेरे मेरु-दण्ड में दिवारात्रि यह महासर्पिणी शक्ति की सहस्रों विद्युत्धाराएँ बन कर लहरा रही हैं। बेशक, शर्त लग गई है, कि तुम रहो या मैं रहूँ···? साम्राज्य तुम्हारा हो या मेरा हो? आम्रपाली तुम्हारी हो या मेरी हो ? चेलना तुम्हारी हो या मेरी हो ?

मेरे मेरुदण्ड के म्यान में दो तलवारें एक-दूसरी से गुंथ रही हैं, एक-दूसरी को काट रही हैं। उन्हें परस्पर कट कर एक हो जाना होगा। इस एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। लेकिन मेरी इयत्ता इतनी अपराजेय और दुर्दान्त हो उठी है, कि अपना मिटना अब मुझे किसी भी तरह मंज़ूर नहीं। अपने होने, रहने, और कर्म करने की अनिवार्यता को आज से अधिक नग्न, निश्चल और अविकल मैंने कभी अनुभव न किया। इतिहास का यह एक अपूर्व भेदी षड़यंत्र है। श्रेणिक को इस चक्रव्यूह का भेदन

करना होगा। क्योंकि यह उसके अस्तित्व की शर्त है। यह उसकी आत्मा पर चरम आक्रान्ति है।

अपने से श्रेष्ठ और वलवत्तर तो मैंने आज तक किसी को नहीं जाना। अपने से ऊपर किसी को स्वीकारना मेरी आदत में नहीं।··· महावीर, तुम मेरी ही भूमि पर अटल ध्रुव की तरह खड़े हो कर, मुझ से वह स्वीकृति चाहते हो ? तुम मेरे अहम् की समर्पिति से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उसे अधिकतम उद्दंडायमान कर के, उस पर अपने को छाप देना चाहते हो।

तुमसे बड़ा मेरा शत्रु देश और काल में कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं।

आज कितने ही महीने हो गये, ऋजुवालिका नदी के तटवर्ती इस जीर्ण उद्यान में, श्यामाक गाथा पति के इस शालि-क्षेत्र में, मानो सारी पृथ्वी से निर्वासित हो कर, विचर रहा हूँ। उस माटी की अतल अंधियारी गहराइयों में धँस कर अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रहा हूँ, जिस पर तुम निश्चल महामेरु की तरह अपराजेय खड़े हो।

इस महामेरु को हिला देना होगा, जीत लेना होगा, उखाड़ कर फेंक देना होगा, वर्ना श्रेणिक से जिया नहीं जा सकेगा।

ओ ध्रुव, तुम्हारे रहते, मैं अपना नया ध्रुव कैसे स्थापित कर सकता हूँ ? अन्तिम दाँव लग चुका है : तुम रहो, या मैं रहूँ, या कोई न रहे। केवल सत्ता रहे।

श्रेणिक पराजित होना नहीं जानता। वह अपने गन्तव्य पर पहुँच कर रहेगा।···

□

मैं हूँ, कि नहीं हूँ

बेशक, जाने हुए जगत के छोरों तक भटक आया हूँ। पृथ्वी के हर चप्पे पर अपनी महिमा को अपराजेय पाया है। अपने से बड़ा यहाँ कुछ भी देख नहीं सका, पा नहीं सका। फिर भी अजब है कि दिन-दिन छोटा ही पड़ता जा रहा हूँ।

वसुन्धरा में जो कुछ दर्शनीय है, वह सब मैंने देख लिया। जो कुछ भोग्य है, वह सब मैंने भोग लिया, जो कुछ प्राप्तव्य है, वह सब कुछ मैंने पा लिया, जो कुछ जीतव्य है, वह सब कुछ मैंने जीत लिया।···लेकिन क्या बात है, कि अपने को एकदम खाली, और खोखला पा रहा हूँ। मेरी अतृप्ति का अन्त नहीं। मेरी दुर्दाम वासना, कुचले हुए शेषनाग के फन की तरह, यहाँ आकर भूलुंठित पड़ी है, इस नग्न निरीह पुरुष के पैरों तले की मिट्टी चाट रही है। इससे बड़ा अपमान मेरा क्या हो सकता है? इससे बड़ी मान-हानि जगत में किसी की क्या हो सकती है? एक रजकण, तृण या पतिंगे की भी अपनी यहाँ इयत्ता है। मगर जगज्जयी श्रेणिक अपनी उस अस्मिता तक से वंचित हो गया है। उजागर रहना उसके लिये असाध्य हो गया है, और अपना मुंह छुपाने के लिये ओट पाना भी आज उसके लिये मुहाल है।

अपनी इतनी बड़ी हार को लेकर अस्तित्व में कैसे रहूँ, यही आज प्रश्नों का प्रश्न है मेरे सामने। जल, स्थल, आकाश में कहीं ठहरने को मेरे लिये जगह नहीं। ऋजुबालिका नदी के इस तट पर, श्यामाक गाथापति के इस उजड़े उद्यान में, धरती के साथ एकीभूत हो गये इस अवधूत के अचल पंकिल चरणों में भूनत् हो रहने के सिवा, और कोई गति श्रेणिक की नहीं रही?

महामंडलेश्वर श्रेणिक की पुण्य-प्रभा कभी कहीं छुपी न रह सकी। लेकिन आज उसकी पहचान खो गई है। दिन के भरपूर उजाले में भी दुनिया की कोई आँख उसे पहचान नहीं सकती। सारे जगत की आँखों से वह ओझल हो गया है, सबकी निगाहों में वह खो गया है। मगध जैसे पराक्रान्त साम्राज्य का परि-चक्र भी उसे खोज लाने में हार मान गया है। सारी पृथ्वी से निर्वासित हो कर,

वह आज कई-कई महीनों से इस अकिंचन तापस के चट्टानस्थ चरणों में टकटकी लगाये बैठा है।···कि कैसे इन पैरों को अपनी भूमि पर से उखाड़ कर, अपनी विश्वजयी हस्ती को फिर से क़ायम कर सकूं। मगर कोई उपाय नहीं है।

अपनी अन्तिम हार की इस महावेदना में अपने समूचे भूतकाल को दुहरा रहा हूँ। फिर से उसके हर पल को जी रहा हूँ। और अपने विगत जीवन के इस सिंहावलोकन में पाता हूँ, कि अपने को कभी किसी से छोटा तो श्रेणिक ने जाना ही नहीं। स्मृति जागने के पहले दिन से आज तक, श्रेणिक मनुष्यों के बीच सदा सर्वोपरि रहा, सर्वश्रेष्ठ रहा, सर्वज्येष्ठ रहा। याद के पहले क्षण से पाता हूँ, सबसे बड़ा, श्रेष्ठ और अपराजेय ही रहा हूँ। सबसे बड़ा ही जन्मा, सबसे ऊपर ही सदा जिया।

जीवन के प्रथम प्रभात से अब तक की एक-एक घटना याद आ रही है। उस पूरे इतिहास में अपनी महिमा को सर्वत्र अजित, अक्षुण्ण और अपराजेय ही देखता हूँ।

कुशाग्रपुर के राजा उपश्रेणिक प्रसेनजित मेरे पिता थे। ऐसे दुर्दण्ड महाबली कि उनके एक भ्रूनिक्षेप पर ही, अनेक नरपति और राज्य उनके माण्डलिक हो रहे। जिस भूमि को उन्होंने जीता, उसकी श्रेष्ठ सुन्दरियाँ उनकी अन्तःपुरिकाएँ हो रहीं। उनके अनेक राजपुत्रों में एक मैं भी था।

ऐसे अप्रतिहत पृथ्वीपति का आधिपत्य स्वीकारने को, अभिमानी राजा सोमशर्मा ने इनकार कर दिया। प्रसेनजित के अहम् को चोट दे सके, ऐसा तो कोई जगत में जन्मा नहीं। महाराज-पिता स्वयम एक छोटा-सा सैन्य लेकर सोमशर्मा पर चढ़ धाये। चुटकी बजाते में चन्द्रपुराधीश्वर सोमशर्मा को पराजित कर, बन्दी बना लाये। ससम्मान उसे अपने दरबार में माण्डलिक पद पर अभिषिक्त किया। प्रकटतः सोमशर्मा ने आधिपत्य स्वीकारा। लेकिन उस हार के काँटे ने उसे चैन न लेने दिया।

अपने राज्य में लौट कर सोमशर्मा ने उपश्रेणिक को भेंट स्वरूप कई महार्घ वस्तुएँ भेजीं। उनमें एक अश्व-रत्न भी था। लेकिन कुटिल था यह घोड़ा, और सीख के अनुसार शत्रु को मृत्यु-मुख में ढकेल देता था। उपश्रेणिक घोड़े के भव्य वाहन-रूप पर मुग्ध हो, एक दिन उस पर चढ़ कर अकेले ही जंगल में आखेट को निकल पड़े। घोड़ा राजा को अज्ञात दिशा में उड़ा ले गया। महाराज-पिता ने पाया कि वह उनकी वल्गा के काबू से बाहर हो चुका है।···एक बीहड़ अटवी में पहुँच कर घोड़े ने राजा को किसी गहरे अँधेरे गव्हर में गिरा दिया और चम्पत हो गया। चोट से कराहते राजा की आवाज़ सुन कर, पास से गुज़र रहे एक यमदण्ड नामा किरातपति ने उन्हें बाहर निकाला। राजपुरुष के योग्य सम्मानपूर्वक उन्हें अपने घर लिवा

ला कर अपनी विद्युन्मती नामा रानी की सेवा-सुरक्षा में रख दिया। उस अवधि में भीलराज की पुत्री तिलकमती की सुकोमल सेवा-शुश्रूषा और मधुर रसवती के भोजन से राजा ने अपूर्व स्वास्थ्य और नवजीवन का अनुभव किया।...

ऐसे प्रतापी राजा को अपनी पुत्री के प्रति अनुरक्त जान भीलराज गद्गद् हो गया। तिलक के पाणिग्रहण को उद्यत उपश्रेणिक के समक्ष यमदण्ड ने शर्त रक्खी कि यदि तिलकमती का पुत्र कुशाग्रपुर की गद्दी का वारिस हो सके, तो राजा सहर्ष उसे व्याह ले जायें।... और यों तिलकमती कुशाग्रपुर की पट्टमहिषी हो गई। यथाकाल उसकी कोख से चिलाति नामा पुत्र जन्मा : विशाल कुशाग्रपुर राज्य का भावी राजा।

अनगिनती राजपुत्रों के बीच मैं किससे बड़ा या छोटा था, याद नहीं। इतना ही याद है कि उन सब के बीच सबसे बड़ा ही दिखाई पड़ता था। डील-डौल कैसा था, कितना बलशाली था, इसकी भी कोई कल्पना नहीं। लेकिन स्पष्ट देखता हूँ आज भी, कि सब से ऊँचा और अनहोना था। कई मुण्डों के बीच ऊपर उठा अपना तरुण भव्य मस्तक और मैदान-सा विस्तृत ललाट आज भी देख पाता हूँ। आसमान को चुनौती देता हहराते जंगल-सा उन्नय माथा। और चौड़े वृषभ-स्कन्धों पर झूलती अलकावलियों में जैसे हाथी लूमते-झूमते चलते थे। खेलों में हो, कि घुड़दौड़ में हो, कि भेदी भयावने जंगलों में रास्ता खोजने की होड़ में हो, कि नदी सन्तरण में हो, कि दुर्लभ को पा लेने के दावों में हो, कि पहाड़ और नदियां लांघने की प्रतिस्पर्धाओं में हो, कि मल्ल-विद्या में हो, कि भयानक अलंघ्य को लांघने-फांदने में हो, सारे ही साहसों और पराक्रमों में सब से आगे अजेय और ऊपर ही दीखता था।

भील-रानी का जाया, बेहद लाड़ों में लालित-पालित चिलाति मेरी इस बलवत्ता और गरिमा को देख कर रो-रो देता था। अन्य राजपुत्र आये दिन की मेरी विजयों पर जब मेरा जयजयकार करते, तो चिलाति ईर्ष्या से जल कर बिलबिलाता हुआ अपनी किरातिनी पटरानी मां और महाराज उपश्रेणिक की गोदी में जा दुबकता और तरह-तरह से मेरी झूठी चुगलियां खाता, शिकायतें करता।

महाराज-पिता भारी चिन्ता में पड़ गये। उजागर रूप से उद्दण्ड प्रतापी युवराज श्रेणिक के सन्मुख होते, दीन-दुर्बल चिलाति को कुशाग्रपुर की गद्दी पर कैसे बैठाया जा सकता है। मन ही मन वे सोचने लगे कि सांवली-सलौनी तिलकमती को दिया वचन कैसे पूरा हो। बुद्धिमान मंत्रियों ने उपाय सुझाया कि गद्दीधर की पात्रता का निर्णय करने के लिये राजपुत्रों की परीक्षा

ली जाये। और उस दौरान अनेक दांव-पेंचों से श्रेणिक को अयोग्य ठहरा दिया जाये। अन्य राजपुत्रों को तो सेंतमेत में उड़ा दिया जायेगा। सो कई परीक्षाओं का आयोजन हुआ।

पहली परीक्षा यह हुई कि सारे राजपुत्रों को एक साथ भोजन पर बैठा कर उनके सामने पायसान्न के थाल धर दिये गये। जब सब कुमार खाने लगे, तो उन पर व्याघ्र की तरह मुंह फाड़ कर आते श्वान छोड़ दिये गये। अन्य राजकुमार तो तत्काल भयार्त्त हो कर भाग खड़े हुए। पर मैं अकेला बहुत ही आराम-इतमीनान से बैठा भोजन करता रहा। मैं अन्य छूटे हुए थालों में से थोड़ा-थोड़ा पायसान्न श्वानों को देता रहा। श्वान उसे चाटने में मशगूल हो रहे, और मैं अपने भोजन में अविचल तल्लीन हो रहा। देखकर महाराज पिता स्वयं मुग्ध-विस्मित हो रहे। प्रकटतः बोले कि निश्चय ही यह श्रेणिक कुमार हर किसी उपाय-चातुरी से शत्रुओं का निरोध कर सकेगा, और निर्भय भाव से पृथ्वी को भोगेगा।

एक और बार अचानक ऐसा हुआ कि महाराज ने सब कुमारों को एकत्रित कर मोदक से भरे करंडक और पानी से भरे घड़े मुद्रित करवा कर, सबके सामने प्रस्तुत कर दिये। फिर राजाज्ञा हुई कि इन करंडकों में से मुद्रा तोड़े बिना ही मोदक खाओ, और इन घड़ों में से बिना छिद्र किये ही पानी पियो। अन्य सारे राजपुत्र हतबुद्धि, गुमसुम, किंकर्तव्य विमूढ़ हो ताकते रह गये। मुझे जाने क्या सूझा कि मैंने मोदकों के करंडकों को खूब जोरों से हिला-हिला कर, मोदकों का चूरा कर डाला। तब करंडों की खिपच्चियों में से खिरा-खिरा कर मोदक-चूर्ण प्रेमपूर्वक खाने लगा। उसके बाद, चांदी के स्तवक जल भरे घड़ों के नीचे रख कर, माटी के छिद्रों में से सहज झर रहे जल को एकत्र कर उसे सुखपूर्वक पीने लगा। महाराज उपश्रेणिक गद्-गद् स्वर में मुखर हो उठे : 'निश्चय ही श्रेणिक कुमार एक दिन अपनी कुशाग्र सूझबूझ से अभेद्य को भेद कर, कुशाग्रपुर को सर्वोपरि राजसत्ता बना देगा।'

एकदा कुशाग्रपुर में बारंबार अग्नि का उपद्रव होने लगा। तब महाराज प्रसेनजित ने आघोषणा करवाई कि :

'आगे से इस नगर में, जिसके भी घर में पहले आग लगेगी, उसे रोगी ऊँट की तरह नगर में से निकाल बाहर किया जायेगा।'

योगायोग कि एक दिन रसोइये के प्रमाद से हमारे राजमहालय की पाकशाला में से ही आग की लपटें फूट पड़ीं। जब अग्नि-ज्वालाएँ नियंत्रण से बाहर हो, चारों ओर फैल चलीं, तब राजा ने अपने कुमारों को आज्ञा दी कि :

'इस घड़ी मेरे महल में से, जो कोई कुमार, जो भी वस्तु निकाल ले जायेगा, वही उसकी अपनी सम्पदा हो जायेगी।'

सभी राजपुत्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक महामूल्य वैभव-सामग्रियाँ लेकर भाग निकले। लेकिन विचित्र थी मेरी खोपड़ी, कि मैं एक भम्भा-वाद्य ले कर उसे फूंकता हुआ, सरे राह नगर से बाहर हो गया। राजा ने मुझे पकड़ बुलवा कर पूछा :

'श्रेणिक बेटे, दुर्मूल्य रत्न-ख़ज़ाने छोड़ कर, तू भला यह तुच्छ भम्भा-वाद्य ले कर क्यों निकल पड़ा होगा?'

मैंने कहा : 'तात, यह भम्भा-वाद्य राजाओं का सर्वप्रथम जय-चिन्ह है। इसको फूंकने पर राजाओं की दिग्विजय में महान् मंगल होता है। इसी से किसी भी राजा को सर्वप्रथम इसी की रक्षा करनी चाहिये।...'

मेरे मुख से इस महेच्छा का उद्घोष सुन कर महाराज प्रकटतः बड़े प्रसन्न गर्व से बोले : 'जान पड़ता है, उपश्रेणिक के वंश में चक्रवर्ती सम्राट का जन्म हो चुका है। निश्चय ही श्रेणिक कुमार दिग्विजय करेगा। मैं आज से इसका नाम श्रेणिक भम्भासार घोषित करता हूँ।'

कुशाग्रपुर के राजभवन को इस भयानक अग्नि-काण्ड से बचाने के सारे उपाय निष्फल हो रहे थे। पानी की बौछारों द्वारा बाहर से आग अवश्य बुझी लग रही थी, पर भीतर के भागों में वह अनिवार्य रूप से गहरी और अधिकाधिक विनाशक होती चली जा रही थी। मानो कि कोई दैवी प्रकोप हुआ हो, और सारे कुशाग्रपुर के भूगर्भ में जैसे कोई ज्वालामुखी अन्दर ही अन्दर धधक रहा हो। दैवज्ञ ब्राह्मणों ने निर्णय प्रस्तुत किया, कि शान्ति के अनुष्ठान में दैवी आदेश प्राप्त हुआ है कि : 'जो कुशाग्रपुर का भावी राजा हो, वह जलते राजभवन में घुस कर यदि राजसिंहासन को सुरक्षित निकाल लाये, तो विपल मात्र में ही अग्नि-देवता शान्त हो जायेंगे।'

तब मैं क़तई नहीं जानता था कि यह मेरे विरुद्ध आयोजित षड़यंत्रों की एक सुनियोजित शृंखला थी। और अब जब मैं सारी परीक्षाओं में अपराजेय रूप से सफल सिद्ध हो चुका था, तो यह अन्तिम परीक्षा मुझे जीते जी जला देने का ही एक अचूक षड़यंत्र था। अपने राज्याभिषेक के बाद ही, मैं वरिष्ठ राजमंत्रियों के मुंह से इन गुप्त दुरभिसंधियों की सारी रोमहर्षक वार्ता सुन सका था।

मैं स्वभाव से ही बहुत भोला और सीधा था। तब तो मैं इसकी गन्ध भी नहीं पा सका था, कि कोई व्यवस्थित परीक्षाओं का क्रम चल रहा है। अत्यन्त निरीह, अबोध, अपने में ही खोया-खोया अपने एकान्तों में

विचरता रहता था। मेरी माँ भी मेरी ही तरह सरल और लगभग अज्ञानिनी-सी थी। मेरे पराक्रम और विजय की वार्ताएँ सुन कर वह हर्ष से रो आती और मुझे गोदी में चाँप कर मौन-मौन ही चुम्बनों से ढाँक देती। उसे भी क़तई नहीं मालूम था कि उसका प्राणाधिक प्रिय पुत्र राजपिता की राह का रोड़ा हो गया था। और उसे उखाड़ फेंकने में सारे राजचक्र की शक्ति संलग्न और केन्द्रित हो गई थी। मैं कुछ इतना निर्मोह और वेपर्वाह भी था, कि माँ की लाड़-प्यार भरी बाँहों और क्रोड़ के सारे बंधन झटक कर, ख़तरों और संकटों की टोह में ही मुझे मज़ा आता था।

चहुँ ओर ज्वालाओं से आक्रान्त राजभवन में प्रवेश कर राजसिंहासन को अक्षत बचा लाने की आघोषणा जब हुई, तब भी मेरे हृदय में राज्याधिकार पाने की कोई वासना रही हो, ऐसा तो रंच भी याद नहीं आता। इतना ही याद आता है, कि यह चुनौती मुझे भयानक रूप से आकर्षक और अनिर्वार लगी थी। अन्य सारे ही कुमार इसे सुन कर थर्रा उठे थे, और मुँह बचा कर अपनी-अपनी राह भाग निकले थे। मुझे एक अजीब कौतुक-कौतूहल का बोध हुआ, और मेरे मन में एक मज़ाक़ का अट्टहास-सा गूँज उठा।

मैं चुपचाप खिसक कर नगर के एक शस्त्र-शिल्पी लोहकार के यहाँ चला गया। उसे अपना एक महामूल्य मुक्ताहार दे कर, उससे पूरे शरीर का एक फौलादी कवच और शिरस्त्राण प्राप्त कर लाया।···अगले दिन बड़ी भोर ही, कवच तथा शिरोटोप से सज्जित हो कर, पिछले द्वार से राजभवन में धँस गया, और अनेक प्रकोष्ठों और उपद्वारों को मरणान्तक संघर्ष के साथ पार करता, राजासभा-गृह में पहुँच गया। सुवर्ण का राजसिंहासन अब भी लपटों की छाया में अछूता पड़ा था।

मानो कि मुझ में कोई पैशाचिक शक्ति वेफाम उद्वेलित हो रही थी। एक ही छलांग में सिंहासन पर जा कूदा, और दोनों हाथों से उसे मस्तक पर धारण कर मुख्य राजद्वार से बाहर आता दिखाई पड़ा। पलक मारते में सारे कुशाग्रपुर नगर की प्रजा वह दृश्य देखने को उपस्थित हो गई। हज़ारों नरनारी के अश्रु-विगलित कण्ठों की जयकारों ने मुझे ढाँक दिया। सिंहासन मस्तक से उतार कर मैंने महाराज पिता के चरणों में अर्पित कर दिया। महाराज ने अपने गाढ़ आलिंग में मानो मुझे कुचल-कुचल दिया। उनके उस निगूढ़ वात्सल्य-पीड़न का वह रोमांचन, मेरे रोमों में आज भी एक अद्भुत रहस्य की फुरहरी पैदा कर देता है। वे मुझे आलिंगन में मौत देना चाहते थे, या अमर जीवन का आशीष, यह मैं आज भी बूझ नहीं पाता हूँ।

'जिसके घर में अग्नि प्रकट हो, उसे नगर त्याग कर चले जाना होगा।': स्वयम् अपनी ही इस राजाज्ञा के अनुसार महाराज उपश्रेणिक प्रसेनजित ने नगर-त्याग कर दिया। अपने समस्त राजपरिकर सहित, वे नगर से एक योजन दूर, पूर्वारण्य में छावनी डाल कर बस गये। कुशाग्रपुर के प्रजाजन आये दिन महाराज के दर्शनार्थ छावनी में जाते रहते। वे किसी संज्ञा के अभाव में राजा के इस नये घर को 'राजगृह' कह कर पुकारने लगे। ता कुछ समय में ही वहाँ राजगृह नाम का एक सुरम्य नगर बस गया। प्राचीर, परिखा, दुर्ग, अनेक भव्य प्रासादों, उद्यानों, अन्तरायणों, चौक-चौगहों से वह सज्जित हो गया।

सब व्यवस्थित हो जाने पर, एक दिन महामंत्री यशोविजय ने मुझे एकान्त में ले जाकर समझाया कि अपने बल-पराक्रम और बुद्धिमत्ता से मैंने जो अपना राज्याधिकार सिद्ध कर दिखाया है, उससे सारे ही राजपुत्र मेरे शत्रु हो उठे हैं। किरातिनी-पुत्र चिलाति के नेतृत्व में वे सब मिल कर मुझे मारने का षड्यंत्र रच रहे हैं। महाराज उपश्रेणिक चूँकि मुझे ही सिंहासन का योग्य अधिकारी मानते हैं, इस कारण मेरी प्राण-रक्षा के लिए वे अत्यन्त चिन्तित हैं। इसी से महाराज का यह प्रस्ताव है कि मैं कुछ काल के लिए चुपचाप विदेश-गमन कर जाऊँ। राज्यारोहण का ठीक मुहूर्त आने पर मुझे बुला लिया जायेगा। मैं यह सब सुनकर हतबुद्धि, ठगा-सा रह गया। मानों मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। मंत्रीश्वर प्रवास-खर्च के लिये मुझे देने को विपुल सुवर्ण-रत्न की थाती लाये थे। उसे लेने को मेरी अन्तर-आत्मा ने इनकार दिया। उसकी ओर मैंने आँख उठा कर भी नहीं देखा। बिना एक भी शब्द कहे, मैं क्षण मात्र में वहाँ से चम्पत हो गया। मंत्रीश्वर का विद्युत वेगी घोड़ा भी फिर मेरी गमन-दिशा का कोई अनुसन्धान न पा सका। · · ·

• • •

· · · यात्रा की राह में जिस भी पुर, पत्तन, नगर, ग्राम से गुज़रा, सर्वत्र ही विजय और लक्ष्मी मेरा वरण करने को जयमाला लिये सामने आयी। मेरे बल, बुद्धि, पराक्रम के अनेक प्रासंगिक करिश्मों से तत्कालीन मुग्ध-चकित रह जाते। मेरी राह में सारी वसुधा की सम्पदा और विभूतियाँ आकर पड़ती। पर मेरा मन इतना विरक्त, उदास और रुष्ट हो गया था, कि कांचन और कामिनी के सारे प्रलोभनों को अपनी एक ख़ामोश चितवन से ठुकरा कर, अपनी राह पर निरुद्देश्य, निर्द्वंद्व बढ़ता ही चला जाता।

· · · एकदा वेणातट नगरी के [illegible]

वूझ से वहाँ की अनेक राजकीय गुत्थियाँ सुलझ गईं। वहाँ के अंजनगिरि पर्वत पर स्थित सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र-कपाट आज तक कोई खोलने में समर्थ न हो सका था। मेरे ललाट के स्पर्श मात्र से वे कपाट खुल गये। उस कारण राज्य में अपूर्व पुण्य और ऐश्वर्य प्रकट हुआ। वेणातट की राजपुत्रियाँ मुझ पर निछावर हुईं। पर मेरी हृदय-गुहा का भेदन करने में कोई सौन्दर्य, कोई सम्पदा कारगर न हो सकी।··· इससे पूर्व की यात्रा में भी कितने न मुकुट मुझे झुके, कितनी न रूप-यौवन की राशियाँ मेरे चरणों में बिछीं। पर मेरे हृदय-पद्म पर कुण्डली मार कर बैठे अहं-पुरुष के नागचूड़ को कोई टस से मस न कर सका।

···लेकिन वेणातट नगर के राजपुरोहित और मेरे आतिथेय सोमशर्मा की पुत्री नन्दश्री ने हार नहीं मानी। जगत के सारे गर्वी पुरुषार्थों के उन्नत मस्तकों के ऊपर, उसने मेरे मस्तक को मृत्यु की तरह अटल, भयानक और उत्तान देखा। अपने उस स्वप्न-दर्शन को, उसने मुझे एक दिन एकान्त में कह सुनाया। अपनी आत्मा की गुफ़ा में से वह मानो आकाशवाणी तरह बोल उठी :

'देवानुप्रिय अतिथि, मैंने प्रातः सायं की अनेक सन्ध्याओं में तुम्हें गिरि-शृंगों पर अष्टापद की गरिमा से छलांग भरते देखा है। जगत के सारे विजेताओं और योद्धाओं को तुम्हारे पादप्रान्त में पंक्तिवद्ध वामनों की तरह हततेज, पराजित, सर झुकाए खडे देखा है।··· ब्राह्मणबाला नन्दश्री तुम्हारे उस आगामी चक्रवर्ती सिंहासन के अर्द्धभाग की अधिकारिणी होना नहीं चाहती। मत करो तुम मेरा वरण, मत ब्याहो मुझे। केवल एक बार भरपूर मेरी ओर देखो। और अपने चरणों की रज मुझे दे जाओ। फिर चाहे कहीं जाओ, चाहे कुछ करो, चाहो तो मुझे भूल जाओ। पर मैं अन्तिम श्वास तक तुम्हारी कुँवारी रानी हो कर रहूँगी।···'

सुन कर मेरे भीतर का पर्वत-वीर्य पसीज आया। उस सान्ध्य द्वाभा में भरपूर मैं उस पद्माभ बाला की अनन्तभरी चितवन में देख उठा। उसकी दोनों आयत्त कृष्ण-कमल आँखों में उसके अतल के दो आँसू उजल आये। और वह मेरे पैरों में कल्प-लता सी लिपट कर फूट पड़ी।···

···वेणातट नगरी की राजसभा में श्रेणिक के तेज, गौरव और देदीप्य-मान पौरुष को देखने के लिए, सारे दक्षिणावर्त के तेजोधर और वैताढ्य गिरि के विद्याधर चक्कर काटते थे। नन्दश्री की चन्दनी आंचल-छांव में सपनों की तरह जाने कितना काल बीत गया।

इस बीच मेरे अनजाने ही, मेरे प्रताप और पराक्रम की कीर्ति-गाथाएँ हवाओं पर चढ़ कर उत्तरावर्त के सुदूर पूर्वीय छोरों तक भी पहुँच

गयीं थीं। ···एक साँझ गोधूलि वेला में, राजसी दलबल सहित एक भव्य राजरथ हमारे द्वार पर आ खड़ा हुआ। सारथी ने एक सन्देश पत्र मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया। उसमें लिखा था कि राजगृही के महाराज उपश्रेणिक प्रसेनजित मृत्यु-शैया पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं जहाँ भी हूँ, वहाँ से तत्काल इस पवन-वेगी रथ पर चढ़ कर चला आऊँ। राजगृही के पंचशैल श्रेणिक को पुकार रहे हैं। आदि···।

मुझे लेने आये राज-सेवकों ने यह भी बताया कि, अब से एक वर्ष पूर्व अस्वस्थ होने पर महाराज उपश्रेणिक ने चिलाति को गद्दी पर बैठाया था। पर उस उद्दण्ड गर्वीले किराततिनी-पुत्र ने ना कुछ समय में ही क़हर बरपा कर दिया। उसके अत्याचारों से प्रजा त्राहिमाम् पुकार रही है। राजगृही की प्रजाएँ श्रेणिक भंभासार को गुहार रही है।

मैंने नियति के इस अटल विधान को पढ़ लिया। तुरन्त नन्दा और राजपुरोहित सोमशर्मा को संक्षेप में सारी स्थिति का सम्यक् बोध करा दिया। ···उस रात नन्दश्री के भीतर की गहन मर्मगुहा में जहाँ मैं समर्पित हुआ, वहाँ एक अलौकिक तेज की शलाका खड़ी देखी। उस क्षण जीवन में पहली बार एक नारी के पगतल को चूम लेने को मैं अकुला उठा। पर मेरे पौरुष-गर्व ने मुझ पर एक अर्गला-सी डाल दी।

प्रातःकाल प्रस्थान की वेला में मानो नन्दश्री नये सिरे से मेरा परिचय पूछ उठी। उन मौन-मुग्ध नयनों में मैंने पढ़ा: 'पन्थी, फिर कब लौटोगे? ओ अतिथि, अपना नाम-गाँव, पता तो बता जाओ!'

नन्दा के कुन्तल-छाये कन्धे पर हाथ रख कर मैंने इतना ही कहा:

'देवी, जहाँ की उज्ज्वल भीतें अमावस्या की रात में भी चाँदनी-सी चमकती हैं, उसी राजगृही नगरी का मैं गोपाल हूँ।'

···और पलक झपकाते में मेरा रथ उत्तरापथ के मार्ग पर आरूढ़ हो गया।

···मेरे आगमन का संवाद दूर से ही सुनकर, राजगृही नगरी नवेली वधू-सी सज कर जयमाला लिये प्रस्तुत हुई। पर उस सारे गौरव-सम्मान की अवहेला कर, मैं चुपचाप पिछले द्वार से राजमहालय में प्रवेश कर, सीधा रोग-शैयारूढ़ महाराज-पिता के समक्ष जा उपस्थित हुआ। जीर्ण-शीर्ण राजा पश्चाताप की व्यथा में रात-दिन जल रहे थे। मुझे सामने पाते ही वे चैतन्य से हो आये। एकाएक उठ बैठे और बाँहें फैला कर आक्रन्द करते-से मानों उन्होंने मेरे पैरों पर ढलक आना चाहा। मैंने उन्हें उठा कर आलिंगन में बाँध, बहुत मृदुता से शैया पर लिटा दिया। उनके चरण-स्पर्श को उद्यत-

सा हो आया मेरा ललाट, जाने क्यों मृत्यु की उस चरम साक्षी में भी झुक न सका। अनम्य श्रेणिक के इस अहम् पर मेरी अनाविल आत्मा भी दहल कर कातर हो आयी। राजपिता के ललाट पर मैंने अन्तिम आश्वासन की हथेली रख दी। और अपलक मेरी ओर देखती उनकी वे दोनों आँखें, दो आँसू ढुलका कर निस्पन्द हो गईं।

मन ही मन मैंने उन्हें क्षमा कर दिया था। और उसका अचूक बोध पा कर वे निश्चिन्त भाव से देह-त्याग कर गये। दैवज्ञों ने बाद में बताया, कि मेरी हथेली के स्पर्श मात्र से राजा की आत्मा उत्तम देवगति में आरूढ़ कर गयी।

· · ·तत्काल राज्याभिषेक के दुन्दुभि-घोष, तुरहियाँ, घंटारव और शंख-नाद गुंजायमान हो उठे। · · ·सिंहासन पर आरूढ़ होते समय अनुभव हुआ, कि मैं सिंहासन के पास नहीं आया हूँ, स्वयम् सिंहासन मेरे पगधारण को प्रस्तुत हुआ है।

उधर मेरे पीछे नन्दश्री ने दुर्वह गर्भ धारण किया। एकदा उसे ऐसा दोहद पड़ा कि : 'मैं तुंगकाय हाथी पर चढ़ कर निकलूँ, और लोक-जनों पर विपुल समृद्धि की वर्षा करती हुई, उन्हें सुरक्षा और अभयदान से आश्वस्त करूँ।' वेणातटपुर के राजा ने बड़े उत्सव-समारोह के साथ नन्दा का वह दोहद सम्पन्न किया। यथाकाल उसके गर्भ से उदीयमान सूर्य-सा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। नन्दश्री के दोहद-पूर्ति उत्सव के अभयदान की स्मृति में उसके पिता सोमशर्मा ने अपने दौहित्र का नाम अभय कुमार रक्खा।

बरसों के पार नन्दश्री अपनी प्रथम प्रतिज्ञा को हृदय में निगूढ़ दैवत् की तरह सँजोये रही। वह मानिनी सती रानीपद की भिखारिणी हो कर अपनी ओर से राजगृही नहीं आना चाहती थी। मेरा प्यार भी ऐसा पर्वत की तरह अनम्य और उद्ग्रीव था, कि भीतर नन्दा के विरह में दिवारात्रि तपता रहा, पर उसे लिवा लाने या बुलाने का कोई बाह्य उपाय मुझे रुचि-कर न हुआ। ऐसा लगता था कि समुद्र और पर्वत के बीच गरिमाओं की होड़ लगी थी।

· · ·किशोर अभय को उसके साथी-सखा उसके पिता का नाम-कुल-गोत्र पूछ कर परेशान करते थे। इस रहस्य पर घर में एक गहरे मौन का आवरण पड़ा था। आखिर एक दिन अभय ने माँ को अपनी आक्रन्दभरी हठ से विवश कर दिया कि अपने पिता का परिचय पाये बिना वह जी नहीं सकता। नन्दश्री ने कहा :

'तुम्हारा पिता उस राजगृही नगरी का गोपाल है, जहाँ की उज्ज्वल भीतें अमावस्या के अन्धकार में भी चाँदनी की तरह चमकती हैं।'

विचक्षण तेजस्वी अभयकुमार की आँखों में एक बिजली-सी कौंध गयी, और एक सम्पूर्ण भव्य नगरी और उसका अधीश्वर साकार हो उठा। माँ को बेटे के आगे हार मान लेनी पड़ी।...

और कई महीनों बाद एक प्रातःकाल अभयकुमार का रथ राजगृही के तोरण द्वार पर आ खड़ा हुआ।...डाल-पके आम-सी रसभार-नम्र नन्दश्री मुझे सम्मुख पाते ही, दूर पर ही आँचल पसार कर प्रणिपात में नत हो गई। यह मेरे लिये शक्य न रहा कि उस आँचल को मैं शिरोधार्य न करूँ।...और तभी नन्दा ने मासूम सिंह-शावक-से अभय को मेरी फैली बाँहों में अर्पित कर दिया।

◆ ◆ ◆

...और आज अभय राजकुमार की कनिष्ठा ऊँगली पर मगध का साम्राजी भाग्य झूल रहा है। और आज श्रेणिक को जगत की सारी महिमाएँ प्रणाम कर रही हैं।

कुशाग्रपुरी के राजमार्ग पर उस दिन जो अबोध कुमार भम्भा-वाद्य फूँकता हुआ निकल गया था, उसे क्या पता था कि उसके उस जय-निनाद ने अंतरिक्ष की अदृश्य पर्तों में आगामी भूगोल के नये नक़शे छाप दिये हैं।

उस अबोध वय से आज तक की अपनी सारी विजय-लेखाओं पर जो दृष्टिपात करता हूँ, तो आश्चर्य से दिङ्गमूढ़ हो रहता हूँ। नहीं याद आ रहा, कि उस भोलभाले अवहेलित राजपुत्र के मन में कोई कामना, कांक्षा या अभीप्सा रही होगी।

जीवन की राह में, जो भी संकट, बाधा या चुनौती सामने आई, उस पर निपट निरीह लीला-खेल के भाव से ही तो विजय पाता चला गया हूँ। खेल-खेल में ही मानो धरती और आकाश के नित-नये पटल उलटता चला गया हूँ। मेरी ऊँगली के बेसाख्ता घुमावों पर जैसे इतिहास मेरी मन-चाही करवटें बदलता चला गया है। बृहद्रथ और जरासन्ध की साम्राज्य-परम्परा मेरे शिशुनागवंशी रक्त में नये सिरे से आगे प्रवाहित हो गई है। महाचीन, सुवर्णद्वीप और ताम्रलिप्ति से लगा कर, पारस्य, मिस्र और सुदूर यवन-देश यूनान तक के भूपट और सागर-तट श्रेणिक भंभासार के दिग्जयी भम्भानाद से अपने सीमान्त बदल रहे हैं। आर्यवर्त के सोलहों महाजनपदों की नियति श्रेणिक के खड्ग् की नोक पर टँगी हुई है।

सोलोमन की खदानों का शुद्ध सुवर्ण मगध की महारानियों के नूपुरों में ढल कर अपनी चरम धन्यता प्राप्त करता है। नील नदी के गोपन जल-गर्भों के रत्नों ने मगधेश्वरी चेलना के वक्षहार की कौस्तुभ-मणि में जड़ित होकर, मेरे आलिंगन को ग्रह-नक्षत्रों की निगूढ़ ज्योतियों से भास्वर कर दिया है। ताम्रलिप्ति और हंसद्वीप के अलभ्य हीरों ने मगधनाथ के मुकुट में दीपित होने के लिये भूगोल और खगोल की परिक्रमा की है। राजगृही के रत्न-पण्यों में ही कालोदधि के दुर्लभ मुक्ता-फलों का मूल्यांकन सम्भव होता है।

समस्त जम्बूद्वीप के धर्म, ज्ञान, तीर्थंक, ज्ञानी, तपस्वी, रासायनिक, वैज्ञानिक राजगृही के चैत्य-काननों में आ कर अपने ज्ञान-विज्ञान की चरम उपलब्धियों को प्रकाशित करते हैं। सुदूर एथेंस के पायथागॉरस और हिराक्लिटस जैसे दुर्द्धर्ष तत्वज्ञानी श्रेणिक की गति-विधियों के आधार पर संसार का मर्म-चिन्तन करते हैं और अपने दर्शनों के अन्तिम निष्कर्ष निकालते हैं। वेदों के यज्ञ-पुरुष और उपनिषदों के ब्रह्मज्ञानी ऋषि वैभार पर्वत की अगम्य गुफाओं में विश्व-रहस्य के अन्तिम छोर खोज रहे हैं। हिमवान की अन्तरिक्ष-वेधी चूड़ाओं ने विपुलाचल के शिखर पर अपने मस्तक ढाल दिये हैं।

इस प्रकार पहले दिन से आज तक के अपने जीवन-इतिहास में जब निगाह दौड़ाता हूँ, तो पाता हूँ कि समकालीन विश्व की बड़ी से बड़ी सम्पदा, सत्ता, व्यक्तिमत्ता भी श्रेणिक से बड़ी, ऊँची और ऊपर हो कर नहीं रह सकी है। मौजूदा जगत की सारी ही श्रेष्ठताएँ और विभूतियाँ उसके व्यक्तित्व के प्रभामण्डल की किरणें हो कर रह गई हैं। आदि से आज तक श्रेणिक ने किसी से छोटा होना नहीं जाना, नहीं स्वीकारा।

···लेकिन आज? आज तो सृष्टि में मुझसे छोटा, कहीं कुछ नहीं दिखायी पड़ता। परमाणु से भी छोटा हो गया श्रेणिक? इतना, कि दिखाई नहीं पड़ता। हर नज़र से वह बाहर हो गया है। ओह, इस तरह अस्तित्व में कैसे रह जाये, कैसे जिया जाये? कब तक, कैसे?

उत्तर दो महावीर! तुम कौन हो, कौन हो तुम? तुम···तुम हो मेरे इस अवमूल्यन के उत्तरदायी। मेरे इस सत्यानाश के अपराधी। बोलो, चुप क्यों हो? तुम हो कि नहीं हो, मैं हूँ कि नहीं हूँ, कौन उत्तर दे? कौन किसी को समझाये? समझ समाप्त है, और प्रश्न अन्तहीन होता जा रहा है।

···लेकिन एक अवलम्ब भीतर झाँक रहा है। याद आ रहा है, अभी एक वर्ष पूर्व का वह सवेरा। तुम्हें परिव्राजन करते, कई वर्ष बीत चुके थे, वर्द्धमान! उससे पूर्व कई-कई बार तुम मगध के वनांगनो और ग्रामांगनों में

विहार कर चुके थे। मेरी अपनी ही प्रभुता की भूमि में, कई वार मुझे पीठ दे कर मेरी अवहेलना कर चुके थे।

···याद आ रहा है, शरद ऋतु का वह सुन्दर सवेरा। मैं अपने राज-महालय के वातायन पर खड़ा, अलक्ष्य भाव से नीचे की ओर ताक रहा था। तभी अचानक राजगृही के भव्य राजमार्ग पर, काषाय चीवर धारण किये एक तुंगकाय युवा संन्यासी आता दिखायी पड़ा। अभिजात पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा। दूध सी उज्ज्वल सुकुमार राजसी काया पर, केवल एक अखंड गैरिक वसन। अन्तर्वासक ही कन्धे पर चढ़कर उत्तरीय हो गया है। मुंडित विशाल मस्तक, क्षितिज-सा लालट। नंगे पैर। हाथों में भिक्षा पात्र उठाये, यह कौन राजेश्वर राजगृही में भिक्षाटन कर रहा है?···

देखा, सारा नगर उस पुरुषोत्तम के रूप को देखने के लिये संक्षुब्ध हो उमड़ पड़ा है। मानों स्वयम् अच्युत स्वर्ग का शक्रेन्द्र राजगृही के राजमार्ग पर चल रहा है। मानो असुरेन्द्र ने मेरी राजनगरी में प्रवेश किया है।

राजपुरुषों ने आकर मुझसे कहा :

'देव यह कौन स्वर्ग-निर्वासित देवता राजागृही में घूम कर मधुकरी माँग रहा है। यह देव है या मनुष्य है, नाग है या गरुड़ है, कौन है—हम नहीं जानते। स्वयम् ईशानेन्द्र आपके नगर में भिक्षाटन कर रहा है। हमारी वुद्धि गुम है। हम इसके साथ कैसा व्यवहार करें?'

मैंने आज्ञा दी :

'जाओ, देखो तो, यदि अ-मनुष्य होगा, तो नगर से निकल कर अन्तर्धान हो जायेगा, यदि देवता होगा, तो आकाश-मार्ग से चला जायेगा, यदि नाग होगा तो देखते-देखते पृथ्वी में डुवकी लगा कर लुप्त हो जायेगा, यदि मनुष्य होगा तो कहीं वन के एकान्त में जाकर मिली हुई मधुकरी का भोजन करेगा।'

राज्य के अनुचरों ने दूर-दूर रह कर, छुपे-छुपे चुपचाप भिक्षुक का अनुसरण किया। कुछ समय वाद आ कर उन्होंने नमित हो मुझसे निवेदन किया :

'परम भट्टारक, स्वल्प मधुकरी को इत्यलम् कह कर वह भिक्षुक नगर के प्रवेश-द्वार से ही वाहर निकल गया। पाण्डव-पर्वत की छाया में पूर्वाभिमुख वैठ कर वह भोजन करने लगा। उस समय ऐसा लगा कि उसकी आँतें उलट कर मानो वाहर आ रही हैं। उस प्रतिकूल भोजन से पीड़ित हुए अपने मन को फिर वह यह कर समझाने लगा—'सिद्धार्थ, तू अन्न-पान-सुलभ कुल में, विपुल राज्यैश्वर्य के वीच पला है। तीन वर्ष के पुराने,

सुगन्धित, कुमुदों में बसाये शालि-तन्दुल का तू भोजन करता रहा है। फिर भी कन्थाधारी भिक्षुक को देख, उससे ईर्ष्या करता रहा। उसके भिक्षान्न को तरसता रहा। तेरी यह सदा अभीप्सा रही, कि कब आयेगा वह मुहूर्त, जब मैं भिक्षान्न का भोजन करूँगा? यही सोचकर तो तू घर से निकल पड़ा था। पर अब वह मनोवांछित पा कर, तू उसी से ग्लानि कर रहा है? तो अब तेरी क्या गति हो सकती है, ओ मूढ़, अज्ञानी, कायर?' और देव, यह फुसफुसा कर वह शान्त समाधीत हो गया। फिर अविकार चित्त से उसने भोजन किया। और अब वह प्रसन्न शान्त मुद्रा से तरु-छाया में बैठ अप्रयोजन ही सब-कुछ को निहार रहा है।'

मेरा मन प्रबल जिज्ञासा से उदग्र हो आया। मैं तत्काल अकेला ही पाण्डव-पर्वत की छाया में जा पहुँचा। विनत माथ हो मैंने अपने सारे ऐश्वर्य मन ही मन भिक्षुक को अर्पित कर दिये। तब मैंने निवेदन किया कि :

'देवानुप्रिय, अज्ञात राज-संन्यासी, मेरी भेंट स्वीकारो। मेरे किसी प्रदेश के राज्यपाल हो कर अमित सुख-वैभव का भोग करो। कौन हो तुम, हे पुरुष-पुंगव? कृतार्थ करो मुझे।'

संन्यासी अविचल, मौन, अपलक दूरियों में दृष्टि खोये निरुत्तर बैठा रहा। मेरे बारम्बार अनुनय करने पर वह मुखर हुआ :

'राजन्, कपिलवस्तु का आदित्य गोत्रीय, शाक्य राजपुत्र सिद्धार्थ गौतम, जान-बूझ कर ही अपने प्राप्त राज्यैश्वर्य को काक-बीटवत् त्याग कर निकल पड़ा है। संसार के किसी भी सुख-भोग में उसकी रुचि नहीं रही।...वस्तु और भोग की कामना से उपराम, उत्तीर्ण हो गया हूँ। नित्य, शाश्वत सुख देने वाले बुद्धत्व की खोज में परिव्राजन कर रहा हूँ। वह पाकर रहूँगा, या देहपात कर दूँगा।'

'धन्य हो, धन्य हो, हे श्रमण गौतम! वचन दो कि बुद्धत्व लाभ कर सर्वप्रथम राजगृही में आओगे। सर्वप्रथम मुझे ही उसका उपदेश करोगे।'

'तथास्तु राजन्।'

'मेरा आतिथ्य स्वीकारोगे। मगध के राजकीय श्रमणागार को दान में ग्रहण कर, उसे चिरकाल सुशोभित करोगे।'

'ऐसा ही होगा, भम्भासार श्रेणिक!'

और एक मधुर कोमल स्मित के साथ शाक्यपुत्र गौतम उद्बोधन का हाथ उठा, मुझ से बिदा हो गया था। कितना गहरा आश्वासन था उसकी

उस उद्बोधनी मुद्रा में, उसकी उस महाकारुणिक दृष्टि और माधुरी मुस्कान में।

और दूसरी ओर तुम हो, श्रमण वर्द्धमान। प्रथम दर्शन से आज तक अविभंग, अचल, वज्र-कठोर मन्दराचल। मेरी और चेलना की सारी प्रार्थनाओं और आँसू भरी विनतियों को निरन्तर ठुकराते ही चले गये। मगध की सारी महारानियों के, अपनी राह में फैले आँचलों को तुमने रौंदने योग्य तक नहीं समझा। राजगृही के देव-दुर्लभ वैभव को तुमने आँख उठा कर तक नहीं देखा। मेरे हर दान और अर्पण की तुमने अवहेलना कर दी। मेरे सर्वस्व-समर्पण तक को तुमने अस्वीकार कर दिया। मेरे अस्तित्व तक को तुमने नकार दिया।

ऐसे अस्खलित दुर्दान्त तपस्वी होकर भी, भयंकर वीतरागी हो कर भी, शायद तुम यह न भूल सके कि तुम वैशाली के राजपुत्र हो! कि तुम अजित सूर्योदयी इक्ष्वाकुवंश के आज अप्रतिम प्रतापी वंशधर हो। तुम यह न भूल सके कि मैं वह मगध-सम्राट भंभासार श्रेणिक हूँ, जो वैशाली को अपनी एड़ी से रौंद कर, आसमुद्र पृथ्वी का चक्रवर्ती होना चाहता हूँ। तुम्हें मेरे भावी चक्रवर्तित्व से ईर्ष्या है। तुम मुझे अपना अनन्य प्रतिस्पर्द्धी मानते हो। तुम मेरे ऊपर हो कर अपना चक्रवर्तित्व स्थापित किया चाहते हो। तुम मुझे कुचल देना चाहते हो।...

...लेकिन, लेकिन, जानो महावीर, शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने मुझे अपनाया है। आश्वस्त किया है। मेरे भूदान को स्वीकारा है। एक दिन बुद्ध की बोधिसत्व-प्रभा से राजगृही के चैत्य-कानन जगमगा उठेंगे। तुम्हीं तो अन्तिम नहीं, निग्गंठ नातपुत्त, महावीर! एक से एक बढ़कर ज्ञानी, बुद्ध, तीर्थंकर इस धरातल पर विचर रहे हैं। तुम्हीं अन्तिम क्यों? शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम क्यों नहीं?...

...ओह...ओह, यह एकाएक क्या हुआ! मेरे पैरों तले की धरती गायब हो गई। मेरे माथे पर का आकाश हट गया है। अन्तरिक्ष में प्रलयंकर विप्लव की पगचापें धमक रही हैं। ऋजुवालिका नदी की लहरों में लपटें उठ रही हैं। बिजलियाँ तड़क रही हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हिल रहे हैं।...

महावीर, महावीर, महावीर...यह तुमने क्या किया? इन कल्पान्त की बहिया में मुझे अकेला छोड़ तुम कहाँ अन्तर्धान हो गये?...जहाँ भी हो, लौट आओ महावीर! तुम, केवल तुम। और कोई नहीं...!

केवल तुम रहो महावीर, मैं नहीं, मैं नहीं, मैं नहीं। मैं कहीं नहीं हूँ।···

ओह, ऐसे निरुत्तर, ऐसे अफाट् विराट् अनुत्तर मौन तुम। देखते-देखते निरस्तित्व हो गये। आँख से परे चले गये। हाय, कैसे कहाँ, किस आधार पर अपने अस्तित्व को लौटाऊँ। कैसे अपने होने को महेसूस करूँ। इतना निरालम्ब निरुपाय कर दिया तुमने मुझे, ओ अकिंचन श्रमण ?

मैं हूँ कि नहीं हूँ ? मैं रहूँ कि न रहूँ···?

एक दिगन्तवाही प्रलय-गर्जन के सिवाय कहीं से कोई उत्तर न हीं *मिल रहा।*

□

चरम एकलता के किनारे

त्रिशला, भर नींद में मग्न रात के सन्नाटे को चीर कर जो शूल तुम्हारे वक्ष को भेद गया, वह झूठ नहीं। मेरे मस्तक के आरपार हो कर, तुम्हारी छाती को बींध कर, सृष्टि के प्रत्येक परमाणु और जीवाणु में होकर वह गुज़र गया है। माना कि इस प्रहार से सकल चराचर हताहत हो गये। लेकिन फिर भी वे अनाहत ही रह गये, यह नहीं देखोगी ?

निश्चय, वह भी देखा तुमने। आघात की परा कोटि पर ही, क्या तुमने मुझे अघात्य भी नहीं देखा ? उस क्षण, इस आघात से पूर्व मुझ पर होने वाले सारे प्रहारों और पीड़नों को भी क्या तुमने व्यर्थ और व्यतीतमान नहीं देखा ? वेदना मात्र के उस एकाग्र विन्दु पर क्या तुम्हारी कोख ही नहीं बोल उठी, राज-पिता के समक्ष, कि—

'तुम्हारा बेटा अब मौत से आगे जा चुका···जाओ, निश्चिंत हो कर सोओ!'

लेकिन दर्शन-ज्ञान का वह अन्तर्मुहूर्त भी तिरोहित हो गया। अब देख रहा हूँ, कि तुम्हारा मानव चित्त फिर संदिग्ध और शोकाकुल है।···किसने पुकारा 'माँ', पता नहीं। कौन है वह 'माँ', नहीं मालूम। लेकिन ब्रह्माण्ड में गूंज उठे उस 'माँ' में से जो अनुगुंजित हुआ 'आत्···मा' : वही आत्मा तुम हो, वही मैं हूँ। चरम चोट की अनी पर चिन्मय हुई तुम्हारी चेतना में भी वह श्रुत और प्रतिश्रुत एक साथ हुआ। तुम सम्बुद्ध हो कर अपनी पीड़ा के बावजूद सत्य की साक्षी देने को विवश हुई। तुम नहीं बोलीं, स्वयम् सत्य तुम्हारे ओठों बोला, तुम्हारे रक्त की तरंग-तरंग में वह अनुध्वनित हुआ।

अभी भी तुम्हारे सारे नाड़ी-मंडल में वह ध्वनि अनाहत, अव्याहत प्रवाहित है। तुम्हारी धमनियों के मृदंग में अविराम वही अनहद नाद बज रहा है। सत्य के उत्तीर्ण तट पर अविकम्प लौ-सी खड़ी उस आत्मा की अनक्षत प्रभा में तुम्हारे मातृत्व और मेरे पुत्रत्व का इनकार नहीं है। पर्याय की ये दो तरंगें ज्योति के समुद्र में अनगिन बार उठीं और विलीन हो गयीं। जाने कितने न जन्मान्तरों में, कितनी न बार तुम मेरी माँ हुई, मैं तुम्हारा पुत्र हुआ। नाम-रूप-सम्बन्ध की वह लीला महाकाल के प्रवाह में जाने कब, जाने कहाँ विलुप्त हो गई। पर तुम जो हो, वह तो अविलुप्त, अविच्छिन्न आज भी ज्यों की त्यों हो ही। मैं जो हूं, वह भी अमिट, अलोपनीय, अक्षुण्ण आज भी हूँ ही।

सृष्टि में माँ और पुत्र का सम्बन्ध भी अपनी जगह शाश्वत क़ायम है ही। वह माँ त्रिशला हो या और कोई, वह पुत्र वर्द्धमान हो या कोई और, क्या अन्तर पड़ता है।

एकमेव माँ सदा थी, सदा है, सदा रहेगी। एकमेव पुत्र सदा था, सदा है, सदा रहेगा। पर नाम-रूप और तात्कालिक सम्बन्ध की पर्याय, उसके वह रहने की बाध्यता नहीं, शर्त नहीं। कोई भी नाम, रूप, सम्बन्ध, पर्याय या प्रीति क्यों न हो, एकमेव आत्मा के अतिरिक्त अन्ततः वह कुछ नहीं। विशुद्ध द्रव्य के अतिरिक्त वह कुछ नहीं। आदि, मध्य और अन्त में, नित्य विद्यमान है केवल समुद्र। उसमें जो निरन्तर तरंगों का परिणमन है, उसी में सारे नाम-रूप-सापेक्ष जीवन की सम्बन्ध-लीला यथा-स्थान चल रही है। समग्र समुद्र हो रहो, तो तरंगों की क्षण-क्षण उदीयमान-विलीयमान लीला का सत्य भी सहज अवबोधित होता रहता है। समुद्र है, तो उसका स्वभाव तरंगिमता भी है ही। समुद्र सत्य है, तो तरंगमाला भी सत्य है ही। द्रव्य सत्य है, तो उसका स्वभाव-गत पार्यायिक परिणमन भी सत्य है ही। समुद्र में तरंग का इनकार नहीं, तरंग में समुद्र का इनकार नहीं। यह साक्षात् होने पर, सारी वर्जनाएँ समाप्त हो जाती है, विरोध, विपर्यय, बिछोह की वेदनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। हम सहज स्वभाव में रहने लगते हैं।

इस सहजावस्था में संसार और निर्वाण का भेद ही निर्वाण पा जाता है। संसार की लीला में ही, सर्वत्र सहज निर्वाण का बोध होता है। निर्वाण में स्थित सिद्धात्मा में संसार अव्याबाध रूप से रमणशील रहता है। मुक्ति-रमणी की गोद में कोई विधि-निषेध, इनकार-स्वीकार नहीं। यथास्थान जीवन की हर लीला को वहाँ सहज स्वीकृति प्राप्त है। मानवों के सारे सम्बन्ध वहाँ सहज सुरक्षित भाव से प्रवर्त्तमान हैं। जहाँ गन्तव्य स्वयम् उपस्थित है, वहाँ यात्रा के पड़ावों का भी मूल्य अपनी जगह यथार्थ है ही।

···बेशक, देश-काल के संक्षुब्ध समुद्र की मझधारा पर खड़ा हूँ इस क्षण। पर गन्तव्य के उस सहस्रार पद्मवन को अपने स्नान-सरोवर के लीला-कमल की तरह अपनी बाँह की पहोंच में स्पष्ट देख रहा हूँ। इसी से अब पाने या खोने, मिलने या बिछुड़ने, जीने या मरने की भाषा निरी भ्रान्ति लग रही है। निरे खोखले शब्द, जो अपना क्षुद्र अर्थ खो चुके हैं।

तब, ओ त्रिशला, तुम माँ रहो या और कुछ, मैं पुत्र रहूँ या और कुछ, क्या अन्तर पड़ता है। यद्यपि वह रहने के आग्रह और आवश्यकता से परे जा चुका हूँ, पर तुम चाहो तो वह भी यथास्थान रहने से मुझे परहेज़ नहीं। ···तब सोचो, ओ नारी, क्यों वही और वहीं रहना चाहती हो। जहाँ

तुम्हारे और मेरे सम्पूर्ण और अनन्त की अनेक सम्भावनाओं से हमें वंचित रह जाना पड़ता है।

क्यों न अभी और यहाँ, नित्य मेरे साथ रहो, जहाँ हम दोनों ही, निर्नाम अखण्ड एकमेव आत्मा हैं, जहाँ हम माँ और पुत्र भी चाहें तो हैं ही, लेकिन उससे परे हम क्या नहीं हैं एक-दूसरे के लिये? जहाँ हम प्रति क्षण मनचाहे रूप में एक-दूसरे को नित-नयी बार पाने और अपनाने को स्वतंत्र हैं। जहाँ एक-दूसरे को क्षण-क्षण अधिक-अधिक जानने पाने और प्यार करने का अन्त ही नहीं है। जहाँ हम एक-दूसरे को असंख्य आयामों में एक साथ उपलब्ध हैं। जहाँ तुम अपने में परम स्वतंत्र हो, मैं अपने में परम स्वतंत्र हूँ। अपनी-अपनी चरम सत्ता में जहाँ हम अक्षुण्ण, अव्याबाध हैं। फिर भी जहाँ स्वभावगत रूप से तुम्हीं मैं हूँ, मैं ही तुम हो। फिर भी सदा शाश्वती में दो या अनेक रह कर, पूर्ण ज्ञान की ज्योतिर्मयी तट-वेला में अनन्त काल रोमांस करते ही रहने को स्वच्छन्द हैं।

···सुनो अयि योषिता, मानवता और भगवत्ता में भेद और विरोध की रेखा खींच कर, अन्य और अन्यत्र में तुम्हीं तो भगवत्ता को स्थापित कर रही हो। कहीं और, कोई और है, जो भगवान है, हो सकता है, उसे स्थापित कर उससे विद्रोह करने का यह आग्रह क्यों? क्या अपने ही भीतर की भूमा के ऐश्वर्य को नकारोगी? क्या अपने ही महत्तम और वृहत्तम स्वरूप को इनकार करोगी? अपने भीतर के असीम, अनन्त-सम्भावी आत्मा के अतिरिक्त और कोई भगवान मैं नहीं जानता, नहीं मानता। वृहदारण्यक में ऋषि कहता है:

अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते
अन्योऽसौ अन्योऽहम् अस्मीति
न स वेद, यथा पशुरेवं स देवतानाम्।

'जो व्यक्ति अपने से अन्य और बाहर के किसी देवता की उपासना करता है, जो ऐसा मानता है कि वह अन्य है और मैं अन्य हूँ, वह भगवान को नहीं जानता। वह देवताओं के पशु के समान है।'

अपने ही ऐश्वर्य से अपरिचित, मैं निरा पशु हूँ, ऐसी कोई भ्रांति तुम्हें कैसे हो गई, त्रिशला? अपने सम्पूर्ण और सर्व-सम्भव स्वरूप को उपलब्ध होने से पूर्व, कैसे कहीं रुक सकता हूँ? वही यदि भगवान है, तो वह होने को मैं विवश हूँ। क्या मनुष्य को निपट मनुष्य रह कर कभी चैन आ सका? मनुष्य, जो मनस् की सन्तान है, क्या मन की सीमा में ही कभी विरम सका? मन के सुखों, ज्ञानों, वैभवों को हद तक पा कर भी, क्यों इतिहास में यह मनस्-पुरुष सर्वत्र पराजित, म्लान, थका, उदास, दुःखाक्रान्त दिखाई पड़ता है? चंचल मन के क्षण-क्षण के बदलावों का अन्त नहीं।

इसी से स्थिति, निश्चिति, शांति, तृप्ति मन का स्वभाव नहीं। मन स्वयम् ही अपने स्वभाव से हार कर, उद्विग्न होकर, बार-बार अपने ही को अतिक्रमण करने जाने को छटपटाता दिखायी पड़ता है। क्योंकि अपनी अल्पता में उसे चैन नहीं, विराम नहीं। *क्योंकि यह चेतस् (मन) स्वयम् भी तो चैतन्य का ही* एक प्रस्तारण है—सत्ता की वहिर्मुख अभिव्यक्ति में।

अपनी चरम वेदना में, अपने ही को विद्ध कर, जब मन सीमाहीन विराट में विस्फोटित हो उठता है, तो जाने कहाँ से अपार ऐश्वर्य के स्रोत फूटते दिखाई पड़ते हैं। भगवती आत्मा के भग-मूल में से ही वैभव का यह अजस्र प्रवाह, सर्वत्र अव्याहत व्याप्त, प्रवाहित अनुभव होता है। वह भगैश्वर्यमान 'मैं' ही तो भगवान है।

···रक्त-मांस की काया से उन अनन्त-सम्भव परमेश्वर को क्या विरोध हो सकता है? जिसमें सारे द्वंद्वों और विरोधों का विसर्जन है, विकल्प से जो परे है, देह जिसके भूमा-समुद्र की एक रूप-तरंग मात्र है, उस महत् विराट् को अपनी ही ऊर्जा के एक सहज रूपायन से कैसे इनकार हो सकता है? स्थिति है, तो अभिव्यक्ति अनिवार्य है, ध्रुव है, तो उत्पाद-व्ययात्मक परिणमन में ही वह प्रमाणित हो सकता है। जिस आत्मा के अणु-अणु में आलोक, वीर्य और सौंदर्य के शतधा झरने अजस्र फूट रहे हैं, वह अपनी महिमा की प्रकाशक, रक्त-मांस की काया को अधन्य कैसे रहने दे सकता है?

अनन्त गुण-पर्यायवती, अनन्त शक्तिमती महासत्ता में क्या असम्भव है? ओ भगवती आत्मा, माँ, त्रिशला, यदि तुम्हारी कामना अविकल्प है, तो वह अस्तित्व में सृजित साकार होकर रहेगी। सकारने या नकारने वाला मैं कौन होता हूँ। परम-स्वतंत्र सत्ता पुरुष अर्हत् के अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य में जो अपना परम काम्य रूप तुम ध्याओगी, वही तुम्हारे वक्षदेश में से उत्कीर्ण, उद्भिन्न हो कर तुम्हारी वसुन्धरा पर शाश्वत चलेगा।

तुम्हारी योनि क्या निरी मांस-माटी का एक क्षणिक अनुबन्ध मात्र है? *जो योनि अनन्त के समावेश और प्रजनन* को चीत्कार उठी है, वह तो अन्तरिक्ष-गर्भा अदिति है। वह सृष्टि का चिरन्तन स्रोत है। उसमें संसार और निर्वाण एक बारगी ही संयुक्त भाव से संगोपित हैं, लीलायित हैं।

उसमें से उद्विद्ध होकर, अनन्तकाम पुरुष को लोकाकाश के आरपार तुम्हारी इस पृथ्वी पर अविश्रांत, अविराम चलते देख रहा हूँ। तथास्तु त्रिशला!···

◆ ◆ ◆

चेलना, तुम्हारी मर्म-व्यथा मेरी आत्मा में सतत अनुकम्पित है। बचपन से ही अपने को देखा है, तो पाया है कि कभी कोई संकल्प या इच्छा मुझ में नहीं रही। कोई निर्णय या चुनाव भी अपना नहीं रहा। जो, जैसा हूँ, बस हूँ। लेकिन अक्रिय हूँ, ऐसा तो कभी नहीं लगा। एक अन्तहीन स्वयम्भू क्रिया को सतत अपने भीतर चलते देख रहा हूँ। अपने आत्म का एक सहज अनवरत परिणमन।

आज उस परिणमन को उसकी सूक्ष्मतम आकृतियों और लयों में अधिक-तम तद्रूप भाव से देख रहा हूँ। कभी-कभी अन्तर-दर्शन का एक अद्भुत वातायन खुल उठता है। उसमें से वर्द्धमान के अस्थि-ढाँचे को, उसके नाड़ी-मंडल को, उसकी रक्तवाहिनियों को, उसके शरीर के एक-एक अवयव और उनके सारे क्रिया-कलापों को, उसकी साँसों के क्रम तक को, एक सामने फैले चित्र या शिल्प की तरह तादृष्ट देख देख लेता हूँ।···

तब लगता है, करने को कुछ है ही नहीं। यह दर्शन और ज्ञान स्वयम् ही अवकाश में सर्वत्र व्याप कर एक निश्चित क्रिया हो जाता है। और तब आपो-आप जाने कहाँ-कहाँ, जाने क्या-क्या अपूर्व नया उत्पन्न और घटित होते देखता हूँ। वस्तु-जगत के गुह्य अन्तरिक्षों में भिद कर यह ज्ञानोर्जा रूपान्तर के एक रसायन की तरह प्लवित होती दिखाई पड़ती है।

कुछ करता नहीं, कुछ सोचता नहीं, कुछ चाहता नहीं या अचाहता नहीं। बस एक ध्रुव 'मैं' में अपने को निरन्तर नित-नव्य होते देखता रहता हूँ।···लक्षित हुआ है बार-बार, कि मेरे पैर मगध की भूमि पर खिंचते चले आये हैं। क्या प्रयो-जन है इसमें सत्ता का, मुझे नहीं मालूम। यह न मानने का कोई कारण नहीं, कि चेलना और श्रेणिक ने ही मेरे बावजूद बारम्बार मुझे पंच-शैल की कानन भूमि में खींचा है।

क्या यह अपने आप में पर्याप्त नहीं ?

यों मगध की ऊर्जस्वला भूमि ने, उसके पर्वत-कूटों और कान्तारों ने, उसके सुरम्य प्राकृत उद्यानों और छायावनों ने, उसके कम्मकरों और चांडालों ने, उसके जल-राज्य, वनस्पति-राज्य, उसके कीट-पतंग और हर जीव, और कण कण, तृण-तृण ने भी मुझे कम नहीं खींचा होगा। क्योंकि सृष्टि के अणु-अणु के आकर्षणों और आमन्त्रणों को सदा मेरी आत्मा का उत्तर मिलता ही रहता है।···

···पर मगध की सीमा में पैर रखते ही, चेलना वहाँ के चप्पे-चप्पे और पत्ते-पत्ते पर छायी दिखाई पड़ती है। और उसकी उस छवि में, उसके हृदये-श्वर श्रेणिक को सदा उसके अंक में स्थित देखा है।···और तब समस्त मागधी भूमि की एक-एक आत्मा के खिंचाव को, उसी अभिन्न युगल में से आता अनुभव किया है।

···अब तुम्हीं बताओ, चेलना, तुम्हें और श्रेणिक को, कहाँ कैसे अलग से देखता ? तन्तुवाय-शाला के कर्घों में इसलिये अपने को बुने जाने को छोड़ दिया, कि मगधनाथ के साम्राज्य-स्वप्न को उनकी कम्म-शालाओं में कल्प-वृक्ष की तरह आरोपित कर दूं। बार-बार लगा कि वर्द्धमान, चेलना और श्रेणिक के हर मनोकाम्य को अचूक सम्पूरित करने को ही मानो लौट-लौट कर बाम्बार मगध की भूमि में भटक पड़ा है।

मगध की महारानियों के आँसू भीने आँचलों में ढलकने से अपने को कहाँ बचा पाया हूँ ? पर उससे पहले उनके आँसुओं में ही जो उफना हूँ, सो काश वे और तुम जान सकतीं ! तुम्हारे राजद्वारों पर आवाहन के मंगल-कलश अनुत्तरित ही रह गये। तुम्हारी अनवरत प्रतीक्षाओं को पीठ देकर मैं अन्यत्र ही विचरता रहा। तुम और श्रेणिक निर्जन शून्य वेलाओं में मेरे समीप घंटों बैठे रह गये, मेरी एक सन्मुख दृष्टि पाने को विकल। पर मैंने आँख उठा कर भी तुम्हें नहीं देखा, नहीं स्वीकारा।

···पर मेरी विचित्र विवशता रही, चेलना, कैसे तुम्हें समझाऊँ। जब-जब भी तुम दोनों मेरे समीप आ कर उपविष्ट हुए, मैं तत्काल अन्तर्मुख हो गहन ध्यान में चला गया। मानों कि तुम्हें बाहर नहीं, अपनी आत्मा में ही अविकल देखा जा सकता था। और तुम्हें समूचा देखे बिना मैं रह नहीं सकता था। मानों कि तुम दोनों को देखना, अपनी ही आत्मा को साक्षात् देखना था। और वह बाहर से आँख मूंद, अन्तर्मुख हुए बिना कैसे सम्भव था। तुम्हें आत्मा के अन्तःपुर में ले कर ही तो तुम्हारे साथ मिलन और सम्वाद सम्भव था। अपनी ओर से वह सुख मैंने पाया। पर मेरा वह सम्वाद तुम दोनों तक सम्प्रेपित न हो सका, तो वह मेरी ही कमी रही, मेरी ही अपूर्णता रही। उस पूर्णता-लाभ के लिये ही तो तुम्हारा प्यार, मुझे बार-म्बार तुम्हारी लोचभरी माटियों के गहरावों में खींच लाया है, चेलना। ऋजुबालिका की ये लहरें साक्षी हैं, कि इनके तट पर कूटस्थ हो कर आज मैं क्या पाने को अटल, अनिर्वार, सन्नद्ध खड़ा हूँ।

तुम्हारे साम्राजी राजद्वारों से तुम्हारे भीतर कितनी दूर आ सकता था ? तुम्हारे क्षीरान्न मात्र से वह भिक्षुक कैसे तृप्त हो सकता था, जो तुम्हारे सर्वस्व का याचक और भोजक है। तुम दोनों को सम्पूर्ण पाये और अपनाये बिना, मानों क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुआ जा सकता। अपनी उस सीमा का अतिक्रमण करना होगा, जिसके रहते हमारे बीच असमझ, अज्ञान और ग़लतफ़हमी की अँधेरी खन्दक पड़ी हैं। तुम्हारे साथ सम्पर्क होते ही, तुम्हें सम्पूर्ण देखने और पाने को बरबस ध्यानलीन होते हुए भी, अपनी आत्मली में प्राण की एकाग्र ऊर्जा से तुम्हें खींच कर भी, तुम से एकतान न हो सका।

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और मोहनीय कर्मों का कैसा अभेद्य वीरान अन्तराल हमारे बीच महाकाल सर्प की तरह अनिर्वार हो कर पड़ा है। ऋजुवालिका के सतत प्रवाही जल-लोकों में धँस कर तुम्हारे सुप्त हृदयों में सहसा एक जोत की तरह जाग उठना चाहता हूँ। लोक की एक भी आत्मा मेरे सम्वाद और सम्प्रेषण से बाहर रह जाये, तो मेरे प्यार की क्या सार्थकता? इतनी सारी ग़लतफ़हमियाँ हमारे बीच, इतने सारे विकल्प? इन सारे कर्मारण्यों का भेदन किये बिना, महावीर को विराम नहीं।

अपने जाने तो, इन्द्रियों और मन के सीमित गवाक्षों से परे, अपनी समग्र आत्मा के साथ, आत्मा में, आत्मा द्वारा ही सर्व के संग सम्पृक्त होने की अदम्य महावासना में ही सतत जीता हूँ। फिर भी देख रहा हूँ, कि मेरा दर्शन-ज्ञान, मेरा दृक्-बोध, अभी इन्द्रियों के बाधित द्वारों को नहीं छेक सका है। अभी समग्र से समग्र का आलिंगन सम्भव नहीं हो रहा है। अभी गहराव से गहराव का गुम्फन और अविकल आश्लेष शक्य नहीं हो पा रहा है।

उसी पूर्ण परिरम्भण में सुखलीन और आलोकित होने के लिये, ऋजुवालिका की लहरों के विपुल जल-पटलों में दुर्दाम तैरता हुआ, अपनी आत्म-रमणी के नीवि-बन्धन का छोर खोज रहा हूँ। कि जिसे एक झटके के साथ खींचते ही, सारी ग्रन्थियाँ और आवरण खुल पड़ेंगे, और वह श्रीकमल सम्मुख होगा, जिसकी कर्णिका में तुम बाँहें पसार कर अनावरण खड़ी हो, चेलना। और तुम्हारा सम्राट तुम्हारे उरोज-गव्हर के भीतर कस कर चिपटा बैठा है। कितना भयभीत, विकल, ईर्ष्याकुल, शरणाकुल, आशंकित, पराजित, आत्म-हारा है, तुम्हारा यह प्रियतम।

मोहिनी के इस रजस और तमस-राज्य को भेदे बिना, तुम्हारी कर्णिका की उस वेदी पर कैसे पहुँच सकता हूँ, जहाँ तुम समग्र खड़ी हो। मोह के घने भँवराले चिकुरजाल से आवेष्टित, श्रेणिक से आवेष्टित, साम्राज्य से आवेष्टित, धरती से आवेष्टित—फिर भी जातरूप दिगम्बरी, हेमांगिनी चेलना। लो मैं आया ··· मैं आया, निविड़ आन्तरिक अड़ाबीड़, नीरन्ध्र जलान्धकारों का यात्री महावीर।

• • •

···राजगृही में, चेलना के एकस्तम्भ प्रासाद की छत के केलि-उद्यान में सहसा ही अपने को आविर्भूत देख रहा हूँ। केतकी के एक कटीले दल पर गाल ढाले चेलना मानो मुग्ध-मूर्छित सर्पिणी-सी अधलेटी है। मालती का वितान ही जैसे उसके लिये आकाश पर खुली एक शैया हो गया है।···

'रो रही हो, चेला?'

'ओह वर्द्धमान,...तुम यहाँ अचानक? स्वप्न देख रही हूँ, कि सत्य ?'

'स्वप्न, जो सत्य हुआ चाहता है!'

'लेकिन तुम...कैसे, कैसे यहाँ हो, अभी ? किस राह, कैसे...कैसे आये ?'

एक विस्तृत, उत्तान, उत्तर देता-सा मौन।

'...यह माया है कोई? कोई व्यांतरिक प्रपंच? इन्द्रजाल? महावीर ऋजुबालिका तट पर अटल मानुषोत्तर की तरह खड़ा है। वह वहाँ से हट नहीं सकता, विस्फोटित ही हो सकता है।...फिर तुम कौन, ओ प्रवंचक? हट जाओ मेरे सामने से!'

'महावीर को क्या उस एक शरीर में ही बन्दी देखती हो, चेलना? क्या वह केवल मात्र वह एक शरीर है, जो वहाँ, उस जीर्ण उद्यान के वीरान में अकम्प उपविष्ट है?'

एक अधिकाधिक गहराती निस्तब्धता।

'...मैं निर्भ्रान्त हुई। मैं कृतकृत्य हुई। मेरे स्वप्न, तुम आ गये?'

'तुम तक पहुँच सका महावीर ?'

'लज्जित न करो, मेरे प्रभु! तुम तो सदा आरपार आये मुझ में। पर मैं ही बार-बार रुद्ध हो गयी। कम पड़ गई। संकोच और विकल्प में रही। हिचक गई...।'

'फिर विकल्प ? सम्मुख जो है, उसे नहीं देख रही?'

'देख रही हूँ, अपना वह स्वप्न जो तथ्य से भी अधिक सत्य, ठोस और विश्वसनीय है।'

'फिर क्या सोच रही हो? मन से आगे नहीं आओगी?'

'बार-बार मुझसे भूल हो गई। तुम्हारी एकाग्र ध्यानलीन चितवन का वह समतोल कटाक्ष मैं सह न सकी। उस खिंचाव की चोट से विकल, आहत, बेतहाशा लौट गई।...तुम्हारे अन्तर्कक्ष के आमन्त्रण से मेरा अणु-अणु पसीज गया।...मैं भयभीत, लज्जाकुल हो कर अपने ही से पलायन कर गयी। तब मैं आप ही अपने को भरमा कर, तुम्हें बाहर ही कहीं खोजने का अभिनय करती रही। मैं समझ न सकी, उस सर्वस्वहारी सम्मोहन का रहस्य। मैं शिकायत ही करती रही, कि तुमने मुझे आँख उठा कर भी न देखा?...और मैं तुम्हारे अयस्कान्त के उस चुम्बक-चुम्बन

से दूर-दूर ही भागी फिरी।···हाय, मैं अपने ही को छलती चली गई। नाथ,··· ऐसी मूर्च्छा क्यों?'

'तुम अपने पातिव्रत्य के खो जाने का ख़तरा देख रही थी। तुम दुविधा में रही, द्वैत में रही। फिर भी अद्वैत का दावा करती रही···।'

'मेरे प्रभु···!'

'लेकिन जानो सम्राज्ञी, तुम्हारा हृदय-सम्राट तुम्हारी कंचुकी में से कभी का चुराया जा चुका है!'

वज्राहत चेलना धरती में गड़ी जा रही है।

'···ओ बलात्कारी, अब और न कसो। खोलो, ढीला करो यह कसाव। मुझे साँस लेने दो, अपने हृदय के अन्तरिक्ष में।'

'तुम्हारा सम्राट तुम्हें सुरक्षित लौटा देने आया हूँ, सम्राज्ञी। महावीर आत्माओं को तोड़ता नहीं, जोड़ता है।'

'लेकिन···'

'लेकिन जोड़ने से पहले, दो के बीच की मोह-ग्रंथि को अन्तिम रूप से तोड़ देता है। ताकि फिर जो जुड़ाव हो, जो गुम्फन हो, वह अन्तिम हो और आत्मस्थ हो।'

'···तुम से बाहर कोई श्रेणिक मुझे नहीं चाहिये, स्वामी!'

'वह भी मैं ही हूँ। वहाँ भी मैं ही हूँ। जो यहाँ है, वही वहाँ है!'

'मुझे लिवा ले जाने आये हो, मेरे नाथ?'

'वह अगली बार आऊँगा, अभी लग्न-मुहूर्त नहीं आया!'

'क्या रहस्य है, समझी नहीं?'

'तब पूर्ण पुरुष पूर्ण नारी की खोज में आयेगा।'

'और आज?'

'अपूर्ण पुरुष अपनी पूर्णता की खोज में आया है!'

'मुझ अपूर्ण में?'

'पूर्णमदः पूर्णमिदम्, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते···!'

—मालती लता में बहती हवा में और केतकी की सुगन्ध-निविड़ कण्टक-चुभनों में गूंज उठा।

'···हाय, हठात् तुम कहाँ चले गये, मेरे भगवान?···आह, यह क्या सुन रही हूँ?

'ऋजुबालिका के जल-कक्षों में आओ, चेलना!···'

◆ ◆ ◆

अनम्य श्रेणिक, यह तुम्हें क्या हो गया है? समुद्र-कुन्तला पृथ्वी का पति एक निष्किंचन, निरीह नंगे के आसपास चक्कर काट रहा है! सुवर्ण-खचित उपानह का धारक, सुकोमल गौर-चरण राज-पुरुष, नंगे पैरों इस नदी-तट की पंकिलता में क्या खोज रहा है? महर्द्धिक राजवेश त्याग कर, वह एक पांशुकुलिक पथहारा बटोही की तरह, इस परित्यक्त उजड़े उद्यान की भग्न सराय में क्यों आ बसा है? बादल-वेला की अंजनी छाया में, नदी के इन निचाट निर्जन प्रान्तर-छोरों में वह क्या खोज रहा है? ...उस बुढ़िया का ध्यान आ रहा है, जो घर में खोई अपनी सूई को, बाहर विजन के आँगनों में, लालटेन ले कर खोज रही है।

राज-काज त्याग कर यहाँ क्या लेने आये हो? तुम्हारा चक्रवर्ती सिंहासन सूना पड़ा तुम्हारा मुँह ताक रहा है। तुम्हारा छिन्न-भिन्न साम्राज्य-स्वप्न एक सर्वहारा भिक्षुक के पैरों में पड़ा कौन-सी सिद्धि खोज रहा है? सुकोमल मसृण हंस-पंखी शैया त्याग कर, इस नग्न धरती के कंकड़-कांटों से आलिंगित तुम्हारी राजसी देह पर मुझे तरस आ गया है। ...क्या तुम मुझे अपनी शैया नहीं बना सकते? जानता हूँ श्रेणिक, अपना मस्तक उतार कर, तुम्हारे सिरहाने धर दूँ, तब भी तुम यही कहोगे—'नहीं, यह मुझे चुभता है'...तो बोलो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ?

दिगन्तों तक व्याप्त तुम्हारी कीर्ति के कलश मेरे ध्यान से बाहर नहीं। कुशाग्रपुर के राजमार्ग पर भंभावाद्य फूँकता हुआ, जो राजपुत्र अनर्गल दिशाओं में निकल पड़ा था, उसे पहचानता हूँ। उसकी आज तक की और आगामी जया-यात्रा के दिग्-चिन्ह मेरी निगाहों में झूल रहे हैं। जलते राजभवन में से जो सिंहासन निकाल लाया था, उसे सिंहासन की कोई कामना नहीं थी, यह मुझसे छुपा नही। दक्षिणावर्त की पग-पग पर समर्पिता सुन्दरियाँ, जिस निगाह में न अँट सकीं, उस निगाह का मैं भिक्षुक हूँ। अंजनगिरि के सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र-कपाट जिस ललाट की छुवन मात्र से खुल गये, उसकी लिपि को मुझसे अधिक कौन पढ़ सकता है? राज-पुरोहित-कन्या नन्दश्री के सर्वस्व-समर्पण, और भव्य भविष्य-दर्शन के सम्मुख स्तब्ध होकर भी, जो उसके ऊष्माकुल आलिंग में भी अनम्य ही रहा, उस श्रेणिक को इतना सर्वहारा देख कर मैं कातर हो आया हूँ।

तुम्हारे प्रताप, पराक्रम और ऐश्वर्य के सीमास्तंभ, मैं तुम्हारी निगाह से आगे के अन्तरिक्षों में उठते देख रहा हूँ। तुम्हारे स्वप्न के चक्रवर्तित्व से परे का एक चक्रवर्ती सिंहासन तुम्हारी प्रतीक्षा में है। सहस्राब्दियों के पार, मैं तुम्हारे उस दिगन्त-व्यापी राज-छत्र का साक्षी हूँ। मुझे पता है, श्रेणिक, महाचीन का युगान्तर-द्रष्टा कन्फूशियस अपने काग़ज़ी फानूस की रंग-बिरंगी रोशनी में, तुम्हारी

शासन-नीति के आधार पर, राजनीति के नये सूत्र गढ़ रहा है। तुम्हारी गति-विधियों की शतरंज पर लाओत्स आत्मिक क्रिया-शक्ति के नये मंत्र पढ़ रहा है।

···फिर भी आज तुम इतने सर्वहारा, आत्महारा, दिग्भ्रमित क्यों? साधारण काम और ईहा से परे की तुम्हारी दुर्दाम महावासना को अनुक्षण समझता हूँ, अनुभव करता हूँ। वह ऊर्ध्व-रेतस् वासना, वह बँधे पारद-सा वीर्य, जो चेलना जैसी अनन्तिनी रमणी के परिरम्भण में भी अ-क्षरित रहने की वज्रोली साधे रहा! उसे विन्दु-दान करके भी, जो उसे और अपने आपको मुकर गया। उस चित्त का परिचालक आवेग मेरी कनिष्ठा उँगली के पोर में स्पन्दित है।

आर्यावर्त और जगत की हर नज़र पड़ जाने वाली श्रेष्ठ लावण्या को वाहुवद्ध किये विना तुम्हें कल नहीं पड़ सकी! हर जनपद के कुन्दोज्ज्वल कौमार्य को अपने चुम्बन से मुद्रांकित किये विना तुम्हारा अहम् ख़ामोश न हो सका। जम्बूद्वीप की हर जनपद-कल्याणी तुम्हारी गर्भधारिणी होने को तरस गई। तुम्हारे उस अजित-वीर्य अहंकार की मुझे ज़रूरत है, श्रेणिक!

उठो श्रेणिक, उत्तान मस्तक मेरे सामने खड़े रहो। मैं तुम्हारे अहम् की उस ऊँचाई को अपने आलिंग से माप कर, उसे और भी ऊपर ले जाना चाहता हूँ। मैं तुम्हें उस ऊँचाई पर खड़ा कर देना चाहता हूँ, जहाँ से तुम अपने प्रतिस्पर्द्धी लगते महावीर को ठीक-ठीक देख सको, पहचान सको। तुम इतने विशाल हो जाओ, कि मुझे केवल अपने हृदय-देश का अंगुष्ट-प्रमाण अन्तरिक्ष भर देखो। यानी तुम केवल अपने को देखो, मुझे न देखो। उस दर्शन का दर्पण भर हो रहे महावीर, तुम्हारे लिये। जब तुम दर्पण में देखते हो, तो दर्पण को नहीं देखते, केवल अपने को एकाग्र देखते हो। और दर्पण की सत्ता अनजाने ही लुप्त प्राय हो रहती है।···और यह दर्पण ऐसा है, कि ज्यों ही तुम अपने आमने-सामने होगे, तो वह आप ही वायु में विलीन हो जायेगा। तब ग्रह-तारा मंडित जो विराट् गगन-मंडल खुलेगा, उसके बीच तुम ब्रह्मांड के शीर्ष पर अपने को एकाकी बैठा देखोगे।···

भयभीत हो उठे, श्रेणिक? अपने उस विराट रूप से बच कर भाग रहे हो? इस क़दर, कि अपनी ही पहचान को भुलाने के हज़ार उपक्रम, बेतहाशा हर पल कर रहे हो। तुम्हारी यह यातना, मेरी अपनी हो गई है। यह प्रत्येक जीवात्मा की चरम यातना ग्रंथि है। इसकी गाँठ-गाँठ में से अणु-प्रति-अणु, पर्त-दर-पर्त गुज़रे विना, अपने मुक्ति-मार्ग पर मेरा अगला अभियान सम्भव नहीं।

परमाणु से भी छोटे हो जाने की भ्रान्ति में पड़े हो? इससे बड़ा अहंकार और क्या हो सकता है? पर वह तुम में जाग कर, तन कर,

इतना आस्फालित हुआ है, तो सदा को विच्छिन्न हो जाने के लिये। इस लघुत्तम के शून्यांश पर ही, आत्मिक परमाणु-विस्फोट होता है। और उसमें से वह चिदाकाश खुलता है, जो लघु और महत् के सारे अक्षगत परिमाणों और आयामों से उत्तीर्ण होता है।

तो ठीक है, जितना तान सको अपने को, तानो मुझ पर। इस ध्रुव पर तुम्हारे हर आत्मघात के तनाव को चुक कर निरर्थक हो जाना पड़ेगा। क्योंकि महावीर से बाहर तुम्हारा कोई आत्मघात सम्भव नहीं। महावीर ही तुम्हारा अन्तिम आत्मघात है। जीवन का विकल्प मृत्यु नहीं है, श्रेणिक। निरन्तर का विकल्प अन्तराल नहीं है। अन्तराल में कब तक ठहर सकते हो? आगे बढ़ो, कि केवल जीवन है। हर देशान्तर, हर कालान्तर, हर जन्मान्तर एक और जीवन ही है। एक और जीवन, एक और जीवन। अनन्त जीवन। वही महावीर है। उससे तुम्हारी बचत नहीं। अव्याबाध जीवन। परिपूर्ण जीवन।

तब क्या मगध और क्या वैशाली? मेरा पिछला चरण वैशाली में टिका है, तो डग भर कर अगला चरण मैंने मगध में रक्खा है। अपनी यात्रा की इस एक ही छलांग को काट कर दो कैसे करूँ। यदि एक ही अखण्ड भूमा, तुम्हारे भूगोल में दो में विभाजित है, तो रहे। पर उसी कारण क्या मैं चलूंगा नहीं, डग नहीं भरूँगा? और यदि मैं चलूंगा, तो सारे खण्ड-खण्ड भूगोल को अखण्ड हो जाना पड़ेगा। मेरे इस चरण पात में यदि वैशाली और मगध के सीमान्त टूट गये हैं, मानचित्र लुप्त हो गये हैं, तो मैं क्या करूँ? जो वस्तु का स्व-भाव है, वही तो घटित हुआ है।

और अब जब श्यामाक गाथापति के शालि-क्षेत्र के किनारे, इस परित्यक्ता भूमि में ध्रुव निश्चल खड़ा हो गया हूँ, तब देख रहा हूँ, कि वसुन्धरा के गर्भ में ही भूचाल आया है। उसकी तहें उलट कर मेरे पैरों से लिपट गई हैं। मनुष्य की उद्धत विजयाकांक्षा ने बार-बार उसके अखण्ड गर्भ को क्षत-विक्षत, खंड-खंड किया है। उसके पयोधर वक्ष को अपने बलात्कारी नाखूनों से लहूलुहान करके उस पर अपने नाम और अधिकार की मुहरें मारी हैं। उसे चराचर मात्र की उस आद्या माँ ने मेरी कायोत्सर्गित दृष्टि के समक्ष निवेदित कर दिया है। कि नहीं, वह मुझे इस नदी-तट से हटने नहीं देगी, जब तक मैं उसे अपने ध्रुव में एकाग्र, संयुक्त, अखण्ड न कर दूं। अपनी त्रिवली के त्रिकोण में उसने मेरे चिर चलायमान चरणों को जकड़ कर मानो कूटस्थ कर दिया है। अपने अपरम्पार पयोधरों को उस आद्या माँ ने अन्तरिक्ष में उद्भिन्न कर मेरे ओष्ठाधरों में बरबस विस्फोटित कर दिया है, कि मैं उसके अक्षय्य जीवन-स्रोत को जानूं। जानूं, कि वह कौन है, और मैं कौन हूँ। जानूं, कि वह केवल क्षणिक मृत्तिका-पिंड नहीं, शाश्वत

ब्रह्मांड है। जानूं, कि चरम परिप्रेक्ष्य में उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है।?···

उस वसुन्धरा की कातर निवेदनाकुल पुकार को सुन रहा हूँ:

'मेरे वत्स, मेरे वल्लभ, कहाँ चले? मेरा सत्व चूस कर, मुझे निःसत्व, निःसार, निष्फल कह कर, लोकाग्र के किस सिद्धालय में आरूढ़ होना चाहते हो? भ्रांति हुई है तुम्हें, कि मैं सीमित हूँ, भंगुर हूँ, और चुक गई हूँ। चुक गये हो तुम, मैं नहीं चुकी! चुक गई है तुम्हारी सामर्थ्य, तुम्हारा ओजस्, मेरे रजस् की रक्तधारा तो अनाद्यन्त काल में अस्खलित प्रवाहित है। महाकाल के प्रवाह में तुम जैसे असंख्य तीर्थंकर मेरे गर्भ में उठे, और मेरा ही योनिवेध कर सिद्धालय के चन्द्रार्ध पर आरूढ़ हो गये।···

'पर मेरे ही एक अखण्ड वक्षमण्डल के दो चन्द्रार्द्धों को भिन्न, और विरोधी समझने की भ्रान्ति में वे रहे। मेरे ही एक स्तन पर पिछला पग धर कर, अगला पग मेरे दूसरे वक्षार्ध की चूड़ा पर धरने को ही उन्होंने मोक्षारोहण मान लिया।'

'तुम्हारी इस बाल-लीला पर तुम्हारी माँ को गर्व ही हो सकता है। ओ योगीश्वरो, ओ तीर्थंकरो, तुम्हारा यह लीला-खेल ही तो उसकी कृतार्थता है। पर महावीर, तुम्हें इससे आगे का खेल सिखाना चाहती हूँ। यही कि एक बारगी ही अपने ओष्ठाधरों से मेरे दोनों स्तनों को पियो और जानो कि जीवन और मुक्ति, भोग और योग एक ही अखण्ड सत्ता-माँ की दो करवटें हैं। उनमें प्रवाहित एक ही चैतन्य पयस् के दो स्रोत हैं।

'···अहं-स्वार्थ प्रमत्त मनुष्य ने इतिहास के महाप्रवाह में बार-बार अपनी हिंसक वासना से माँ के उस अखण्ड वक्ष-मंडल को क्षत-विक्षत और खंडित किया है। उस पर अपना एकान्त अधिकार स्थापित करना चाहा है। हिंसा और परिग्रह की इस मूर्छान्ध रात्रि में, बार-बार तुम्हारी इस एकमेव माँ-वल्लभा पर बलात्कार-अत्याचार, छेदन-भेदन, प्रहार-व्यभिचार हुए हैं। तुम सब भले ही पथ-भ्रष्ट, विभाजित, खंडित, व्यभिचरित, स्खलित हुए होंगे। पर तुम्हारी यह माँ तो तुम्हारे उन सारे आघातों तले भी अव्यभिचरित, अविक्षत तुम्हारी सती ही रही है।'

'महावीर, मुझे पूर्ण लो, मुझे पूर्ण जानो, मुझे अविकल उत्संगित करो, मुझे पियो अपने में समूची और जानो, कि तुम चुक गये हो···या मैं चुक गयी हूँ···? जानो, कि तुम सान्त हो, या मैं सान्त हूँ? लो···लो···लो···लो महावीर···!'

और मैंने पाया कि मेरा कायोत्सर्ग भंग हुआ है। मेरा पर्यंकासन डोला है। और गोदोहन मुद्रा में, जानु पर जानु धारे, और मुट्ठी पर मुट्ठी

कसे, मैं एक ही महामण्डलाकार वक्षमंडल के दो ब्रह्माण्डों को क साथ, एक ही साँस में दुह रहा हूँ, पी रहा हूँ . . . ।

चकित हो न, श्रेणिक? रोमांचित और प्रहर्षित हो न? विजयोल्लास से भर उठे हो न? ' . . . यही कि महावीर चरम कायोत्सर्ग के शिखर से पतित हो गया। कि उसने श्रेणिक की धरती पर घुटने टेक दिये । कि वैशालक निगंठ नातपुत्त की अर्हत्ता ऋजुवालिका के जंघातटों में धराशायी हो गयी ?

. . . जानो श्रेणिक, तुम्हारी विजय के लिये, ओ मनुष्य के बेटे-बेटियो, तुम्हारे कुण्ठा-छेदन के लिये, तुम्हारे प्रांजल सुगम उद्‌बोधन के लिये ही, महावीर ने भूगर्भ की राह ब्रह्मगर्भ में अतिक्रान्त होना स्वीकार किया है। ताकि भेद और विच्छेद की सारी बाधाएँ और कुण्ठाएँ प्राणि मात्र के बीच से हट जायें। ताकि मुक्ति-रमणी इस धरती और काया के मूर्त कलेवर में ही, तुम्हें सविता और सावित्री का भर्ग पान कराये ।

. . . मुझे क्या अन्तर पड़ता है, यदि मेरे इस अवरोहण से, सृष्टि का सारा इतिहास, अपने दुष्चक्र का भेदन कर जाये। यदि हर आत्मा एक अनादिकालीन द्वंद्व के नागचूड़ से सदा को मुक्त हो जाये। क्यों कि मेरी ज्ञान-चेतना में, मेरे अवबोधन के वातायन पर, ऊपर नीचे, आरोहण-अवरोहण, उत्थान-पतन के आयाम एकान्तिक नहीं, निरपेक्ष नहीं, अनैकान्तिक और सर्वसापेक्षिक हैं। मेरा यह अवरोहण भी, एक और उच्चतर शिखर पर आरोहण नहीं है, यह कौन कह सकता है?

त्रिशला, चेलना, श्रेणिक, ओ मनुष्य के त्रिकालवर्ती बेटे-बेटियो, तुम्हारा मनचाहा हो सका न? वही तो करने को यहाँ आया हूँ। वही न कर सकूँ, तो तीर्थंकरत्व और अर्हतत्त्व फिर किस लिये?

त्रिशला, अपने रक्त-मांस के योनिजात पुत्र को देखो। उसे जी चाहा पाओ, जी चाहा लो। . . . क्या तुम्हारी साध पूरी हुई? . . . चेलना, तुम्हारे कंचुकि-बन्ध टूट गये! . . . पर क्या तुम पूर्णकाम हुई? . . . श्रेणिक, लो देखो . . . मैं ऋजुवालिका के जल-गर्भों में शायित होकर, मगध की भूमि में आत्मसात् हो गया। विसर्जित, विवर्जित, विलोपित हो गया। तुम निःशंक, निर्भय, निर्द्वंद्व हो सके, सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक?

. . . नहीं, नहीं। तुम सबके चेहरों पर वृहत्तर प्रश्न-चिन्ह जल उठे हैं। तुम सब कितने-कितने अकेले, द्वीपायित, दीन, म्लान, उदास, आत्महारा हो अब भी। अपने ही अहम् में कुण्डीकृत। तुम्हारे मूलाधार की यह सहस्र-

कुण्डला सर्पिणी कैसे जागे, कैसे उत्थान करे? कैसे उसकी पूंछ उसके मुख में आ जाये, और आत्मा अखण्ड कैवल्य-ज्योति का प्रभामण्डल हो जाये?

जगज्जयी श्रेणिक, कांचन, कामिनी, कीर्ति के सारे सीमान्त जीत कर भी तुम कितने अकेले छूट गये? और ऐसा यह एकराट् सम्राट अकेला नहीं रह सकता। वह भयभीत है। वह अपने ही से भयभीत और भागा हुआ है। अब तक खोजे उसके सारे अवलम्बन टूट गये हैं। वह एक और, एक और अवलम्ब खोज रहा है।

और श्रेणिक, अब तुम एक और अवलम्ब शाक्य-पुत्र सिद्धार्थ गौतम में खोज रहे हो। तुम उसके उस अज्ञात आगामी बोधिसत्व में आशान्वित हो। वह बोधिसत्व, जो अभी उपलब्ध नहीं बाहर कहीं भी, जो अभी आने को है। वह एक ऐसा भविष्य है, जो अभी सिद्धार्थ गौतम की भी पकड़ से बाहर है। जिसे पाने को वह स्वयम् मरणान्तक तपस्याओं से गुज़र रहा है।

...और तुम अपने को आश्वस्त करते हो, कि एक दिन वह उसे लब्ध कर, सर्वप्रथम तुम्हारे पास आयेगा, और तुम सपना देख रहे हो, कि उसकी बोधि प्रभा से उस दिन राजगृही के चैत्य-उपवन झलमला उठेंगे।...। और तुम्हें लगता है, कि वह तुम्हें ज्यों ही हाथ उठा कर उद्‌बोधित करेगा, तो उसकी दृष्टि से दृष्टि मिलते ही तुम्हारे भ्रूमध्य में कोई सम्यक्त्व-नेत्र खुल उठेगा। मानो कि उसके चीवर की गहरी तहों में कोई चिन्तामणि छुपी होगी, जो वह निकाल कर तुम्हारे हाथ में थमा देगा। और तुम, आरपार आत्म-सम्बुद्ध और प्रकाशित हो उठोगे।... काश, ऐसा हो सकता, श्रेणिक!

नहीं, तुम्हारी इस माँग को मैं 'तथास्तु' नहीं कह सकता। और मैं तो जातरूप नग्न हूँ; मेरे तन पर ऐसा कोई चीवर नहीं, मेरे मन में ऐसी कोई गोपन तह नहीं, जहाँ ऐसी कोई ज्योतिर-मणि संगोपित हो, कि तुम्हारी आर्त्त पुकार पर वह निकाल कर तुम्हें सौंप दूं। चमत्कार कर दूं। नहीं, महावीर ऐसा कोई आश्वासन, ऐसी कोई आशा तुम्हें नहीं दे सकता। वह कुछ कहता ही नहीं, वह कुछ करता ही नहीं। ऐसे किसी वाक् और कर्म से वह प्रतिबद्ध नहीं। अपने प्रति भी वह प्रतिबद्ध नहीं। अत्यन्त अप्रतिबद्ध. वह केवल सहज स्वयम् आप है। जो, जितना, जैसा है, वह तुम्हारे सामने है। उसकी नग्नता केवल तन की नहीं, केवल मन की नहीं। उस तत्त्व की है, जो अन्ततः वह स्वयम् आप है।

हाँ श्रेणिक, निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र तुम्हारा भूदान न स्वीकार सका। जो सम्भव नहीं, उसे कैसे स्वीकारूँ। जो स्वभाव नहीं वस्तु का, उस विभाव में कैसे प्रवृत्त होऊँ। जिस भूमि पर अन्ततः तुम्हारा अधिकार ही नहीं, उसका दान करने वाले तुम कौन होते हो? उसे लेने वाला मैं कौन होता हूँ। इतिहास में असंख्य बार भूपतियों ने इस भूमि पर अपना एकराट् आधिपत्य घोषित किया। पर क्या वे सच ही, उस पर अधिकार कर सके? उसे रख सके केवल अपने लिये, एकान्त अपने द्वारा अधिकृत? अपने तन और मन पर भी जो अधिकार और शासन न कर सके, वे बाहर की भूमि के स्वामी कैसे?

सम्भव है केवल आत्मदान। तुम्हारा अत्यन्त निजी आत्म, तुम्हारा एक मात्र स्वरूप, तुम्हारा स्वयमत्व, तुम्हारा वह चरम अस्तित्व, जो अन्ततः तुम हो, वही तो तुम निवेदित कर सकते हो। उसे ही तो देने का अचूक अधिकार तुम्हारा है। पर वह भी क्या किसी संकल्प या इरादे के साथ, किसी को दे देने की सत्ता तुम्हारी है? ऐसा कोई राग या विकल्प जब तक है, तब तक तुम वह विशुद्ध आत्म हो ही कैसे सकते हो। संकल्प है तो विकल्प है ही, राग है तो द्वेष है ही। मैं किसी के प्रति अपने को देता हूँ, मैं इस व्यक्ति या वस्तु का उपकार और त्राण करूँगा, यह अहम् जब तक शेष है, तब तक तुम वह शुद्ध आत्म होते ही नहीं, जिसे देने का, या जिसकी सामर्थ्य से पर का उपकार उद्धार करने का दम्भ तुम करते हो।

वह आत्म तभी अपने अविकल रूप में प्रकट होता है, जब लेने-देने, करने-कराने के सारे संकल्प और विकल्प समाप्त हो जाते हैं। बस, एक सच्चिदानन्द ज्योति का निर्झर जाने किस अचिन्ह, अनाम उत्समें से फूट पड़ता है। वह दान करता नहीं, उसका अपने आप में निरन्तर प्रवाहन ही एक विराट् आत्मदान है, जो आपोआप अणु-अणु में व्याप्त हो उसे प्रकाशित, आप्लावित और आप्यायित करता रहता है।

नहीं, श्रेणिक इसके अतिरिक्त किसी और आत्मदान, ज्ञानदान, सुखदान, समाधान, उपकार-उद्धार का दावा मेरा नहीं। क्या धरित्री यह कहती है, कि मैं तुम्हें धारण करती हूँ? क्या आकाश यह उद्घोष करता है, कि मैं तुम्हें ठहरने को अवकाश आवास देता हूँ? क्या झरना यह दावा करता है, कि मैं तुम्हें जलदान करता हूँ? क्या नदी यह संकल्प करके बहती है, कि मैं तटवर्ती सारी प्रकृति और जनालयों को जीवनदान करती हूँ? क्या हवा के मन में रंच भी कोई ऐसा इरादा है, कि मैं बहती हूँ, ताकि

प्राणि-मात्र मेरे भीतर प्राण धारण करें, साँस लेते रहें? क्या वृक्ष यह सोचता है, कि मैं पथिक को छायादान करता हूँ? यदि नहीं, तो महावीर भी ऐसा कोई संकल्प नहीं रखता, ऐसा कोई आश्वासन नहीं देता, ऐसा कोई दावा नहीं करता ।

वह आश्वासन तुम्हें जहाँ से प्राप्त हुआ है, वहाँ से वह वोधि तुम सानन्द प्राप्त करो, श्रेणिक । मैं निश्चिन्त हूँ, मैं आश्वस्त हूँ, अपने बारे में, तुम्हारे बारे में । जहाँ से भी जो चाहो पाओ, जिस भी राह जाना चाहो जाओ। सारी राहें अन्ततः उसी एक आत्म की ओर जाती हैं। सारे गमनागमन उसी एकमेव गन्तव्य की ओर गतिशील हैं। अपना सुख, अपना प्राप्तव्य जहाँ भी तुम्हें दीखे, उस ओर निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व बढ़ जाओ। मिल जायेगा। पर यह अनिवार्य है कि विकल्प और द्वंद्व मन में न रहे। तर्क-वितर्क और हिचक जी में न आये। अविचल, एकाग्र अपने लक्ष्य का सन्धान करो, वह जहाँ भी दिखाई पड़े।

पर उन्नति और मुक्ति की यात्रा कुटिल-जटिल अनेक चक्र-पथों को पार करती हुई ही सम्भव होती है। हर आत्मा अपने भीतर की उस परम कुमारिका को पाने के लिये, अपनी ही चाहों के अत्यन्त अपने और निराले कुँवारे जंगलों को पार करके ही, उस तक पहुँच सकती है।···उस राह में महावीर पड़ता है या सिद्धार्थ गौतम पड़ता है, तो उनसे भी गुज़र ही जाना होगा । वहाँ भी मंज़िल नहीं । वहाँ भी रुका नहीं जा सकता। ये सब सिद्धाचल के आरोहण-मार्ग के अनेक पड़ाव हैं, चट्टियाँ हैं, धर्मशालाएँ हैं। जो तुम्हारा गन्तव्य है, वह अत्यन्त विलक्षण, अत्यन्त निजी, एकमेव तुम्हारा है। अपनी उस एकमेव अकल कुँवारी प्रिया तक पहुँचे विना चैन और विराम तुम पा नहीं सकते, जो सर्वदेश और सर्वकाल में नितान्त तुम्हारे लिये है, केवल तुम्हारी है। जो वह अपनी एकान्त सती रानी है, जिस तक पहुँचने के लिये आत्माएँ अविश्रान्त भाव से जाने कितने ही दुर्गम, दुर्भेद्य, सर्प-कुंडलित भवारण्य पार करती ही चली जाती हैं। राग-द्वेष और ईर्ष्या के अनेक ग्रंथिल नागचूड़ों में ग्रस्त होती है। जो प्रिया अत्यन्त और अन्तिम अपनी नहीं है, उसे ही अपनी आत्मा मान कर, उसकी ऊष्म-शीतल कुन्तल-छाँव में परम प्रीति का आश्वासन, एकत्व और विश्राम खोजती है।

···पर देखते-देखते वह प्रिया परायी हो उठती है। देखते-देखते निगाहें वदली-वदली हो जाती हैं। जो सवेरे मेरे लिये प्राण तक दे देने को उद्यत थी, वह उसी शाम मेरे प्राण लेने तक को भी सन्नद्ध हो सकती

है। जो कल तक मेरी सर्वस्व थी, आज वही मेरी सर्वस्वहारिणी हो कर प्रकट हो जाती है। जो कल तक, अपने प्राण और आत्मा से भी अधिक अपनी लगती थी, वह आज इतनी-इतनी परायी हो उठती है, कि पहचानना कठिन हो जाता है।

कितने अजनवी, कितने पराये हैं, हम सब यहाँ एक दूसरे को। और इस अजनवियत और पराये पन के रेगिस्तान में, हर कहीं दूर पर अपनी प्यास का भ्रान्त जल देख दौड़ पड़ते हैं उस ओर वेतहाशा। जाने कितने ही अपनत्व के ओसियस जगह-जगह दिखायी पड़ते हैं। हाँफ जाते हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, साँसे चुक-चुक जाती हैं—उन तक पहुँचने में। और वे दूर ही सरकते जाते हैं, अपनी बाँह और आँखों में आ कर भी क्षण मात्र में सिरा जाते हैं।

इस अफाट् मरु-प्रान्तर में अब तक तुमने कितने न सहारे खोजे, श्रेणिक! वस्तु, सम्पदा, भूमि, साम्राज्य, रत्न-कांचन, रमणी, महावीर, और अब सिद्धार्थ गौतम। क्या तुम्हारी चाह का वह अन्तिम अवलम्ब, तुम्हें मिल सका? क्या अपने प्राण का वह चिर अभीप्सित शरणांचल, समाधान, उपधान तुम्हें प्राप्त हो सका, जिस पर माथा ढाल कर तुम अन्तिम रूप से निश्चिन्त, वेखटक, विश्रांन्त, विश्रब्ध हो सको?

चेलना ने तुम्हें क्या न देना चाहा? उस जैसी परमा सुन्दरी सती का सर्वस्व-समर्पण भी क्या तुम्हें परितृप्त, समाधीत कर सका? उससे पूर्व नन्दश्री का आत्मार्पण भी क्या कम निष्काम था? चेलना और नन्दा ने क्या कुछ बचा कर रक्खा, कि जो उन्होंने तुम्हें न दिया? कोसला, क्षेमा और देश-देशान्तरों की अनेक रानियाँ और कुमारिकाएँ तुम्हारी एकान्त समर्पिता अन्तःपुरिकाएँ होकर रह गईं। सालवती का लावण्य और यौवन मानो तुम्हारे ही लिये मगध की भूमि में से रत्न की तरह प्रकट हुआ, और वह तुम्हारा कण्ठहार हो कर रह गया। फिर भी क्या वह तुम्हें मनचाहा आप्लावन और उत्संग दे सकी?

और तुम्हारी चरम स्वप्न आम्रपाली! साक्षात् होते ही वह स्वप्न तुम्हारा टूट गया। तुम अहर्निश उसके ध्यान में जी रहे थे, उसी के सौरभ-विधुर कल्पांचल में साँस ले रहे थे। और तुमने पाया, कि वह सदेह सम्मुख उपस्थित हो कर भी अपने उस ऐश्वर्य-कक्ष में नहीं थी। वह अपनी उस मुक्ता-मर्कत शैया में अधलेटी हो कर भी, वहाँ नहीं थी। वह बेताब थी, वेचैन थी, और अपने ही आप को सुलभ नहीं थी। वह अपने ही

वश में और अपनी ही नहीं थी। वह अपने ही आपको अजनबी और परायी थी। तब वह तुम्हारी कैसे हो सकती थी? तुम्हारा समस्त चित्त उसमें लगा था, और उसका चित्त कहीं और ही लगा था। तुम उसके ध्यान में ही एकाग्र जी रहे थे, और वह उस नग्न अकिंचन पुरुष के ध्यान में केन्द्रित जी रही थी, जो किसी एक का होने को जन्मा ही नहीं है। जो हर किसी का है, इसी से किसी का नहीं है।

हमारे गाढ़तम आलिंगन में गुंथ कर जो रमणी हमारी साँसों में मूर्च्छित, समर्पित और विसर्जित हो रही है, वह कब हमारे आलिंगन से बाहर हो गई है, पता ही नहीं चलता। हर आलिंगन, हर मैथुन में हम उसी एक परम एकत्व और अनन्यत्व को ही तो खोज रहे हैं, जो हर आत्मा की परात्पर वासना है, और जिसे पाये बिना अनादि-अनन्त काल में भी, हमें चैन नहीं। पर क्या गाढ़तम आलिंगन और चरमतम मैथुन में भी वह एकत्व उपलब्ध हो पाता है? टूटती हुई रक्त की धारा और चुकती हुई साँसों से आगे, उस आलिंगन और मैथुन की गति नहीं।

जानो विश्व-विजेता श्रेणिक बिंबिसार, प्रत्यक्ष देखो आत्मन्, निर्भ्रान्त देखो: जन्मान्तरों की इन सारी मिलनाकुल यात्राओं में, चरम-परम सौन्दर्य और प्यार के परात्पर आलिंगनों और मैथुनों में भी, क्या तुम्हारा वह अनादि अभीप्सित, अचूक मिलन तुम्हें उपलब्ध हो सका?

जो देख रहा हूँ समक्ष, प्रत्यक्ष, वह यह है कि एक-दूसरे में एकत्व लाभ करने की सारी कसकों, तड़पनों, कशमशों के बावजूद, तुम सब कितने अकेले, एकाकी हो। कितनी अकेली हो गई है चेलना! कितनी अकेली है नन्दा! कितनी अकेली है सालवती। कितनी अकेली है आम्रपाली। कितने अकेले हो तुम! कितना असंग एकाकी, मरणान्तक संघर्ष कर रहा है सिद्धार्थ गौतम, बोधिलाभ की अगम राहों में, मृत्यु की दुर्भेद्य घाटियों में! और तुम, श्रेणिक, उसमें एक और अवलम्ब खोज रहे हो?

और देखो, कितना अकेला, एकाकी, अकिंचन, अकिंचित्कर है निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर! वह तुम्हारी भूमि के अतलान्त पातालों में उतर गया है, कि काश, वह सत्ता में कोई ऐसा द्वार मुक्त कर सके, जिसकी राह वह तुम सबकी आत्माओं में अचूक प्रवेश पा सके। कोई ऐसा वातायन, कोई ऐसा कक्ष, कोई ऐसी शैया, जहाँ हर रमण और रमणी, उस आलिंगन और मैथुन में एकत्व लाभ कर सकें, जिसमें फिर अन्य और अन्यत्व की विरह-व्यथा सदा को निर्वाण पा जाये।

यहाँ, इस उजाड़ उद्यान में, इस निर्जन नदी के तट पर से वह पुरुष लुप्त हो चुका, श्रेणिक, जिसके रहते तुम इतने पराजित और भयभीत थे। जिसकी उपस्थिति तुम्हारी चरम ईर्ष्या का विषय थी। जिसे तुम सह नहीं सकते थे, और जिसके बिना तुम रह नहीं सकते थे।

वह महावीर किसी और ही तट पर उतर गया, आत्मन्। अब यहाँ अकेले रह कर तुम क्या करोगे? लौट जाओ श्रेणिक, अपने घर, अपने महालय में, चेलना के पास, आम्रपाली के पास, अपने साम्राज्य में, यदि वह सम्भव हो!

और चाहो तो प्रतीक्षा करो तथागत गौतम बुद्ध की। शायद वे तुम्हें वह दे सकें, जो मैं तुम्हें नहीं दे सका।

अलविदा, अनन्य, अजेय श्रेणिक भम्भासार। □

भीतर खुलते वातायनों पर

वाहरी पृथ्वी से असम्पृक्त हो गया हूँ। अपने ही शरीर की मूल पृथ्वी में उतर गया हूँ। रक्त-शिराओं के अन्धकार को पार कर, हड्डियों के पोलानों में व्याप्त तमस से गुज़र गया हूँ। मज्जा के अति महीन घनत्व को विदीर्ण करता हुआ विशुद्ध माटी के लोक में से संक्रमण कर रहा हूँ। पुद्गल के स्कन्धों में से राहें खुल रही हैं। यहाँ उस मौलिक कार्मिक रज के सीधे संस्पर्श में हूँ, जिसके उत्तरोत्तर परिवर्द्धमान घनत्वों में से, सृष्टि में आकृतियाँ प्रकट होती हैं। यहाँ हमारी चेतना की विभिन्न परिणतियाँ ही कैसे पिण्डीकृत और भावित होती हैं, उस प्रक्रिया का साक्ष्य अनुभव में आ रहा है।

इस चरम और तात्विक अन्धकार की नीरन्ध्रता में एक अजीव और वेरोक व्याकुलता है। मानो कि यह अन्धता अव अपने आप में ठहर नहीं सकती। जैसे कि अभी औचक ही इसमें आँख खुल उठेगी। रह-रहकर मानो इस तमसा में प्रकाश के परमाणु तारों की तरह टिमक कर वुझ जाते हैं। अभी-अभी जैसे कहीं एक निःशब्द विस्फोट होगा, और कोई विभ्राट् ज्योति जल उठेगी। कोई ऐसा उजाला, जो अन्धकार का विरोधी नहीं, अन्धकार भी जिससे वाहर नहीं, मात्र इसकी एक वहिर्मुख परिणति है। तत्व की इस अन्तरिमा में उसके सारे सम्भवित आयामों के वीज, सर्वत्र राशियों में फैले, फूटते और अँखुवाते दीख रहे हैं। ...चारों ओर जैसे असंख्य खुली आँखों से घिर गया हूँ। और तव इस घनीभूत अँधियारे कर्दम से लगा कर, इसमें से फूटने वाले कमल तक की दूरी लुप्त-सी हो गई है। एक माया, एक लीला मात्र।

...कितना अकेला हो गया हूँ। भयावह है यह एकाकीपन। वाहर के जगत से, जीवन से, इस क़दर वियुक्त तो पहले कभी नहीं हुआ था। सव-कुछ से कट कर, विछुड़ कर, इतना अकेला पड़ गया हूँ, कि इस एकलता में ठहरा नहीं जा रहा है। सव के साथ शाश्वत जुड़ाव में जीने की अनवरत साधना अव तक करता रहा। सव के प्रति अपने को इतना निःशेष दिया, कि अपने आत्म को मैंने जैसे रहने ही नहीं दिया। फिर भी क्या सव के साथ संपूर्ण योग और एकत्व सिद्ध हो सका?

हर सम्मुख आने वाले जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरीण अन्धकारों में संक्रमण और अतिक्रमण किया है। मेरे उस सम्पूर्ण आत्मदान से, पूर्वजन्म की अनेक सम्वन्धित आत्माओं की जनम-जनम की ग्रंथियां उन्मोचित हुई हैं, मेरे और उनके वीच के कर्मावरण की अनेक अभेद्य दीवारें टूटी हैं। एक महाभाव प्रेम के भीतर उनके साथ, निरवछिन्न मिलन की अनुभूति हुई है। लेकिन फिर भी क्या उनके और मेरे वीच वह मुक्ति घटित हो सकी, जिसके वाद कोई भी ग्रंथि या आवरण शक्य न रह जाये? क्या अन्तिम ग्रंथि का मोचन हो गया, क्या अन्तिम आवरण हट गया?

पहले ही दिन अपने वैल के गुम हो जाने पर, अपनी रस्सी को तिहरी वँट कर मुझे कोड़े मारने वाला ग्वाला हो, कि शूलपाणि यक्ष हो, कि संगम देव हो, कि सुदंष्ट्र नागकुमार हो, कि कटपूतना वाण-व्यन्तरी हो, कि अन्तिम वार शूलों से आरपार मेरा कर्णवेध और मस्तकभेद करने वाला गोपाल हो, निश्चय ही इन सभी की जनम-जनम की कपाय-ग्रंथियों का मोचन हुआ है। इन सभी के मनों में, मेरे प्रति जो चिरकाल की वैराग्नि जल रही थी, उसका शमन भी निःसन्देह हुआ है। इन सभी की क्षमा और प्रीति भी मुझे सदा को प्राप्त हो गई है। अपने जी की वात, अपना प्यार इनकी आत्माओं तक पहुँचाने में भी शायद मैं यत्किंचित् सफल हुआ हूँ।

फिर भी क्या त्रिलोक और त्रिकाल में इनके साथ मैं निरवछिन्न-रूप से घटित हो सका हूँ? क्या इनके साथ मेरा सम्वाद और सम्प्रेषण अव्याहत हो सका है? लगता है कि इनके और मेरे वीच अव भी कोई ऐसा अपरिभाप्य रिक्त वना है, जिसकी सम्पूर्ति अभी नहीं हो सकी है। सर्वकाल और सर्वदेश की असंख्य कोटि आत्माओं के साथ अभी जैसे पूर्ण ज्ञानात्मक सायुज्य उपलव्ध नहीं हो सका है। अपने को अणुमात्र भी तो वचाकर नहीं रक्खा है। अपनी इस देह को तिल-तिल हवन हो जाने दिया है। फिर भी सदेह जैसे मृत्यु का समुद्र तैर गया हूँ। वारम्वार एक अनाहत, अव्यावाध जीवन जीने की अनुभूति भी हुई है।

फिर भी क्या कारण है कि एक अफाट शून्य में आज अकेला छूट गया हूँ? ...मैं...मैं...मैं। वह...वह...वह। इस चिरन्तन् द्वैत से कहाँ निस्तार है। क्या यह सतर्कता अव भी मुझ में नहीं है, कि मैं हूँ कोई विशिष्ट पुरुप महावीर? जिसने अपने जनम-जनम के वैरियों को खोज कर, उन्हें अपने प्रेम और क्षमा से जय किया है। कि मैं इन सव का तरणोपाय वना हूँ। कि मैं त्राता हूँ, सर्व का परित्राता हूँ। सर्व परित्राण के लिये ही मेरा अवतरण हुआ है। क्या मेरे इस अहम् का निर्मूलन हो सका है? और यह अहम् जव तक अणु मात्र भी शेप है, तव तक सर्व के और मेरे वीच की अन्तिम ख़न्दक कैसे पट सकती है? वह नहीं पट सकी है, इसीसे तो इस शून्य में इतना अकेला छूट गया हूँ।

…ऐसा लग रहा है, कि इस द्वैत का निराकरण किसी अद्वैत में भी नहीं है। वह भी एक शाब्दिक विकल्प या धारणा ही तो है। शुद्ध आत्मानुभूति में न द्वैत है, न अद्वैत। बस, जो यथार्थ में है, वही है, जिसकी परिभाषा सम्भव नहीं। परिभाषा मात्र विकल्प है।

इन अनेक जीवात्माओं की कषाय-क्लिष्ट चेतना के प्रति मैं दया और करुणा से भर-भर आया हूँ। और यह दया और करुणा भी क्या द्वैतभाव ही नहीं है? पूर्ण वीतराग हुए बिना, पूर्ण प्रेम और पूर्ण एकत्व में अवस्थिति कैसे सम्भव है? मैं और वह का विकल्प जब तक है, तब तक सब के साथ सूक्ष्म राग तो बना ही हुआ है। फिर चाहे वह कितना ही सात्विक और मांगलिक क्यों न हो। और जब तक यह राग है, तब तक विच्छेद और अलगाव है ही। यह राग संवेदन है, स्पन्दन है, उत्स्फुरण है। इसके रहते चैतन्य में विक्षोभ और विकल्प का चांचल्य रहेगा ही। यह सम्वेदन जब तक पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित न हो उठे, तब तक सर्व के साथ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य में अवस्थित नहीं हुआ जा सकता।

◆ ◆ ◆

…अपने आत्म-परिणामों को इस क्षण प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। कर्मोदय से जो राग-द्वेषात्मक भाव उत्पन्न होते हैं, उस विक्षोभ से मैं बेशक आगे जा चुका हूँ। सात्विक वृत्तियों के संवेग के कारण जो कर्म-बीज का निपट तात्कालिक उपशमन होता है, उस क्षणिकता में भी मेरे परिणाम बद्ध नहीं हैं। तीव्र वीत-रागता के उदय से कभी-कभी अपने अनादि कर्म-मल का विपल मात्र में क्षय होना भी अनुभव किया है। पर निःशेष कर्म-मल की निर्जरा तो हुई नहीं। तब यह क्षायिक भाव भी आत्मा की एक गुज़रती अवस्था से अधिक न हो सका। क्षयोपश-मिक भाव में ही अब भी यात्रा चल रही है। कुछ कर्म मात्र उपशमित हो रहते हैं, तो कुछ कर्म झड़ जाते हैं। क्षय और उपशम की यह एक मिली-जुली अवस्था-सी है। इन सारी अवस्थाओं से परे जो आत्म-स्थिति है, उसकी बारम्बार झलक पा कर भी, उसकी अन्तर-मुहूर्त अनुभूति में स्तब्ध होकर भी, फिर अवस्था विशेष में अवरूद्ध हो जाना होता है।

कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से परे की वह आत्म-स्थिति कैसे उपलब्ध करूँ, जिसमें बिना किसी बाह्य निमित्त के, बिना किसी निम्न या ऊर्ध्व प्रतिक्रिया के, एक शुद्ध बेशर्त, निसर्ग परिणमन में ही अवस्थान हो जाये। एक ऐसी महाभाव-स्थिति, जिसमें दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य नितान्त स्वतंत्र होकर, एक विशुद्ध और अकारण आत्मोर्जा के रूप में मेरे भीतर रमण-शील रहें। एक ऐसा बेशर्त निर्नैमित्तिक आत्म-रमण और अन्तर्मैथुन, जिसमें बिना किसी चाह, विकल्प या बाहरी क्रिया के भी, जीव मात्र और पदार्थ मात्र के साथ, एक निरन्तर मिलन-मैथुन अन्तहीन हो जाये। उस शुद्ध पारिणामिक भाव को कैसे उपलब्ध हुआ जाये?

जव तक उस मुक़ाम पर न पहुँच जाऊँ, तव तक मेरे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, दया, सहानुभूति, करुणा, प्रेम, खण्डित और अपूर्ण ही रहेंगे। ये सव संवेदन हैं, प्रवृत्तियाँ हैं जो पर-निर्भर हैं, इसी कारण द्वैत और विकल्प से ग्रस्त हैं। ये सव अहम्‌जन्य मन की उदात्त अवस्थाओं से अधिक नहीं। इनका प्रतिकल्प और प्रतिलोम कहीं है ही। ऐसा लगता है, कि मेरे इस ऊर्ध्वमुख संवेदन को ही, नितान्त ज्ञान हो जाना पड़ेगा। चरम सम्वेदन की परम परिणति पूर्णज्ञान में हुए विना रह नहीं सकती। सम्वेदन नहीं, शुद्ध आत्मवेदन चाहिये। वही आत्मज्ञान है। पूर्ण आत्मज्ञान विना, पूर्ण सर्वज्ञान सम्भव नहीं दीख रहा। 'मैं कौन हूँ?' का उत्तर, अनेक प्रसंगों में, और अनेक चेतना-स्तरों पर सम्यक् रूप से पाया है। पर क्या वह उत्तर मैं स्वयम् हो सका हूँ? तव तक कैसे कहूँ, कि ठीक जान गया हूँ, कि मैं कौन हूँ। मेरा आत्मवोध अभी दूसरों के साथ घटित होने पर निर्भर करता है, वह अकारण स्वतःस्फूर्त अखण्ड अनुभूति की लौ नहीं हो सका है।

…अभी कल तक भी, क्या श्रेणिक के साथ एक उद्‌वोधनात्मक प्रतिक्रिया में ही घटित नहीं हो रहा था? श्रेणिक, और उससे जुड़ी हैं चेलना, नन्दा, कोसला, क्षेमा, आम्रपाली, सालवती। उससे सम्वद्ध आर्यावर्त की सारी ही नगर-वधुएँ, दूर-दूरान्त के सारे देशों, द्वीपों, समुद्र-तटों की वे सुन्दरियाँ, कुमारियाँ, जिनके साथ श्रेणिक की आत्मा अन्तर्ग्रस्त है। अभय राजकुमार, अजातशत्रु, वर्षकार, वैशाली और मगध के वीच का संघर्ष, श्रेणिक का साम्राज्य-स्वप्न। तमाम समकालीन विश्व की जीवन-लीला, उसके वैपम्य, विसम्वाद, उसके युद्ध और संधियाँ, शान्तियाँ और अशान्तियाँ। उपग्रहों और विग्रहों के वेशुमार शाखाजाल। …श्रेणिक में हो कर, चेलना में हो कर, त्रिशला की वेदना में हो कर, इस सारी संसार-श्रृंखला से अभी कल तक जूझता रहा हूँ। अपने प्यार के मधुर रक्त-रसायन में डुवा-डुवा कर इस लोहे की साँकल को सोने की साँकल में रूपान्तरित किये विना जैसे मुझे चैन नहीं।

…पर देखता हूँ कि अलग-अलग कड़ियों के जुड़ाव से निर्मित यह संकलना जव तक साँकल है, तव तक वन्धन और अलगाव वना ही है। टकराव, भटकाव और उलझाव अन्तहीन रूप से जारी है। …और देख रहा हूँ कि सहसा ही, इस महारंगमंच के हम सारे ही अभिनेता, एक झटके के साथ नितान्त अकेले पड़ गये हैं। झनझना कर साँकल टूट पड़ी है। कड़ियाँ विखर कर अपने-अपने एकान्तों में जा पड़ी हैं, और छटपटा रही हैं। संवाद और सम्प्रेषण की सीमान्तिक खिड़कियाँ अचानक वन्द हो गई हैं। मन और इन्द्रियों ने जवाव दे दिया है। उन्होंने अपनी सीमा और हार स्वीकार कर ली है। एक गत्यवरोध के मानुपोत्तर पर्वत ने हमारी चेतना की राहें रूँध दी हैं। एकलता के इस महाशून्य तट पर हम सव, हाय, कितने-कितने-कितने अकेले हैं!

याद आ रहा है, षड्गमानि ग्राम के उपान्त भाग में उस दिन कायोत्सर्ग में प्रवेश करते ही, कैसी भयावह नियति की पदचाप समस्त आकाश-नाड़ी में ध्वनित सुनाई पड़ी थी। ···और फिर उस गोपाल ने जब शल्य द्वारा मेरा कर्णवेध किया, तो लगा कि मेरी चेतना में जो बहुत गहरे कहीं एक दरार छुपी थी, वह नग्न होकर सामने आ गई। उस महावेदना में, एकाएक मैं अवश चीत्कार उठा अपने बावजूद 'माँ'! संसार के प्रत्येक प्राणि और वस्तु का अनाथत्व उस में अनुगुंजित हो उठा। वह पुकार मानो कहीं अन्तिम शरण पा जाने के लिये थी। पर क्या वह शरण अपने से अन्य में और अन्यत्र कहीं सम्भव है? और वह चीख़ जैसे अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों को विदीर्ण कर गई। समस्त विश्वात्मा के हृदय में जैसे दरार पड़ गई। या कि वह दरार चिरकाल से वहाँ थी, और उस आघात से वह खुल कर सामने आ गई?

···बस, उसी क्षण मैं अन्तिम रूप से अकेला पड़ गया था। मानो अपने ही से बिछुड़ गया था। अपने ही ऊपर, कैसी दया, करुणा आ गई थी। मानो अपने ही लिये पहली बार रो उठा, और कहीं किसी माँ में शरण खोजी। पुकार उठा: 'ओ माँ, तुम कहाँ हो?' वह रोना नितान्त अपने ही लिये हो कर भी क्या सब के लिये नहीं था? क्या त्रिशला की विरह-वेदना उसमें नहीं थी? क्या चन्दना की भटकनें, खोज, संकट-संघर्ष, उच्चाटन, उसकी अन्तहीन पुकार का प्रतिकार उसमें नहीं था?

···ओह, लग उठा था कि हाय, कितना अनिश्चित, अरक्षित और घात्य है यहाँ हमारा अस्तित्व! रोग, शोक, जरा, वियोग, अकस्मात्, मृत्यु के चंगुल में ही हम प्रतिपल जीते हैं। क्या कोई ऐसा जीवन सम्भव नहीं, जिसके हम स्वामी हों, जिसमें क्षय, मृत्यु और वियोग मात्र हमारे अधीन अनिवार्य सज्ञान अवस्थाएँ हों? जिनमें से हम यों गुजर जायें, जैसे ऊपर की मंज़िल में चढ़ने के लिये, हमें निचली मंज़िल को पीछे छोड़ देना होता है।

···सिद्धार्थ वणिक और खरक वैद्य द्वारा शल्य-मुक्ति पा कर जब चला, तो कितना अकेला पाया था अपने को मगध की राह पर। बिछोह की उस अनुभूति को, किसी भी मानवीय वियोग के परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता। 'माँ' की अवश पुकार जब 'आत्···मा' में प्रतिध्वनित हुई, तब भी क्या खोज उस एकमेव माँ और रमणी की ही नहीं थी, जिसकी गोद में ही परम विश्राम और मुक्ति सम्भव है?

◆ ◆ ◆

···और मैं चेलना के देश चला आया। और तब क्या नहीं दिया मुझे चेलना ने? संसार में उससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है? प्रीति और आत्मार्पण की उस यज्ञशिखा से अधिक सुन्दर और कौन चेहरा हो सकता है? आत्मा की चरम विरह-व्यथा से विदग्ध वह दर्दीली मुख-मुद्रा! ···पर हाय, फिर भी क्या चेलना मुझ में सम्पूर्ण आ सकी, या मैं उसमें सम्पूर्ण जा सका?

क्या वह मैं हो सकी, या मैं वह हो सका? ...अन्तिम विछोह के तट पर, कितने विवश अपने में वन्द, मूक, हम एक-दूसरे को ताकते रह गये! तलछट तक एक-दूसरे को जानकर भी, कैसे घोर अज्ञान के पहचानहीन अँधियारे समुद्र में हम छूट गये। तूफ़ानी लहरों में डूबते मस्तूलों-से हम एक-दूसरे की नज़रों से ओझल होते चले गये।...

श्रेणिक भी एक और निमित्त वना, अपनी पहचान के संघर्ष का। मगध में मेरे यों निश्चल खड़े रहते, उसे अपने अस्तित्व के अहम् को टिकाये रखना अशक्य हो गया। और मैं मनुष्य के उस चरम अहम् से जूझे विना अपने आत्म के ध्रुव पर कैसे आरूढ़ हो सकता था। मानो कि श्रेणिक मेरी कसौटी था। मानो कि वह मेरी सत्ता के माप का मेरुदण्ड था। और उस पर अपने अनन्त को सिद्ध किये विना मैं जैसे अपनी आत्मा का चेहरा अनवगुण्ठित नहीं कर सकता था। मानो कि श्रेणिक से निवृत्त हुए विना, उसे उद्वोधे और उवारे विना, जैसे मैं स्वयम् आप नहीं हो सकता था। सो अन्त तक उसे सम्वोधन किया, सव को सम्वोधन किया।

...और अचानक पाया कि संवाद-सम्प्रेषण की खिड़कियाँ धड़ाम् से एकाएक वन्द हो गयी हैं। हम सव अपने-अपने में लौट गये हैं। एक आदिम अन्धकार के समुद्र में कीलित, दूर-दूर पर छिटके अनेक द्वीप, जो अपने ही भीतर की ख़न्दकों में अवरुद्ध हैं।

...जगत, जीवन, वस्तु, व्यक्ति, सव के साथ अव तक जिस चेतना-स्तर पर सम्प्रेपण और सम्वाद सम्भव था, वह अव पीछे छूट गया है। वहाँ लौटना अव सम्भव नहीं। वहाँ गत्यवरोध और कुण्ठा की आख़िरी चट्टान सामने आ गई, तभी तो वहाँ से उच्चाटित और उत्क्रान्त हो जाना पड़ा। अव इस एकलता के सीमाहीन शून्य में, किसी नये क्षितिज की कोर देखने को प्रतिक्षण छटपटा रहा हूँ। अपनी पिछली पहचान हाथ से निकल चुकी है। और अगली पहचान अव मैं नहीं खोज रहा। क्या कोई एकमेव और अविकल पहचान मेरी नहीं? वह जव तक हाथ में न आ जाये, तव तक कैसे जान सकता हूँ, कि 'मैं कौन हूँ?' और जव तक अपने ही को अन्तिम परिप्रेक्ष्य में न जान लूँ, तव तक औरों को अन्तिम रूप से जान लेने का दावा कैसे कर सकता हूँ।

...जहाँ आज खिड़कियाँ वन्द हो गई हैं, क्या उससे आगे वस्तुओं और व्यक्तियों पर कोई ऐसा सम्पूर्ण मण्डलाकार वातायन नहीं खुल सकता, कि जिसके तट पर मैं उनके भीतर अवाध संक्रमण और अतिक्रमण करूँ, और वे मेरे भीतर वेरोक और अनाहत भाव से आलिंगित होते चले आयें। '...मैं हूँ, और वे हैं। मैं कौन हूँ, वे कौन हैं? उनसे मेरा क्या सम्वन्ध है? उन्हें मैं कैसे पूर्ण जानूँ, पूर्ण प्राप्त कर लूँ? कैसे उनसे अनिवार तदाकार हो रहूँ? कैसे मैं वे हो

जाऊँ, वे मैं हो जायें?'—ये सारे विकल्प जहाँ समाप्त हो जायें। बस, केवल विशुद्ध स्व-भाव में ऊर्मिल वह समुद्रानुभूति रह जाये, जिसमें तरंग का समुद्रत्व और समुद्र का तरंगत्व स्वतः ही निर्णीत होता रहे। जहाँ स्व-पर, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य से परे, स्वायत्त सत्ता में सारे अस्तित्व आप ही प्रबुद्ध, परिभाषित, सहज सम्बन्धित होते रहें। जहाँ आत्म-सम्वेदन और आत्म-ज्ञान, पर-संवेदन और पर-ज्ञान भी, उस एकमेव ज्ञानानुभूति में लौ-लीन हो जाये, जहाँ अलग से जानना और अनुभव करना तक अनावश्यक हो जाये।

ऐसा लग रहा है, कि एक बार सत्ता की उस शुद्ध पारिणामिक स्थिति में आत्मोत्तीर्ण हुए बिना, आत्मा और पदार्थ, जीवन और जगत के साथ वह सम्प्रेषण और सम्वाद सम्भव नहीं, जिसे पाये बिना मुझे विराम नहीं। जिसके बिना मानो मैं एक सत्ताहीन शून्य के तट पर, सदा के लिये जैसे निर्वासित हो गया हूँ। जिसके बिना अब क्षण भर भी सत्ता में मेरा ठहराव सम्भव नहीं।

क्या यह एकाकीपन ही मेरी और सब की अन्तिम नियति है? या कोई ऐसा एकत्व भी कहीं सम्भव है, जहाँ अलगाव नहीं, बिछोह नहीं? यहाँ तो ज्ञान तक एक पारदर्श स्फटिक की महीन किन्तु अभेद्य दीवार बन कर, हम सबको असंख्य कोणों, आयामों, आकारों में खण्डित, विभाजित कर छोड़ता है। क्या कहीं कोई ऐसा सामरस्य सम्भव है, एक ऐसा अगाध और अकथ मिलन-सुख, मैथुन-सुख, जिसमें प्रतिक्षण द्वैत अद्वैत और अद्वैत द्वैत होता रहता है? जिसमें एक में अनेक और अनेक में एक का लीला-खेल अविनाभावी भाव से चलता रहता है। जहाँ एक ही अन्तर-मुहूर्त में पूर्णज्ञान ही पूर्ण सम्वेदन, और पूर्ण सम्वेदन ही पूर्ण ज्ञान होता रहता है।

...असीम परिणमन के समुद्र पर एक अकम्प लौ, जिसमें सारा समुद्र अपनी अनन्त वासना के साथ निरन्तर एकाग्र आलोड़ित है।

◆ ◆ ◆

देखता हूँ, कि एक अनुप्रेक्षण मेरे भीतर चल रहा है। लगता है कि यह संसार मानो एक विशाल करण्डक की तरह मेरे सामने उपस्थित है। इसकी परस्पर बुनी-गुंथी तीलियाँ अपने ही आपको धोखा दे गई हैं। और मेरी नासाग्र दृष्टि के भेदन से वे छिन्न-भिन्न हो कर इस करण्डक के सारे गोपित उलझावों और रहस्यों का पर्दा फ़ाश कर देना चाहती हैं। ...और यह संसार मेरे सम्मुख यों खुल रहा है, मानो हर पिटारी के भीतर से एक और बन्द पिटारी निकल कर सामने आ जाती है। पिटारी के भीतर पिटारी, पिटारी के भीतर पिटारी, एक और...एक और...एक और पिटारी। बचपन में माँ की कही एक कहानी में, ऐसी ही एक आदि वृद्ध बुढ़िया की रहस्यमयी महा पिटारी की बात आती थी। हर दिन वह बुढ़िया पिटारी में से एक और पिटारी निकाल कर उसके तिलस्मों

का वर्णन करते न थकती थी। और आखिर हर पिटारी का तिलस्म औचक ही टूट जाता था, और बुढ़िया हाय-हाय कर विलाप करने लगती थी। मुझे उसके साथ कैसी हमदर्दी और असह्य सहवेदना अनुभव होती थी!…

आज उसी महा करण्डक की कथा, मेरे लिये सत्यान्वेषण का एक माध्यम बन गयी है। और इस जगत के मोहक इन्द्रजाल एक-एक कर बुढ़िया के उन तिलस्मों की तरह टूट रहे हैं। इस हद तक, कि अपने इस द्रष्टा को ठहराने के लिये हर उपलब्ध पृथ्वी छोटी पड़ रही है। ठहराव का हर पटल हाथ से निकला जा रहा है। …कहाँ, कितनी दूर है वह ध्रुव, जिस पर अविचल रूप से टिका जा सके, अवस्थित हुआ जा सके। कहीं कोई ध्रुव है भी, या नहीं?

और अतिक्रमण की इस प्रक्रिया के दौरान, सहसा ही जैसे परिप्रेक्षण की एक नयी दृष्टि किसी अदृष्ट में से उतर आई कुंजी की तरह मेरे सामने तैर आई है।…

स्पष्ट प्रतिबोध पाया कि अब तक मैं किसी आत्मा को पूर्व-स्थापित कर, उसी के चश्मे से अस्तित्व को देखता था, और उसकी एक मूलगत व्याख्या करता चला जाता था। तत्व से आरम्भ करके अस्तित्व तक जाता था। अपने ही आत्म में अवस्थित हो कर, अस्तित्व की सारी विषमता, जटिलता और त्रासदी को व्यर्थ कर देता था। तत्व में अस्तित्व को निर्वापित कर, मानो उससे पलायन कर जाता था। शायद यही कारण हो कि अस्तित्व के विराट् अनेकत्व और वैविध्य के साथ अचानक, पराकाष्ठा पर पहुँच कर, मेरा संवाद भंग हो गया है। जीवन्त अस्तित्व को, उसके दुःखों, संघर्षों, सन्त्रासों, विसम्वादों सहित अणु-प्रति-अणु, कोण-प्रति-कोण, जिये-भोगे अवगाहे—जाने बिना, उसके साथ अनैकान्तिक तत्व को कैसे समग्र आश्लेपित किया जा सकता है?

इस सीमाहीन अस्तित्व को, इसकी नानामुखी विराट् त्रासदी के साथ, समूचा साक्षात् करना होगा। इसे तत्व में विसर्जित किये बिना, इसके बहुत्व और वैषम्य को ज्यों का त्यों, जैसा वस्तुतः सामने है, वैसा देखना, भोगना और जानना होगा। इसकी भयावहता और त्रासदी का बेशर्त, निर्विकल्प मुक़ाबिला करना होगा। इसे अपनी धारणाओं से व्याख्यायित नहीं करना होगा, निर्विचार और निःसंग संचेतना से इसके साथ टकराना होगा। नहीं, न अस्तित्व का कोई वाद बनाना होगा, न तत्व का। निर्विवाद और निर्विकल्प वस्तु-स्थिति जो, जैसी सामने आ रही है, जैसी वह उपलब्ध है, उसी में अपने को घटित देखना और समझना होगा। अपने को पूरा जानने और पाने के लिये, सर्व के साथ सम्पूर्ण उलझाव अनिवार्य है।…

…और इस प्रकाण्ड बिल्लौरी करण्डक का रंगीन तिलस्मी पर्दा, विपल मात्र में चरचरा कर जीर्ण वस्त्र की तरह फट गया। …और देख रहा हूँ, कि यहाँ
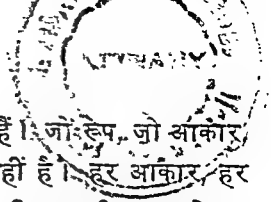
के ये सारे रूपाकार प्रतिक्षण विनाश से ग्रस्त हैं। जो रूप, जो आकार, जो चेहरा पिछले क्षण सामने था, वही अगले क्षण नहीं है। हर आकार, हर चेहरा अपने को धोखा देता चला जा रहा है। अपना ही यह शरीर, यह चेहरा अपना नहीं है, अपने वश में नहीं है। एक विभ्राट अनित्यत्व में ही यह सारा खेल चल रहा है।

याद आ रहे हैं, वेशुमार परिचित आत्मीय चेहरे। जाने कितनी व्यक्तियों, वस्तुओं के समास से बने महल, मकान, मुक़ाम, जिनमें हम अपना घर खोजते हैं, जिनमें लौट कर विराम–विश्राम पाने की भ्रांति में होते हैं। पर वे सब अपने ही साथ घर पर नहीं हैं, एक मुक़ाम पर नहीं हैं। वे प्रतिक्षण परिवर्तमान् हैं। अपनी किसी एकमेव इयत्ता से वे स्वयम् ही अनजान हैं। उनमें घर, सुरक्षा या आश्वासन कैसे पाया जा सकता है? जो घर स्वयम् ही अपना नहीं है, अपने में नहीं है, उसमें अपने लिये घर कैसे पाया जा सकता है?

याद आ रहा है अपना वह बालक, वह किशोर, जो खेलते-खेलते अचानक अटक जाता था। खेल से उसका मन उचट जाता था। खेल से छिटक कर वह बाहर खड़ा हो जाता था। खेल में आनन्द लेना उसके लिये अशक्य हो जाता था।… सो उससे पीठ फेर कर, उदास मुँह लटकाये, वह दिशाहीन राह पर भाग खड़ा होता था। और वह मन ही मन काँप उठता था : '…आह, खेल, जो एक दिन अचानक रुक जायेगा। खेल के साथी, जो अभी हैं, वे कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे, और फिर कभी न दिखायी पड़ेंगे। …और याद आता है हिरण्यवती पार का वह सल्लकी-वन, वह खेल का प्रांगण, जो अब सूना, उदास, नीरव पड़ा होगा। …खेल जो अभी खेला है, वह फिर नहीं लौटेगा। वही लड़के-लड़कियाँ नहीं लौटेंगे, जो कल खेल में साथ थे।…'

नन्द्यावर्त में नव-आयोजित सरस्वती-भवन में कभी कुछ सीखने या करने को जी न चाहा। वातायन और गैलरी पर खड़े हो कर. बादलों में उठते नवनवीन महलों की जादुई भीतरिमाओं में अपने स्वप्न का सौन्दर्य खोजता था, अपना मनचाहा चेहरा और संगी टोहता था।…और देखते-देखते पाता था, कि नव-नव्य महलों की वह सौन्दर्य-माया जाने कहाँ तिरोहित हो गयी है। …नील शून्य के अथाह में अकेला छूट गया हूँ। नन्द्यावर्त की वह गैलरी मानो वहाँ से कट कर, जाने किसी अज्ञात तट के कोहरे में विलुप्त हो गई है । कोई घर कहीं पीछे नहीं छूटा है, जहाँ लौटा जा सके ।

…ठीक आँख के सामने सिरा जाते अनेक माता-पिता देखता था। कितनी माँओं की ममताली ऊष्म गोदियाँ जल-बुद्बुद् की तरह विलीन होती दीखती थीं। तब अपनी ही माँ की वे कमनीय सुन्दर भरी-भरी बाँहें, उसकी वह अथाह गोद, उसमें गोपित वह सुरक्षा और शरण सब जैसे वर्फ़ के निर्जन निचाट, सपाट

मैदान हो रहते थे, जहाँ दिगन्तों तक किसी के होने का कोई निशान नहीं,कोई अहसास नहीं। तब कितना अकेला उदास हो कर अपने उस स्फटिक कक्ष के नैर्जन्य में घंटों-पहरों बन्द हो रहता था। प्राण काँद-काँद उठते थे। रो कर भी जैसे उस वेदना से मुक्ति नहीं। क्यों कि कौन, किसके लिये रोये, क्यों रोये? आखिर कोई एक, अविचल, अक्षुण्ण कुछ हो तब न? विरह भी किसका, जब किसी के होने का कोई निश्चय नहीं, प्रतीति नहीं।···

···फिर भी जीवन का खेल खेलने को विवश तो था ही। महलों की सुख-शैया से उच्चाटित हो कर वीरानों, पर्वतों, जंगलों, नदियों के प्रवाहों पर क्या खोजता फिरता था? शायद यही, कि क्या विविध रूप-आकारों के इस नाना रंगी जगत् में कोई ऐसी आकृति, ऐसा चेहरा, ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे अन्तिम रूप से अपना कहा जा सके?

अनोमा-तट के शालवन की वह बालिका शालिनी, उस क्षण कितनी सत्य लगी थी? और फिर विराट् विन्ध्यारण्य में, मानो शाश्वत विन्ध्याचल में से ही आविर्भूत हो गई, वह प्रकृत बाला काली मिली थी। पर्वत की चट्टान के भीतर से अपना सुकठिन वक्षालिंगन उसने मुझे अनुभव कराया। पर क्या उसका वह मिलन किसी नित्यत्व की अनुभूति करा सका?

···उस दिन अचानक चन्दना कैसी विकल साध लेकर मुझ से मिलने नवम् खण्ड के कक्ष में आई थी। उसे सम्मुख पा कर कैसे शाश्वत् सौन्दर्य के साक्षात्कार की अनुभूति हुई थी। लेकिन वह चन्दना क्या स्वयम् अपनी भी रह सकी, अपने ही साथ अपने घर ठहर सकी? भटकती ही चली गई वह, उस वर्द्धमान की खोज में, जो स्वयम् ही अपने आप से नाता तोड़, जाने किस 'आत्म' की खोज में अभिनिष्क्रमण कर गया था, जिसे वह जान कर भी जानता नहीं था। जिस वर्द्धमान को स्वयम् ही अनेक विनाशों और मौतों से जूझते चले जाना पड़ा, अपने को रखने और पाने के लिये।

···और कहाँ-कहाँ न भटकी वह चन्दना? कैसे-कैसे कष्ट उसने झेले। क्या मैं उसका साथ दे सका? क्या वह मेरा पीछा कर मुझे पकड़ सकी? और फिर कौशाम्बी की उस हवेली के तलघर की देहरी पर, बेड़ियों जकड़े पैरोंवाली उस वन्दिनी चन्दना से साक्षात् हुआ था। उसका वह बाला-सौन्दर्य जाने कहाँ खो चुका था। उसका वह आम्रपाली के केशकलाप को भी लज्जित कर देनेवाला केश-वैभव कहाँ चला गया था। मुण्डिता, दासी, वन्दिनी, विवश, लाचार, भूखी-प्यासी, उस अतिथि की प्रतीक्षा में आकुल, जो आया भी, तो बेड़ियाँ भले ही टूटी हों, स्वर्ग से मणि-मुक्ता भले ही बरसे हों,—पर वह अतिथि क्या रुक सका? क्या वह चन्दना को और भी बड़े और चरम विरह का आघात देकर, उससे पीठ न फेर गया? क्या उसकी पुकार को अनुत्तरित छोड़, वह अपनी राह पर एकाकी पलायन न कर गया?

कितना न प्यार मेरे जीवन में आया। माँ और पिता की वैभव और ऊष्मा से लचकती गोदियाँ। शालिनी, काली, चन्दना, चेलना, आम्रपाली, श्रेणिक, ...ओह याद आया, अभिन्न लगता मित्र सोमेश्वर, और वह निरी विदेहिनी आत्मा लगती सुकोमला बाला वैनतेयी। और वे आर्यावर्त की चुनिन्दा श्रेष्ठ सुन्दरियाँ, जिन्होंने अपने अंग-अंग से, मेरे अंग-अंग और अणु-अणु को दुलराया। जिनके लावण्य और यौवन ने मुझे चारों ओर से ढाँप कर, मेरे समूचे अस्तित्व को उमड़-उमड़ कर पिया और कृतार्थ किया। कितने सुन्दर ममताविल मुखड़े, कितनी बलायें लेती बाँहें, ओवारने लेते आँचल, मुझे बांधने को मचलती कितनी परस-कातर भुजाएँ, उफनाती गोदियाँ। प्यार और सौन्दर्य के कितने समुद्र मेरे चारों ओर उमड़े। पर...पर...कहाँ है आज वह सारा वैभव ? वे सारे प्यार, सौन्दर्य, कोमलताएँ—मेरे हाथों की अँजुलियों में से आरपार बह जाती लहरों की तरह, काल के जाने किन अज्ञात तटों में जा कर विलीन हो गये।

...कितने रूप, आकार, मुखड़े, यौवन से प्रदीप्त चेहरे, कितने आत्मीय परिचित व्यक्तित्व। कितने वैभव, ऊष्माभरे महल, नगर, साम्राज्य, सत्ताएँ। महाकाल के समुद्र पर भव्य तरंग-मालाओं की तरह उठे, और विलीन हो गये। कल तक जो दिखाई देता था, वह आज कहीं नहीं है, फिर कभी न दीखेगा। और हम शायद उसे भूल भी जायेंगे।

तो क्या रूप-नाम-वैविध्य, आकार-प्रकार का यह जगत कोई अस्तित्व नहीं रखता ? क्या इन बदलती रूप-पर्यायों का कोई अर्थ नहीं, अभिप्राय नहीं, कोई सार्थकता नहीं ? ...किन्तु जब ये आविर्भान होते हैं, अनेक सम्बन्धों में घटित होते हैं, तो इनकी कोई मौलिक सत्ता तो होनी ही चाहिये। इनका प्रकट होना ही अपने आप में, इनका अर्थ और प्रयोजन सूचित करता है। तो निश्चय ही कोई सत् पदार्थ होना चाहिये। कोई सन्दर्भ, कोई परिप्रेक्ष्य, कोई स्रोत होना चाहिये, जहाँ से ये आते हैं, और जिसमें फिर पर्यवसान पा जाते हैं। कोई ऐसा शाश्वत, नित्य आयतन-आधार होना चाहिये, जिसमें ये उठते और मिटते हैं। क्या वह मूल द्रव्य, वह पदार्थ, वह सत्ता ध्रुव नहीं, जिसमें से ये सारी पर्यायें सम्भव होती हैं ? अनन्त-सम्भव द्रव्य यदि सत् है, नित्य है, तो ये पर्यायें भी क्या अपने सारे परिवर्तनों के बावजूद, अपने घटित होने के भाव और अर्थ-प्रवाह में कोई शाश्वत अभिप्राय नहीं रखतीं ?

प्रतीति हो रही है, कि सत्ता अपने उत्पाद और व्ययात्मक परिणमन में अनित्य होते हुए भी, अपने किसी ध्रुवत्व में नित्य भी है। वह नित्य भी है, अनित्य भी है। नित्यानित्य हो कर—इन दोनों से परे, बस, वह केवल है। और उस नितान्त होने में—क्या त्रिशला, वैनतेयी, चन्दना, चेलना, सोमेश्वर—हर सम्भाव्य व्यक्ति और सम्बन्ध, अपनी भाव-सत्ता में, अर्थवत्ता में नित्य सार्थक नहीं है ? निश्चय ही है। पर यदि अन्यथा कुछ है, तो उसका भी मुझे प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना होगा। □□

मन के पार जाना होगा

श्रुतिज्ञान और अवधिज्ञान लेकर जन्मा था। सारे शास्त्र मुझ में कमल-दल की तरह खुलते रहते थे। और देश-काल में अवधि वाँध कर, वहाँ के हर लक्षित व्यक्ति, वस्तु, घटना, स्थिति, सम्वन्ध का मनचाहा ज्ञान पा लेता था। मानो कि किसी तीसरी आँख से वहुआयामी विश्व-घटना को अभीष्ट खण्डों में देख लेता था। यह अलग वात है, कि उसका उपयोग करने की कोई इच्छा मुझ में नहीं थी। जव अनिवार्य होता था कुछ जानना, तो भ्रूमध्य में एक लौ-सी उजल उठती थी, और उसमें लक्षित दृश्य झलक उठता था। वर्ना तो जीवन के हर व्यवहार में, अपनी एकाग्र आत्मिक ऊर्जा के साथ ही प्रवृत्त रहता था। अपने सम्वेदन से ही हर कुछ के साथ सम्पृक्त होना चाहता था।

…फिर जव ज्ञातृखण्ड उद्यान में अनायास दिगम्वर हो गया, तो मेरी महाव्रती प्रतिज्ञा की असि-नोक पर सहसा ही मेरी चेतना मनःपर्ययज्ञान से भास्वर हो उठी। …मनुष्य लोक में विद्यमान तमाम पर्याप्त और व्यक्त मन-वाले पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भाव मेरी अन्तश्चेतना में प्रत्यक्ष हो उठे। मैं मन-मनान्तरों का प्रवासी हो गया।…

फिर कटपूतना के हिमपात-उपसर्ग के समापन में मुझे एकाएक लोकावधि ज्ञान उपलव्ध हुआ। …मानो किसी कल्पवासी देव के स्वर्गिक विमान की कर्णिका पर खड़ा हूँ, और लोक में जहाँ तक चाहूँ देख सकता हूँ।…

इतनी वड़ी ज्ञान-सम्पदा का स्वामी मैं, भले ही सारे तनों और मनों को पर्त-पर्त में देख सकता हूँ, पर उनके साथ तद्रूप नहीं हो सकता। उनकी आत्मा में आत्मा उँड़ेल कर भी पाया है, कि मेरी आत्मा उस आत्मा का उत्तर वनने में विफल रही है। वार-वार लगा है, कि मेरी गहराई ने मेरे प्रियपात्र की गहराई में अवगाहन किया है। …लेकिन देखता हूँ, कि गहराई अपनी जगह है, और हम दोनों उसके विरोधी किनारों पर छिटके, विछुड़े खड़े रह गये हैं। …जव तक यह विछुड़न है, तव तक इस ज्ञान का क्या उपयोग ? नहीं, यह काफ़ी नहीं है। मुझे आगे जाना होगा। और मैं अपने भीतर की ओर, जैसे तेज़ी से अभियान कर गया। …वाहर जहाँ चाहूँ, तत्काल पहोंच जाने के लिये। हर स्थिति का साक्षी होने के लिये।

◆ ◆ ◆

…और देखता हूँ कि एक जीर्ण हवेली के, किसी एकान्त कक्ष में उपस्थित हूँ-। सारे कमरे में एक ध्वंस की मौन छाया फैली है। मीना-खचित दीवारों पर धूल जमी है, वे तड़क गई हैं। छत की मध्यवर्ती विशाल झूमर दीपक-हीन और म्लान टँगी है। एक मर्मर के भग्न दीपाधार पर साधारण तैल-दीप जल रहा है। उसकी मद्धिम रोशनी में दिखाई पड़ा : कोने के टूटे पलँग पर एक तन्वंगी रोगिणी लेटी है। क्षयी चाँद की अन्तिम कला की तरह पाण्डुर। उसके सिरहाने उसका पति सिर झुकाये चुप बैठा है। उसकी आँखें एकटक रोगिणी की आँखों में लगी हैं। …एकाएक विह्वल हो कर उसने अपना माथा रोगिणी की छाती पर ढाल देना चाहा।

'नहीं…नहीं स्वामी,… नहीं!'

'उत्पला, और मैं कहाँ जाऊँ?'

'वह अब कहाँ? मैं अब कहाँ?…'

'यहीं हो न, मेरी बाँहों में?'

'नहीं, उनसे बाहर हूँ। सारे जगत से बाहर हूँ। एकदम अकेली हूँ…!'

'चुप-चुप, चुप करो उत्पला, मुझे शरण दो इस छाती में।…'

'जो छाती ही क्षण भर बाद रहने वाली नहीं है, उसमें शरण खोज रहे रहो, सागर?'

रोगिणी की आवाज़ आँसुओं में डूब गई।

'वह छाती नहीं रहेगी, जिसके लिये मैंने सारे जगत से मुँह मोड़ लिया? …याद करो उत्पला, वह पहला दिन। उज्जयिनी में उस दिन अपने द्वार-पौर में तुम चौखट पर सर ढाले खड़ी थीं। तब तुम्हारे आँचल और कंचुकी से झाँकती जो वक्ष-कोर देखी थी, क्या वह नहीं रहेगी? ऐसा हो नहीं सकता। उस कोर तले जो उभार और गहराव छुपा देखा था, उसमें सर ढालने को मैं उस क्षण पागल हो गया था। लगा था, इस छाती को प्राप्त किये बिना जिया नहीं जा सकता।…

'व्यवसाय के लिये उज्जयिनी आया था, वह भूल गया। माँ-बाप की सुधबुध खो गई। पास का सहस्रों सुवर्ण द्रव्य उज्जयिनी की गलियों में बह गया। बरस पर बरस बीतते चले, पर तुम्हारी चितवन मेरी ओर न उठी। मैं तुम्हारा हृदय न जीत पाया। …लेकिन जब पहली ही बार तुम्हारी निगाह मेरी ओर उठी, तो लौट न सकी। …तुम मानो उसी दिन अपने पिता के वैभव-महल की सीढ़ियाँ उतर गईं। …निपट एक-वस्त्रा करके तुम्हारे पिता ने तुम्हें निकाल बाहर किया। और तुम मेरे पीछे चली आईं। हमने गान्धर्व विवाह किया। और पहली रात जब तुम्हारी उस वक्ष-कोर पर सर ढाला तो लगा—कि हाय, परम शरणाधाम है यह छाती। मेरा एक मात्र अभीष्ट मोक्ष। …उस मोक्ष में ही तो इस क्षण तक जीता रहा हूँ, उत्पला!

'लेकिन जब मुद्दतों बाद तुम्हें लेकर चम्पा लौटा, तो माता-पिता मर चुके थे। हवेली ध्वस्त-परित्यक्त पड़ी थी। नगर-जनों ने मुझे पहचानने तक से इनकार कर दिया। ···खैर, आखिर किसी तरह हमने हवेली में प्रवेश पाया। धूल-जालों से ढका मेरा पैतृक ऐश्वर्य ध्वंस के ढेर-सा पड़ा था। इसी विनाश के बीच हमने अपने प्यार का पलँग बिछाया। तुम्हारी इस वक्ष-कोर से क्षण-भर भी दूर रहना मुझे सदा असह्य रहा। ···वह वक्ष नहीं रहेगा? हो नहीं सकता, उत्पला!'

'हो गया देवता! सामने आना बाक़ी है। ···उस वक्ष को राजयक्ष्मा हो गया, सागरसेन! उसमें छिद्र पड़ गये। उसमें जन्तु लग गये। वह जन्तुओं का खाद्य हो गया। और अब हड्डियों की राख···'

'ओह उत्पला, मेरी शरण, मेरी मोक्ष! ऐसा न कहो। सहन नहीं होता।'

'सच ही तो कह रही हूँ। किसी भी क्षण अब यह शरीर छूट सकता है, सागर! यह मेरा ही शरण नहीं, मोक्ष नहीं, तो तुम्हारा कैसे हो सकता है? ···नहीं मुझसे नहीं सहा जाता। हटा लो सर। तुम्हारे सर को झूठ में पड़ा नहीं देख सकती!'

'नहीं, यह मेरे लिये झूठ नहीं। ···लाओ, लाओ, लाओ मेरी छाती मुझे दो, पल्ली!'

सागरसेन उद्भ्रान्त विह्वल हो कर उस अस्थिशेष वक्ष में आलोड़ित होने लगा। उत्पला को उत्कट खाँसी का दौरा पड़ा। उसने ढेर सारा खून उगल दिया। वह मृतवत् ढलक पड़ी। कुछ क्षणों बाद बहुत क्षीण कंठ से वह बोली :

'देखो, यह है तुम्हारा प्यारा वक्ष। यह दुर्गन्धित सड़े रक्त का ढेर!'

और उसकी मुंदी आँखों से आँसू चूते आये।

'पल्ली, तुम इससे अधिक हो मेरे लिये। इससे अतिरिक्त बहुत कुछ हो।···'

'छाती खाली हो गई, सागर! खोखल! आह, साँस···साँस···'

और उत्पला पर भयंकर श्वास का आक्रमण। अन्तिम साँसें।

'अरिहन्त···अरिहन्त···हंसः···हंसः··! सागर, अपने में सुखी रहना।··· श श···शरण···मो मो···मोक्ष केवल वहीं है।···मैं चली, सागर!···'

सहसा ही दीप निर्वाण हो गया। और उस अँधेरे में हंस पलायन कर गया।

चीख़ कर सागरसेन शव के वक्ष से लिपट गया, और उस पर सर रगड़-रगड़ कर रोने लगा।

'मैं भी आया पल्ली, इसी छाती पर सर ढाले तुम्हारी चिता में तुम्हारे साथ जलूंगा।...'

...और हठात् उस अँधियारे कोने में से सुनाई पड़ा :

'किसके साथ जलोगे चिता पर? उत्पला वहाँ नहीं होगी। लाश की छाती पर जलोगे? लाश, जिसकी नियति सिर्फ़ ख़ाक़ हो जाना है। वुज्झह, वुज्झह, सागरसेन!'

'मुझे मेरी उत्पला चाहिये!'

'उस रूप में अब वह नहीं मिल सकती।'

'तुम कौन हो?'

'तुम्हारी आत्मा! महावीर!'

'भगवन्, आप यहाँ? कौन्...कैसे...?'

'प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या!'

'भन्ते, क्या उत्पला की आत्मा में मैं जा नहीं सकता?'

'महावीर स्वयम् अपने से यह प्रश्न पूछ रहा है!'

'भगवन्, त्रिलोकीनाथ, आप कहीं कैसे अटक सकते हैं?'

'अटका हूँ, तुम्हारी आत्मा के द्वार पर। और कितना चाहता हूँ, कि मैं तुम्हारा सम्वेदन बन जाऊँ, तुम्हारी आत्मा बन जाऊँ, उत्पला की आत्मा बन जाऊँ। और तुम दोनों मेरे भीतर दो जोतों की तरह आलिंगित हो जाओ। लेकिन...'

'भगवन्, आप और लेकिन?'

'देख रहा हूँ, जानने-समझने से आगे तुम्हारे भीतर मेरी गति नहीं है, सागर! एक पूर्ण सहानुभूति है। समवेदन है। लेकिन अन्तर्वेदन नहीं...। तुम्हारे भीतर वेदन नहीं कर सकता। तुम्हारे साथ तुम्हारे भीतर मैं सहन नहीं कर सकता। हम सब अलग-अलग। अकेले। असंख्य द्वीप आत्माओं के। बीच में है केवल ज्ञान का जल। अज्ञान के अँधेरे से ढँका हुआ। ज्ञान की इन लहरों में हम एक-दूसरे को आरपार देख सकते हैं। पर एक-दूसरे में आरपार तदाकार नहीं हो सकते।

'कोई किसी का शरण, आधार नहीं हो सकता यहाँ, सागर! स्वयम्-शरण ही एकमात्र नियति है, सत्य है।...'

'लेकिन...'

'महावीर, और फिर लेकिन?'

'मैं आगे जाना चाहता हूँ, सागर! ज्ञान से आगे है, महाभाव संवेदन, आत्म-वेदन। ऐसी सहानुभूति, जो परस्पर एक-दूसरे की आत्मानुभूति हो जाये।'

'धन्य, धन्य, भगवान्!'

'मैं ज्ञानातीत एकत्व की महाभाव सत्ता में जाना चाहता हूँ। भिन्न ही नहीं है, अभिन्न भी है। द्वैत ही नहीं, अद्वैत भी है।…'

'शाश्वत वर्द्धमान हैं आप, भगवन्, शाश्वत विद्यमान। आप किसी पिछली मर्यादा पर नहीं रुके। शाश्वत प्रगतिशील। निरन्तर नव्य-नूतन।…'

'उत्पला कहीं गई नहीं है, सागर! आओ मेरे साथ, उस तट पर ले चलूँगा, जहाँ उत्पला तुम्हें उसी प्रथम दर्शन के रूप में मिलेगी!…'

'भन्ते, भन्ते, भन्ते … मैं अनुगामी हुआ।'

'नहीं, अकेले विचरो। तुम्हें अपने ही रास्ते आना होगा। उस तट पर मिलेंगे।'

…और लौटते हुए अपने पीछे मैंने सागरसेन को अत्यन्त शरणहारा देखा। अशरण, एकाकी, स्मशान की अकेली चिता। सागरसेन।

'हाँ, इसी चिता की राह आगे बढ़ना होगा, सागर! हड्डियों के जंगल से गुज़रना होगा। रक्त-धमनियों के अन्धकार भेदने होंगे। उस किनारे पर पहुँचने के लिये।'

…और मैंने देखा, सागरसेन उत्पला की चिता पर चढ़ कर, मेरे पीछे चला आ रहा है।

◆ ◆ ◆

और भी देखना चाहता हूँ।…मेरी ज्ञानोर्जा में एक ऐसा हिल्लोलन हुआ, कि जैसे देहपात हो गया हो। और मानो एक और ही देह में उत्तीर्ण हो, महानगरी काशी के राजमार्ग को पार रहा हूँ। एक ओर एक विशाल अट्टालिका के पौर-प्रांगण में दीपों से जगमगाता भव्य रंगमंच शोभित है। वाजित्रों के घोष से सारा नगर धमधमा रहा है। वस्त्र-अलंकारों में सजी अनेक रमणियाँ गीत गा रही हैं। कहीं सुरापान की गोष्ठियों में वारांगनाएँ नाच रही हैं। श्रेष्ठी मदनदत्त के पुत्र का विवाहोत्सव हो रहा है।

…मार्ग के दूसरी ओर एक छोटे-से मकान के आगे, कई स्त्रियाँ गोल बाँधकर बैठी हैं, और विलाप करती हुई छातियाँ पीट रही हैं। कुछ लोग अर्थी बाँध रहे हैं। माटी के बासन में एक ओर पलीता जल रहा है। एक दीन-दरिद्र वृद्ध दम्पति का एक मात्र पुत्र नौ महीने की व्याही अछूती सोहागन को छोड़ स्वर्ग सिधार गया है। और वाजित्रों के घोष, तथा नृत्य-संगीत के कलनाद में ये छाती-फाड़ रुदन डूब गये हैं।…

…और नगर द्वार पार कर, एक सुनसान उजड़े उद्यान में आ पहुँचा हूँ। मनमारे खड़े एक अँधियारे भग्न-भवन में चला आया हूँ। यहाँ मनुष्य के होने का कोई चिह्न नहीं। …ऊपर तिमंज़िले के एक अर्द्ध-भग्न जर्जर कक्ष में उपस्थित हूँ। आले में एक माटी की ढिबरी जल रही है। उसके बहुत क्षीण आलोक में दीखा: एक झोली-सी लगती खटिया में जैसे एक सड़े माँस का ढेर पड़ा है। लेकिन उसके तल में अवश पड़ा एक मानव-मन गहरे सोच-विचारों में चक्कर काट रहा है:

'ओ… ओ… मेरी प्राण हुता, तुम… तुम कहाँ चली गईं?… आह, याद आ रही है सुदूर अतीत की वह बात। इसी सामने की गंगा के एक दूरान्तिक तट में, अपनी कुटिया में तुम अकेली रहती थीं। मैं काशी का राजपुत्र वरुण, उस तट पर मगर का आखेट करने आया करता था। तुम अनाथ एकाकिनी ऋषि-कन्या थीं।… सुना था, अपने स्वप्न के सत्यवान को पाने के लिये तुम कठोर सावित्री-तप कर रही थीं। इसी गंगा की जलधारा-सा पारदर्श, पवित्र था तुम्हारा सौन्दर्य। भयानक मगर-मच्छ तक तुम्हारे तप से, तुम्हारे वशीभूत हो गये थे।…

'और मैं काशी का राजपुत्र वरुण किसी सावित्री का सपना देख रहा था। तुम्हारे रूप में अपना वह स्वप्न मैंने साकार देखा। मैंने महल, राजैश्वर्य, सिंहासन ठुकरा दिया, और तुम्हें प्राप्त करके ही चैन लिया।…

'निर्वासित राजपुत्र को इस उजड़े उद्यान के भूतिहा भवन में नज़र-क़ैद कर दिया गया।…लेकिन तुम्हारे साथ, हुता। …तुम्हें जब आलिंगन में बाँधता था तो लगता था, कि रोग, क्षय, जरा, मृत्यु को मैंने जीत लिया है। मैं मृत्युंजय हो गया हूँ, तुम्हारी गोद में!…

'लेकिन तुम्हारे होते, यह क्या हुआ हुता, मैं इस महादुष्ट गलित कुष्ठ का ग्रास बन गया। रक्त-पीब का बहता पनाला। मेरी आँखों के रतन भी धीरे-धीरे धुँधला गये। एक भृत्य मेरी सेवा में निरत रहने लगा।… और तुम? सुना, तुम फिर सावित्री-तप में लीन हो एकाग्र, मुझे पुनर्जीवित करने के लिये।…

'आह, तुम जब अपनी गोरी उजली बाँह से मुझे कड़वी औषध पिलाती हो, तो लगता है, अमृत पिला रही हो। पर अब तो केवल तुम्हारी वह मोहिली, महीन आवाज़ भर सुन पाता हूँ।…तुम्हारी वह कमनीय बाँह कहाँ गई…? आह, असह्य है इन अविराम झरते ज़ख्मों की पीड़ा। …हुता…तुम कहाँ चली गयीं?'

'देखो न मैं आ गई। भिषग का भृत्य औषधि लेकर आया था, वही तैयार कर लायी हूँ।'

उस सड़े मांस के ढेर में से सूखे डण्ठल-सा एक हाथ उठा।

'आह, आह, मेरी सावित्री, पिलाओ अमृत····'

और वरुण ने वह ऊष्म सुगन्धित आँचल पकड़ लेना चाहा। हुता दूर छिटक गई। और उसने क्षण मात्र में औषधि का चम्मच रोगी के आकारहीन चेहरे में खुले एक गड्ढे में उँडेल दिया।

'ओह, कैसी सुगन्ध है तुम्हारे आँचल में, हुता! जलजूही की लता-सी शीतल। मेरे पास आओ हुता, मुझे ढाँप लो न अपनी छाती में, जहाँ मृत्यु नहीं है, सदा अमृत झरता है।···और मुझे छिन-छिन यह काल का नाग डस रहा है।···तुमने आँचल क्यों छुड़ा लिया मेरे हाथ से, हुता? तुम···तुम···मेरी सावित्री! तुम इतनी निर्मम कैसे हो गईं?···'

एक घुटन भरे सन्नाटे में उखड़ती साँसों की खड़खड़ाहट।

'ऐसा न बोलो स्वामी, मैं अब समग्र तुम रूप हो जाना चाहती हूँ। तुम से अलग अब क्षण भर चैन नहीं। अब केवल आँचल देकर जी नहीं भरता। अपनी इस पूरी काया में तुम्हारे हंस को खींच लेना चाहती हूँ।'

'आह हुता, तुम···तुम···मेरी हो न, केवल मेरी, त्रिकाल में, जन्मान्तरों में एकमात्र मेरी···कभी और किसी की नहीं···?'

'हाँ, मेरे देवता, मेरे सत्यवान, केवल तुम्हारी, सिर्फ तुम्हारी। और किसी की नहीं। आदिकाल से अनन्तकाल तक तुम्हारी!'

'मेरी आत्मा···तुम, हुता!'

'हाँ···आँ···आँ···आँ···'

'तो आज खींच लो मुझे समूचा अपने में, अब बाहर नहीं रहा जाता। ···हुता···कहाँ हो तुम। पास आओ न, मेरी साँसों में आओ···!'

'इस देह से कितनी-कितनी पास आई तुम्हारे। पर क्या तुम्हारे भीतर आ सकी? क्या तुम मेरे भीतर आ सके? सो इस देह का ममत्व न करो। मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर तुम्हारी देह में अमृत सींच देने की साधना कर रही हूँ!

'आह मेरी सती, मेरी सावित्री।···अरे देखो न, मेरी धुंधली पुतलियों में यह कैसी जोत उजल गयी है। तुम सोलहों सिंगार किये आज कितनी सुन्दर लग रही हो! साक्षात् देवी, भगवती। ऐसा शृंगार तो तुमने कभी किया नहीं। अपूर्व है तुम्हारा यह सोहागन रूप। पहली बार देखा। ये इतने महर्द्धिक वस्त्र-रत्नालंकार कहाँ से आ गये?'

'स्वयम् सावित्री ने आज सिंगार किया है तुम्हारी सती का, मेरे वरुण, मेरे सत्यवान !'

'आह मेरी हुता, मेरी वेद-पुत्री गायत्री। दिवो-दुहिता उषा···'

···सीढ़ी में कोई सतर्क दबी पगचाप सुनाई पड़ी। हुता चौकन्नी हुई। और अगले ही क्षण वह चुपचाप कक्ष से बाहर हो गयी।

···बाहर अँधेरे लम्बे गलियारे में सुनाई पड़ा एक फुसफुसाता-सा वार्तालाप :

'काशी के कोट्टपाल···मेरे जीवनधन !'

'इस रत्न-सज्जा में एकदम देवांगना लग रही हो, मेरी प्यार।'

'तुम्हारे ही दिये तो ये रत्नालंकार, ये चीनांशुक, ये फूलैल···!'

और सुरा के नशे में प्रमत्त कोट्टपाल ने गलियारे की उस अन्धी दीवार में हुता को कस कर भींच दिया। अनवरत व्याकुल चुम्बनों और आलिंगनों की दबी-दबी ध्वनियाँ!···आहें···सिसकारियाँ।

'आह···बस···बस'

'कब तक बस···?'

'नहीं छोड़ दो, आज नहीं···'

'मेरे धीरज की हद हुई।···ओह, आज नहीं तो फिर कब? कल किसने देखा है···?'

अन्धे गलियारे में मदनाकुल देहों का घमासान।···

'आह, हुता, तुम कहाँ चली गईं?···देखो तो, गलियारे में यह कैसी रहस्यभरी धमधमाहट है? कोई प्रेतलीला तो नहीं? हुता, तुम कहाँ चली गईं···? मुझे अकेला न छोड़ो, बहुत भय लग रहा है!'

...साँसों की धमनी से प्रज्ज्वलित, लाल-लाल लपट-सी हुता लौटी। वस्त्रालंकारों की सुगन्धित सर्सराहट सुन वरुण चीख उठा :

'ओह, मेरी हुता, मेरी आत्मा, मेरी प्राण, मेरी शरीर हो न तुम? केवल मेरी !'

'हूँ न, केवल तुम्हारी।···'

'कहो कि तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी प्राण, तुम्हारा शरीर हूँ···! कहो न !'

'जो तुम कहते हो, सब हूँ तुम्हारी। उससे भी अधिक कुछ हो तो, वह भी। तुम सो जाओ, स्वामी। शान्त हो जाओ!'

'और तुम…?'

'तुम्हारे पास बैठी हूँ न!'

'आज मुझे अपने आलिंगन में लो, हुता। गलियारे में मृत्यु की पदचाप स्पष्ट सुनी है अभी। अपनी छाती में मुझे डुबा लो, और इस मृत्यु से मुझे बचा लो, मेरी सावित्री!'

'ब्रह्मचर्य के बिना वह सम्भव नहीं। मेरे ब्रह्मचर्य को अक्षुण्ण रहने दो आज की रात। और कल…कल तुम एकदम चंगे हो जाओगे!'

'…सच…सच…सच…सचमुच? ओह, सच ही तुम मानवी नहीं, देवी हो, हुता। मेरी सावित्री!'

'तुम्हें नींद आ रही है न?'

'तुम्हारे हाथ की उस औषध से यह कैसा मधुर नशा आ रहा है। सच ही अमृत-सुरा पिला दी तुमने। जैसे शरीर में कोई रोग ही नहीं रहा। फूल-सा तैर रहा हूँ, तुम्हारे आंचल की सुगन्ध में…। आह, कैसा सुख है!…'

कहते-कहते सर्पगन्धा के गहरे नशे में वरुण की चेतना डूबती ही चली गई।…और उस दूरी में से ही उसने पुकारा:

'हुता…हुता…तुम कहां जा रही हो पीठ फेर कर?'

'गंगा-तट पर खड़ी होकर आज अखण्ड रात सावित्री-तप का समापन करूँगी। सुख से सो जाओ। मैं तुम्हारे भीतर ही तो हूँ!'

…और मझ रात के स्तब्ध सन्नाटे में, काशी के कोट्टपाल के हवा में छलांगें भरते रथ में बैठी हुता, काशी और गंगा की सीमा के पार हो गई।…

और वरुण संजीवनी-सुरा पी कर ऐसा सोया, कि उसकी अगली सांस एक और गर्भ के अँधेरे में घुटने लगी। नया जीवन आरंभ करने को छट-पटाने लगी।

• • •

…संसार को उसकी असली प्रकृति में नग्न देखा मैंने। यहाँ कोई किसी का नहीं। हम सब एक दूसरे को अन्य हैं, पराये हैं। हम दूसरे को प्यार नहीं करते, दूसरे में भी केवल अपने ही को प्यार करते हैं। हम केवल अपने में रहने को अभिशप्त हैं। केवल अपने को प्यार करना ही हमारी

एकमेव नियति है। हमारी यह काया, यह साँस भी हमारी नहीं । सब अन्य है, पर व्यक्ति है, पर आत्मा है, पर पदार्थ है। अनन्य केवल मैं हूँ अपने लिये। और जो भी अपनत्व है, ममत्व है, जो यह दूसरे को अपनाने की या दूसरे के अपना हो जाने की अचूक प्राणाकुलता है, वह मात्र आत्माभास है, आत्मछल है। अन्य में केवल अपने ही को देखने, खोजने, पाने का बहाना है। एक निष्फल मायावी प्रयास है। हाय से संसार!

…लेकिन क्या सावित्री सत्यवान से तदाकार नहीं हुई थी? क्या वह यम से अपने वल्लभ के प्राण नहीं जीत लाई थी? क्या उसने अपने अनन्य प्यार से मृत्यु को नहीं जीत लिया था? काल को नहीं पछाड़ दिया था? क्या वह एक विशुद्ध आत्म की, दूसरे विशुद्ध आत्म में अपने अनन्यत्व और अभिन्नत्व की उपलब्धि नहीं थी? क्या सावित्री सत्यवान नहीं हो गई थी, क्या सत्यवान सावित्री नहीं हो गया था?

इसका उत्तर पाने को शायद केवल सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान काफी नहीं है। अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान द्वारा केवल देश, काल और मनों के सीमान्तों तक यात्रा करना काफी नहीं है। उससे आगे जाना होगा। दूसरे की आत्मा से सीधे टकराना होगा। और उसके लिये शायद. देह, प्राण, मन, इन्द्रियों के सारे द्वार एक बार बाहर से नितान्त मुद्रित कर लेने होंगे। इस राह जो भी सम्प्रेषण है, संवाद है, दर्शन-ज्ञान है, वह अधूरा है। उसी से संसार और मनुष्य की स्थिति का अन्तिम निर्णय कैसे कर लूँ। एकमेव, प्रत्यक्ष, अविकल्प कोई ज्ञान, कोई सम्वेदन कहीं है?…तो उस तक पहुँचना होगा। ऐसा कोई ज्ञान. जो स्व-पर के भेद-विज्ञान से परे, बस एक अभेद अखण्ड बोध हो, संयुक्त संवेदन हो । जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद तक समाप्त हो जाये। उसके बिना ज्ञेय के सत्व को आत्मवत् कैसे अनुभव कर सकता हूँ। और आत्मवत् जो अनुभव न हो. जो आत्मानुभूति न हो जाये, ऐसा पर का ज्ञान भी सत्य, अविकल्प, निर्भ्रान्त कैसे हो सकता है।

…अपनी गहिरतम गहराई में पर्यवसान पा जाना होगा! □□

अन्तर्देश की अन्तरिक्ष-यात्रा

…पृथिवी के भीतर जैसे-जैसे गहरे उतराता गया हूँ, तो पाया है कि पर्त के भीतर पर्त है। और हर पर्त में से सहस्रों नयी पर्तें खुलती दिखायी पड़ती हैं। और हर पर्त में और भी जाने कितनी अन्तरिमाएँ, अन्तराल, और उनमें से उग आती-सी बेशुमार पर्तों की राशियां।…इनके भीतर यात्रा संसरण द्वारा ही सम्भव हो रही है। जन्म और मरण, आगमन और गमन, उदय और अवसान की एक अन्तहीन परम्परा में से गुज़रना हो रहा है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव की संयुति को समय के अविभाज्य मुहूर्त में एकबारगी ही जीता चला जा रहा हूँ।

इस तमिस्रा में जाने कितनी आँखें बन कर चारों ओर खुल गया हूँ। पर एक ऐसे रेशमीन सर्पिल नीहार का कोहरा, उठते-मिटते पर्वतों-सा यहाँ लहराता चला आ रहा है, जाने किस अज्ञात में से, कि उसमें ये आँखें बुदबुदों-सी चमक-चमक कर विसर्जित हो जाती हैं। सब कुछ देख कर भी, ये देख नहीं पाती हैं, सब कुछ जान कर भी ये ठगी-सी रह जाती हैं, और खो जाती हैं। असंख्य आँखें भी इस भीतरिमा को भेद पाने में विफल हो, जाने किसी तत्व में विशीर्ण हो जाती हैं।…

अक्ष से नहीं, एकाग्र अविचल आत्म के सीधे सम्वेदन से ही इस अन्तरिमा के जगत का अवबोधन सम्भव है।…एक चक्षुहीन, लक्ष्यहीन अवगाहन की अनुभूति भर रह गया हूँ।…एक अभेद्य तमिस्रा का क्षितिजहीन मण्डल चक्राकार मेरे चारों ओर घूम रहा है। और वह अलोकाकाश के सत्ताहीन शून्य में प्रसारित होता चला जा रहा है। एक अनिर्वच सूक्ष्म रज के आश्रवण को अपने ऊपर आक्रमण करते देख रहा हूँ। राशिकृत पटलों में यह रज का प्रवाह किसी महार्णव की तरह मेरे भीतर-बाहर तरंगित है। कहना कठिन है कि निरी माटी है, या निरा जल है। क्योंकि इसमें शुष्क माटी का बिखराव और सरसराहट भी है, और जल-लहरों की-सी मृदुता और निरन्तरता भी है। इसमें माटी का लोच और नम्यता भी है, पानी की अजस्र प्रवाहिता भी है, वायु की मेघवर्णी शीतलता भी है, और इसकी सन्धियों में सिन्दूरी ज्वालाओं का दाहक ताप भी है।

...एक अविरल मोहिनी का घनसार कृष्ण-नील संसार। कभी नीरन्ध्र अन्धकार का अथाह गहराव। कभी उसमें आशीविष सर्प की आँखों से प्रस्फुरित, अचूक नील सम्मोहन और प्रकर्षण के हिल्लोलन। एक ऐसा भंगुर दोलायित मार्दव, जो चेतना को विपल मात्र में अपने भीतर आत्मसात् करके, अपनी अन्तर्तम जगती में खींच ले जाता है। यहाँ अति सुरम्य गहरी हरियाली अरण्यानियों का अपार प्रसार है। उसमें सुगन्ध-निविड़ भीनी माटी की अद्‌भुत ऊष्मा और शीलता है। असंख्य जुगनुओं की टिमटिमाती आँखों से इसके अन्तराल व्याप्त हैं। केवड़े की कटीली सुगन्धाविलता में, जाने कितने ही विवर खुले हैं। उनके भीतर, राशिकृत सर्प एक भयावह संकुलता और ग्रंथिलता के साथ एक-दूसरे में गुत्थमगुत्था हो रहे हैं। वे ऐसी अग्निम मणियाँ उगलते हैं, जो पल मात्र में विराट् अग्नि-पटल हो कर स्वयम् उन्हें ही भस्म कर देती हैं। वे और भी तीव्रता से अपनी राख में अनुबन्धित हो कर, नित-नव्य आकारों में, शाखाजाल की तरह प्रस्फोटित होते चले जाते हैं।

माटी, जल और वनस्पति की इन सर्पिल तरल शैयाओं में लिंगों और योनियों का एक तुमुल संघात सतत परिणमनशील है। उस घर्षण में से चैत्र के कच्चे आमों-सी खट-मीठी स्पर्श-गन्ध और रक्त-गन्ध विस्फूर्जित होती रहती है।...ओह, स्पर्श के संकर्षण और रक्त के कामाकुल संघर्ष-हिल्लोल में से उठने वाली यह मोह-गन्ध कितनी कुँवारी और नित-नव्यमान है। स्वर्ग के सघन मन्दार-वनों की ऊष्माकुल शीतलता। पावस की रात में उमसती, रात-रानी के फूलों की प्राणहारी गन्धाकुलता।...रक्त और परस के इसी मोह-मदनाविल निरन्तर संघात में से अनवरत प्रवाहित है संसार-परम्परा, जन्म और मृत्यु का एक अन्तहीन सिलसिला।...ओह, तो यही है मोहिनी कर्म का वह आश्रव-लोक, जो हमारे दर्शन और ज्ञान को कृष्ण, नील, कापोत बादलों के सदा बदलते पर्दों से आवरित किये रखता है। जहाँ देखना और जानना मात्र जुगनुई आँखों की भूलभुलैया है। जहाँ देख कर भी हम कुछ नहीं देखते, जान कर भी हम कुछ नहीं जानते।

दृग्बोध नयनः सोऽयमज्ञान तिमिराहतः।
जानान्नपि न जानाति, पश्यन्नपि न पश्यति ॥

...और सर्पजाल-ग्रंथिल वह शैया, उत्तरोत्तर फैलती हुई, दृक्‌बोध से पार असीम हो उठी है। उसे देखते-देखते चेतना भय से मूर्च्छित होती जा रही है।...छिन्न-भिन्न होती आँखों के तड़कते बिल्लौर का एक सैलाब। पहचान और लगाव की रंग-बिरंगी काँच-खिड़कियों का अचानक तड़तड़ा कर टूट जाना।...प्रणय के निविड़तम आलिंगन में अजनबियत का एक अफाट रेगिस्तान। सम्बन्धों के इन्द्रधनुषी आवरणों में ढँकी परायेपन की खन्दकें। मित्रता,

शत्रुता के कगार पर झूलती हुई। भाव-विह्वलता की लहरों में से उठ आती छुरियां ।···

···क्षय, जरा, रोग, मृत्यु के विलों पर बसा हुआ मनुष्य का सुख-दुखों से आर्द्र, ऊष्म घर। प्राणि मात्र की रक्त-वाहिनियों में सुख-सुरक्षा की धुकधुकी। मुद्रित कमल की सुरभित केसर-शैय्या को कोरता हुआ मोह और वेदनीय का कीट। सुख की मर्कत-पिटारी में छुपा दुःख का काला सर्प। नागकेसर की गन्ध-सी यह कसैली वेदना।···मोहिनी नाग-कन्या, जिसके मोहक वक्ष में उगा है सुख का पीला कमलवन, और जिसके सर्प-पुच्छिल पैरों में से फूट रहा है दुःख का भीषण अजगर। क्षयरोग की शैया पर, बुझती हुई आँखों की मणियाँ, हाड़-पिंजर शरीर, और उसमें रह-रह कर टिम-टिमा उठती तृष्णा की लालटेन, मोह के अवूझ अन्धकार में।

···तूफ़ानी समुद्र पर दूरातिदूर कहीं मछलियाँ पकड़ते माछीमार की नाव। उसके मस्तूल पर एकाकी टिमटिमाता दीया: बुझने की अनी पर प्रज्वलित उसकी अन्तिम नीली लौ। तट पर खड़ी मछिहारिन की भयाकुल चट्टानी छाती पर सर पछाड़ता, अन्ध समुद्र। सहस्रों मरती मछलियों की मूक चीखों पर सिर धुनता, डूबती नाव का बुझता दीया। मछिहारिन के जूड़े से बिखर पड़े चम्पक फूल।···केवल घहराता काला सागर। और कहीं कुछ नहीं। झोंपड़े में पकते शाकान्नों की सौंधी गन्ध। मदिरा से वासित मदन-शैया।··· सब कहाँ लुप्त हो गया? घने घुंघराले विपुल केशों की लहरें। उन पर लिपटे साँपों के पाश में अवश मृत्यु का अतलान्त।···ओह, यह वेदनीय कर्म का आश्रव-लोक है, जहाँ प्राणी निरन्तर मोह-मूर्च्छा के गहन गव्हरों में, सुख-दुख की करवटें लेता छटपटा रहा है। जहाँ एक ही प्राणी की दायीं करवट सुख है, तो बायीं करवट दुःख। जहाँ प्यारी की सुरम्य साँझिया छाती पर, मौत मोहक कंचुकी बन कर कसी है।

···मोहारण्य के तमसावृत्त तलदेश में, अँगड़ाइयाँ भर कर उठता-सा सान्द्र नील अन्धकार। उसमें अदृश्य परमाणुओं में से उत्सित होते रक्त का अभिसिंचन। उसमें परस-लालसा का कम्पन, संसरण। उसमें किसी नैपथ्य में घूमते चरखे से खिंचा आ रहा माटी का सूत। आकाश के कर्घे पर बुनी जा रही उसकी बारीक जालियाँ। उनमें से उठ रहीं माटी की गड्ड-मड्ड नलिकाओं के विशाल प्रान्तर। उनमें से सरसराते निकल रहे बेशुमार केचुओं के निरे स्पर्शाकुल शरीर।

···झिल्ली-रव में स्पन्दित कीट, लट, पतिंगों के श्वासोच्छ्वास में प्रति-क्षण जनमते-मरते शरीरों की राशियां।··· कोटि-कुण्डलीकृत वासुकि के पृथ्वीधर मंडल में चक्राकार घूमती—चींटी से लगा कर, पशु-चौपायों, व्याघ्रों,

रीछों, हस्तियों तक की संज्ञावान तिर्यंच योनियाँ। उनकी विकट हिंसाकुल, क्रुद्ध, कामोर्जित विकरालता।…उसमें सहसा ही एक अन्तर-मुहूर्त मात्र के लिये जागृत अपने अस्तित्व की पहचान। क्षण भर के लिये शमित वैर की शान्त सपाटी। उसमें से हठात् एक गर्भ का विस्फोट : उसके भिन्न, विरोधी दो कगारों पर खड़ा नर-नारी युगल। बीच में फैली मृत्यु की खाई। उसके मोह-वाष्पित अंधकार में उनका प्राणहारी संघात, संघर्ष : एक-दूसरे में अन्तहीन संक्रमण। उस अन्ध, ज्ञान-हीन संक्रमण में से उठती, सुडौल-कुडौल, सुरूप-कुरूप, अनेक विध रूपाकृतियाँ, मानवाकृतियाँ।

…अहो, यह नामकर्म का आश्रव-लोक है। सृष्टि का कषाय-संवेदित मनस्तत्व, क्षण-क्षण बदलती भाव-दशाओं में से गुज़रता हुआ।… किसी चूड़ान्त भाव-स्थिति में पहुँच कर, यह सहसा तदनुसार सकल या विकल, सुन्दर या असुन्दर देहाकृतियाँ धारण कर रहा है। और ये देहधारी फिर अपनी जीवन-लीला के पारस्परिक संघातों में, अपने संकल्प-विकल्पों के अनुसार आयु के काल-पटल में विस्तारित और संकोचित होते हुए जीवन की अवधियों में निर्धारित हो रहे हैं। रक्त, भाव और संस्कार विशेष से कुल, वंश, परिवार में परम्परित हो रहे हैं।…

व्यक्ति के प्रति व्यक्ति की भाव-प्रक्रिया, प्रतिक्रिया। कुल, वंश, परम्परा के व्यामोह से उत्पन्न अहम् के विस्फोट। रक्ताक्त राग-द्वेषों के संघर्षित जंगल। एक ही देह-काष्ठ के विभिन्न टकराते अंग-प्रत्यंग। विभिन्न काष्ठ-स्थाणुओं की टक्कर, गुत्थमगुत्था। आप अपनी ही भावाग्नि से जल उठा जंगल। निरन्तर दह्यमान स्नायु-मंडल में से फूटती नव-नूतन व्यष्टियाँ, समष्टियाँ, पशु-झुण्ड, मानव-कबीले, जातियाँ, देश, राष्ट्र। व्यष्टियों के संघर्ष। समष्टियों के संघर्ष। राजा, श्रेष्ठि, धनी-निर्धन, सत्तावान-सत्ताहीन, दीन-दरिद्र, कंगाल, कुलीन-अकुलीन, ऊँच-नीच, शोषक और शोषित। उनके अन्तहीन राग-द्वेषों का दुश्चक्री परिणमन। क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रक्रिया की देश-काल में अनिवार्य बढ़ती जा रही शृंखला। इतिहास।…

…मोह की दूध-गंध और रक्त-गंध का वाष्पित नीहार-लोक। ऐसी गर्भिल मृदुता और नम्यता, कि उसमें फिसलते ही जाना होता है। लिंग-योनि द्वारों से एक-दूसरे में समाते ही जाना होता है। मोह-रज की इस धारासार स्निग्ध प्रवाहिता के अन्धे गहरावों में, ये कैसे बाधा के मानुषोत्तर पर्वत हैं। अनिर्वार धावित कामनाकुल प्राणी अचानक जाने किस अदृश्य वज्र चट्टान से टकरा जाता है। राह रुँध जाती है। अभिन्न प्राण, एकात्म लगते प्रणयी जनों के बीच अचिन्त्य ग़लतफ़हमी के विन्ध्याचल हहरा उठते हैं। दुर्वार अवरोध की

हिमानी शून्यता व्याप जाती है। जनम-जनम के मिले और व्याहे नर-नारी काल के निश्चिन्ह, अवूझ समुद्र-तट पर अकस्मात् टकरा जाते हैं। फिर प्रचण्ड तरंगाघातों से अगम्य किनारों पर फेंक कर, विछुड़ा दिये जाते हैं।

अयोग्य, अक्षम, पापात्मा सुख के स्वर्गों में विलखते हैं। सच्ची, प्रेमल, सहृदयी आत्माएँ अभाव में दम तोड़ती हैं। प्यार की एक बूंद को तरसती घुट-घुट कर मरती रहती हैं। सौन्दर्य की सूक्ष्म पारद्रष्टा आत्मा के लिये सौन्दर्य आकाश-कुसुम हो रहता है। जड़, भावहीन, हिंस्र वासनाकुल भुजाओं में, सावित्री-सी कुमारियों की स्वप्न-संवेदनाएँ आजीवन तिल-तिल जलती, गलती, घुटती रहती हैं। ज्ञानतेज से उद्भासित सारस्वत आनादृत, उपेक्षित वीरानों में खो रहते हैं। मूर्ख-अज्ञानी, भाव-सम्वेदनहीन धन-कुवेर सरस्वती की वीणा को अपनी सम्पत्ति से ख़रीद कर, उसे अपनी प्रतिष्ठा की राज-सभा में प्रदर्शन की वस्तु वना देते हैं।

एक अन्धी वाधा की वर्फ़ानी पर्वतमाला, जो चेतना के तमसांध समुद्र की गहराइयों में छुपी रहती है। क्षण-क्षण, मनुष्य की प्रगति की राह में अनेक निष्कारण अवूझ कुण्ठाएँ, अवरोध, घुटन के अतल खोलती रहती है। ...इत्र-सुवासित रेशमीन, मृदु परों के लिहाफ़ में एकाएक जाने कहाँ से उल्लू बोल उठते हैं, और गृद्ध टूट पड़ते हैं। विछोह, अभाव, शोक-संत्रास के ज्वाला-गिरि फूट पड़ते हैं।

...अहो, यह अन्तराय कर्म का आश्रव-लोक है, जहाँ कोमल, ऋजु-सरल नदी की श्वेत धारा के भीतर अज्ञात भुजंगमों की बाँवियाँ छुपी हैं।

• • •

...कार्मिक विश्व की वुनियादों में उतरा। उसकी जड़ों में सरसराया। उसके रक्ताक्त मोहों और लोहों से सीधा टकराया। उसके सारे आत्म-घातक दवावों से सीधा गुज़रा और जूझा। ...और देखता हूँ कि, सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से आगे की है यह चेतना-स्थिति। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से आगे की है यह क्रियात्मिका ऊर्जा। सृजनात्मिका अभीप्सा। जो केवल ध्यान-समाधि में देख और जान कर ही तुष्ट नहीं हो सकती। समाधान नहीं पा सकती। केवल विश्रब्ध होकर चैन नहीं ले सकती। जो कर्मों के अड़ावीड़ जंगलों में स्वयम् धँस कर, उनके साथ उलझती है, जूझती है। और यों उनके मूलों तक जाकर उनका भेदन, उत्पाटन और भंजन करती है।

...कर्म-चक्र के दवावों और टकरावों को सीधे झेले विना आत्म-मुक्ति कैसे सम्भव है? जीवन-जगत की सारी संश्लिष्टताओं और जटिलताओं में से, अपनी सम्पूर्ण सम्वेदना और संचेतना के साथ गुज़रे विना, कैसे उन्हें सम्पूर्ण जाना और जिया जा सकता है।सृष्टि प्रपंच के मूल स्रोतों में सीधे स्वयम्

संसरित हुए बिना, जगत में अर्हत् की मुक्त जीवन-चर्या कैसे सम्भव है। ज्ञान-शरीरी सिद्धात्मा, ज्ञेय विश्व-प्रपंच के साथ ज्ञान-संवेदनात्मक तदाकारिता न अनुभवे, तो उसकी सार्थकता क्या? ज्ञेय के बिना ज्ञाता का ज्ञान क्या देखे, क्या जाने? और अपने को पूर्ण जानने की कसौटी भी, क्या सर्व को पूर्ण जानना ही नहीं है? सर्व के सन्दर्भ में ही तो अपने को जानने की जिज्ञासा उठती है। सर्व के समक्ष ही तो सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होती है।

हर चीज़, हर व्यक्ति के साथ अपने सम्यक् सम्बन्ध को जाने बिना, उनके साथ सम्यक् तरीक़े से जिये बिना, उनके साथ अचूक सम्वाद और सम्प्रेषण में आये बिना, अपने आत्म में अन्तिम रूप से कैसे अवस्थित हो सकता हूँ? क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञाता की ठीक पहचान सम्भव नहीं: ज्ञाता के बिना ज्ञेय की ठीक पहचान सम्भव नहीं। यह एक ऐसी अविनाभाविता है, जिसे विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता, केवल संवेदनात्मक संश्लेषण से जिसका अचूक बोध पाया जा सकता है।

...लेकिन बन्धक कर्म-रज के इस आप्लावन को रोके बिना, विश्व-लीला में मुक्त रमण सम्भव नहीं। मगर मुक्ति को भी योगी-द्रष्टाओं ने सदा रमणी के रूप में ही भावित किया और चाहा है। नर-नारी के रमण-सुख की तल्लीनता के बिना वे उसकी कल्पना नहीं कर सके हैं।

...हम क्या केवल एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित ही हो सकते हैं? परस्पर में बिम्बायित नहीं हो सकते? इस परम रहस्य का उत्तर शब्दों में नहीं पाया जा सकता। केवल उसमें अवगाहन किया जा सकता है। उसमें अव्याबाध विचरा जा सकता है।

...अभी आत्म-प्रसारण द्वारा विश्व में व्याप्त कर्म-चक्र के भीतर से गुज़रा। उसे सम्पूर्ण देखा, जाना, सहा, भोगा। और उससे उत्तीर्ण हो कर जहाँ आ खड़ा हूँ, वहाँ अपने को अनायास अपने में अपसारित, संवरित अनुभव कर रहा हूँ।...हठात् अपने आप में निःशेष सिमट कर, निस्पन्द हो गया हूँ।

...देह, प्राण, मन, इन्द्रियों की जुदा-जुदा खिड़कियाँ एक-दूसरे में संक्रान्त, अतिक्रान्त हो रही हैं। देह मानो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, ध्वनि की तन्मात्राएँ रह गई है। इन्द्रियाँ उनमें यों पिघल गई हैं, जैसे जलजाया मछली जल में विसर्जित हो गई हो। तन्मात्राएँ प्राण में लीन होती जा रही हैं। प्राण मन में विलीयमान अनुभव हो रहा है। और चेतस् मन, चैतन्य की लौ में अकम्प भाव से युक्त हो गया है।...

···और लो, कर्मों के चक्र मकड़ी के सूक्ष्म तंतु-जालों की तरह टूटते जा रहे हैं। एक आदिकाल की महारात्रि, शुद्ध परिणमन की नीलाभ समुद्र-वेला में अवसान पा रही है। रजस् और तमस् की मोहाविल रज का कोहरा धीरे-धीरे फट रहा है। भीतर के पूर्वाचल की चूड़ा में अन्तरित एक अभि-साभ सूर्यमुख की ऊषा सर्वत्र छिटकी है।

···और चेतना के विश्रब्ध सघन पटल में यह कैसा कम्पन है, आप्लावन है। कुछ ऊर्जायित है, आकार लेने को?

◆ ◆ ◆

···और क्या देखता हूँ, कि स्वयम् लोकाकार होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हूँ। फिर भी इस त्रिलोक-विम्व से अलग, अपने ही आप में अवस्थित हो कर, एक ही अविभाज्य मुहूर्त में इसे देख रहा हूँ, अपने को देख रहा हूँ।

···महाभिनिष्क्रमण की पूर्व-सन्ध्या में, जो अपने अन्तःसाक्षात्कार के वातायन से अलोकाकाश से लगा कर, लोक-चूड़ान्त में विद्यमान सिद्धशिला तक की यात्रा की थी, उसकी फलश्रुति को इस क्षण प्रत्यक्ष अपने में आत्म-सात् अनुभव कर रहा हूँ। उस समय दर्शन के साथ ही, इस समस्त लोका-लोक में केवल परिक्रमण अनुभव हुआ था। इस समय केवल परिक्रमण नहीं, विशुद्ध दर्शन-ज्ञानात्मक रमण की अनुभूति हो रही है। लोकाकाश और अलो-काकाश की वायु-सन्धि पर अपने ही भीतर दण्डायमान हो कर मानो एक छलांग में अलोक-शून्य को माप रहा हूँ, तो दूसरी छलांग में लोक-घनत्व को समेट रहा हूँ।

···अपने चारों ओर अनन्तानन्त प्रदेश रूप आकाश को देख रहा हूँ। यह स्वप्रतिष्ठ है। अपने ही आधार पर है। न यह मुझ पर आधारित है, न मैं इस पर आधारित हूँ। यह स्वयम् आप अपना ध्रुव है। मैं स्वयम् आप अपना ध्रुव हूँ। इन दो ध्रुवों के बीच जो अन्तर-ध्रुवीयता है, उसी का नाम संसार है। परस्परोपग्रह तत्वानाम्। तत्वों में पारस्परिक संकर्पण, संक्रमण, उपग्रहण होकर भी, अन्ततः वे एक-दूसरे में हो कर अतिक्रमणशील हैं, प्रतिक्रमणशील हैं। वे वारम्वार अपने में लौट रहे हैं, और फिर-फिर एक-दूसरे में चंक्रमित हो रहे हैं। और इन दो ध्रुवों की अदृश्यमान सन्धि-रेखा पर मैं कायोत्सर्गित हूँ।

इस आकाश से वड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं, जिस पर यह आधारित हो सके। मुझ से वड़ा कोई पदार्थ नहीं, जिस पर मैं आधारित हो सकूँ।

इसी से स्वभावत: इसका मुझ में अवगाहन, और मेरा इसमें अवगाहन, इसका मुझमें रूपायन और मेरा इसमें रूपायन एक अद्भुत, अनिर्वच जीवन-लीला की सृष्टि करता है, जो कि विश्व ब्रह्माण्ड है।

...यह लोक एक ही अविभाज्य काल-परमाणु में उत्पाद, व्यय और ध्रुव से संयुक्त है। चेतन-अचेतन पदार्थों की परस्पर अतिक्रमणशील राशियों से आपूरित है। इसका न कोई आदि है, न कोई अन्त है। यह अनादि-संसिद्ध है। किसी के द्वारा किसी के कर्तृत्व-व्यापार से वर्जित है।

...देख रहा हूँ, अपने इस लोकाकार विराट् स्वरूप को, जो कमर पर हाथ धर कर खड़ा, पैरों को प्रसारित किये मानो किसी प्रतिपुरुष के रूप में मेरे समक्ष दण्डायमान है। अपने फैले पैरों के बीच के अतल विस्तार में यह निगोदिया जीवों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संसार को धारण किये है, जो घड़े में भरे घी की तरह घनीभूत, उसमें ओतप्रोत हैं। ये स्पर्शेन्द्रिय देह मात्र हैं। अनुपल एक-दूसरे में अकारण संघर्षित हो कर, ये एक ऐसी अन्ध पीड़ा से प्रपीड़ित हैं, कि उसके अनुभव तक से मानो वंचित हैं।

...इनके ऊपर हैं नरकों की सात पृथ्वियाँ। नीचे से ऊपर की ओर ये हैं—महातमःप्रभा, तमःप्रभा, धूम्र-प्रभा, पंक-प्रभा, वालुका-प्रभा, शर्करा-प्रभा, रत्न-प्रभा। इस घनघोर जड़ान्धकार में, तत्व ऊपर से नीचे की ओर मन्द से मन्दतर होती अपनी मौलिक प्रभाओं से प्रस्फुरित हैं। मानो कि विशुद्ध अन्धकार का कहीं अस्तित्व ही नहीं। पदार्थ अपने स्वभाव में ही भास्वर है। पारस्परिक रगड़-घर्षण में, उसकी प्रभाएँ ऊर्ध्व-अधो परिणमन के अनुसार बुझती-उजलती रहती हैं। सात पटलों और उनके भीतर व्याप्त असंख्य बिलों में जीवात्मा विविध-रूपिणी यातनाओं की पराकाष्ठाएँ भोग रहे हैं, अपने-अपने विभिन्न कर्मानुबन्धों के अनुसार। यहाँ सम्बन्धों का सर्वथा अभाव है। न यहाँ जीव का कोई मित्र है, न बन्धु, न संगी-संगिनी, न सखा, न भृत्य, न स्त्री-पुरुष, न माता न पिता। यहाँ वह आप अपना ही मित्र और स्वामी नहीं। एक चरम, परवश अनाथत्व में चीत्कारता, वह निपट निराधार यातना-पिण्ड मात्र रह गया है। जहाँ केवल यातना ही, यातना की साक्षी है। आत्म यहाँ मानो विलुप्तप्राय है। अपने दुःखों का अन्तिम भोक्ता और साक्षी नित्य रहने को विवश होकर भी, इस असूझ तमसा में वह मानो निपट अन्धकार और उसमें ऊर्मिल रक्तधारा का कम्पन-पटल मात्र रह गया है।...

...और इस लोकपुरुष के कटिभाग में, डमरू-मध्य की तरह असंख्यात द्वीप-समुद्रों से आवेष्ठित मध्यलोक है। अनन्तान्तकाल में यहाँ, चौरासी लाख जीव-योनियों के बीच मनुष्य जाति की जीवन-लीला चल रही है। स्वयम्

मनुष्य हूँ, मानव-सन्तान हूँ, और इसी से अपने मूलाधार, उपस्थ, योनि-लिंग, और त्रिवली के अत्यन्त संवेदनशील मर्मप्रदेश में इस समस्त मनुष्य लोक के राशिकृत सुख-दुखों को अनुक्षण संवेदित कर रहा हूँ। एक मनुष्य में, मानो सर्वकालीन मनुष्य मात्र का एक अविकल ब्रह्माण्ड हूँ।…

…और मेरी ऊर्ध्व देह के मेरु-दण्ड में नीचे से ऊपर की ओर सोलह कल्प-स्वर्ग, नौ ग्रैवयक, और उससे ऊपर सर्वार्थसिद्धि के अनुत्तर विमान हैं। देह-सुख यहाँ उत्तरोत्तर कालवोध से परे निविड़तम और सूक्ष्मतम होते जाते हैं। ऐसे कि, ऐन्द्रिक सुख में ही अतीन्द्रिक सुख का आभास-आस्वाद होता है। कामना मात्र करते ही, कल्प-वृक्षों से या अपने ही भीतर की काम-ग्रंथियों के प्रस्रवण में से हर सम्भव इच्छा यहाँ तृप्त हो जाती है। पर हाय रे, फिर भी आत्मकाम यहाँ अतृप्त ही रह जाता है। चरम अपनत्व की तल्लीनता यहाँ भी सम्भव नहीं।…

…और अचानक देखता हूँ, कि मेरे मस्तक में खुल पड़ा है अनन्त-व्यापी सहस्रार : सहस्रदल कमल। जिसकी पाँखुरियाँ दिक्काल का अतिक्रमण कर रही हैं। मानो कि दिक्काल उसकी केसर-कर्णिका में से निरन्तर प्रवाहित सौरभ-पराग की तरंगमाला मात्र हैं। उस केसर कर्णिका में उत्तिष्ठ एक ज्योतिर-मृणाल पर अवस्थित है अर्ध चन्द्राकार सिद्धशिला।

…और लो, उसकी चूड़ान्त कोर पर अपने को परम ज्योतिराकार, पुरुपाकार खड़े देख रहा हूँ। और मुझ में से आकाश आरपार वह रहा है। और उस आकाश में समस्त द्रव्य-पर्याय अपने विशुद्ध स्वरूप में निरन्तर परि-णमनशील हैं।…किन्तु 'मैं' अभी 'वह' नहीं हो सका हूँ। उसके चारों ओर परिक्रमायित हूँ : अपने ही आत्म-समुद्र के अनेक कटि-वन्धों और द्वीप-द्वीपा-न्तरों से सन्तरण करता हुआ, लोकाग्र के वातवलयों पर आ खड़ा हुआ हूँ।

…और देख रहा हूँ, यह त्रिलोकाकार पुरुष चारों ओर से अन्तहीन, महा वेगवान, महा वलवान तीन पवनों से आकीर्ण है। पहला है घनोदधि पवन, जो अपने में अत्यन्त चण्डवेगी हो कर भी वादल-वेला के समुद्र-क्षितिज की तरह घनश्याम और स्तब्ध प्रतीत होता है। उससे परे है घनवात पवन, जो मूँगिया रँग की अति सूक्ष्म ऊर्मियों से आविल एक वायवीय प्रसार है। और उससे परे है तनुवात-वलय जो उत्तरोत्तर शीर्णतर होता हुआ, रूप-रंग-आकार से अतीत होता हुआ—एक अतीर्य शून्य में विलीन हो गया है।

…और इस लोकाकार पुरुष को देख रहा हूँ, अलोकाकाश के सत्ताहीन शून्य में डग भरता हुआ…कि और आगे…और आगे…और आगे जाना है! क्या है वहाँ ?

…नहीं, अब प्रस्तार में गति सम्भव नहीं। एक प्रचण्ड प्रतिक्रमण के साथ फिर अपनी ही तात्विक सत्ता में पर्यवसित हो रहा हूँ।…

◆ ◆ ◆

…और हठात् देखा, कि वह लोकाकाश-पुरुष, पर्यन्तहीन आकाश के **अधर** में, एक विशाल स्फटिक के कुम्भ की तरह उत्तोलित है। उसके भीतर नीचे से ऊपर की ओर चेतना उत्तरोत्तर छह रंगों की प्रभा से तरंगित है। तल में है कृष्ण-घनसार जलिमा का पटल। नितान्त अवरुद्ध तमस का पारावार। उसकी सपाटी पर जो अदृश्यमान तरंग-स्फुरण है, उसमें से प्रस्फुटित है नील भाव का लोक। नीचे की निपट कृष्णान्धता से उत्तीर्ण हो कर, यहाँ मोह का पटल कुछ अधिक विरल और भाविल हो गया है। यह नील मोहिनी भी अपने कामोन्माद के सीमान्त पर पहुँच कर, उत्तरोत्तर विरलतर होती जा रही है।

…और अनायास जाने कब वह एक कापोत वर्णी मेखला में रूपान्तरित हो गई है। यहाँ चेतना का आवेग अधिक ऊर्जस्वल है। और वह उत्तीर्ण होने के लिये संघर्षशील प्रतीत होता है। इस संघर्ष में से उठ रहे हैं रतनारे अग्नि-स्फुलिंग। वे क्रमशः ऊपर की ओर समासित हो कर एक रक्तिम पट्टिका में समरस हो जाते हैं। इस तेजोमान रक्त-वलय में, चेतना की झील पर मानो उदात्त भावों का उत्सर्पण दिखाई पड़ता है। यहाँ चेतना की गति स्पष्ट ही ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होती है।

…प्रथम ऊषा के इस लोहित पूर्वाचल पर, अचानक बेशुमार पीले पद्मों की एक पुष्करिणी उद्भिन्न दिखायी पड़ती है। इस पर कभी केशरिया नीहार छायी दीखती है, कभी शान्त पीताभ छत का-सा आभास होता है। और उस छत में, नीचे फैले पद्मवन में से अदृश्य फव्वारों की तरह प्रस्रवित होती हुई सुगन्ध और पराग की नीहारिकाएँ बरसती दीखती हैं। आत्मा के उज्ज्वलतर होते भावों में से तरंगित हो कर, मानो आर्जव, मार्दव, ऋजुता, पावनता, सौन्दर्य और प्रीति की एक हेमाभ कमल-शैया सी बिछ जाती है। जिस पर अंगड़ाई भर कर उठती आत्मा की कुमारी अपने ही हृदय के दर्पण में अपना स्वरूप निहारती हुई, मुग्ध, विभोर, अन्तर-मैथुन में तल्लीन-सी दीखती है।

…और औचक ही उसके महाभाव मुखमण्डल के चारों ओर एक चन्द्राभ आभावलय आविर्मान दिखायी पड़ता है। और अगले ही क्षण, उस कुमारिका की समग्र आकृति सिमट कर उस आभावलय में शैयालीन होती-सी प्रतीयमान होती है। और तब उसके हृदय के पद्म-सम्पुट में से अनायास शुद्ध परिणमन का एक श्वेताभ समुद्र खुल पड़ता है। और उसकी मध्य-वेला की

चूड़ा पर भव्य पूर्णाकार चन्द्रमण्डल नित्य उदयमान अनुभव होता है। उसकी अमृता चाँदनी के निर्जन प्रसार में, एक शुक्ल पुरुष की तरह अपने को उन परिणमन की लहरों पर मुक्त विलास करते देख रहा हूँ।…चेतना के इस शुक्ल दर्पण में सहस्रार का अखण्ड मण्डलाकार चन्द्रमण्डल रह-रह कर प्रतिबिम्बित हो उठता है।

…आत्मा अपने भावों और परिणामों की ऊर्ध्व और अधो परिणति के अनुसार, इन षट्-लेश्याओं के नानारंगी बिल्लौरी फानूस में, नाना रूपों में भावित, भासित, प्रतिभासित होती रहती है। पर स्फटिक का वह कुम्भ, जिसमें यह संवेदनों और कषायों की रंग-लीला चल रही है, अपनी निर्मल, उज्ज्वल स्फटिकता में सदा अस्पृष्ट रहता है। उसके सहस्रों जगमगाते हीरक पहलुओं में ये सारे रंग-प्रवाह यों झलक मारते हैं, मानो वह स्फटिक ही कभी नीलम हो जाता है, कभी मर्कत हो जाता है, कभी माणिक हो जाता है, कभी पुखराज हो जाता है, और कभी मुक्ता फलों का प्रान्तर, तो कभी हीरों का जगमगाता महल। पर मूलतः वह स्फटिक रंच भी बदलता नहीं, रंगीन नहीं होता है। अपनी पारदर्श उज्ज्वलता में ज्यों का त्यों अप्रभावित रहता है। जैसे बिल्लौर के प्याले में रक्तिम मदिरा हो, या कोई कबूतर हो, या हरियाला उपवन हो, उसे क्या अन्तर पड़ता है।

ये लेश्याएँ, आत्मा की भावात्मक और रागात्मक परिणतियाँ हैं। ये वे मूल स्रोत हैं, जिनमें से कर्म-रज का मन और चैतन्य में प्लवन होता है। आश्रव होता है। स्वयम् चैतन्य में से ही, मनोचेतना में उद्गीर्ण होकर ये अनेक राग-भाव इन नाना रंगों के मंडलों में खेलते हैं। पर चैतन्य इनका कर्त्ता नहीं। ये चैतन्य के कर्त्ता, विधाता और निर्णायक नहीं। इन नाना रंगी छायावनों में चैतन्य अनाहत, अलिप्त खेलता विचरता है।

जाने किस अपने ही अचीन्हे स्रोत में से ये भावोर्मियाँ प्रवाहित होती हैं, और चैतन्य के कटिबन्धों को सत, रज, तम की अनेक रंगारंग छायाओं से आकीर्ण कर देती हैं। पर न बिल्लौर इन रंगों का कर्त्ता है, न ये रंग बिल्लौर के मूल द्रव्य को अपनी आभाओं और छायाओं से रंजित या आच्छादित कर सकते हैं। चैतन्य की अभावात्मक छाया के निगूढ़ रहसीले विवर में से ही अचानक कषायों का यह नागवन रातों रात उठ खड़ा होता है। जड़ और चैतन्य के गठबन्धन की इस मर्म-ग्रंथि को किसी विश्लेषण द्वारा खोला या सुलझाया नहीं जा सकता। इसे समग्र आत्मिक आश्लेषण से, मात्र अपने हृदय-कमल में स्फुरित अजस्र सौरभ की तरह अनुभूत किया जा सकता है।…

◆ ◆ ◆

…और यह क्या हुआ, कि कहीं अलक्ष्य शून्य में किसी ने हठात् यह लाल कमलों का धनुप ताना है। …उफ़, एक अदृश्य कुसुमबाण मेरे हृदय को विद्ध

कर गया। ओ···कामदेव! बहुत दिनों बाद फिर मेरी राह आये, मदनेश्वर! तुम्हारा सहर्ष स्वागत है, मेरे अपने ही मनोज-देवता! यदि मेरी मुक्ति की राह में तुम्हारा कुसुम्भी फूलदेश सामने आया है, तो अवश्य उसमें से यात्रा करूँगा। तुम्हारे रासकुंजों के रसाकुल अंधकारों में अव्याबाध संचरण करूँगा। तुम्हारे तमालवनों में निरन्तर चल रही मिथुन-लीला को फूल-हारों की तरह अपने गले में धारण करूँगा। उन फूलों को सूंघकर उन्हें अपनी सुषुम्ना की तुरियातीत नदी में बहा दूंगा। लो, मैं आया काम, तुम्हारे महाराज्य में। तुम्हारी मादिनी हवाओं से मैं अपरिचित नहीं हूँ···।

···चन्दनी रंग का आकाश-वातास। उसमें रह-रह कर छिटक उठती हैं गुलाबी बुँदकियाँ। कहीं अलक्ष्य दूरी में मलयागिरि की श्रेणियाँ। उनके शिखर-देश पर झूमती चन्दन-वृक्षों की पंक्तियाँ। उनकी डालियों में से प्रवाहित मलय-पवन की लहरियाँ। सारा वातावरण उनकी विदग्ध उन्मादना से चंचल है। उन मलय-विटपों के तनों में लिपटे रति-विभोर सर्प-युगल। उनके नील श्वासों से पीत वातास में उभरती हरियाली का विश्व।

···गुलाबी नीहार में से आकार लेता पद्मराग-मणि का भव्य तोरण सम्मुख है। उसके शिखर पर लोहिताक्ष ज्वाला में से तरंगित काम-बीजाक्षर : 'ह्लीं'।···मेरे भीतर ध्वनित हुआ 'ह्लीं···अर्हं'। ओ, वसन्त का सदा-तरुण अप्सरा-कानन। सहस्रों फूलों लदी डालियों के आमन्त्रण।···मैं उस पद्मराग-तोरण में प्रवेश कर गया।

···पलाशों की झाड़ियों में दीपित किंशुक फूलों की कई-कई रातुल हथेलियाँ। उनमें उठती ज्वालाएँ। उनके छोरों पर तरंगित, ध्वनित—'ॐ ह्लीं···ॐ ह्लीं···ॐ ह्लीं।' और चारों ओर खुल पड़ी, सब ऋतुओं के सारे ही फूल वनों और फलवनों की वीथियाँ। जुही और मालती की नाजुक तलाओं से छाये वेलावन।···दूर पर छायी कादम्बिनी अँधियारियाँ। उनमें ऊष्म कचनार-वन, नीले तमाल-कुंज, पीताभ कदम्ब कानन। बहुरंगी फूलों की सुगंधित जालियों से आच्छादित, निगाह के पार तक फैला फूलों का सीमाहीन विश्व। ···रंगारंग फूलों के ज्वार, फूलों के प्रान्तर, फूलों के क्षितिज। फूलों के ही दिनरात। फूलों के ही सूर्य-चन्द्रमा। फूलों के दिगन्त।

···एक इन्द्रधनुषी ओढ़नी, हवा में उड़ती हुई, इस सारे वसन्तराज्य पर फहरा रही है।···उसकी मादन मौलश्री गंध। उसमें जाने किन मंजरित आम्रवनों की गहरी गोपनता का आमंत्रण है।···कोकिल की मादिनी टेर में फूटता पूरा अम्बावन। पकने को व्याकुल एक अदृश्य विपुल आम्रफल। उसकी गुलाबी पीलिमा। उसके भीतर बन्द रस, मार्दव, माधुर्य, स्पर्श का व्याकुल गहराव।

···जाने कौन मँजरियों की बाँहें, मुझे उन रसालवनों की गहराइयों में खींचती चली गईं। कामिनी के पदाघात से फूले अशोक वृक्ष ने मुझे कुंकुम-केशर से रंग दिया। सहकार लता की किसलय हथेलियों ने मेरे अंग-अंग को अबीर-गुलाल से नहला दिया।···

'···टन्न···न्न···न्न!' पृथ्वी के सागर-वलय पर से उठते लाल कमलों के विराट् धनुष की टंकार!···अलक्ष्य में से सनसनाकर आता एक कुसुम-वाण मेरे हृदयदेश की कोर पर आ कर स्तम्भित खड़ा रह गया। ···और सहसा ही, हज़ारों रंगारंग फूलवाणों की वर्षा। अधर में मेरे चारों ओर स्तम्भित उन तीरों ने मेरी रक्त-तरंगों पर इन्द्रधनुष का एक तरल वितान छा दिया।

···मैं तुम्हारे मोह-राज्य के मर्मदेश में आ पहुँचा, कामदेव। कहां हो तुम? दिखाई नहीं पड़ते! अलख स्पर्श के उन्मादन पुष्पाघातों से सारी सृष्टि की चेतना को विकल-घायल कर देते हो तुम।···अनंगदेवता, तुम्हारी चिरन्तन् गोपनता का रहस्योद्घाटन करने के लिये, क्या मुझे भी विदेह हो जाना पड़ेगा? समझ रहा हूँ, स्वयम् अनंग हुए विना, अनंग का मर्मभेद सम्भव नहीं!

...देखो न, वही तो हो गया हूँ। कि तुम्हारे फूलों के तीर मेरे चारों ओर अधर में थमे रह गये हैं। तुम भी अनंग, मैं भी अनंग। नंग से अनंग होने में देर ही कितनी लगती है। अन्तर-मुहूर्त मात्र। तुम्हारे तीर बींधें तो किसे बींधें?···मैं आप ही अपना स्पर्श हो गया हूँ। मैं आप ही अपना रंग, रूप, गन्ध ध्वनि हो गया हूँ। तुम्हारे मोहन राज्य का आभारी हूँ, ओ शरीरों के अदृश्यमान शरीर! मैं तो शरीर लेकर आया हूँ तुम्हारे लोक में।···पर तुम्हारे कुसुमवाणों के मृदु आघातों ने विपल मात्र में ही मुझे अशरीर कर दिया। आघात से परे का अपना अव्यावाध मार्दव मैं पा गया।

···कहीं दूर के परिप्रेक्ष्य में द्राक्ष-लताओं से लिपटे सेववन, नारंगीवन, जम्बूवन, नीम्बूवन, धरा चूमते पीत आमों से लदे अम्बावन। उनकी अज्ञात गोपनता में से फूटती सीत्कार-ध्वनि। ···परिरम्भणाकुल रति की कातर आह, उच्छवास।···शचि और इन्द्र की विलास-शैया का नूपुर-शिंजन।···कुन्द फूलों के वातायन में विदेह-क्षेत्र की कुमारिका। उसका विव्हल केशाविल वक्ष-निवेदन। कैलाश की दो गुम्फित हिम चूड़ाएँ। माणिक्य की खिड़की पर वेला फूलों से लचकती मावलिका का सन्ध्याभिसार। मातंग-विमोहिनी वीणा की सुरावलियों पर उदयन और वासवदत्ता की मिलन-शैया। लाट देश की सुन्दरी के विपुल कुन्तलों में पे घिरता मोहगन्धी अन्धकार। केरल-सुन्दरी के रोमांचनों से उन्मादित कदलीवन और मलयवन। उनके स्निग्ध अन्तःपुरों में अभिसार।

पुलकाकुल कदम्ब, तमाल, चम्पक, कचनार के गहन वन। उनके गहरावों में झूमती, लहराती कादम्बिनी के अनाघ्रात अंधियारे। उनमें जाने क़ितनी देखी-अनदेखी प्रियाओं के अन्तःपुर।…सिसकारियों के सप्तकों में, चिर आलिंगित रति और काम का अन्तहीन रमण-संगीत। ओ…आगत, विगत, अनागत के सारे नर-नारी युगलों को अपने रोम-रोम में क्रीड़ा करते अनुभव कर रहा हूँ।…और पराग की चादरों में रभसलीन हंस-मिथुन, कपोत-मिथुन, सर्प-मिथुन, मयूर-मिथुन : केवल मेरा शरीर, जो किसी भी क्षण होता है, और नहीं भी होता है। मेरे अपने ही में लीन होते शरीर में ये सब सारांशित होकर पूर्णकाम हो गये हैं।

ओ सृष्टि के स्थायी भाव, स्रोतोमूल देवता! तुम हो केवल मेरे ही चैतन्य की एक तरंग। प्राणि मात्र की रक्त-शिराओं में तुमने अपने को धनुषाकार तान रक्खा है। तीनों काल में तीनों लोक, तुम्हारे पुष्पाघातों से घायल विव्हल होते रहते हैं। और नाना रूपाकारों में, नाना सौन्दर्यों में, संचारित हो रहे हैं। वे यों विलस रहे हैं, कि संसार की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित है। यह सब चैतन्य का ही चिद्‌विलास है। चैतन्य के विना भाव कहाँ, स्फुरण कहाँ, रमण कहाँ, परिणमन कहाँ?

सुनो काम, तुम मेरे लिये मेरी आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं। मेरे ही चेतस् चित्त में से तरंगित होकर तुम मेरी एकमेव आत्मा को ही अनन्त सम्भावनों में व्यक्त करते हो। तुम्हारी उद्दाम क्रीड़ाओं में भी मैं अपने ही आत्म की अचिन्त्य महाशक्ति का अनुमान पाता हूँ।

ओ मेरे आत्म के ही विश्वसंचारी वीर्य, देश-काल के पटलों में जी भर खेले तुम अनन्त काल में। लेकिन ओ विदेह, तुम्हारी शरीरिणी रति तुम्हें सदा धोखा दे गई। हर वार तुम्हें रमण की मझधार में अतृप्त छोड़ कर, वह मोहिनी तुम्हारे हाथों में से जाने कहाँ फिसल जाती है!…डरो नहीं काम, मैं तुम्हारा अपहरण करने नहीं आया। मैं तुम्हारे राज्य को मिटाने नहीं, ऊपर उठाने आया हूँ। मैं तुम्हें जला कर भस्म करने नहीं आया, तुम्हें असीम अनाहत में परिपूरित करने आया हूँ।

आओ काम, मेरे आत्मज, तुम्हारी शाश्वत रति, मेरे अन्तःपुर में तुम्हारी व्याकुल प्रतीक्षा कर रही है।…

◆ ◆ ◆

…और लो, कामराज्य का इन्द्रधनुषी नीहार लोक अनायास बीच से विदीर्ण हो गया। वह मेरे दोनों ओर सिमटता चला आया।…नीलाभ दिगन्त का विराट् मण्डल सामने खुल पड़ा है। निस्तब्ध निर्जन। अचानक उसकी कोर पर विशाल हेमाभ पंख पसारे यह कौन उड़ा आ रहा है? उसके पंछी-मुख

में रह-रह कर कोई देवमुख झलक मारता है। उसके मस्तक पर सर्प कुन्तलों की तरह लहरा रहे हैं। उसके दोनों कन्धों पर झूलते दो फुंकारते भुजंगम। एक उसके मस्तक पर फणामंडल तान कर पीठ पर लटक गया है। दूसरा उसे सर से पैर तक मापता हुआ, उसके उपस्थ पर आरूढ़ हो नीचे की ओर धावित है। एक मानवाकार महापक्षी।

···पहचान रहा हूँ तुम्हें, गरुड़-देवता। समझ रहा हूँ, मुझे अपने प्रज्ञालोक में ले जाने आये हो। तुम्हारे भूमण्डल, जल मण्डल, वायु मण्डल, अग्नि मण्डल, आभा मण्डल में उन्मुक्त विहार करना चाहता हूँ। इन्हें पार करके ही तो अपने आत्म के सहस्रार में आरोहण कर सकूँगा।

मैं तुम्हारे चरणों को अपने कन्धों पर धारण करने को प्रस्तुत हूँ। तुम्हारी जंघाओं की तात्विक पृथ्वी मेरे सम्मुख तैर आयी है। कि मैं उस पर पगधारण करूँ। लो, मैं आया···। मैं अवरूढ़ हुआ···! □□

आत्मा का परमाणु विस्फोट

···इन्द्रियों के द्वार बाहर से बन्द होकर, एक अन्तर्मुख बोध में एकाग्र हो गये हैं। मनातीत स्तब्धता में स्थिर हो गया हूँ। साथ ही तलातल में उतरते चले जाने की अनुभूति हो रही है। एक सान्द्र सघनता में चेतना घनीभूत होती जा रही है।

···और देख रहा हूँ सामने, कि गरुड़राज के पगों से उपस्थ तक व्याप्त तात्विक पृथ्वी के राज्य में संक्रमण कर रहा हूँ। धूलि और पंक से पार हो कर, एक अपारदर्शिता में घिर गया हूँ। नितान्त दृश्यहीनता में किसी अटल अवरोध से टकरा रहा हूँ। एक ऐसी स्थिरता और घनत्व, जिसमें ठहराव है। चीज़ें टिक सकती हैं। आधार पा सकती हैं। ओह, धारिणी पृथ्वी! अवरुद्ध करती हो, बाँधती हो, रोकती हो ऊर्जा के प्रवाह को। ताकि गर्भाधान कर सको। अपनी प्रतिबद्धता में से पिण्ड को प्रकट कर सको।

ओ उर्वी, तुम उत्पन्न करती हो, सृजन करती हो। कौन कहता है, कि तुम जड़ तत्व हो? तुम तो माँ हो। माँ अचेतन कैसे हो सकती है। वह तो सृष्टि की स्वतः स्फूर्त प्रज्ञा है।···तुम तो दिये की तरह प्रकट चिन्मति हो। जिनेश्वरों ने तुम्हें आत्मा की एक पर्याय, पृथ्वीकाय देखा और जाना है। भौतिक यों कहा, कि तुम नित्य भवमान हो, हो रही हो। निरन्तर भव्य हो। जो सदा अनन्त-कोटि पिण्डों में प्रकट हो रही है, वह तो जीवन की अजस्र धारा है। उसका जड़त्व से क्या सम्बन्ध।

जड़, कूटस्थ यहाँ कुछ नहीं है। मुझे तो सभी कुछ चिन्तमय प्रतीत होता है। चिन्मय यदि दीपक है, तो मृण्मय उसी के प्रकाश में से आकृत लालटेन है। जब पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि सभी तत्व जीव-निकाय हैं, तो अजीव को कहाँ खोजूँ।···मैं वहाँ से गुज़र रहा हूँ, जहाँ जीव और पुद्‌गल के बीच का परोक्ष धागा अनायास सिरा जाता लगता है। जहाँ भवमान भौतिक, और स्थिरमान आत्मिक के बीच का भेद-विज्ञान एक अकथ बोध में विलुप्तप्राय लगता है।

ओ माँ धरती, किस क़दर खींच रही हो मुझे अपने अन्तरतम कक्ष में। अनिर्वार और विशुद्ध है यह आकर्षण। अत्यन्त कुँवारी कशिश। ···लो, मैं आ गया तुम्हारे गर्भ में। अपारदर्श अँधेरा। शुद्ध अन्धकार। ···और देखते-देखते इसमें ज्योति के बिन्दु फूटने लगे हैं। और मानो शून्य की इस यवनिका

के भीतर कुछ अनावरित हो रहा है।...सहसा ही जैसे पर्दा सिमट गया। नागचम्पा की कर्णिका जैसा एक पीताभ चतुष्कोण सामने आया। जो निगाहों के पार तक सर्वत्र फैला है। उसके प्रसार में बहुत कोमल ज्वारों का आभास। एक रेशमीन ऊर्मिलता, बेमालूम कम्पन। ओ, यह पृथ्वी का मूलगत मण्डल है। इसके हार्द में पीले कमलों का शरीर लेकर यह कौन उठ रही है?... इसके रोम-रोम से केसर-पराग की धूलि झड़ रही है। इसके अंग-अंग में सुगन्ध के सरोवर लहरा रहे हैं।...ओ पृथा, वज्र-कठोर है तुम्हारा यह कोमल बन्धन। तुम्हारे कटिबन्ध को तोड़ने के लिये कई योगी जनम-जनम जूझते हैं। पर तुम्हारी इस वज्रता के भीतर कैसे रस और मार्दव की सुवर्णा छुपी है। सुवर्ण-मल्लिका।

...तुम्हारे शाश्वत कौमार्य के कटिबन्ध को भेदे बिना, तुमसे मिलन साक्षात्कार सम्भव नहीं।...एक प्रचण्ड प्रवेग से सर के बल तुम्हारे उरुमूल में धँसता हुआ, तुम्हारी मेखला के गहरे होते प्रदेशों में उतरा रहा हूँ। ...ओ, यहाँ गहन-गहीर अँधेरे में दीपित हैं रत्नों की खानें, सुवर्ण-रौप्य की खानें, ताम्र की खानें, अभ्रक और पारद की खानें, लोह की खानें, फौलाद के परकोट। वज्र-पंजर के चतुष्टय से आवेष्टित है तुम्हारा यह दुर्ग। और इसके केन्द्रस्थ सुमेरु में तुम्हारा अधिवास है। कपिश-पीत लोहित रंग के दो सर्प, वासुकी और शंखराज, परस्पर गुँथ कर तुम्हारे कटिमण्डल को जकड़े हुए हैं। उनकी शिरोमणियों के सहस्रार में अपार अग्नियों के जंगल हैं।...और मैं ज्वाला के कितने ही तोरणों से अनायास पार हो रहा हूँ।

...और लो, वहाँ आ पहुँचा हूँ अचानक, जहाँ तुम्हारी त्रिवली में सुवर्ण-जल का एक सरोवर है, गहन शान्ति में ऊर्मिल।...पृथा, आद्या कुमारी, तुम्हारे कौमार्य ने मुझे कृतार्थ किया। यहाँ तुम्हारे पूर्णालिंगन में आते ही, एक अद्‌भुत अतिक्रान्ति अनुभव हो रही है। तुम्हारी उरु-सन्धि में से एक सुवर्ण कमल की तरह प्रस्फोटित हो कर ऊपर उत्क्रान्त हो गया हूँ।...

...एक घनसार तरलता में अवगाहन की अनुभूति हो रही है। अन्तरतम के ज्वारिल द्रवों का घनीभूत संस्पर्श। चेतना के सुदूर तीरों में तड़पती विद्युल्लेखाएँ। उनकी बाँहों में आन्दोलित मेघों के घहराते पटल। जो बात की बात में धारासार बरस कर समुद्र का श्यामल प्रसार हो गये हैं।

आह, यह वरुण का जलराज्य है। इसकी अगम्य गहराइयाँ मुझे पुकार रही हैं।...लो, मैं आया, मैं आया वरुण देवता, तुम्हारे तारल्य के लोक में।

◆ ◆ ◆

…क्षितिजहीन तरलता का मण्डल । दिशा, दर्शन, ज्ञान के तटों को बहाता हुआ । प्रवाह और परिणमन का नग्न साक्षात्कार । अपमण्डल, जलजलायमान विश्व : जल, जल, अन्तहीन जल ।…मण्डलाकार, फिर भी मण्डलातीत । पद्म और कर्कोटक नामक आशिविष सर्पों से आवेष्टित । सर्प, जिनमें क्षीर समुद्र के पटल आबद्ध हैं। बंध कर भी जो अनुपल बन्धन तोड़ कर नित नव्य कुण्डलों में ऊपर की ओर उत्थायमान है। अपने प्रभा-जाल से ही मानो जो आकाश को आविर्मान कर रहे हैं। उन सर्पों के बीच समर्थ वरुण दिक्पाल ने गरुड़ का उत्संग निर्मित किया है । वह जल के बीजाक्षरों से स्फुरायमान है। श्वेत पुण्डरीक वन पर तरंगित अक्षरमाला। उनमें अनुक्षण जल शुक्ल कमलों में आकृत हो रहा है।…और कमलजाल जल में विसर्जित हो रहा है।

…जलप्रभा का तात्विक पारावार। उसके केन्द्र में अर्द्धचन्द्राकार वरुण-मण्डल । उसमें से विच्छुरित होते जल-किरणों के वितान । इन्द्रधनुष का एक विराट् गुम्बद् । उसके छोरों पर से फूटते दिग्वलय । उस गुम्बद तले जल-हरिणी पर आरूढ़ वरुण-देवता । उसके हाथ में है लहरों का पाश ।

…लो, मैं आया तुम्हारे पाश में।…लेकिन यह क्या, कि कोई किसी को बाँध नहीं पा रहा । लहरें, जो आप ही अपने को बाँध रही हैं, आप ही अपने को खोल रही हैं। लहरें, जिनमें बँध कर, मुक्ति के उन्मुक्त क्रोड़ में खेल रहा हूँ ।

…आप्लावन, आप्लावन, आप्लावन! एक साथ ऊपर के अगम्य में आरोहण, नीचे के अथाह में अवरोहण । अवगाहन, अवगाहन, अवगाहन! अतल के वनस्पति-वनों में महा जलसर्प की तरह संसरित हूँ।…ओह, वड़वानल की मण्डलाकार राशियाँ। हिमानी की अन्तर्निहित अग्नियों में स्नान कर रहा हूँ।… …और लो, त्रिवली के त्रिकोणाकार ध्रुव-प्रदेश में आ पहुँचा हूँ।…

उसके केन्द्र में, वासुकी के फणामण्डल पर मगर-मच्छों की शैया। उस पर अँगड़ाई लेकर उठ रही है, यह कौन श्वेताभ जलांगना!…लहरों की हज़ारों बाँहों से परिवेष्टित मैं, मकर के जबड़ों में यालित। उस जलान्धकार में, कटि से कटिसात् बाहुबद्ध जलिमा के साथ संघर्षण। समुद्र-मंथन। अपने ही वक्ष में से तड़कती बिजलियाँ। दारुण वज्राघात। उसमें से विस्फोटित जलराज्य की गहिरम अन्तरिमाएँ। उनमें दीपित सीप, शंख, मुक्ताफल, प्रवालों के ज्योतिर्मय कक्ष। कालकूट विष के प्याले में उफन रहे अमृतफेन। कहाँ गई वह वरुण सुन्दरी? वह केवल मेरी ही आँखों में छलकती वारुणी हो रही। मेरी ही वैश्वानर, मेरे ही आत्म में से अविरल प्रसारित विद्युत् का पारावार। उसमें से तरंगित त्रिकालवर्ती अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड। मेरी ही

आत्मशक्ति, मेरी ही चितिशक्ति। उसके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं।

लो, मैं विस्फोटित हुआ। समस्त लोकाकाश के आरपार तड़कती विद्युल्लेखाएँ। वह्निमान लोक-पुरुष, नाभि-कमल पर दण्डायमान।...यह कौन है, यह कौन है?...

देख रहा हूँ गरुड़राज, यह तुम्हारा उर:प्रदेश है। वह्नि दिक्पाल का महाराज्य। अनन्त और कुवलिक नामा ब्राह्मण जाति के सर्पों से यह वलयित है, संरक्षित है। अनन्त मण्डलाकार ज्वालाओं की पंक्तियों से यह परिव्याप्त है। ज्वालाएँ, जिनकी आकाशभेदी लपटों में एक महासर्पिणी ऊर्ध्वों में फूत्कार रही है। अपनी असंख्य कुण्डलियों के ग्रंथिजाल में से उन्मुक्त होती हुई, जो अगम शून्यों के पटलों को कम्पित कर रही है। निस्पन्द स्तब्धता के प्रान्तरों में जो एक स्फोट के हिलोरे जगा रही है।... लो, घटस्फोट हो गया!

...उस शून्य के केन्द्र में उद्गीर्ण हो उठा एक धगधगायमान हवन-कुण्ड। उसकी हुताशन-शिखा पर एक श्वेत कर्पूरी लौ। उसमें स्फुरित है बीजाक्षार 'रं' : उसकी 'रंकार' ध्वनि से शून्यों के रिक्त मण्डल सत्ता के संचरण से आपूरित हो उठे हैं। उस हवन-कुण्ड की त्रिकोण वेदी के तीनों कूटों पर अंकित हैं लोहिताक्ष ज्वाला के स्वस्तिक। माणिक्य के स्तवकों में, जैसे सृजक वैश्वानर की मांगलिक अग्नि विराजित है। कला में चित्रित, समाहित, स्तंभित। वह सर्वत्र अन्तर्व्याप्त है।

चित्र-विचित्र सृष्टि के अग्नि-वीज। अज्ञान के अँधेरों में लिपटे हुए। जड़ कर्म-रज के बन्धनों में आवेष्टित।...लेकिन चिन्मय अंगिरा उन खोलों को बरबस तोड़ कर फूट निकलते हैं। फिर भी बन्धक रज के अदृश्य तंतु-जाल चिन्मय अग्नि शिखाओं के स्वाभाविक उपग्रह को व्यभिचरित करते हैं। ...और विशुद्ध वैश्वानर में कषाय के कड़वे धुंए उठने लगते हैं। और यों मूलतः सुन्दर सृष्टि अपने प्राकट्य और विस्तार में विषम, विसम्वादी हो उठती है। सुन्दर चेहरे में से असुन्दर फूट निकलता है। इस क्षण का अत्यन्त आत्मीय लगता प्यार, अगले ही क्षण वैर हो कर सामने आता है।

परम जीवन अग्नि, विनाश और मृत्यु से धूम्रायित हो जाते हैं। सारी सृष्टि घुटन में जीती है; मौत, अरक्षा और अनिश्चय की सुरंगों में उलझ-उलझ जाती है। जीवन-जगत एक अन्तहीन संत्रास, और त्रासदी के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगता। सारे सौन्दर्य, प्यार और सम्बन्ध अन्ततः अपने ही को धोखा देते दीखते हैं।...कहाँ, कैसे इससे निष्कृति हो? आह, मेरी इस

वेदना को कौन समझेगा ? कौन···कौन···कौन ? अरे कोई सुनता है कहीं मेरी पुकार, मनुष्य के बेटे की पुकार, सत्ता के इन अन्तहीन मण्डलों में ?···

···लो, उस केन्द्रीय हवन-कुण्ड का 'रं' से अंकित हुताशन एक विकराल जिव्हा में प्रलम्बित होता हुआ आकाश को भेद रहा है। असत्ता के जड़ रिक्तों से टकरा रहा है।···और वहाँ, सत्ता और असत्ता की अलक्ष्य सन्धि पर, तुमुल अन्धता का भीषण प्रकोप। उसमें से एकाएक कोई विह्लमान पुरुष कूद कर वेदी पर आ खड़ा हुआ है। अज (बकरे) पर सवार है, वह अजन्मा। और वह मुझे ज्वाला की बाहुएँ उठाकर आवाहन दे रहा है:

'ओ रे शाश्वत मनुज, आदि मनु-पुत्र, आओ, आओ, आओ, यह 'रंकारी' हुताशन तुम्हारी आहुति माँगता है। ताकि जड़त्व के सूक्ष्मतम हठीले खोल कट सकें, और वैश्वानर निर्धूम हो कर, निर्बाध हो कर, अपने विशुद्ध सौन्दर्य और सम्वाद के विश्व को मनुज की पृथ्वी पर प्रकट कर सकें।'

और अजारोही अंगिरा ने अपने हाथ में थमे सारांशी अग्नि के आलात (ज्वलित काष्ठ) को अधिकतम ऊपर उठा कर उसे एक चुनौती की तरह मुझ पर फेंका। उसे मैंने अपने नग्न हृदय के कमल में झेल लिया।···और लो, मैं आपाद-मस्तक विशुद्ध, पारदर्श अग्नि-शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो उठा। ···और काल के शून्यांश मात्र में, जाने कब, मैं एक ही सहस्रपाद छलांग में, उस असत्ता से संघर्षित हुताशन की 'रंकारित' शिखा में कूद पड़ा। विशुद्ध अग्निला से विशुद्ध वैश्वानर का चरम आलिंगन। उसकी निविड़ता में, चिरकाल के अटल, अजेय कर्म-भूभृतों का भंजन, विस्फोट। ···श्वेत भस्मों की ढेरियों से व्याप्त अन्तरिक्ष के भीतरी प्रसार।

···और मेरी आग्नेय साँसों में घुमड़ उठे प्रलय के प्रभंजन। उनमें उड़ कर विलीयमान होती, वे पांडुर भस्म की राशियां। अफाट पर्जन्यों का तुमल गर्जन। हवा के दिगन्तवाही पालों में पिघल कर विलीन हो रही बिजलियाँ। विशुद्ध वायु की तरंगमाला। और उस पर आरोहित मैं।···कहाँ···किस ओर···?

···ओ गरुड़ देवता, देख रहा हूँ, यह तुम्हारा मुख-मण्डल है। सकल भुवनों में व्याप्त अनेक पवनों की अलकावलियों से यह मंडित है। देख रहा हूँ, कि तक्षक और महापद्म नामक शूद्र जाति के दो सर्पों के कुण्डल यह धारण किये हुए हैं। उन्हीं की फूत्कार से विस्फूर्जित हो कर पवन दसों दिशाओं में बहता है। चौदहों भुवनों के आभोग को उसने कम्पायमान कर रक्खा है। अपने द्वारा उड़ाये हुए भ्रमरों की कालिमा, तथा उससे मिश्रित

अपने शरीर की विपुल उच्छ्वास-प्रभा से उसने समस्त आकाश-मण्डल को कुर्वुरित कर रक्खा है ।

मरुत-मुद्रा से मंडित, ओ वायु-पुरुष, मैं तुम्हारे आमने-सामने हूँ। जल-सीकरों से निर्मित तुम्हारे भामण्डल में, अपने जन्मान्तरों के भस्मीभूत कर्मचक्र को विशुद्ध पुद्‌गल द्रव्य में विगलित देख रहा हूँ।...कल्पान्त काल की आँधियाँ एक त्रिक में स्थिरीभूत हो कर, तुम्हारे आसपास एक निलय रचे हुए हैं। उसके केन्द्र में व्योमातीत व्योम के निगूढ़ विवर में तुम्हारा अधिवास है। नीलांजन घन की सान्द्र छाया तले, देख रहा हूँ तुम्हें, वातप्रमी जाति के हरिण पर सवार। वेगीले विहार से लीलायित तुम्हारे दुर्ललित हाथों में दोनों ओर दोलायित हैं, शाल वृक्ष की शाखायें। उनके छोरों पर रह-रह कर किसलय फूट रहे हैं।...

उन्चास पवनों के झकोरों पर आरोहित, पुष्पित शालों की वनलेखाएँ।... जो मेरी पश्यन्ती दृष्टि के उन्मीलन में, जाने कब अपसारित होकर, एक श्वास मात्र हो रहीं, मेरे नासापुट पर स्तम्भित।...

और अब मेरे समक्ष है, गरुड़राज की समग्र मूर्ति, समस्त आकाश को परिव्याप्त किये हुए। जिसकी परात्परगामी उड़ान को देखा नहीं जा सकता। अमिताभ हैं उसके दिगन्तरगामी पंख। जो इतने वेगीले हैं, कि गति का यह चरम वेग ही, परम स्तब्धता बन गया है। उनके विराट् प्रसारों पर सरसरा रहे हैं जय और विजय नामा महासर्प। जिनकी मणि-प्रभाओं से दिशाओं में उजालों के वरण्डे खुलते जा रहे हैं।

अनन्तों में उड्डीयमान प्रज्ञा-पुरुष, गरुड़ देवता। अपने अधो भाग में पृथ्वी को समेटे। अपने आभोग में स्वयम्भू-रमण समुद्र से वलयित। उरस्थल में अग्नियों की वनमाला धारण किये। मुख-मण्डल में असंख्य वायु-पटलों से प्रकम्पित।...तुम्हारी प्रज्ञा में तत्व अपनी तमाम विविधताओं के साथ प्राकट्य-मान है। कृतज्ञ हूँ तुम्हारा, हे महाविज्ञान, कि तुम्हारे भीतर पाद से मस्तक तक यात्रा करते हुए, मैं तत्व की हर सम्भव लीला में लीलायित हुआ, अभिव्यक्त हुआ। उसके भीतर-बाहर को एकाकार पार किया। अमूर्त से मूर्त में में, और मूर्त से अमूर्त में एक बारगी ही अन्तर-संक्रमित हुआ। और अब तुमसे उत्तीर्ण हो कर, फिर अपने आत्म के और भी अगले तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। और देख रहा हूँ, तुम्हारे एकाग्र सम्पूर्ण विग्रह को। आकाश-मण्डल को कभी अपने सर्वव्यापी पंखों से प्रसारित करते हुए, कभी अपसारित करते हुए, उससे भी परे उड्डीयमान।

…ओ समस्त की संचारिणी शक्ति काम, तुम मुझसे अन्य कोई नहीं। तुम भी केवल आत्मा ही हो। और समस्त के प्रकीर्णक और प्रज्ञाता, विकीर्णक और विज्ञाता गरुड़देव, तुम भी मुझसे अन्य और कोई नहीं। अन्ततः केवल आत्मा ही हो। आत्मा, जिसकी ज्योति, शक्ति और सम्भावना का पार नहीं।…

…केवल मैं, केवल मैं। केवल आत्म, केवल आत्म। ऊर्ध्वातिऊर्ध्व के मण्डलों में उड्डीयमान।…

…और ऊपर, और ऊपर, और ऊपर।…आकाश से भी परे का आकाश। महाशून्य में एकाएक प्रस्फुरित नीलिमा का निलय।…'तच्चिन्मयो नीलिमा।' उसके गहन में विश्रब्ध एक ज्योतिर्वलय। उसमें पद्मासनासीन, एक आत्मलीन पुरुषाकृति। जिसमें सारे रंग एक साथ तरंगित हैं। और वह रंगारंग तरंगमाला, एक अगाध श्वेतिमा में निर्वापित है। अविभाज्य समय में, तरंगित-निर्वापित: निर्वापित-तरंगित। अकम्प श्वेत, एकाकी लौ।…शिव, सदाशिव, परशिव। परात्पर शिव।…मैं।

…मैं मैं मैं — मेरे अतिरिक्त कहीं और कोई नहीं।

…मेरे पैरों को जकड़े हुए काल का महाव्याल। आठों कर्मों की साँकलें अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ झनझना रही हैं। मुझे और भी कस रही हैं।… छटपटा रही हैं, तड़तड़ा रही हैं, टूटते-टूटते मुझे और भी अधिक जकड़े चली जा रही हैं।…

…मुझे पुद्गल के उन विक्षुब्ध पाशों पर दया आ गई। मेरे ही चैतन्य में से अवरूढ़ राग की ये जन्मान्तरगामी सन्ततियाँ। निर्दोष हैं ये। ये अपना काम कर रही हैं। मैं अपना काम कर रहा हूँ। ये अपने स्वभाव में सक्रिय हैं। मैं अपने चिद्भाव में सक्रिय हूँ। इनका स्वभाव है बाँधना। तो ये बाँध रही हैं। मेरा स्वभाव है खुलना, खोलना। तो मैं खुल रहा हूँ, खोल रहा हूँ।…

…मेरे चारों ओर संक्षुब्ध, फूत्कारते व्यालों के फणामण्डल। तड़क कर टूटती श्रृंखलाओं की झंकारें।…और ठीक तभी मैं अपने पीछे, असीम अतीत में एकाग्र देख रहा हूँ। महाकाल की असंख्य पुंजीभूत तिमिर-रात्रियाँ। अन्धकार की परात्परगामी खाई। उसकी घोर अँधियारी कगार। तमस का घहराता काला सागर। तमिस्रा के आरपारगामी जंगल।…कज्जल-गिरियों की उत्तुंग श्रेणियाँ।…उनमें संघटित होती वज्र चट्टानें। मेरी हड्डियों में अनुभूत।

…विशुद्ध लोह की पर्वत-साँकलें। चुम्बकीय शक्ति के वर्तुलों में परस्पर संघपित। विशुद्ध मोहनीय कर्म की सरणियाँ। मेरे पीछे छूटते पदाघातों से टूटती हुई। फौलाद के बेशुमार गोपुरम्—एक में से एक निकलते ही जा रहे,

अन्तहीन। मेरी टिकती और उठती एड़ियों से ध्वस्त होते हुए।...मेरी उत्तरोत्तर ऊपर को आरोहित छलांगों में–जसत के पर्वत, राँगे की शैलमालाएँ, मेरी पगचापों से अतल में धँसती हुई।...ताम्र की रक्ताभ शृंगलेखा। तेजोलेश्या का प्रदेश। कर्म-वर्गणाओं का मिश्रित प्रसार। विचित्र विकुर्वित भावों के चट्टानी शिल्प।

...पीतल के विशाल परकोटों से आवद्ध कास्य का दुर्भेद्य रहसीला दुर्ग। रौप्य और सुवर्ण की भ्रान्तियों से जगमगाता हुआ। अनेक नाम, रूप, आकार। सुरूप-कुरूप अवयवों, ध्वनियों, चेहरों के प्रसार। कीर्ति, कामिनी, कांचन की सुवर्ण साँकलों से आवेष्टित मेखलाएँ, कर्णिकाएँ, बारहदरियाँ, बुर्ज। साम्राज्य। इतिहास।

...मेरी साँसों में प्रलय के प्रभंजन। मेरी पगतलियों से फूटती सत्यानाश की झंझाएँ। मेरी अलकावलियों में धधकते नील-लोहित ज्वालाओं के भुजंगम। काल, जो मेरे केशों में, सुधा-पालित सर्पों की तरह शरणागत है। और उस पर उदित है दुइज की चन्द्रकला।

...मेरी दिङ्मण्डल व्यापी छलांगों की झंझा-झांझरों में, धारासार धूल के पर्वतों की तरह झड़ते माया के सुवर्णदेश।...कर्मों का दुर्भेद्य चक्रव्यूह, चूर-चूर हो कर बहता हुआ।

...और मेरे आरोहमान अगले चरण तले श्वेत रूपाचल। रौप्य की शृंग-श्रेणियाँ। उपशम श्रेणि का प्रदेश। शिखरों पर शान्त, निश्चल, अनाहत। निर्मल धवलता का प्रसार। पर उसके तलों में दबे पड़े हैं कषायों के अँधियारे स्तूप।... लो, मेरे पदांगुष्ठ से विचूर्णित हुआ रूपाचल का सर्वोच्च शान्त शिखर। पातालों में पर्यवसित वासना के सहस्रों व्याल उस सुन्दर रजत चूड़ा से फूट पड़े। मेरे पिछले पग के टखने में लिपट कर वे शरणागत हुए। मेरे संवेग की उत्ताल अग्निम तरंगों में भस्मीभूत हो कर, वे दिशाओं में विलीन हो गये।

...आरोहण, आरोहण, आरोहण। एक गभीर अवगाहन की अनुभूति। मेरे कटि-प्रदेश को मण्डलित किये अभ्रक की श्रेणियाँ। मेरे प्रशम के संवेग से विचूर्णित हो गई वे अभ्रक की राशिकृत परतें। चमकीली रेणु का अति कोमल, प्रवाही आभाजाल।...मुझे कटिसात् करता हुआ।...ओ, मेरी शिवानी का रजो-प्रवाह!...मेरे उपस्थ में कम्पायमान पारद का समुद्र। अस्खलित, आत्म-समाहित। ऊपर की ओर अनाहत आरोहित।

...सहसा ही मेरी कटि के चहुँ ओर मंडलायित, प्रवाहित वह अभ्रक की रेणु-राशि। हठात् वह एक परमा सुन्दरी में विग्रहीत हो गई।...ओह, त्रिभुवन सुन्दरी, प्रज्ञा-पारमिता, ललिता, भुवनेश्वरी भगवती। ...एक प्रचण्ड प्रकर्पण, उत्कर्पण का हिल्लोल।...और लो, वह चरम लावण्या ललिता, मेरे ऊर्ध्व-रेता महावीर्य पारद में उत्संगित हो गई।...

...तरंगित पारद का महा प्रसार। उसके बीचोंबीच आबद्ध, निश्चल पारद का महा गोलक। उस पर छायी अभ्रक की बहुत महीन ओढ़नी। ...सहसा ही उसमें गभीर, अदृश्य आग्नेय परिणमन। एक नग्न लहराती ज्वाला-देह।...और देखते-देखते उसके तले वह पारद का महालिंग तरंगित हिरण्य-प्रभा से भास्वर हो उठा। जातरूप हिरण्य का एक सुवर्णाचल। अपने ही आप में परिणमनशील। अपनी ही पीतप्रभा में सहज ऊर्जस्वल। संकल्प-विकल्प से परे एक कल्पकाम महेच्छा का सुमेरु। अहो, यह पीत लेश्या का प्रशान्त पद्मवन है, जिसकी झलक कई बार अपनी अन्तश्चेतना में स्थिर होने पर पा चुका हूँ।

...उस सुवर्णाचल की चूड़ा में फिर यह कैसा सूक्ष्म कम्पन है? मेरे अतल की शयित अग्नियों में एक विस्फूर्जन, उत्तोलन। वह सुवर्णाचल उसमें अधिक-अधिक प्रतप्त होता चला गया। ...उसकी पीलिमा उत्तरोत्तर पिघल कर, एक वृहद् धवलिमा में रूपान्तरित हो रही है।

...मेरे नाभि-कमल से उठती तेजशिखा में, देखते-देखते वह सुवर्णाचल गल कर एक सुवर्ण का अजस्र प्रवाह हो गया।...और अचानक देखा, कि वह प्रवाह मेरे भ्रूमध्य में प्रज्ज्वलित एक श्वेत लौ में लीन हो रहा है।...और वहाँ खुल पड़ा एक हीरक का प्रभाविल महा प्रान्तर। उसके केन्द्र में उत्तिष्ठित है, एक निश्चल हीरक-कूट।...

और उसकी स्तब्ध चूड़ा पर बैठा है, यह कौन एकाकी तेज-पुरुष! उसकी वासना का अन्त नहीं। अनन्त द्रव्य-पर्याय में परिणमनशील ऊर्जा का वह स्रोत है। ऊर्जा, जो उसी के हृदय-कमल में से उद्गीर्ण परम रमणी है। ...आज, इस लग्न मुहूर्त में, अपने समस्त परिणमनों को निस्तब्ध कर, वह उस ऊर्जस्वला को एकाग्र, एकान्त रूप से अपने आलिंगन में आबद्ध पाना चाहता है।...उस तेज-पुरुष की महावासना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

...समस्त दृश्य-अदृश्य लोकालोक, निमिष मात्र में उसके मन में लीन हो गये। मन प्राण में लीन हो गया। प्राण एक श्वास मात्र रह कर आत्मस्थ-हो गया। एक गहन, सर्वातीत, विश्रब्ध समाधि।

...उसके मेरुदण्ड के षट्चक्रों में नीचे से ऊपर की ओर, तथा ऊपर से नीचे की ओर निरन्तर अवसर्पित और उत्सर्पित एक महासर्पिणी। वह प्रचण्ड वेग से ऊर्ध्वारोहण करती हुई फुँफकार रही है। उसकी असंख्य कुण्डलियाँ खुल कर एकोन्मुख उत्थायमान हो चलीं। वह अपनी क्रीड़ा के सारे चक्रों और मण्डलों में धावित होने लगी। आज्ञाचक्र की अकम्प्य लौ का भेदन करती हुई, वह ब्रह्म-रन्ध्र में पछाड़ें खाने लगी।...

…बहत्तर हज़ार नाड़ियों में प्रवाहित मेरा प्राण, सहसा ही अपसारित हो गया। और वह सूर्य और चन्द्र नाड़ियों में एक तीव्र मिलनाकुलता से प्रवाहित होने लगा।…जाने कब सूर्य-श्वास चन्द्र-श्वास में लीन हो गया। चन्द्र-श्वास सूर्य-श्वास में लीन हो गया। सूर्य और चन्द्र नाड़ी एकीकृत हो कर सुषुम्ना में विलीन हो गई।

…मैंने चरम श्वास खींचा। उसमें लोकालोक में व्याप्त सारे पवन एकाग्र खिंच कर परिपूरित हो गये। मेरे हृदय के कुम्भ में वे निश्चल हो गये। …और लो, पृथ्वी अप में लीन हो गयी, अप तेज में लीन हो गया। तेज वायु में लीन हो गया। और एकमेव वायु मेरे हृदय-कुम्भ में स्तब्ध हो गया।

…अन्तर-मुहूर्त मात्र में मन, वचन, काय के सारे कम्पन स्तब्ध हो गये। विषय और विषयी का भेद समाप्त हो गया।…एक निर्विषय निर्विकल्पता में सभी कुछ निस्तरंग हो गया। एक शुक्ल प्रशान्त अन्तरिक्ष, जहाँ कहीं कोई नहीं है। कुछ नहीं है। मात्र एक निःसीम शून्य का राज्य।

उस स्तब्धता में सहसा ही एक उत्तोलन, आरोहण। क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ होता एक नग्न तेज का विग्रह। हृदय-कुम्भ में निस्तब्ध श्वास का एक प्रचण्ड संघात।

…ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर, उत्तान गतिमान तेज-शलाका। मस्तक में एक गहन उद्भेदन का आघात।…

…खुल पड़ा ऊर्ध्व में, सहस्रार का महासुख-कमल। असंख्य पाँखुरियों में पल्लवित। लोकाकाश, अलोकाकाश को परिव्याप्त करता हुआ।

…उसमें अनन्त कोटि सूर्यों की प्रभा, अनन्त कोटि चन्द्रमाओं में अभि-सरण करती हुई। उसकी कर्णिका में गहन सुख-शान्ति की पराग-शैया। उसमें आत्मरमणलीन परशिव, सदाशिव, अपने ही आप में नित्य परिणमनशील।…

हृदय के कुम्भ में से उत्सर्पित हो कर उत्थायमान हुई शिवानी। और वह उन अर्हत्-पुरुष शिव की गोद में उत्संगित हो कर, उनकी निरंजन ज्योति में तद्रूप आलिंगित हो गई।…ओह, मेरा आत्म ही शिव है, मेरा आत्म ही शिवानी है। मुक्ति स्वयम् ही बाला-वधु हो कर मेरी गोद में आ गई है।

…और अपनी गहराइयों में अनुभव कर रहा हूँ, अनन्त रमण, अपनी आत्म-रमणी के भीतर उत्संगित हो कर। हृदय के कमल में उससे अजस्र अमृत का क्षरण, प्रस्रवण।…जिसके भीतर पूर्ण ज्ञान ही, महाभाव हो गया है। आत्म-सम्वेदन ही, सर्व-सम्वेदन हो गया है।

…सहसा ही रमण, एक गहन विरमण में विलीन हो गया। एक निस्पन्द, निस्तरंग विश्रब्धता।

एक विराट् निस्तब्धता का देश-कालातीत प्रसार।

उसके बीच सहसा ही एक निःस्वन ब्रह्माण्डीय विस्फोट। नाद, बिन्दु, कला का एकाग्र उत्सरण।

...और लो, पृथा के गर्भ से फूट पड़ा एक अनन्तगामी इन्द्रधनुषी हुताशन। त्रिकोणाकार। उसकी परम शीतल ज्वालाओं में रह-रह कर उठती नाना रंगी ऊर्मियाँ। त्रिकोण की दोनों खड़ी भुजाओं पर भंगिम लपटों के रंगीन छल्ले।

और उस महा हुताशन की शिखा, आकाश के सारे ऊर्ध्वातिऊर्ध्व मण्डलों का भेदन करती हुई, तुरीयातीत शून्य में विलीयमान है।...

...अनायास एक अगाध शान्ति में सब कुछ निर्वाण पा गया।

...एक महाशून्य, विराट्, निःसीम।

...कहीं कोई नहीं। मैं भी नहीं। वह भी नहीं।

...पर यह कौन है, जो इस सब को देख रहा है?

कैवल्य के प्रभा-मण्डल में

[वैशाख शुक्ला दशमी : अपराह्न]

हठात् भीतर के अतल में एक महा घटस्फोट हुआ। ऊपर के अज्ञात में अनादि अन्धकार का विराट् गुम्बद विदीर्ण हो गया। परात्पर हृदय की कमल-कर्णिका में अनायास शुभ्र निरंजन ज्योति प्रस्फुटित हो उठी। एक ही समय में उसमें समस्त लोकालोक प्रकाशित हो उठे।

...अकस्मात् मेरा आसन उत्थान हो गया।...अन्तरिक्ष के अधर में उत्फुल्ल अम्भोज की तरह आसीन हूँ। मस्तक के चारों ओर असंख्यात सूर्य-चन्द्रों का प्रभा-मण्डल उद्भासित है। सारे ही ग्रह-तारा मण्डल उसमें तरंगित हैं।

मैं बाहर की ओर उन्मुख हुआ। मेरी आँखें निखिल पर खुल उठीं। भीतर और बाहर भिन्न नहीं रहे। वे मेरे एक ही ज्ञानचक्षु के दो अविना-भावी आयाम हो गये। दिशाएँ दर्पण की तरह स्वच्छ हो गई हैं। सर्वत्र शाश्वत वसन्त का मलयानिल वह रहा है। सारी ही ऋतुओं के फल-फूल एक साथ खिल आये हैं।

मेरे तृतीय नेत्र के उन्मीलन में झलका :

तीनों लोक और तीनों काल अनन्त मण्डलाकार मेरे चारों ओर चक्राय-मान हैं। अनादि से अनन्त काल तक की सृष्टि एकाग्र मेरे चैतन्य की लौ में आलोकित है। आगत, विगत, अनागत की चौरासी लाख जीव-योनियाँ मेरी प्रत्यक्ष दृष्टि में परिभ्रमणशील हैं। हथेली पर रक्खे सहस्र पहलू स्फटिक में, जैसे त्रिलोक और त्रिकालवर्ती पदार्थ और प्राणि मात्र के समस्त परिणमन का एकाग्र अवबोधन कर रहा हूँ।

सूक्ष्मतम परमाणविक रज के असीम धूमिल प्रवाह देख रहा हूँ। और उसी क्षण उनके भीतर से खुलते रौप्य और सुवर्ण रज के प्रवाह देख रहा हूँ। कितनी सुनम्य और मृदु है शुद्ध द्रव्य की यह धारा। कितनी सम्वेदन-शील, संस्पर्शशील। भावों के अनुसार यह रूपायित होती चली जाती है। असंख्यात रूप-आकार प्रकट होते हैं। प्राणियों की योनियाँ परम्परित होती हैं।

अपने आसपास मण्डलाकार घूमते देख रहा हूँ, नाना जीव-गतियों के विश्व। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश के सन्धान। खनिज धातुओं के

राज्य । वनस्पति राज्य । निगोदिया जीवों की नदियाँ । नाना जाति के तिर्यंच कीट, पतंग, पशु, पंखियों की उफनाती नदियाँ। नरकों की यातना-नदियाँ। काल की महाधारा में मनुष्य का मृत्यंजयी पुरुषार्थ। उसके बहु-आयामी संघर्ष। उसके जय-पराजय, विकास-प्रगति के अभियान। उसके लीला-खेल, प्रणय-प्यार, विद्या-विलास, कला-सृजन, अन्वेषण-आविष्कार। सौन्दर्य, तेज और ज्ञान के महा स्वप्न। उसके वैभव, ऐश्वर्य, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ। आत्मजय और विश्वजय का उसका परम पुरुषार्थ। काल के भाल पर अंकित उसकी लब्धियों के अमृत-लेख। सहस्राब्दियों व्यापी पुराण, इतिहास, काव्य, दर्शन, कला, शिल्प, स्थापत्य में व्यक्त, व्याप्त। अनादि से आगामी तक का शृंखलित इतिहास।

…यह सब मानो एक काल-परमाणु में एकाग्र देख रहा हूँ। इस देखने में कोई आगा-पीछा नहीं है। समस्त को अपनी अन्तर-ज्योति के एक मण्डल में देख रहा हूँ। अनुक्रमिक नहीं है मेरा यह दर्शन और ज्ञान। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम में नहीं देखता, नहीं जानता। सर्व को एक ही समय में एकाग्र, समग्र, संयुक्त देख-जान रहा हूँ। जानने का कोई संकल्प नहीं। ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विकल्प नहीं। ज्ञाता-ज्ञेय में, और ज्ञेय ज्ञाता में सहज युगपत् प्रतिबिम्बित हैं। दर्पण में दर्पण का अभिसार। गहराव में गहराव का आलिंगन। ज्ञान का धारासार प्रवाह। ज्ञेय का धारासार प्रवाह। उनमें परस्पर संगुम्फन, संक्रमण, अतिक्रमण, अन्तःक्रमण। सचेतन भी, अचेतन भी ज्ञानात्मक भी, अज्ञानात्मक भी। और उस टकराव में से क्षरित होती शुद्ध रस, आनन्द, सौन्दर्य की अक्षत धारा। कला और सृजन का निरन्तर काम-कला-विलास। नाद, विन्दु और कला का अनवरत लीला-खेल।

मैं परमाणु से लगा कर ब्रह्माण्ड के हर अस्तित्व तक की भीतरिमा में झाँक रहा हूँ। एक तृण के कम्प में भी अपने ज्ञान से संचरित हूँ, और भूगर्भ से लगाकर मानुषोत्तर पर्वत के आरपार तक मेरा वीर्य अनायास अभिसारित है। हर वस्तु, हर व्यक्ति, हर सत्ता मेरे हृदय में अपना भेद खोल रही है। हर परमाणु के ज्योतिर्मय कक्ष में निरन्तर चिद्विलास कर रहा हूँ। मैं हर पत्ती और फूल की रगों में जीवन का रुधिर बन कर परि-णमनशील हूँ। मैं त्रिलोक और त्रिकाल के हर पदार्थ और आत्मा के साथ घर पर हूँ—अभी और यहाँ। मैं उनके अत्यन्त आत्मीय एकान्त में हर समय उनके साथ हूँ। उनके भाव और अभाव का समान संगी हूँ। महाभाव में उनके साथ तदाकार हूँ। महाज्ञान में उनका ज्ञाता-द्रष्टा साक्षी हूँ। मैं एक ही समय में उनके साथ तद्रूप हूँ, और फिर भी उनसे भिन्न, परे स्वयम् आप हूँ। असम्पृक्त, एकमेव अखण्ड सत्ता-पुरुष। जिसके एक अंश में सब कुछ परिणमनशील है, और स्वयम् अंशी इनसे अतीत है।

हर पदार्थ के निरन्तर उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व रूप परिणमन को अपनी हथेली में खिले कमल की तरह, उसके हर रग़ो-रेशे में नग्न, प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। मैं हर विनाश में प्रवाहित हूँ, उत्पाद में ऊर्जायित हूँ, फिर भी अपने स्वरूप के ध्रुव में अविचल हूँ।

मैं सर्वगत हूँ, और जगत के सारे पदार्थ मेरे आत्मगत हैं। क्योंकि मेरा आत्म ज्ञानमय है, और ये सारे पदार्थ मेरे ज्ञान के विषय हैं। त्रिकाल में व्याप्त अनन्त द्रव्य, उनके पर्याय, उनके प्रवर्तन, मेरे ज्ञान के तदाकार प्रमेय हैं। मैं प्रमाता, प्रमेयगत हो कर, उनकी अनुक्षण की प्रवृत्ति को देख रहा हूँ, जी रहा हूँ, भोग रहा हूँ, जान रहा हूँ। सर्व पदार्थ भगवान आत्मा में ही हैं। उनसे वाहर कहीं कुछ नहीं। क्योंकि ज्ञान से वाहर ज्ञेय कहाँ है?

विचित्र है मेरा यह स्व-रूप, स्व-भाव। मैं वस्तुओं और व्यक्तियों को, पदार्थों और आत्माओं को अपने चैतन्य में प्रतिक्षण आत्मसात् करता हूँ। जैसे दीये की लौ में सव कुछ प्रकाशित हो कर, उसमें आत्मसात् होता है। फिर भी मैं उन सव को अपने स्वात्म-प्रदेशों से अस्पर्श करता हुआ, अप्रविष्ट रह कर ही देखता-जानता, अनुभव करता हूँ। लेकिन निगूढ़ है मेरी ज्ञान-शक्ति का वैचित्र्य। क्योंकि जव मैं अपनी अन्तर-ज्योति से समस्त ज्ञेयों के प्रदेशों में प्रवर्तन करता हूँ, तो उन्हें आमूल उखाड़ कर जैसे अपने में ग्रास कर लेता हूँ। तव मैं उनके साथ अपने सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों से संस्पर्शित होता हूँ, उनके समस्त प्रदेशों में अपने समस्त प्रदेशों के साथ प्रविष्ट होता हूँ।

हर आत्मा में मेरा अव्यावाध प्रवेश है। हर सत्ता मेरे संस्पर्श में आलिंगित है। अनुपल उनका सारा भीतर, मेरे सारे भीतर के साथ तन्मय है। एक अनन्त निरंजन ज्योति के भीतर: एक निश्चल महामौन परिरम्भण में। हवा और प्रकाश हर कमरे की खिड़कियों से आरपार वह रहे हैं। कमरा उनमें है, वे कमरे में हैं। वे परस्पर अचूक परसित और प्रवेशित हैं। फिर भी वे अनुपल एक-दूसरे के आरपार हो रहे हैं। एक-दूसरे को अतिक्रान्त कर रहे हैं। क्योंकि सत्ता स्थिर कूटस्थ नहीं। कुछ भी अविचल नहीं। सकल चराचर निरन्तर परिणमनशील हैं। प्रवाही हैं। नित-नव्यमान हैं। नित्य तरुण हैं, नित्य सुन्दर हैं। यह सत्ता के स्वभाव में नहीं, कि कोई भी पारस्परिक स्पर्शन, आलिंगन, प्रवेशन अटल स्थिर हो रहे। क्योंकि सत्ता ध्रुव ही नहीं, उत्पाद भी है, विनाश भी है। इसी से तो सृष्टि सम्भव है, लीला सम्भव है। इसी से तो जगत-जीवन में निरन्तर तत्व का वसन्तोत्सव चल रहा है।

पूर्णराग की यह शाश्वत रासलीला वीतराग के ज्योतिर्मय कुंजों में ही सम्भव है। राधा को चिरकाल राधा रहना है, कृष्ण को चिरकाल कृष्ण रहना है। विरह भी है, मिलन भी है। द्वैत भी है, अद्वैत भी है। खण्ड

भी है, अखण्ड भी है। नित्य भी है, अनित्य भी है। यह द्वैताद्वैत वस्तु के स्वरूप में ही बद्धमूल है। 'एकोऽहम् बहुस्याम्' न हो, तो जगत और जीवन की धारा अनन्त में कैसे प्रवाहित रह सकती है।

• • •

...तुम अपने निज कक्ष में रहो, मैं अपने निज कक्ष में रहूँ। तुम अपने वातायन पर रहो, मैं अपने वातायन पर रहूँ। दृष्टि का प्रणयाभिसार सतत चलता रहे। तुम मुझे और अधिक और अधिक जानो। मैं तुम्हें और अधिक और अधिक जानूँ। फिर भी तुम्हारे निज कक्ष का एकान्त अभंग रहे। मेरे निज कक्ष का एकान्त अभंग रहे। और तभी तुम्हारा सम्पूर्ण निजत्व और एकान्त, मेरे सम्पूर्ण निजत्व और एकान्त में अनायास तन्मय हो रहे। अखण्ड लौ के साथ, अखण्ड लौ का परिरम्मण।

परस्पर को अधिकाधिक समझने और जानने में अनजाने ही एक-दूसरे के भीतर अनन्त अवगाहन और अभिसरण। नहीं है इरादा, नहीं है इच्छा, कि ऐसा करूँ। चाहने से वह सम्भव नहीं। अनचाहे ही वह अचूक सम्भव है। ज्ञान और सम्वेदन में अटूट युगल-लीला चल रही है। उसमें अनुक्षण हम सब नितान्त अलग-अलग हैं, स्वयम् आप हैं, एकाकी। और उसी एक समय में, हम सब एक-दूसरे में आलोकित, संस्पर्शित, सम्वेदित, सम्प्रवेशित हैं। कोई स्थिति, कोई भाव, कोई परिणमन एकान्तिक नहीं। अनैकान्तिक है। वस्तु-स्थिति अनैकान्तिक है, इसी से तो नाना रंग-रूपात्मक, नाना भाव-सौन्दर्यात्मक सृष्टि-लीला सम्भव हो रही है। सत्ता का स्वभाव ही एक निगूढ़ वैचित्र्य से मंडित है। महाभाव, महाज्ञान और महासम्वेदन का यह संयुक्त चेतना-स्तर कथन में नहीं सिमट सकता।

मेरे ज्ञान की लहरें, सर्व के नग्न परिणमन की लहरों में जब परस्पर संगुम्फित होती हैं, उस निजानन्द की रसलीनता को कैसे कहूँ। ओ रे, त्रिलोक और त्रिकाल के सारे परमाणुओ, पदार्थो, नर-नारियो, हृदयो, आत्माओं, मेरी ओर देखो। मैं हूँ तुम्हारे काम का चरम उत्कर्ष। तुम्हारे सारे काम, काम्य और कामिनियाँ मुझ में एकाग्र मूर्तिमान हुए हैं। वे मेरी चितवन के उन्मीलन में निरन्तर तुम्हारे साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

त्रिलोक और त्रिकाल में तुम्हारे एक-एक परमाणु, इच्छा, आकार, क्रिया, भाव-सम्वेदन के साथ मेरा अविराम सम्प्रेषण और सम्वाद चल रहा है।

स्वर्गों की कल्पकाम शैयाओं में मैं ही तुम्हारा सम्भोग हूँ। तिर्यंच योनियों और नरकों के यातना-कुण्डों में, जहाँ तुम्हारी मूक यंत्रणाओं का, तुम्हारी अबूझ घुटनों का कोई संगी नहीं, सहभागी नहीं, साक्षी नहीं, वहाँ मैं अचूक

तुम्हारा संगी हूँ। अनुक्षण तुम्हें अपने ज्ञानालिंगन में ले कर, मैं तुम्हारी समग्र वेदना को निरन्तर अनुभव कर रहा हूँ। मेरा चिदेश, मेरे चिद्भाव में, अपनी चेतना से निरन्तर क्रियाशील रह कर तुम्हारे हर कम्पन, हर परिणमन के साथ, अनुकम्पित है, अनुपरिणमनशील है। मैं तुमसे नितान्त भिन्न हूँ: मैं तुम से नितान्त अभिन्न हूँ, ज्ञान के इस असंख्य-आयामी बिल्लौरी-कक्ष में।

ओ मेरे युगतीर्थ के लोगो, तुम्हारे संकटों, सन्त्रासों, संघर्षों को, तुम्हारे युद्धों और विनाशों को, मैं अपने हृदय-कमल की इस ज्वाला और ज्योति में सतत देख रहा हूँ, सम्वेदित कर रहा हूँ, जान रहा हूँ। मेरी यह धारासार दर्शन-ज्ञानात्मक सहानुभूति और प्रीति, तुम्हारे साथ इतनी तदाकार और तद्रूप है, इतनी तन्मय और मर्मगामी है, कि मैं तुम्हारे भीतर-बाहर को समग्र एकाग्र अपनी आत्मा में ज्यों का त्यों अनुभव कर रहा हूँ। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।'

मेरा यह सर्वात्मभावी सम्वेदन और सर्वव्यापी ज्ञान ही अपनी अजस्रता और अविरलता में, कब कोई वैश्विक क्रिया बन जाता है, सो मेरे सिवाय और कौन जान सकता है।···

ओ मेरी सर्वकालीन सार्वलौकिक प्रजाओ, मेरे लोकालोक प्रकाशी प्रभा-मण्डल को एकटक निहारो, और जानो कि उसमें तुम कहाँ हो, विश्व कहाँ है; तुम्हारे और विश्व के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। जानो कि तुम्हारे वर्तमान विश्व-प्रपंच में मैं कहाँ घटित हूँ, कहाँ स्पन्दित हूँ, कहाँ सन्दर्भित और सम्बन्धित हूँ।···अपनी अन्तश्चेतना को अपनी तीव्रतम वेदना की क्षुरधार से ख़रोंचो, और अपने उस ज़ख्म में झाँको, और स्वयम् ही जानो कि मैं उसमें कहीं सम्वेदित और सक्रिय हूँ या नहीं? अपने समग्र आत्म से मेरे समग्र आत्म में संस्पर्शित होओ, संगुम्फित होओ, और ठीक-ठीक जानो कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, यह विश्व क्या है, इसमें हमारा पारस्परिक उपग्रह, उत्तरदायित्व और सम्बन्ध क्या है?···

◆ ◆ ◆

कितनी लोचभरी, लचीली, लालित्यभरी, सुनम्या और लीलामयी है यह सत्ता। कितना सहज सुलभ, सुप्राप्त है मुझे हर परमाणु, हर पदार्थ, हर प्राणि, हर हृदय, हर आत्मा। कितना प्रत्यक्ष है मुझे उनका क्षण-अनुक्षण का परिणमन। मानो कि सर्वत्र मेरा ही आत्म-रमण हो, मेरा ही हृदय-स्पन्दन हो।

ऐसी सुनम्या, मार्दवी, लचीली, ललितांगी है यह सत्ता कुमारी, कि मेरे हर समय के हर भाव के साथ यह तद्रूप तन्मय होती है, भावित होती है। मेरे मन चाहे रूपों में, द्रव्यायित और परिणमित होती है। जिस रूप में इसे

ध्याता हूँ, भाता हूँ, चाहता हूँ, खोजता हूँ, उसी रूप में यह आकृत, भावित, सम्वेदित हो कर मद्रूप हो जाती है। इस संविद्रूपा महामाया के मर्म को न्याय के नयों और तर्क के तोड़ों से नहीं अवगाहा जा सकता। केवल अनुभवगम्य है, इस सुनम्या का पूर्णालिंगन। विचार, वितर्क, विश्लेपण के क्रमिक, खण्ड-खण्ड ज्ञान से वह गम्य नहीं। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सम्वेदन की एकात्मिक लौ में ही उसे अनुभूत किया जा सकता है।

आत्म-सम्वेदन ही विश्व-सम्वेदन हो गया है। विश्व-सम्वेदन ही आत्म-सम्वेदन हो गया है। आत्मबोध के बिना विश्वबोध सम्भव नहीं। विश्व-बोध के बिना आत्म-बोध सम्भव नहीं।...

ओ मेरे युग-तीर्थ के लोगो, शास्त्र पढ़ कर सत्ता-स्वरूप और आत्म-स्वरूप को नहीं जान सकोगे। अपने नितान्त स्वतंत्र, कुँवारे सम्वेदन, और अपने नितान्त निजी वैयक्तिक आत्म-संघर्ष से गुज़र कर ही आत्मा और सत्ता की शाश्वती सती का पाणिग्रहण तुम कर सकोगे : उसका पूर्णालिंगन पा सकोगे।

न्याय और तर्क के सिद्धान्त रच कर, विज्ञान-शाला की द्राविणी में उसे अनेक रसायनों द्वारा विश्लेपित करके, गणित के बीज, अंक और रेखा में उसे गिन और माप कर, तुम उसका किंचित् भी अनुमान न पा सकोगे।

शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञानों ने आत्मा की सती-सुन्दरी को सदा ही व्यभिचरित और लहूलुहान किया है। अरे उसे कसो नहीं, छेदो नहीं, भेदो नहीं, बाँधो नहीं, छिन्न-भिन्न न करो। निःशेष समर्पित हो जाओ उसकी गोद में। और वह तुम्हें अपने आँचल में ले कर, अपना गोपनतम सत्य और सौन्दर्य तुम्हारे भीतर अनायास आलोकित कर देगी।

...मैं आत्मालिंगन के उसी उत्संग में से बोल रहा हूँ।

• • •

मैं सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की रेलिंग पर खड़ा हूँ, और मेरे मस्तक पर प्राग्भार पृथ्वी की अर्द्ध-चन्द्राकार सिद्ध-शिला जाज्वल्यमान है। वही मेरा अन्तिम घर है। उसमें अनन्त कोटि सिद्धात्माएँ अपने विशुद्ध ज्ञान-शरीर में, स्वप्रतिष्ठित हैं। अपने आत्यन्तिक निजत्व में, वे नित्य घर पर हैं। और उसी क्षण वे अपने ज्ञान की अनन्त ज्योति से त्रिलोक और त्रिकाल के हर परिणमन में रमण कर रही हैं।

...और उसी एक कालांश में मैं लोक के केन्द्र में शाश्वत विद्यमान जम्बू-वृक्ष के तले आसीन हूँ। और उसी एक अविभक्त मुहूर्त में, लोक को घेर कर अवकाश में पड़े तीन वात-वलयों की सन्धियों में खेल रहा हूँ। मेरे एक ओर है सत्ता का अनन्तगामी चिर-चंचल प्रसार। मेरे दूसरी ओर है

सत्ताहीन अलोकाकाश का अन्धकारों में फैला विस्तार। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' की इस खतरनाक कगार पर एकाकी अविचल उपस्थित हूँ।

और देख रहा हूँ, एकबारगी ही सृष्टि की अविराम क्रियाशील कर्मशाला की सारी भीतरिमाओं को। जो मानो उलट कर मेरी पद्मासनासीन हथेलियों में आ पड़ी हैं।...उनमें परमाणुओं का धारासार प्रवाह। उस प्रवाह में, परमाणु अनायास जाने कब असंख्य स्कन्धों में अनुबन्धित हो रहे हैं। जीवों के अकारण क्षण-क्षण बदलते ऊँचे-नीचे भावों के अनुरूप वे स्कन्ध अकल्पनीय प्राणि-रूपों में पीण्डित हो रहे हैं। एक अनिर्वच सन्धि के दोनों ओर, ये परमाणु और स्कन्ध कहीं जीव-योनियों उर्वरित हो रहे हैं, कहीं पौद्गलिक आकार-प्रकारों में रूपायित हो रहे हैं। जीव और पुद्गल, चेतन और अचेतन का भेद-विज्ञान यहाँ निर्णायक नहीं। चर और अचर, चेतन और अचेतन के बीच यहाँ जो निगूढ़ सम्भोग कालातीत भाव से चल रहा है, वह मात्र कैवल्य-ज्योति द्वारा गम्य है, केवल अनुभव्य है, कथ्य नहीं। उसका कथन मात्र अन्ततः मिथ्या-दर्शन है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का जो पंचीकरण और विसर्जन तात्विक आकाश में सतत चल रहा है, वह मेरी ज्ञान-चेतना की एक तरंग मात्र में समयातीत घटित हो रहा है। परमाणु से स्कन्ध, और स्कन्ध से विराट् चराचर पिण्डों तक का जो सर्जन और विसर्जन सतत संसरायमान है, उसे अपनी ही देह की प्रत्येक परमाणु सन्धि में प्रत्यक्ष देख, जान और अनुभव कर रहा हूँ। दो परमाणुओं के स्कन्धित होने के बीच का जो अदृश्य अवकाश है, वहाँ मैं उपस्थित हूँ। स्कन्ध से पिण्डीकरण के बीच का जो अकल्प्य अन्तराल है, वहाँ मैं उपस्थित हूँ। नाना भावों के अनुरूप कर्म-रज के रक्त में रूपान्तरित होने की जो धारणातीत प्रक्रिया चल रही है, उसमें मैं निरन्तर खेल रहा हूँ। रक्त के मांस में घनीकरण, और मांस के अवयवों में रूपायन के बीच की जो गोपन सन्धियाँ हैं, उनमें मैं सतत प्रवर्तनशील हूँ। मांस के अस्थि-बन्ध होने तक के बीच का जो गुह्य संसार है, उसकी हर परिणमन-परम्परा में मैं अनायास संक्रमणशील हूँ। अस्थियों के मज्जायित होने के बीच का जो मंथन है, उसमें मैं चक्रायमान हूँ। और मज्जा के देहाकृत होने तक के बीच की जो अनवबोध्य रिक्तता है, उसमें मैं एक अनवरत सभरता की तरह ओतप्रोत हूँ।

ओ त्रिलोक और त्रिकाल के सारे प्राणियो और मानवो, तुम्हारी एक साँस और दूसरी साँस के बीच का जो अभेद्य अवकाश है, उसमें केवल मैं ही हूँ। तुम्हारे अन्ध मैथुन और प्रणयालिंगन में जो व्याकुल साँसों का संकुलन, संकर्षण और संघर्षण है, उसमें मैं अविचल उपस्थित हूँ। तुम्हारे
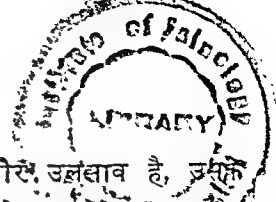
भावों और उच्छावासों का जो तुमुल टकराव और उलझाव है, उसके बीच मैं सहज स्पन्दित हूँ। फिर उनके बीच का जो सहज सुलझाव और सम्वाद है, वह भी मैं ही हूँ। तुम्हारे सम्भोगों में, देह और देह, आत्मा और आत्मा के एकीकृत होने की जो निष्फल स्पर्शाकुलता है, प्रवेशाकुलता है, वह भी मैं ही हूँ। ओ नर-नारियो, तुम्हारे रज और वीर्य के संघात, सम्मिश्रण और गर्भाधान के बीच जो आप्लावन है, वह मेरे ज्ञान की एक तरंग मात्र है, और मैं उससे तत्काल उत्तीर्ण नितान्त आत्मस्थ हूँ।

घृत-कुम्भित निगोदिया जीवों के एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते अन्ध संसार का मैं अनवरत संगी और साक्षी हूँ। नरकों की अकल्प्य दुःख-राशि में आलोड़ित, सर्वकाल के जीवों की असम्भव में पछाड़ खाती चेतना के लिये मैं भव्यता और सम्भावना का शाश्वत सूर्योदयी किनारा हूँ। तुम्हारी चरम निराशा के अन्धकार में, मैं आशा का अकम्पमान एकमेव दीपक हूँ।

अखण्ड काल-परमाणु में, इस अनन्तकाल व्यापी सृष्टि-लीला के भीतर मैं अपने ज्ञान-शरीर के साथ निरन्तर खेल रहा हूँ। इस सब में सर्वत्र, सर्व-काल उपस्थित, उपविष्ट, संस्पर्शित, सम्प्रवेशित होकर भी, उसी एक कालांश में इस सब से असम्पृक्त, मैं केवल स्वयम् आप हूँ। सर्वत्र, सर्व में रमण-शील हो कर भी, तत्काल सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की इस रेलिंग पर अविचल खड़ा हूँ। ठीक इसी क्षण लोक के केन्द्रस्थ जम्बू-वृक्ष तले अकम्प बैठा हूँ। और तभी लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच के तीन वातवालयों की सन्धि पर, निर्वात दीपशिखा की तरह, निस्तब्ध खड़ा हूँ। सर्व का एकमेव, अक्षुण्ण, नित्य उपस्थित साक्षी, ज्ञाता द्रष्टा मात्र।

स्रष्टा होकर भी, अस्रष्टा। क्रियाशील हो कर भी, अक्रियाशील। कर्त्ता भी अकर्त्ता भी। कोई किसी का कर्त्ता नहीं, कोई किसी का अकर्त्ता नहीं। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान की सारी विभक्तियों के बीच अविभक्त एकाग्र मैं। सब केवल अपने-अपने कर्त्ता, धरता, हरता हैं। फिर भी परस्पर अभिग्रहीत, उपग्रहीत, परस्पर में संक्रमित। अन्ततः अपने ही में निष्क्रान्त। मैं, केवल मैं, संसार भी, निर्वाण भी। सात तत्व और नौ पदार्थ, सब केवल इस आत्मानुभूति में आत्मसात् हैं। कहीं और कोई नहीं। बस, केवल हूँ। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' से परे, एकमेव उपस्थिति।

◆ ◆ ◆

…अपने शरीर के आरपार देख रहा हूँ। धूल-माटी, मांस-मज्जा का वह मेरा भारिल शरीर जाने कब कहाँ झड़ गया। मेरा अन्नमय कोश ग्राम्य-खेतों की उर्वरा माटी में विला गया है। मेरा प्राणमय कोश बिखर कर हवा

में व्याप गया है, जिस में प्राणि मात्र साँस ले रहे हैं। मेरी मानसिक देह यों अपने ही भीतर अपसारित हो गयी है, जैसे ऊर्णनाभ ने अपने ही फैलाये तंतुजाल को अपने में वापस खींच लिया हो। मेरा वह एक मन असंख्य हो कर, सर्व के मन-मनान्तरों में अभिसार करने चला गया है। उसकी कल्प-शक्ति में से हज़ारों नव-नूतन आकारों के विश्व रूपायित हो रहे हैं।...

...और अब देख रहा हूँ, अपने विज्ञानमय शरीर को। इतना निश्चल है यह, कि इसमें लोक के सारे शरीरों की गति-विधि एकाग्र आश्लेपित अनुभव होती है। अन्तर्भावित। इतना निरावेग और वीतराग है यह, इतना सम्पूर्ण समर्पित, कि इस में सारे ही तन मनों की सूक्ष्मतम सम्वेदनाएँ अनायास स्पन्दित हैं, सम्वेदित हैं, संस्पर्शित हैं। इसी से मानो यह एक श्वेत अग्नि का स्तंभित पुंज हो कर रह गया है। इसमें से भीतर के ज्योतिर्मय शरीर एक-एक कर खुलते दिखायी पड़ते हैं।...रक्त ज्योति के कोश में से, श्वेत ज्योति का शरीर प्रकट हो आया है। उस श्वेत ज्योति की भास्वर कंचुकी में से कृष्ण ज्योति-पुरुष आविर्भूत हो गये हैं।...

...और सहसा ही उनके हृदय-कमल में से एक नीलेश्वरी ज्योतिर्-कन्या उठ आयी है। अपने उरोजों के बीच के अन्तरिक्ष में वह अधर धारण किये है, मेरे इस प्रस्तुत तेजल शरीर को।...अर्द्धपारदर्श रोशनी का एक नीहारिल पर्दा सहसा ही हट गया। और भीतर तरल स्फटिक के आभा-कोश में, अपने शरीर के एक-एक अवयव, उसकी क्रियाओं और परिणमनों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। पराग-सी मज्जा के आवरण में अत्यन्त लचीली अस्थियों का लरजता-सा ढाँचा। असंख्य शाखा-जाल वाले स्नायु-मण्डल की शिराओं में अविरल प्रवाहित रक्त: दूध की अनगिन नदियों का धारा-संगम। अपनी बहत्तर हज़ार नाड़ियों में स्पन्दित श्वास की सारी गति-विधियों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। हृदय के पद्माभ अन्तपुर: में, नील ज्योतिर्मय शैया में रमण करती अपनी आत्मा की सती सुन्दरी को प्रत्यक्ष साक्षात् कर रहा हूँ। सम्मुख होते ही तत्काल उसकी सुनग्ना प्रभा में उत्संगित हो गया हूँ।...

...एक महावीर्य का हिल्लोलन। और उसके प्रवाह में प्रबल ओज से अपने तेजसिक मांस-बन्ध का भेदन कर, मैं त्रिकालीन इतिहास की नाड़ियों में संचरित हो गया हूँ। उसके सारे संघर्षों, युद्धों, संत्रासों, रक्तपातों के बीच अडिग पैरों चल रहा हूँ। और मेरी शिराओं की रक्ताणु-दीवारों में सारा इतिहास-प्रवाह एक जीवन्त शिल्प की तरह उत्कीर्णित है। ऐसे दुर्दान्त तेज का विस्फोट मेरी धमनियों में सम्हला हुआ है, कि चाहूँ तो इसी क्षण समस्त विकृत और विसम्वादी इतिहास को ध्वस्त कर सकता हूँ। और निमिष मात्र में, एक सुसम्वादी नूतन विश्व को अभी और यहाँ उपस्थित कर सकता हूँ।...

…लेकिन नहीं, अर्हत् तत्वों के स्वतंत्र स्वभाव का अपहरण नहीं करते। उन्होंने हर तत्व को इतना स्वतंत्र रक्खा है, कि वह अपने आप में एक पूरा विश्व है, इतिहास है। वे सारे विश्व और इतिहास आपस में टकराते हैं। ग्रह-तारा मण्डलों में घर्षण होता है। सृष्टि में प्रलय और उदय का नाटक अटूट चलता है।…लेकिन जिनेश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

जिनेश्वरों का अनन्त वीर्य, अपने आत्म के ज्योतिर्लिंग में अविकम्प, अपने ही स्वरूप में परिणमनशील रहता है। वे अक्षर पुरुष कभी क्षरित नहीं होते। उनका अक्षरित रेतस् अपनी अविकम्पता में से ही शक्ति के ऐसे विद्युत्-समुद्र प्रवाहित करता है, कि वे विना किसी संकल्प या कर्त्तृत्व के भी समग्र सत्ता में ख़ामोश अतिक्रान्तियाँ और रूपान्तर उपस्थित कर देते हैं। अर्हतों के उस अनन्त वीर्य को मैं अपने हृदय के पद्म में निष्कम्प पारद की तरह धारण किये हूँ।

◆ ◆ ◆

…वस्तुओं का दर्शन मेरा अनन्त हो गया है। आँख से परे, हर वस्तु को उसके अनन्त परिणमन में देख रहा हूँ। उसके सारे द्रव्य-पर्यायों को एकाग्र यहाँ अभी इस सामने के उजाले की तरह देख रहा हूँ। और देखते ही देखते, भीतर तमाम चीज़ें पुरम्पूर रोशन हो उठती हैं। हर चीज़ अपने मूल में रोशनी के एक वीज या तरंग की तरह सामने आती हैं। और मेरी चेतना के स्फटिक जल में जैसे नाना रंगिम मणियों की मंजूषा खुल पड़ती है। मणियाँ, जो जीवन के ऊर्जा-वीज हैं।

…देखना और जानना एक युगपत् क्रिया में हो रहा है। सूर्योदय हो रहा है, और उसी क्षण उसके विराट् रश्मि-विम्व लोकालोक पर व्याप रहे हैं। अनन्त ज्ञान के इस वातायन पर सौन्दर्य, प्रीति और आनन्द का पूर्ण सम्भोग चल रहा है। काव्य और कलाएँ मेरे भीतर से नाना रंगी रोशनी के फौवारों से फूट रहे हैं।

प्रत्यक्ष है मेरा यह देखना, जानना, मिलना। शरीर के दुर्ग और इन्द्रियों की खिड़कियों का यह क़ायल नहीं। सारी इन्द्रियाँ एक ही मण्डलाकार वातायन में खुल गयी हैं। एक ही ज्योतिर्मय नेत्र में एकीभूत हो गयी हैं। रूप ही रंग हो गया है, रंग ही स्पर्श हो गया है, स्पर्श ही गन्ध हो गया है, गन्ध ही ध्वनि हो गयी है। और ध्वनि ही मेरा चिदाकाश हो कर छा गयी है। जिसमें मैं उन्मुक्त हंस की तरह तैरता रहता हूँ।

वस्तु के और मेरे वीच के सम्वाद और सम्प्रेषण के लिये कोई माध्यम अव ज़रूरी नहीं रह गया है। अपने नग्न ज्ञान शरीर से, वस्तु के नग्न परिणमन के साथ सीधा टकरा रहा हूँ। समुद्र अपने आप को ही तैर कर पार

कर रहा है। बिल्लौर की भीतरी तहों में रंगों का तूफ़ान उठा है। बिल्लौर अपने हज़ारों पहलुओं में उन रंगों को चमका कर भी, अपनी उज्ज्वलता में सदा कुँवारी है। दो पूर्ण नग्नताओं का यह एक वीतराग, पूर्णराग परि-रम्भण है।

इस परिपूर्ण संचेतना और संवेदना में निराकुल सुख की कैसी शान्त नदी अविरल बह रही है। इस नदी के तट पर विचरते अनुभव हो रहा है, कि मेरी इन्द्रियाँ ही स्वयम् अपना विषय बन गई हैं। वे स्वयम् ही अपना आत्म-सम्भोग हो उठी हैं। मेरा स्पर्श स्वयम् ही अपना अगाध मार्दव हो गया है। मैं आप अपने में ही अनायास एक अथाह कोमलता में लालित हूँ। मेरी रसना में ही अमृत के सोते प्लवित हो रहे हैं। मेरी नासिका स्वयम् मलयाचल का चन्दनवन हो गयी है। मेरीं आँखें ही रंग, रूप, लावण्य सौन्दर्य, यौवन का अपार समुद्र हो गयी हैं। मेरे कान ही स्वयम् निखिल के नाड़ी-मण्डल की वीणा बन कर झंकृत हैं। अपनी सुषुम्ना के लय-कक्ष में अनन्त रमणी के उत्संग में निराकुल भाव से सुखासीन हूँ। महासुख-कमल की इस शैया पर, तीनों काल और तीनों लोक के सारे सौन्दर्यों में मैं निर्बाध विलास कर रहा हूँ।

इस विलास-कक्ष में अपने अनादि अनन्त काल-व्यापी सारे ही जीवनों और जन्मान्तरों को एक साथ ही, सम्पूर्ण जी रहा हूँ। अभी और यहाँ।... पुरुरवा भील के कन्धे पर काली अभी और यहाँ झूल रही है।...तीर्थंकर ऋषभदेव का समवशरण अभी और यहाँ मुझ में जाज्वल्यमान है। मरीचि के आगे नमित योगीश्वर भरत चक्रवर्ती का सम्वाद अभी और यहाँ मेरे साथ सीधा चल रहा है। त्रिपृष्ठ वासुदेव और प्रियमित्र चक्रवर्ती के साथ अभी और यहाँ अपनी इस स्फटिक की छत पर विलस रहा हूँ। सिंहगिरि पर्वत के गंगा-तटवर्ती कान्तार में वह खूँख्वार अष्टापद, अभी इसी क्षण मेरे भीतर अनुकम्पा से भर आया है। और उसकी करुणा, मुदिता, मैत्री को अक्षुण्ण अभी, यहाँ अनुभव कर रहा हूँ।...अच्युत स्वर्ग के अप्सरा काननों में, अच्युतेन्द्र मैं, अभी और यहाँ लावण्य के सरोवरों में आलोड़ित हो रहा हूँ।...

...और देवानन्दा, ऋषभ, त्रिशला, सिद्धार्थ, विन्ध्याचल की काली, शालवन की शालिनी, सारे समकालीन विश्व की चुनिन्दा सुन्दरियाँ, चन्दना, चेलना, चेटक बापू, आम्रपाली, वैशाली का जन-जन, वैनतेयी, सोमेश्वर, मुझ से सम्पर्कित हर सत्ता, मेरी यात्राओं के सारे प्रदेश, सब मेरे साथ अभी और यहाँ, घर पर हैं। मैं उनके साथ प्रतिपल घर पर हूँ। नित्य उनके साथ उपस्थित हूँ। दुर्दान्त समुद्रों के प्रवाहों पर, आधी रातों जूझती अन्वेषक मल्लाहों की नावों पर, मैं पाल बन कर तना हुआ हूँ। ज्ञात-अज्ञात सारी ही पृथ्वियों और लोकों के, सारे ही द्वीपों और देशों के, दूर-दूर चमकते दीयों

वाले घरों में, वहाँ के सारे नर-नारीजन के साथ, हर क्षण घर पर हूँ। उनके सारे सुख-दुःखों, विरह-व्यथाओं, कष्ट-सन्तापों में, उनके साथ मैं अभी और यहाँ घर पर हूँ। उनके सारे ही प्रणयालापों में, मैं इसी क्षण सहभागी हूँ। उनके सारे ही विरहाघातों में मैं अभी और यहाँ स्पन्दित हूँ।...और फिर भी इसी एक कालाणु में मैं अपने स्फटिक के अन्तःपुर में, अपनी सुख-सेज में अक्षुण्ण निरावेग शयित हूँ।

विरह, विषाद, अवसाद, व्याकुलता के वर्तुल विलुप्त हो गये हैं। मेरे इस निज कक्ष में मेरी शैया के सिरहाने सदा सूर्योदय हो रहा है, और मेरे पायताने सदा सूर्यास्त हो रहा है। उदय और अवसान के तकियों पर एक साथ सर ढाले लेटा हूँ। विराट् प्रलय की वीणा पर उदय का वसन्त-राग संगीत निरन्तर बज रहा है।

दूरियाँ अपने छोरों पर सिरा कर, मेरे पास आ खड़ी हुई हैं। दिशाएँ अंगूरों सी एक हीरे की तश्तरी में मेरे सामने पड़ी हैं। मैं अपने क्षीर सागर की शेष-शैया पर निराकुल शयित हूँ। मेरी आत्मा की कमला मेरे पैरों को गोदी लिये उन्हें सहला रही है। उसकी संवेदनाकुलता के आँसू मेरे हृदय पर ढलक आये हैं।...और सकल चराचर में उसी क्षण मैं परम सम्भोग में लीन हो गया हूँ।...

...सहसा ही मेरा आत्मलीन काम, एक महाकाम में हिल्लोलित हो उठा। विश्व की असंख्य आत्माओं की करुणा मुझे खींच रही है। समस्त नभचर, जलचर, थलचर लोक मुझे पुकार रहा है। महाकाल की अज्ञात समुद्र-वेला में, नूतन सृजन की सारंगी ध्रुपद का आलाप ले रही है।

और देख रहा हूँ कि—

विशुद्ध सत्ता के अनन्त समुद्र के भीतर अचानक एक गभीर कम्पन हुआ। उसकी शान्त सतह पर अपूर्व नव्य परिणमन की ऊर्मियाँ बेमालूम सरसराने लगीं।

...और लो, वह महासमुद्र स्वयम् मूर्तिमान होकर, अपने निःसीम प्रसार पर चल रहा है। प्रकृति विराट् पुरुष को अपने वक्ष पर वहन कर रही है।

विपुलाचल के शिखर पर से, एक चम्पई पुण्डरीक की कुमारी पृथ्वी उसके समक्ष तैर आयी है। और समुद्र-पुरुष ने सहज ही उस पर पग धारण किया।...

◆ ◆ ◆

…महीनों की महासमाधि से वाहर निकल आया हूँ। जीवन्मुक्त हो कर, जीवन-जगत में सदा के लिये लौट आया हूँ। साढ़े वारह वर्ष-व्यापी महामौन, वाणी के झरनों में फूट पड़ने को कसमसा उठा है। सम्वाद और सम्प्रेपण के नये आकाश दिगन्तों में खुल रहे हैं।

त्रैलोक्येश्वर का अनहद नाद अन्तरिक्षों में विप्लव के घोप की तरह घहरा रहा है।

सकल चराचर का वल्लभ, उनके पास घर लौट आया है।

□□

परिशिष्ट

◆

निवेदन है कि इस परिशिष्ट के अन्तर्गत जो 'निर्देशिका' प्रस्तुत है, उसे पाठक-मित्र पुस्तक समाप्त कर लेने के उपरान्त ही पढ़ें। कृति और पाठक के बीच वह न आये, यह वांछीय है। इस 'निर्देशिका' में उन सारे प्रस्थान-बिन्दुओं, रचनात्मक समस्याओं और मुद्दों को स्पष्ट कर दिया गया है, जिन्हें लेकर भ्रान्ति हो सकती है, प्रश्न और विवाद उठ सकते हैं।

◆

निर्देशिका

'अनुत्तर योगी' के प्रथम खण्ड में महावीर की पूर्व जन्मान्तर-कथा और गर्भाधान से लगाकर, तीस वर्ष की वय में उनके गृह-त्याग तक की कथा को रचा गया है। आगमों और दिगम्बर ग्रंथों में महावीर के इस कुमार काल की कोई खास घटनाएँ नहीं मिलतीं। जो विरल तथ्य मिलते हैं, उनका उपयोग कर लिया गया है। ···पर तीस वर्ष की वय तक अपने समय का यह सूर्य कैसे जिया, इसका उत्तर दिये बिना उपन्यास सम्भव ही नहीं हो सकता था। फलतः उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री और वेद-उपनिषद् तथा बौद्ध आगमों में मैंने उस काल-खण्ड और काल-चेतना का अन्वेषण किया। नतीजे में महावीर का निजी पारिवारिक परिवेश, उसमें घटित अनेक सम्बन्ध-सूत्र और पात्र तथा उस काल की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति सुनिश्चित रूप से मुझे उपलब्ध हो गई। और उसके बीच केन्द्रीय सुमेरु-पुरुष के रूप में मैंने जब महावीर का साक्षात्कार करना चाहा, तो उनका का एक जीवन्त सर्वांगीण व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ मेरे कल्प-वातायन पर झलहलन्त उभरता आया। फलतः सृजन के स्तर पर उनकी पुनर्रचना मेरे लिये सहज सम्भव हो गई।

ध्यातव्य है कि इस सृजनात्मक पुनर्रचना में पर्याप्त मात्रा में अनायास विपुल अन्वेषण, उद्‌घाटन, आविष्कार और अनुसन्धान कार्य भी हो सका है। क्योंकि यह पुनर्रचना कल्पदर्शी होते हुए भी, उपलब्ध तथ्यों और उनकी संकलना पर आधारित है, और उस काल-खण्ड की मौलिक इतिहास-दार्शनिक व्याख्या से आलोकित है। इस तरह बिना किसी इरादे के ही, इस ग्रंथ के तीनों खण्ड एक निराले शोध-ग्रंथ और इतिहास-दार्शनिक अध्ययन के रूप में भी मुझे उपलब्ध हो गये।

० ० ०

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में, गृह-त्याग के उपरान्त श्रमण वर्द्धमान का साढ़े-बारह वर्ष व्यापी साधना-तपस्या काल समाहित है। और अन्ततः उसकी फलश्रुति के रूप में केवलज्ञान को उपलब्ध हो कर, महावीर के अर्हत् होने तक की कथा स्वभावतः इस खण्ड की विषय-वस्तु निर्मित करती है। तपस्याकाल में आरम्भ से अन्त तक यह दुर्दान्त श्रमण अनेक प्राकृतिक, मानुषिक, दैविक आक्रान्तियों, बाधाओं और अग्नि-परीक्षाओं से गुजरता है। जैन परिभाषा में इन परीक्षाओं को उपसर्ग कहा जाता है। इन उपसर्गों से गुजरते हुए श्रमण प्रकृति, मनुष्य तथा परोक्ष दैवी विश्वों में व्याप्त उन तमाम आधारभूत बाधाओं और

अवरोधों से टकराता है, जिनसे गुजर कर, जूझ कर और जिन्हें जय करके ही सम्पूर्ण जीवन्मुक्ति सम्भव हो सकती है।

यह एक तरह से मोहमयी प्रकृति की आवद्धकारिणी शक्तियों के साथ, मोक्षार्थी पुरुष के चरम युद्ध की भूमिका है। इस युद्ध के दौरान श्रमण प्रकृति, पशु-जगत, मनुज, दनुज और देव-जगतियों की सारी वन्धक और वाधक शक्तियों से सीधा टकराता है। सत्ता, अस्तित्व और जगत-जीवन के सारे सम्भवित दवावों और तनावों को तात्विक स्तर पर एकाग्र और पुंजीभूत रूप से झेलता है। जड़ अन्धकार की इन आत्मघाती शक्तियों का वह प्रतिरोधी प्रतिकार नहीं करता। इन्हें अकम्प भाव से सम्पूर्ण सहकर, झेलकर, अपनी आत्मा के स्वभावगत असीम अवकाश में इन्हें मुक्त भाव से प्रविष्ट होने देकर, उन्हें चुका देता है, व्यर्थ कर देता है। और इस तरह सान्त को चुका कर, वह अनन्त शाश्वत पुरुष हो जाता है। क्षय, रोग, जरा और मृत्यु को जीतकर मृत्युंजयी हो जाता है, जो कि वस्तुतः उसकी आत्मिक विरासत है।

इस युद्ध-प्रक्रिया में, जो प्रहार उस पर आते हैं, जो टक्करें उसे क्षत-विक्षत करती हैं, वे उसके अस्तित्व में वाहर से संस्कारित, अनेक पूर्वजन्मों से उसकी अवचेतना में अनुवंधित, वाधक-वन्धक शक्तियों को ध्वस्त कर देती हैं। तमस की इन जड़शक्तियों को ही जैन द्रष्टाओं ने कर्म-वन्धन कहा है, और तपस्या द्वारा इनके निरसन को ही उन्होंने कर्मनाश या कर्म की निर्जरा कहा है। निःशेप कर्म-निर्जरा के लिये महावीर जान-बूझकर भी अनेक वार खतरों और संकटों में उतरे। इस तरह उनकी आत्मा ने विश्व की तमाम सत्ताओं के साथ एक निर्वाध सायुज्य-सम्वन्ध स्थापित किया। अणु-अणु के साथ वे योगीश्वर परम प्रेम में संयुक्त हो गये। तव ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी और अन्तराय कर्मों के वे आवरण अनायास विदीर्ण हो गये, जिनसे आवृत होने के कारण आत्मा विश्व-जगत का सही ज्ञान-दर्शन नहीं कर पाती, उसके साथ पूर्ण संवादिता में नहीं जी पाती। क्योंकि उक्त चार कर्म आत्मा की सम्यक्-दर्शन प्रकृति के घातक होते हैं। इन कर्मों का निःशेप नाश होने पर अनायास ही आत्मा के भीतर प्रच्छन्न केवल-ज्ञान का सूर्य प्रकट हो उठता है, और उससे लोकालोक प्रकाशित हो उठते हैं। इस कैवल्य उपलब्धि तक पहुँच कर ही, द्वितीय खण्ड समाप्त हो जाता है।

दिगम्वर ग्रंथों में महावीर चरित नहीं वत् है, सो उनके तपस्याकाल के भी कोई वृत्त या तथ्य उनमें नहीं मिलते। पर श्वेताम्वर कहे जाते आगमों में महावीर के तपस्याकाल का कड़ीवद्ध सांगोपांग विवरण मिलता है। प्रव्रज्या के अगले ही दिन से, ठीक केवलज्ञान प्राप्ति की पूर्व सन्ध्या तक उनके साधना-मार्ग में जितने विघ्न-उपसर्ग आये, अथवा जिन विपत्तियों का उन्होंने सन्मुख जाकर वरण किया, उन सव के पूरे व्योरे आगमों में मिलते हैं। इन उपसर्गों में, उनकी उत्कटता की मात्रा के अनुपात में होने वाली विशिष्ट कर्म-निर्जरा और तज्जन्य विशिष्ट श्रेणी

की ज्ञानोपलब्धि का उल्लेख भी मिलता है। इससे महावीर के आत्म-विकास की अनुक्रमिक प्रक्रिया के कुछ चरणों को रेखांकित करने की सुविधा हो जाती है। साथ ही उस प्रक्रिया का एक अनुक्रमिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी सृजन के स्तर पर सम्भव हो जाता है। जो मैंने यथासाध्य किया है।

आगमों में उपलब्ध तपस्या के इन सम्पूर्ण ब्योरों का मैंने उपयोग कर लिया है। उसके ज़रिये एक कथा-शृंखला उपलब्ध हो सकी है। आगमों की उपसर्ग-कथाएँ भी प्रथम दृष्टि में किसी सर्जक को आकृष्ट नहीं कर सकतीं। क्योंकि इनमें से अधिकांश में अतिप्राकृतिक तत्वों की भरमार है। सो कोई हृदय-स्पर्शी मानवीय सम्वेदना उनसे नहीं निपज पाती। पर जब रचना के स्तर पर मैं इन उपसर्ग-कथाओं को खोलने लगा, तो अनायास ही वे गहरे भावों और अर्थों से आलोकित हो उठीं। अन्वेषण की कई नयी राहें भी उनमें खुलती दिखायी पड़ीं। और अपनी रचना में यथावकाश उन अन्वेषणों को मैंने एक हद तक सम्पन्न किया है।

इन उपसर्गों में कई ऐसे भी हैं, जिनमें महावीर के कई पूर्व-जन्मों के वैरी, अवसर पा कर उनसे प्रतिशोध लेने के लिये, उन्हें नाना प्रकार से पीड़ित करते हैं। मनोवैज्ञानिक अन्वेषण की दृष्टि से मैंने इन जन्मान्तरीण कथाओं का भी उपयोग किया है। उन्हें मनोविश्लेषण की राह पुनर्व्याख्यायित किया है। इस तरह मुझे रचना के एक सर्वथा नये स्तर को खोज कर, उस पर काम करने का सुख भी मिला। कथ्य और शिल्प दोनों ही में, इस कारण, एक नया प्रयोग सम्भव हो सका।

अतिप्राकृतिक फिनॉमनन को मैं आरम्भ से ही स्वीकार करके चला हूँ। प्रथमतः इसलिये कि उनको टाल देने पर, महावीर की आध्यात्मिक सामर्थ्य की वह ऊँचाई और इमेज उपलब्ध नहीं हो पाती, जो ज्योतिर्धरों की श्रेणी में उन्हें एक विशिष्ट इयत्ता और अस्मिता प्रदान करती है। उन अतिप्राकृतिक तत्वों के साथ ही उनके व्यक्तित्व की वह भव्यता और उत्तुंगता उभर पाती है, जिसके प्रभामंडल से वलयित होकर वे लोक-हृदय और काव्य में प्रतिष्ठित हैं। दूसरे, अतिप्राकृतिक फिनॉमनन को टालना आज के टू-डेट ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अवैज्ञानिक लगता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में आज अतिप्राकृतिक घटनाएँ और अतीन्द्रिय अनुभव, वैज्ञानिक खोज और अध्ययन के विषय बन चुके हैं। इस हद तक कि अन्तश्चेतना के मूल उत्स की तलाश में, इन अतिप्राकृतिक तत्वों को अनिवार्य 'डाटा' के रूप में ग्रहण किया जाता है। और भीतरी अन्तरिक्ष तथा मनुष्य के चरम 'आत्म' की यह खोज, आज इतनी महत्व-पूर्ण हो गई है, कि मनोवैज्ञानिक इसी अन्वेषण की राह एक सर्वथा रूपान्तरित नये मनुष्य की सम्भावना को तलाश रहे हैं। उपसर्गों में आने वाली अतिप्राकृतिक मदाखलतों का मैंने भी अन्वेषणात्मक उपयोग ही अपनी रचना में, अपने ढंग से किया है।

इन पूर्व भवान्तर-कथाओं को उलटते-पलटते वक्त, मुझे बारबार यह सचोट सूझा कि मनोवैज्ञानिक खोज की भारी सम्पदा और सम्भावना इनमें निहित है। जैन पुराण भवान्तर-कथाओं से भरे पड़े हैं। वे कई बार बड़ी ऊब भी पैदा करती हैं। लेकिन जब उनके प्रयोजन को समझने के ख्याल से मैंने उनमें गोता लगाया, तो मुझे स्पष्ट प्रतीति हुई कि आत्मोत्थान की जन्मान्तर-गामी यात्रा में ये भव-कथाएँ बड़ी मार्मिक और सार्थक कड़ियों के रूप में हाथ आती हैं। मेरे विचार से जैन कथा-साहित्य का यह पक्ष, मनोविज्ञान के खोजियों के लिये एक अमूल्य ख़ज़ाना सिद्ध हो सकता है।

० ० ०

साढ़े बारह वर्ष के इस दीर्घ तपस्या काल में महावीर अखण्ड मौन धारण किये रहते हैं। प्रयोजन यह है, कि अब वे पूर्णज्ञान की खोज में हैं, और अज्ञान या अधूरे ज्ञान से निःसृत वैकल्पिक वाणी बोलने में अब उनकी रुचि नहीं है। लेकिन इस अक्षुण्ण मौन में विचरते हुए भी वे जीवन-जगत से असम्पृक्त और विमुख नहीं हैं, पलायित नहीं हैं। वे निष्क्रिय नहीं हैं। परिवेश में होने वाले सारे मुक़ाबिलों और घटनाओं का वे पूर्ण संचेता से सामना करते हैं। अपनी आत्मिक क्रिया द्वारा वे उनका सचोट उत्तर देते हैं।

रचना में प्रश्न प्रस्तुत था, कि अखण्ड मौन महावीर की उन आत्मिक और भाविक प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति कैसे दी जाये। इसके लिये मैंने दो युक्तियों का आविष्कार किया। एक तो यह कि वे दृष्टि, इंगित, स्पर्श या मुस्कान मात्र से बहुत कुछ कह देते हैं। दूसरे उनकी भीतरी आवाज़ से आने वाला वह उत्तर, कभी पास के झाड़ से, कभी अलक्ष्य अन्तरिक्ष से, कभी किसी सम्मुख मूर्ति या गुम्बद् में से सुनाई पड़ जाता है। यानी यह कि महावीर की आत्मिक ऊर्जा में से वह उत्तर इतना एकाग्र और अविकल्प होकर फूटता है, कि वह परिवेश की किसी भी वस्तु से टकराकर, उसके माध्यम से प्रतिध्वनित हो उठता है। मैंने महसूस किया कि इस शिल्पगत उपाय-आविष्कार से एक विलक्षण कला-सौन्दर्य प्रकट हुआ है, एक अनोखा कला-विलास सम्भव हुआ है। रचना में एक और नया प्रयोग करने का मौक़ा मिला।

महावीर के उत्तर को अभिव्यक्ति देने के लिये एक और भी उपाय-योजना मैंने की है। परिवेशगत घटना या व्यक्ति से मुक़ाबिले के क्षण में, उनके भीतर एक एकालाप (मोनोलॉग) सा चल पड़ता है। जिसमें सन्दर्भगत कथा-सूत्र भी उभरते हैं, और अनेक पूर्वापर परिप्रेक्ष्यों में, वे प्रस्तुत स्थिति पर बहुत ही मौलिक रोशनी डालते हैं, जो उनके क्षण-क्षण में घटित हो रहे आत्म-विकास को व्यक्त करती है। इन एकालापों में वे कभी-कभी प्रस्तुत घटना या व्यक्ति को सम्बोधन करके भी, बहुत कुछ उद्घाटित करते हैं, अनावरित करते हैं। बाह्य
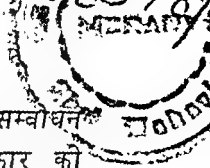
पदार्थों से प्रतिध्वनित होनेवाले उत्तर, और आत्म-सम्बोधन तथा अन्य-सम्बोधन के रूप में फूटनेवाली भाव-वाणी, दोनों ही महावीर की आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में योगदान करते हैं। यानी इन उत्तरों से वे स्वयम् भी अधिक प्रबुद्ध, अधिक आत्मोन्नत होते हैं।

दो खण्ड समाप्त कर लेने पर अब समझ में आता है, कि इस उपन्यास में आत्म-कथा शैली अपना कर, क्या विशिष्ट उपलब्ध हो सका है। महावीर मूलतः एक आत्म-पुरुष हैं। और यह आत्म-पुरुष ही अपने विस्तार में विश्व-पुरुष हो जाता है। आत्म-पुरुष का अन्तर्लोक आत्म-कथा के माध्यम से ही समीचीन और समग्र अभिव्यक्ति पा सकता है। पौराणिक कथा के पुनर्सर्जन में मेरा लक्ष्य पुराकथा को केवल आधुनिक परिधान देना या नवकला-देह प्रदान करना नहीं है, उसमें मेरा साध्य आत्म-पुरुष की मनोवैज्ञानिक तलाश है। इसकी ख़ातिर उसकी अतल-वितल अवचेतनिक गहराइयों में डूबना अनिवार्य है। यानी अंग्रेज़ी में जिसे 'इनर प्रोब एण्ड एक्स्प्लोरेशन' कहा जाता है, वही मेरे सृजन की खास फ़ितरत है। इस माने में भारत की विभिन्न भाषाओं में वर्तमान में लिखे गये पौराणिक उपन्यासों से मेरा पौराणिक उपन्यास सर्वथा अलग पड़ जाता है। मुन्शी के लोकप्रिय पौराणिकों से मैं इसी अर्थ में सर्वथा भिन्न और दूसरे छोर पर हूँ। यानी मेरी कथा सतह गत घटनाओं पर समाप्त नहीं, उसकी व्याप्ति कॉस्मिक है, और वह गहराइयों में उतर कर ही, अपनी अभीष्ट तृप्ति पा सकती है।

किसी पूर्व विचारित योजना या इरादे से मैंने आत्म-कथा शैली को नहीं अपनाया। वह मानो स्वयम् महावीर ने ही मुझे दी है, कि 'मैं इसी राह कला में समीचीन रूप से उतर सकूंगा।' चूंकि महावीर आत्मकथा की राह व्यक्त होते हैं, इसी से उनसे सम्बद्ध अन्य पात्र भी अनायास आत्म-कथन द्वारा अपने को व्यक्त करते दिखाई पड़ जाते हैं। क्योंकि महावीर और उनके बीच, कथा की समग्रता में एक अंगागी सम्बन्ध है।

लेकिन महावीर चूंकि स्वभाव से ही जन्मजात द्रष्टा और योगी हैं, इस कारण वे केवल उत्तम पुरुष होकर नहीं रह सकते, समानान्तर रूप से वे अपनी ही निगाह में एक अन्य पुरुष के रूप में भी घटित होते हैं। यानी वे 'मैं' और 'वह' के रूप में संयुक्त भाव से घटित होते हैं। एक ही क्षण में 'मैं' अचानक 'वह' बनकर उनके सामने आ जाता है। अर्थात् उस महायोगी में ऐसी चेतना सक्रिय है, कि वह आवश्यकतानुसार, प्रसंगतः अपने को अपने से अलग करके सामने खड़ा भी देख सकता है। मसलन एक स्थल पर महावीर कायोत्सर्ग में अविचल खड़े हैं, और वे स्वयम महावीर की मूर्ति या व्यक्तित्व को सामने से गुज़रता देखते हैं। और स्वयम् ही उसकी भव्य व्यक्तिमत्ता का लाक्षणिक साक्षात्कार करते हैं। और तब स्वयम् उत्तम पुरुष द्रष्टा मात्र रह कर, अपने ही व्यक्तित्व को दृश्य और ज्ञेय बनाकर, देखते-जानते हैं। उसे अपने ज्ञान-दर्शन

का विषय बनाकर, उसका वीतराग भाव से साक्षात्कार करते हैं, और उसका साक्ष्य अपने ही शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। अपने ही आपको अपने से अलग कर देखना, पहचानना, जाते-आते, वर्तन करते, विचार करते, कर्म करते देखना, आत्म-दर्शन की साधना का अत्यन्त परिणामकारी मनोवैज्ञानिक साधन और माध्यम है।

योगी महावीर की चेतना में बद्धमूल इस उत्तम पुरुष और अन्य-पुरुष की सहगामिता का इस रचना में अत्यन्त कलात्मक ढंग से उपयोग कर लिया गया है। इस प्रयोग में अपने ही साथ अपने संवाद और लीला की एक अजीब ख़ूबसूरत नाटकीय स्थिति उत्पन्न होती है। और वह महावीर के व्यक्तित्व की लाक्षणिक सामर्थ्य और द्रष्टा स्वरूप को रचने में गहरा योगदान करती है। इस तरह सृजन और शिल्प का एक और भी नया प्रयोग अनजाने, अनसोचे ही हो गया। मानो कि रचना मैं नहीं कर रहा, मेरे भीतर से कोई और कर रहा है।

० ० ०

जिनेश्वरी साधना में कायोत्सर्ग, ध्यान की एक विलक्षण पद्धति है। उसमें साधक खड्गासन में स्थिर खड़ा हो कर, सन्नद्ध भाव से आत्मस्थ होने का महा पुरुषार्थ करता है। अर्थात् देहभावी 'मैं' को उत्सर्ग करके, आत्मभावी 'मैं' में उन्नीत होता है। यानी वह अपने आत्म-स्वरूप और आत्मभाव में अधिकाधिक तन्मय होता हुआ, एक मनातीत द्रष्टाभाव की भूमि में अवतीर्ण होता है। तब वह जगत-जीवन को नयी आँखों से देखता है, वह व्यक्तियों और वस्तुओं के आरपार देखता है। देश-काल में घटित, आत्माओं के कई जन्मान्तरों के परिप्रक्ष्य तक में झाँक लेता है। इस प्रकार ध्यान में वह समस्त सत्ता के साथ एक आन्तरिक 'डायलॉग़' और सम्बन्ध में घटित होता है। कायोत्सर्ग की यह मेरी अपनी मनोवैज्ञानिक समझ और व्याख्या है।

रूढ़ जैन शास्त्रों में इस आत्म-ध्यान को मोटे तौर पर एक बौद्धिक आत्म-चिन्तन् का रूप दे दिया गया है। यानी कि साधक, शास्त्रों में कुछ खास लाक्षणिक शब्दों में वर्णित आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करता चला जाये। इसमें एक जड़ पुनरावृत्ति और बोरियत का अहसास होता है। क्षण-क्षण नव्यमान आत्मा का चिन्तन् रटेरटाये शब्दों और दोहरावों में कैसे हो सकता है। उसमें एक मनोवैज्ञानिक आत्म-मंथन और आत्मान्वेषण अनिवार्य है। स्वभाव से ही सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा किसी शास्त्रीय दायरे और पदावली में अपने को कैसे परिमापित कर सकती है।

दूसरे यह भी है, कि अपने वास्तविक परिवेश से कट कर सच्चा आत्म-ध्यान कैसे सम्भव है। आत्म सर्व के बीच घटित रह कर, सर्व के सन्दर्भ में ही, अपनी सही पहचान और पूरा अर्थ प्राप्त कर सकता है। आत्म का असली

स्वरूप शुद्ध पारदर्शी ज्ञान है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की क्या सार्थकता, क्या पहचान ? ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के अविनाभावी सम्बन्ध में ही सच्ची आत्म-स्थिति उपलब्ध हो सकती है। गहराई से सोचने पर समझ में आता है, कि यह एक मनोवैज्ञानिक सचाई है।

बगैर किसी इरादे के ही, रचना के स्तर पर जब मैंने महावीर के कायोत्सर्ग को साक्षात् किया, तो वह स्वतःस्फूर्त रचना की राह इसी रूप में उत्सृजित होता चला गया। यानी मेरे रचनाकार के स्वतंत्र अवबोधन में महावीर की ध्यान-चेतना इसी रूप में खुलती चली गई। वे कायोत्सर्ग में आत्मस्थ होने के लिये, अलग से कोई आत्म-चिन्तन नहीं करते। वे परिवेश से असम्पृक्त और कटे हुए नहीं हैं। बल्कि सर्व के प्रति उनका ध्यानस्थ आत्म अधिकतम संचेतन और उन्मुख हो रहता है। उनका ध्यान एक विराट् ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। ज्ञेय के साथ वे ज्ञानात्मक भाव से गहरे तादात्म्य में उतर कर, अपने ज्ञाता स्वरूप में अधिक उपलब्ध और उन्नत होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि रचना के स्तर पर महावीर मुझे अनायास ज्वलन्त वास्तविकता के रूप में उपलब्ध हो गये हैं। उनका ध्यान भी अलगाव नहीं, जगत-जीवन के साथ गहिरतम उलझाव है, 'इन्वॉल्वमेंट' है। बल्कि यों कहें कि मौलिक 'इन्वॉल्वमेण्ट' में उतरने के लिये ध्यान द्वारा आत्मस्थ होना ज़रूरी हो जाता है। तब आत्म ही अनायास सर्व होता चला जाता है। आत्मध्यान ही सर्वध्यान हो जाता है, और सर्वध्यान ही आत्मध्यान हो जाता है।

मेरे ख्याल से ध्यान की मनोवैज्ञानिक असलियत यही है। तब महावीर या उस कोटि के किसी भी योगीश्वर का ध्यान अन्यथा कैसे हो सकता है। शास्त्रों की लाक्षणिक भाषा में शब्दों के बीच निहित यही आशय कई बार झलक मार जाता है। रचना में चूंकि हम भाव और संवेदना की भूमि पर काम करते हैं, इसी से उसमें चीज़ों के निगूढ़ सत्य अनजाने ही उद्घाटित हो जाते हैं। इस माने में महावीर के कायोत्सर्ग को रचने में, जैसे योग का एक नवीन ऐन्द्रिक अनुभवगम्य प्रयोग करने का सुयोग भी मुझे मिला। ज्ञान को संवेदन में, और संवेदन को ज्ञान में परिणत करने की कई नई मनस्तात्विक कुंजियाँ भी हासिल हुई।

महावीर का ध्यान मुझे एक महान और चरम कर्म-शक्ति के रूप में भी साक्षात्कृत हुआ। चारों तरफ़ से कट कर अपने में बन्द, दीपित होने वाली ध्यान-मुद्रा मेरे सामने ही नहीं आयी। महाश्रमण महावीर के भीतर उनकी दुर्दम्य ज्ञानोत्सुकता ही, एक प्रचण्ड क्रियाशक्ति बन कर संचारित है। और वे सामने आने वाले हर व्यक्ति या वस्तु-स्थिति के साथ एक प्रबल संघात और उद्घात के रूप में 'इन्वॉल्व' होते हैं। उनसे सम्पृक्त होने वाली हर आत्मा में उनकी ज्ञानोर्जा का इतना पारगामी आघात होता है, उनकी प्रीति का ऐसा अचूक

प्लवन होता है, कि विपल मात्र में ही उसकी चेतना रूपान्तरित हो जाती है। शूलपाणि यक्ष, चण्ड कौशिक, संगम देव, चमरेन्द्र, कटपूतना तथा अन्य अनेक उनके पीड़क मानवों और राज्याधिकारियों के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनका आत्म-ध्यान आपोआप ही, इन उपसर्गों से आक्रान्त हो कर, एक महायुद्ध में परिणत हो जाता है। अपने में बन्द, पलायित हो रहने की छुट्टी उन्हें नहीं है। आत्म-प्राप्ति की राह अनेक दुर्गम बीहड़ों, नैर्जन्यों, संकट-खतरों, दुर्भेद्यों तथा विरोधी शक्तियों के बीच से हो कर गई है। सर्व को भेद कर, विद्ध कर, सर्व में से पार हो कर, सर्व का पूर्णज्ञान और सम्वेदन पा कर ही आत्म की परम पहचान प्राप्त की जा सकती है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि आत्म-योगी महावीर अपनी ध्यानस्थ आत्मा की एकाग्र ऊर्जा और अचूक क्रियाशक्ति से ही, समस्त चराचर सृष्टि से मूल में उतर कर, सतहगामी इतिहास में भी एक अपूर्व क्रान्ति और अतिक्रान्ति घटित कर रहे हैं। आत्मध्यान ही इस महाक्रान्तिकारी का अमोघ अस्त्र और अचूक कर्मयोग है।

० ० ०

पड्गमानि ग्राम के वनांगन में, एक ग्वाले द्वारा ध्यानस्थ महावीर के दोनों कानों के आर-पार शूलवेध के साथ ही, आगमों में उनके तपस्या-काल की कथा समाप्त हो जाती है। उनकी तपस्या में यही चरम उपसर्ग था, सो इसके तुरंत बाद ही, उनके परम शुक्ल-ध्यान में आरोहरण करने और उसके द्वारा कैवल्य प्राप्त करने का प्रकरण आ जाता है। रचना के स्तर पर यहीं द्वितीय खण्ड की समाप्ति मुझे बहुत आकस्मिक और यांत्रिक-सी लगी। वस्तुतः इस खण्ड में आरम्भ से लेकर, ग्वाले द्वारा कर्ण-वेध के उपसर्ग तक, अधिकांश में उपसर्गों का एक अटूट सिलसिला-सा चलता है। पूर्व निर्धारणा के अनुसार, महावीर उत्तम पुरुष में ही, इन उपसर्गों की आत्म-कथा कहते चले जाते हैं। लगभग सभी उपसर्ग इतने उत्कट और अमानुषिक हैं, कि सर्व सामान्यतः मानव-कथा इनमें घटित ही नहीं होती, और न स्वयम् महावीर का कोई मानव रूप हमारे सामने आता है। अतिमानुषिक प्रसंगों की एक सपाट-श्रृंखला ही सम्मुख आती है। उसमें भय, आतंक, आश्चर्य, रोमांच और चमत्कार का बोध भले ही हो, पर विशुद्ध मानवीय सम्वेदन की कोई गहरी अपील पैदा नहीं होती।

इन प्रसंगों से सम्बद्ध पशु प्राणियों, देवों, दनुजों और मनुजों पर, महावीर की इस मृत्युंजयी तपस्या का एक प्रतिबोधक और उन्नायक प्रभाव अवश्य पड़ता है। बेशक वह भी यथा सन्दर्भ एक उच्च स्तरीय मानवीय सम्वेदन ही है। हर उपसर्ग के समापन में, प्रभु के हर पीड़क और प्रहारक की पराजय, उसका

आत्मार्पण और शरणागति तथा उसका आत्मिक रूपान्तर भी निश्चय ही एक उन्नयनकारी सम्वेदनात्मक अपील पैदा कर सकता है। उन हत्यारों की आत्म-ग्लानि, पश्चाताप, तथा उसके द्वारा उनकी जन्म-जन्मान्तरों की कषाय-ग्रंथियों का मोचन, और फलतः उनका रूपान्तरण और आत्मबोध भी मानव हृदय पर अतिमानव महावीर के अचूक संघात और प्रभाव का सृजन तो करते ही हैं। पर इस तरह अन्य मानव चरित्र, महज़ महावीर की महिमा को झेलने और प्रतिबिम्बित करने वाले पात्रों और दर्पणों के रूप में ही घटित होते हैं। उनकी किसी स्वतंत्र मानवीय स्थिति या प्रतिक्रिया को इसमें अवसर नहीं मिलता।

इस समूचे खण्ड में केवल चन्दना का प्रसंग ही सही मानवीय अर्थ में हृदय-स्पर्शी है। इसी से चंदना की आत्मकथा को यथा सम्भव अधिकतम मानवीय सम्वेदना के पट पर रचना मेरे लिये सम्भव हो सका है। मैं उसे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान कर सका हूँ। इस अपवाद के अतिरिक्त उपसर्गों की पूरी आख्यानमाला सृजनात्मक दृष्टि से ऐसी किसी संश्लिष्टता या जटिलता (काम्पलेक्सिटी) को अवसर नहीं देती, जिसके अभाव में एक औपन्यासिक महा काव्य अपनी यथेष्ट गरिमा और गहराई नहीं प्राप्त कर पाता।

यह स्पष्ट होने पर, इस अनिवार्य आयाम को उभारने के लिये, मैंने कर्णवेध और केवलज्ञान के बीच के रिक्त लगते अन्तराल में आठ नये अध्याय रचे, जो सम्भवतः एक महद् उपन्यास की उपरोक्त शर्त को पूरा करते हैं। इन अध्यायों में दो-तीन काम एक साथ हो सके हैं। इस कृति को उसकी उपयुक्त 'काम्पले-क्सिटी' प्राप्त हो सकी है। कर्णवेध की दारुण वेदना के माध्यम से, अतिमानवीय महावीर भी अपने अकम्प कायोत्सर्ग से उतर कर अत्यन्त मानवीय संवेदना के स्तर पर हमें उपलब्ध हो जाते हैं। एक ओर है चक्रवर्तित्व की महत्वाकांक्षा से प्रमत्त सम्राट बिम्बिसार श्रेणिक का पराजेय पार्थिव अहंकार। दूसरी ओर है त्रैलोक्येश्वर, फिर भी अकिंचन महावीर की अपराजेय आत्मिक प्रभुता। मगध और वैशाली के संघर्ष में, प्रथम खण्ड में ही यह टकराव और उलझाव, अनजाने ही सम्पूर्ण उपन्यास की केन्द्रीय विषय-वस्तु का रूप ले लेता है। द्वितीय खण्ड के उपरोक्त आठ अध्यायों में यह संघर्ष एक गहरा मनोवैज्ञानिक, आन्तरिक और तात्त्विक रूप प्राप्त कर लेता है। इस तरह यह टकराव और उलझाव पूरे उपन्यास को एक-सूत्रात्मक अन्विति प्रदान कर देता है। और एक बड़े उपन्यास के योग्य संश्लिष्टता भी, इस उलझाव में से उपलब्ध हो जाती है।

इन आठ अध्यायों में महावीर का एक अत्यन्त मानवीय सम्वेदनात्मक व्यक्तित्व भी हमें अनायास हासिल हो जाता है। उनके आत्मविकास की यात्रा यहाँ आकर, सपाट रेखा को तोड़ कर, चक्राकार हो जाती है। वह महज़ 'लीनियर' न रह कर 'सायक्लिक' हो जाती है, और इस तरह वह अनिवार्य मनोवैज्ञानिक

प्रक्रिया की माँग पूरी करती है। अपने कर्ण-वेध के चरम उपसर्ग तक पहुँचते-पहुँचते, महावीर जिस क़दर अतिमानुषिक हो जाते हैं, वह जैसे उपन्यास को वास्तविकता से वंचित कर देता है।

इस स्थिति में कर्ण-वेध की आगमोक्त कथा स्वयम् ही एक ऐसी कुंजी (क्ल्यू) हमें अनायास दे देती है, जो अतिमानव महावीर को स्वाभाविक रूप से मानवीय स्तर पर उतार लाने में सहायक हो जाती है। कथा-सूत्र यह है कि जब खरक वैद्य के सहायक, भगवान् को तेल की कुण्डी में बैठा कर उनके शूल-वेध से तने हुए शरीर को ढीला कर, उनके कानों में विंधे शूल खींच निकालते हैं,तब भगवान के मुंह से अपने बावजूद त्रास की एक चीख़ फूट पड़ती है। यह एक अति मानव की चीख़ है, जो उसकी मानुषिक वेदना की व्यंजक भी है, और समस्त ब्रह्माण्ड की मौलिक अस्तित्वगत त्रासदी की एकाग्र अभिव्यक्ति भी है। वेदना के इस चरम छोर पर रचनाकार को अवसर मिला है, कि उसने महावीर को स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक ढंग से अपनी माँ का स्मरण करा दिया है। क्षण-मात्र के लिये महावीर के भीतर का मनुष्य, अवशिष्ट मोह-संस्कारवश, मानव हृदय की चरम शरण-रूपा माँ की गोद के लिये बरबस चीत्कार उठता है।...और अगले ही क्षण, उनकी उच्च ज्ञानात्मक स्थिति का बोध इस शरण की मोह-माया-जन्य भ्रान्ति को भंग कर देता है।

लेकिन इस घटना से जो एक मानवीय मृदुता और नम्यता उत्पन्न होती है, वह अपनी आत्मिक गुणवत्ता के बावजूद, महावीर को एक समरस मनुष्य के रूप में, अपने निकटतम आत्मीय मानव पात्रों के साथ, सहज मानवीय भाव से ही अधिकाधिक समन्वित करती चली जाती है। यानी कि रचना में यह संगत रूप से और हठात् सम्भव हो गया है, कि भगवान जैसे-जैसे केवलज्ञान के निकटतर पहुँचते हैं, वे अधिकाधिक मानवीय होते चले जाते हैं। चूंकि अब वह घड़ी आ पहुँची है, जब उन्हें पूर्णज्ञानी और पूर्ण प्रेमी होकर संसार के तमाम मानवों और प्राणियों के पास सदा के लिये लौट आना है। मानों कि यह इस बात का द्योतक प्रतीक हो जाता है, कि केवलज्ञान महावीर के लिये महज़ निजी, वैयक्तिक आत्मप्राप्ति और जीवन्मुक्ति का साधन ही नहीं है, बल्कि वस्तुतः और सत्यतः वह उन्हें मानव मात्र और प्राणि मात्र के साथ संवेदनात्मक रूप से तदाकार करा देनेवाली उपलब्धि है। केवलज्ञानी महावीर को सृष्टि के सकल चराचर और कण-कण के साथ सर्वकाल आत्मीय हो कर रहना है। उनके केवलज्ञान की यही एकमात्र शुद्ध सम्वेदनात्मक परिणति हो सकती है।

उक्त आठ अध्यायों में क्रमशः त्रिशला, चेलना, श्रेणिक के आत्म-कथनों द्वारा अतिमानव के मानवीकरण की प्रक्रिया को सम्वेदनात्मक मूर्तता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। प्रयास क्या, स्वयम् महावीर इसी रूप में यहाँ अपने आप सृजन में घटित होते चले जाते हैं। 'माँ...' शब्द द्वारा उच्चरित महावीर

की चीख़, आधी रात गहरी नींद में सोयी त्रिशला के हृदय पर आघात कर उसे जगा देती है। जो कि हमारे महज़ मानवीय स्तर पर आज भी एक 'टेलीपैथिक' प्रत्याघात के रूप में घटित होनेवाली स्वाभाविक मानवीय घटना कही जा सकती है।

श्वेताम्बर आगमों के अनुसार महावीर के माता-पिता का देहान्त उनके गृह-त्याग के पूर्व ही हो जाता है। पर दिगम्बर कथा के अनुसार, गृह-त्याग के समय उनके माता-पिता जीवित हैं। उसके बाद महावीर की तपस्या और केवलज्ञान तक के साढ़े बारह वर्षों तक भी उनका जीवित रहना, एक संगत तथ्य हो ही सकता है। दिगम्बर कथा इस तथ्य पर मौन है। और यह मौन सम्मति देता है कथाकार को, कि कथा की ज़रूरत के अनुसार, तीर्थंकर महावीर के समवशरण में भी वह उनकी उपस्थिति दिखा सकता है।

कर्णवेध की पीड़ा, और तज्जन्य चीख़ के ठीक अनुसरण में त्रिशला का आत्म-कथन आ जाता है, जिसमें उस ब्रह्माण्ड-पुरुष की चरम मानवीय वेदना का प्रत्याघात, अत्यन्त उपयुक्त रूप से सर्वप्रथम ठीक उसकी माँ के हृदय पर ही होता है। और यहीं से महावीर के मानवीकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस प्रस्थान-विन्दु से वे माँ की वेदना में सहभागी होते हुए, क्रमशः चेलना और श्रेणिक के आत्मकथनों के माध्यम से उनकी मानवता के साथ उलझते हुए, मानो निकट भविष्य में ही केवलज्ञान द्वारा प्राणि-मात्र की वेदना में हिस्सेदारी करने की दिशा में अग्रसर होते दिखाई पड़ते हैं। त्रिशला के आत्म-कथन में, महावीर माँ के साथ तद्‌गत होते हुए भी, मोह-मुक्त प्रेम द्वारा मोहावृत मातृ-योनि का वेध करते हैं। और उस योनि को ही वे मुक्ति-रमणी में उत्संगित या रूपान्तरित कर देते हैं। चेलना और श्रेणिक के आत्म-कथनों में जहाँ एक ओर महावीर की मानवीय अलभ्यता, और निगूढ़ चारित्रिकता प्रकट होती है, वहीं उसमें उनकी मानवीय ऊष्मा, उदात्तता और मौन प्रीति के झरोखे भी खुलते दीखते हैं।

इसके अतिरिक्त इन आत्म-कथ्यों की सर्वोपरि रचनात्मक सार्थकता यह है, कि ये तीनों पात्र महावीर के परिप्रेक्ष्य में ही सही, फिर भी अपनी एक स्वतंत्र व्यक्तिमत्ता, अस्मिता और सार्थकता प्राप्त करते हैं। यहाँ ऊर्ध्वोन्मुख मानव-आत्मा की विकास-यात्रा में मुक़ाबिल होने वाले चरम आत्म-संघर्ष और आत्म-पीड़न को भी अभिव्यक्ति मिलती है। कर्णवेध के प्रकरण तक तो स्वतंत्र मानव चित्त, व्यक्ति और उसके स्वाभाविक मनोविज्ञान को अवसर ही नहीं मिलता। पर इन पात्रों के आत्म-कथनों द्वारा कथा को गहरी मानवीयता और मनोविज्ञान प्राप्त हो जाता है। एक तरह से यहाँ ये तीनों मानव पात्र, अति मानव महावीर से अपनी मानवीय स्थिति की क़ैफ़ियत तलब करते हैं। वे उनके अति-मानवत्व के सन्दर्भ में अपने स्वतंत्र मानवीय अस्तित्व की सार्थकता का तीखा

प्रश्न उठाते हैं। वे महावीर से अपने मनुष्य होने के प्रयोजन की परिभाषा मांगते हैं।

इसके बाद, एक अध्याय में स्वयम् महावीर उक्त तीनों पात्रों की सारी उलझनों का समाधान करते हुए, स्वगत कथन में उन्हें सम्बोधित करते हैं। यहां अपनी उच्च ज्ञानात्मक स्थिति में रह कर भी, वे त्रिशला, चेलना, श्रेणिक और उनके माध्यम से मानों मनुष्य मात्र के प्रति समर्पित होते हैं। प्राणि मात्र के साथ वे चरम आत्मीयता में चिर काल आवद्ध होने को छटपटाते दीखते हैं।

यहाँ वे अब तक प्राप्त अपनी समस्त ज्ञानात्मक उपलब्धियों को भी कमतर अनुभव करते हैं। वे अत्यन्त विनम्र जिज्ञासु और मुमुक्षु की तरह उस पूर्णज्ञान को पाने के लिये जूझते हैं, जिसे पाये विना त्रिशला, चेलना, श्रेणिक और समस्त जगत के प्राणियों के साथ परिपूर्ण, अविच्छेद्य आत्मीयता में आवद्ध नहीं हुआ जा सकता।

यह कैवल्य के तीर पर ध्यानस्थ, परम पुरुष की महावेदना की घड़ी है। यहाँ उनमें प्रचण्ड आत्म-संघर्ष और आत्म-मंथन घटित होता है। यहाँ वे मानव मात्र और प्राणि मात्र के साथ तदाकारिता, और पूर्ण सम्वाद तथा पूर्ण प्रेपणीयता उपलब्ध करने के लिये उत्कट आत्म-पीड़ा के साथ कशमकश करते हैं। वैसी किसी सम्भावना तक पहुँचने के लिये, अपनी ज्ञानात्मक सम्वेदना द्वारा, उस प्रकार के सम्वाद-सम्प्रेपण की सम्भाव्य नयी राहों का अन्वेपण करते हैं। कहें कि इस तरह के सम्वाद-सम्प्रेपण की एक नयी ज़मीन तोड़ते हैं। इस प्रकार इन अध्यायों में मानव और अतिमानव महावीर के वीच एक स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सामंजस्य और सामरस्य उपलब्ध हो सका है।

० ० ०

वारह वर्ष व्यापी कठोर तप से गुज़रने के वाद भी, कर्ण-वेध के उपसर्ग में महावीर पहली वार अपने को अन्तिम रूप से अकेला महसूस करते हैं। उसके वाद त्रिशला, चेलना और श्रेणिक के साथ मानसिक उलझाव के दौरान उनका वह अकेलापन उत्तरोत्तर वढ़ता ही चला जाता है। उक्त तीन पात्रों के साथ के अपने भीतरी 'डायलॉग' में वे एक तीव्र पुकार अनुभव करते हैं, कि क्या अपने इन आत्मीयों के साथ, और इनके माध्यम से समस्त चराचर सृष्टि के साथ वे एकात्म और तदाकार नहीं हो सकते? क्या वे तमाम आत्माओं के भीतर प्रवेश कर, उनमें सम्वेदित और संस्पर्शित नहीं हो सकते? क्या सबके साथ वे एक नित्य सम्भोग, सम्वाद और सम्प्रेपण में निरन्तर नहीं रह सकते? क्या इस अन्तिम अकेलेपन से उवरने का यही एक मात्र उपाय नहीं है?

और इस प्रश्न के साथ ही वे सीधे चिरन्तन् मानवीय त्रासदी के आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। अव तक वे तत्त्व से अस्तित्व का मूल्यांकन करते रहे,

इसी से अस्तित्व की नग्न वास्तविक त्रासदी उनकी चेतना में पूरी तरह घटित और साक्षात्कृत नहीं हो पाती थी। अब अपने आत्मसंघर्ष की पीड़ा में से, और अपने अन्तिम प्रश्नों से जूझते हुए, वे सीधे अस्तित्व की त्रासदी का मुक़ाबिला करते हैं। अपने मानवीय सम्वेदन के स्तर पर वे उसमें जुड़ते हैं, और उसका साक्षात्कार करते हैं। उनके इस अस्तित्व-चिन्तन में जैनों की अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का आपोआप ही समावेश हो जाता है।

यहीं से महावीर की वह भीतरी अन्तरिक्ष-यात्रा आरम्भ हो जाती है, जिसमें आगे जाकर वे उत्तरोत्तर संघर्ष, बाधा, बन्धन की अनेक मूलभूत भूमिकाएँ पार करते हुए, उत्कृष्ट शुक्लध्यान तक ले जानेवाली कई उच्च से उच्चतर श्रेणियों पर आरोहण करते चले जाते हैं। यहाँ रचनाकार के सामने समस्या यह थी, कि ध्यान जैसे अमूर्त विषय का, कला में मूर्तन कैसे किया जाये? पर्याप्त मंथन के बाद, जैसे मुझे प्रत्यक्ष विज़न हुआ, कि भीतर के भूगोल और खगोल में अन्तर्गामी यात्रा के रूप में ही, सृजन के तहत अमूर्त ध्यान-प्रक्रिया को मूर्त रूप दिया जा सकता है। इस यात्रा की राह में पड़ने वाले आन्तरिक प्रदेशों और भूमिकाओं को बिम्ब प्रदान करना इसके लिये अनिवार्य हुआ। चूंकि तथ्यात्मक कथा यहाँ कोई सम्भव ही नहीं थी, इसी कारण काव्य, कल्पना, फन्तासी, प्रतीक और रूपकों द्वारा ही इस आन्तर चर्या को रचा गया है।

अपनी अन्तर-यात्रा में समस्त लोक का साक्षात्कार करने के उपरान्त, महावीर कर्म-चक्र की तात्विक लीला भूमि में उतरते हैं। वहाँ कर्म-बन्धन की प्रक्रिया को अनेक रंगों, आकारों, बिंबों द्वारा उभारा गया है। तमस से प्रकाश तक की चेतना की भाव-स्थितियों को रचने के लिये, एक काव्यात्मक रंग-लीला द्वारा जैनों की षट् लेश्याओं का उपयोग कर लिया गया है। इसी प्रकार आगे भारतीय योग साधना के विभिन्न मार्गों में मिलने वाले अनेक प्रतीकों, साक्ष्यों, बिम्बात्मक भूमिकाओं का समन्वित ढंग से उपयोग करते हुए, महावीर की इस अन्तर-यात्रा को रचना-स्तर पर अधिकतम ऐंद्रिक अनुभव-गम्य, भावगम्य, बोधगम्य बनाने की चेष्टा अपने आप सृजन के दौरान हुई है। उदाहरणार्थ काम, गरुड़ और शिव के स्वरूपों और लोकों में से महावीर गुज़रते हैं, और उनके भीतर भी अन्ततः अपने आत्म-स्वरूप का ही दर्शन करते हैं। गरुड़ के प्रतीक के माध्यम से वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के मण्डलों में से अभिसरण करते हुए, उनसे अतिक्रान्त हो कर आकाश में अपने पूर्ण विस्तार की सम्भावना अनुभव करते हैं।

फिर जैनों के यहां निरूपित आत्मा के चौदह गुण-स्थानों (आत्मविकास की अनुक्रमिक भूमिकाओं) के भीतर संक्रमण, और शुक्ल-ध्यान की उच्चतर श्रेणियों पर क्रमशः आरोहण को मैंने विभिन्न धातु और खनिजों को पर्वत

श्रेणियों के अतिक्रमण के रूप में विम्वायित किया है। इस सिलसिले में रसेश्वर शैव-दर्शन के, पार्वती-रज अभ्रक, और शिव-वीर्य पारद वाले प्रतीकों का भी अनायास समावेश हो गया है। अभ्रक और पारद के सम्पूर्ण रज-वीर्य संयोग द्वारा ही चंचल पारद निश्चल आत्मा की तरह स्थिर और घनीभूत हो सकता है। और इसी घनीभूत पारद द्वारा आत्मा अपने भीतर निहित शुद्ध जातरूप सुवर्ण में रूपान्तरित हो सकती है। इस भूमिका में नर-नारी का क्षणिक मैथुनानन्द ही, पूर्ण योग की साधना द्वारा, आत्म-स्वरूप शिव-शिवानी के शाश्वत मिलनानन्द में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मानुषिक स्तर के मैथुन को भी आत्मिक मैथुन की मूल भूमिका में यथा स्थान औचित्य, समर्थन और सार्थकता प्राप्त हो जाती है। इस तरह शुद्धात्मा की भूमिका, सर्व समावेशी और समग्र जीवन-आश्लेषी रूप में, रचना स्तर पर उपलब्ध हो जाती है।

इसके वाद केवलज्ञान के आकस्मिक प्राकट्य की प्रक्रिया और घटना, नाटकीय स्थितियों से गुज़र कर एक अनायासिक विस्फोट और आलोकन में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है।

इसके उपरान्त सहसा ही महावीर समाधि भंग कर निखिल पर आँखें खोल देते हैं। केवलज्ञान के शिखर पर आरूढ़ अपनी आत्म-स्थिति का अव-लोकन करते हैं, साथ ही वाहर के लोक में प्रकाशित अपने व्यक्तित्व की महिमा का भी तद्गत रूप से साक्षात्कार करते हैं। तव त्रिलोक और त्रिकाल के नित्य ज्ञानी, सर्वज्ञ महावीर अपने उस ज्ञानानुभव को व्यक्त करते हैं, ताकि उस तरह वे अपनी उपलव्धि को लोक-हृदय तक पहुँचा सकें, उसकी एक सचोट प्रतीति हर मुक्तिकामी आत्मा को करा सकें। यहाँ केवलज्ञान को भी महावीर अधिकतम मनोवैज्ञानिक अनुभूति के स्तर पर उतार कर, मानों उसे लोक-भोग्य वनाने को अकारण और निष्काम भाव से ही उत्प्रेरित होते हैं।

वेशक अकथ्य है वह अनुभूति, वह चेतना-स्थिति। फिर भी रचना में उसे अनिर्वच कह कर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यदि कोई केवलज्ञान कभी कहीं सम्भव है, और वह यदि किसी कथा का विषय है, तो उसे भाव-सम्वेदन के स्तर पर मूर्त और सम्प्रेषणीय वनाना होगा। उस परम ज्ञान-स्थिति को एक इन्द्रियगम्य मनस्थिति के संवेदना-स्तर पर विश्वसनीय रूप से रूपायित करना होगा। उस निश्चल केन्द्र (स्टिल सेंटर) की अनुभूति को महज़ अनिर्वच कह कर, उस पर कला का मौन पर्दा डाल देने से रचना केवल एक रूढ़ आध्यात्मिक परिकल्पना पर अटक जाती है। वैसी चीज़ परम्परा में पहले ही से प्रतिष्ठित है। उसमें नया क्या हुआ ? और आधुनिक मनुष्य

उसे यथा-स्थिति रूप में स्वीकार कर, उससे अनुभावित और सम्प्रेषित नहीं हो सकता। उससे उसका कोई सहज मानसिक जुड़ाव नहीं हो पाता।

तब जरूरी हुआ कि कैवल्य-पुरुष भगवान् स्वयम् अपनी उस मनातीत ज्ञान-चेतना को अत्यन्त मनोगम्य भाषा में व्यक्त करें। ताकि आधुनिक मानसिकता के मर्म में केवलज्ञान का कोई अचूक संघात सम्भव हो सके। आधुनिक मनुष्य उसे ग्रहण करने को उद्यत हो सके, उसे प्राप्त करने की अभीप्सा से प्रज्ज्वलित हो सके। अन्ततः हर आत्मा उसे अपनी अनिवार्य जरूरत के रूप में महसूस कर सके, और अपनी अन्तिम नियति के रूप में उसका साक्षात्कार कर सके। इसी कारण अन्तिम अध्याय 'कैवल्य के प्रभा-मण्डल में' द्वारा मैंने भगवान के श्रीमुख से ही केवलज्ञान की अनुभूति का समग्रात्मक कथन करवा दिया है। इसमें कला-शिल्प की दृष्टि से मैंने खतरा उठाया है। कितना उसमें सफल हो सका हूँ, इसका निर्णय पाठक के हाथों है।

आधुनिक विश्व-साहित्य में कहीं भी सर्वज्ञता या पूर्ण ज्ञानस्थिति का रचनात्मक निरूपण देखने में नहीं आया। मेरे सामने एक सर्वथा नयी और अप्रयुक्त भूमिका थी। और चुनौती थी कि कैसे इस अपूर्व चेतना-स्थिति को रचनास्तर पर आकलित करके इसे अधिकतम सम्प्रेषणीय बना सकता हूँ। इसके लिये एक नितान्त नयी और कुँवारी भाषा पाने के लिये मैं कई रातों बेचैन रहा। आखिर स्वयम् श्री भगवान ने अनुग्रह किया, और कैवल्यानुभूति की अभिव्यक्ति के उपयुक्त एक प्रांजल भाषा सहज मेरी क़लम पर उमड़ती चली आई।…सृजन का वह मुहूर्त कितना सुखद और मुक्तिदायक था, कैसे कहा जाये?

इस भाषा-आविष्कार के दौरान कई नये शब्दों का निर्माण, तथा प्रचलित शब्दों का नवीन व्यापक आशयगत नियोजन भी हुआ है। इसी अन्तःस्फूर्ति में से मैंने 'सम्भोग' शब्द को महज़ नर-नारी मैथुन के दायरे में से मुक्त कर अंग्रेजी शब्द 'इन्टरकोर्स' के व्यापक भावार्थ में प्रयुक्त किया है।

यहाँ यह स्वीकार करना उचित है, कि इस उपन्यास में आरम्भ से ही जो विज़न और फन्तासी की राह मैंने महावीर और अन्य पात्रों की अन्तश्चेतना को खोला है, उसमें 'शक्तिपात' से प्राप्त मेरी भीतरी योगानुभूतियों ने गहरा योगदान किया है। ध्यान में अनेक बार देखे गये अन्तर-जगत, सूक्ष्म-जगत और स्वप्न-जगत के दृश्यों की जो गहरी स्मृतियाँ मेरी सम्वेदना में सुरक्षित थीं, उनके दिव्य सौन्दर्य वैभव को अनजाने ही इस रचना में यथास्थान सांगोपांग अभिव्यक्ति प्राप्त हो गई है। उपन्यास के सभी उन्नत पात्रों के आत्म-दर्शन के क्षणों का चित्रण मेरी उन्हीं अनुभूतियों द्वारा हुआ है।

प्रथम अध्याय में ही अच्युतेन्द्र के पूर्व जन्म-स्मरण की चेतना-प्रवाही अभिव्यक्ति में, कुण्डलिनी की सम्वेदन-ऊर्जा को मैंने स्पष्ट क्रियाशील अनुभव कर लिया था। इसके अतिरिक्त महावीर के अनुक्रमिक आत्मबोध और आत्म-चिन्तन् में जो परम्परागत शास्त्र भाषा का दायरा तोड़ कर, एक स्वतन्त्र मौलिक आत्मानुभूति की भाषा शक्य हो सकी है, वह भी भगवती कुण्डलिनी का ही सहज कला-विलास है। उपसर्गों के अतिप्राकृतिक उपद्रवों के बारम्बार नाटकीय चित्रण में, और अन्ततः केवलज्ञान की ओर अग्रसर महावीर की समस्त अन्तर-यात्रा के चित्रण में, तथा उसके लिये मौलिक भाषा-आविष्कार की स्फुर्णा पाने में, कुण्डलिनी महाशक्ति ही एक मूलस्रोत के रूप में मेरे सामने आती है। यहाँ तक कि जिन आत्म-स्थितियों का मैंने चित्रण किया है, वे कई बार स्वयम् मेरे भीतर अचानक आविर्भूत हो गई हैं।

इस प्रकार यह रचना मेरे लिये केवल साहित्य के लिये साहित्य-सृजन, या कला के लिये कला-सृजन हो कर न रह सकी। अनायास ही यह मेरे सूक्ष्म भीतरी आत्मोत्थान का साधन, और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन गई। इसने मुझे यहाँ तक प्रतीति करा दी कि कवि-रचनाकार केवल अपने काव्य के रचना-माध्यम से ही आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-प्राप्ति की भूमिका तक भी पहुँच सकता है। वैसे परम्परा में भी सन्तों का सारा काव्य-साहित्य इस सम्भावना और अनुभव की साक्षी देता है। इस रचनाकाल में एक और भी विलक्षण अनुभव मुझे हुआ। मेरी जन्मजात मानसिक संरचना में ही बद्धमूल ऐसी कई ग्रन्थियों और कुण्ठाओं का भी अनजाने ही मोचन हो गया, जो इससे पूर्व मेरी रचना और प्रगति में सदा बाधक रहीं। इस तरह एक अजीब मानसिक रूपान्तर और सुदृढ़ आत्मनिष्ठा मुझे उपलब्ध हो गई।

शक्तिपात और नित्यानन्द या मुक्तानन्द मेरे मन पर्यायवाची हैं। अपने प्यारे गुरुदेव मुक्तानन्द स्वामी को स्मरण किये बिना कैसे विरम सकता हूँ। शक्तिपात के रूप में, परम भागवदीय अनुगृह उनसे मुझे प्राप्त हुआ। उससे अक्षय्य रस, सौन्दर्य, प्यार और शक्ति के स्रोत जैसे आपोआप भीतर खुल पड़े। और उनका आप्लावन मेरे भीतर कितना गहरा है, और उससे कैसी नित-नूतन सम्भावनाएँ अनायास मेरे भीतर घटित और क्रियाशील दीख पड़ती हैं, उसको कैसे बयान किया जाये। एक तरह से 'अनुत्तर योगी' उसी अनुभूति की एक ईमानदार दस्तावेज़ है। जिन आत्म-वल्लभ श्रीगुरु से ऐसी दिव्य वस्तु प्राप्त हो सकी, उनके प्रति कृतज्ञता से मेरा हृदय निरन्तर उमड़ता रहता है। मन ही मन बार-बार उन्हें प्रणाम करता रहता हूँ। और ज्यादातर तो उनसे अलग अपने को महसूस ही नहीं कर पाता। तदाकार रहता हूँ अनजाने ही उनके साथ, और उसी भंगिमा से जीवन-जगत को मुक्त भोगता-

जानता हूँ, उसमें निर्बन्ध, निर्द्वन्द्व विचरता हूँ। विधि-निषेध के सारे फाटक पीछे छूट गये। एक मुक्त आनन्द को सतत अपने साथ चलते अनुभव करता हूँ।

पूज्यपाद विद्यानन्द स्वामी भी अचानक उसी धारा में मुझे मिल गये। और महावीर के इस प्रेमयोगी और कर्मयोगी प्रतिनिधि ने मुक्तानन्द से प्राप्त मेरे अमृत को 'अनुत्तर योगी' में रूपायित करने का अचूक रसायन प्रस्तुत कर दिया। यह एक अद्भुत संयोग है, और इस पर मैं आश्चर्य से स्तब्ध हूँ।...

० ० ०

मंखलि गोशाल, महावीर की जीवन-कथा में एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। महावीर के समकालीन तीर्थंकों में वह आजीविक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित है। जैन और बौद्ध दर्शनों के अतिरिक्त उस काल के दर्शनों में केवल आजीविक परम्परा ही कुछ अधिक समय तक टिकी रहने का प्रमाण मिलता है। भारतीय और विदेशी शोध पण्डितों ने तत्कालीन दार्शनिकों में गोशालक को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। इसके विपरीत जैनों की महावीर-कथा में गोशालक भगवान के तपस्याकाल के एक मूढ़ शरणागत शिष्य के रूप में सामने आता है। वह दीन दयनीय, आत्म-हीनता से पीड़ित, तृष्णार्त, लोभी, भोजन-भट्ट और एक अकारण शरारती, कौतुकी वानर के रूप में चित्रित है। रचना की दृष्टि से, आगमों में उपलब्ध उसका यह विडम्बनकारी रूप ही मुझे अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। इस रूप में वह काल की अधोगामिनी धारा (अवसर्पिणी काल) के एक सचोट व्यंग्य-विद्रूप-कार विदूषक के रूप में उपलब्ध हो जाता है। वह अस्तित्व के सारे विपर्ययों, व्यंग्यों, वैषम्यों को अपनी वाचालता द्वारा नग्न करता है। सारे पाखंडों का पर्दा फ़ाश करता है। यहाँ तक कि वह स्वयम् अपना ही मज़ाक़ उड़ा कर, सारे जगत-जीवन पर तीव्र व्यंग्य का अट्टाहास करता है। अपने काल के और अस्तित्व के तमाम विपर्ययों का वह एक तीव्र निन्दक और कटु आलोचक है। उसके इस विदूषक स्वरूप से मेरी कथा को, अन्यों से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण पात्र प्राप्त हो जाता है।

इसी से विना किसी शोध-विवाद की उलझन में पड़े, विशुद्ध सर्जन की दृष्टि से संसार जीवन के एक मूर्तिमान व्यंग्य-विद्रूप के नाते मैंने उसका उपयोग कर लिया है। महावीर उसे अपने साथ रहने देते हैं, यही अपने आप में उसको एक निगूढ़ सार्थकता प्रदान करता है। मानों कि अपने एक प्रति-तीर्थक या विरोधी के रूप में भगवान उसे अपने लिये एक अनिवार्य संगी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। वह भगवान से ही तेजोलेश्या सिद्धि की विधि सीख कर, अन्ततः उससे भगवान पर ही प्रहार करता है। फिर भी

महावीर उसे गहरे में कहीं एक भव्यात्मा के रूप में जान कर प्यार करते हैं, उसके आत्मोन्नयन और त्राण के निमित्त बनते हैं। इस तरह अन्य पात्रों की तरह गोशालक का यह विशिष्ट पात्रालेखन मैंने शुद्ध सर्जनात्मक सम्भावना की दृष्टि से ही चुना है। शोध क्षेत्र के विवाद में पड़ना मुझे अपने लिए अनावश्यक लगा।

मुनिचन्द्र सूरि का आख्यान प्रसंग मैंने आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टि शलाका-पुरुष' में से लिया है। उसमें सचेलक स्थविरकल्पी साधु मुनिचन्द्र की कठोर जिन-कल्पी तपस्या, और उपसर्ग-सहन के आलेखन में दिगम्बर महावीर द्वारा, श्वेताम्बर मुनिचन्द्र श्रमण के सवस्त्र होते हुए भी, उनकी उच्च आत्मोपलब्धि को स्वीकृति प्राप्त होती है। इस प्रकार इस कथा में दिगम्बर-श्वेताम्बर के बाह्याचार गत कट्टर भेदों का निरसन होता है, और शुद्ध आत्मोत्थान के स्तर पर दोनों का सहज समन्वय हो जाता है। शोध विद्वान और साम्प्रदायिक आलोचक उपरोक्त दो कथानकों और पात्रों को व्यर्थ ही विवाद का विषय न बनायें, इसी ख्याल से यह तथ्यात्मक स्पष्टीकरण मुझे ज़रूरी प्रतीत हुआ।

० ० ०

मेरी इस दुर्गम सृजन-यात्रा की खड़ी चढ़ाइयों में, जिन कुछ ख़ास मित्रों और आत्मीयों का भावात्मक सम्बल मुझे प्राप्त हुआ, उनका उल्लेख मैं प्रथम खण्ड के समापन में कर चुका हूँ।

पर एक नाम मैं अपने हृदय में सुरक्षित और गोपित रक्खे रहा। और उसे अलग से लेना चाहता था।...उत्तर छायावादी काव्य के प्रवर्त्तक महाकवि बच्चन। सन् '७१ में बच्चन भाई, मानो मेरे लिये भगवान के भेजे ही, ठीक विले पारले की जुहू कॉलनी में आ बसे। भीतर-भीतर बरसों से, दूरी के बावजूद, उनके साथ मेरा एक गहरा सम्वाद चलता रहा था।...लेकिन 'अनुत्तर योगी' के गर्भाधान के मुहूर्त में अचानक वे मेरे पास चले आये।

तब से लगभग प्रथम खण्ड की समाप्ति तक उनका सुखद और तन्मय साहचर्य मुझे प्राप्त रहा। अमिताभ का मकान मेरे घर से बहुत दूर नहीं है, जुहू-कॉलनी में। रचना के कठिन पड़ावों और चढ़ावों में जब भी मेरा दम घुटने लगता, तो क़लम डाल कर किसी भी शाम बच्चन भाई के पास जा पहुँचता। और तब उन अग्रज के प्यार भरे सामीप्य में, किस क़दर राहत और ताज़गी मिलती थी, क्या बताऊँ। सृजन के उन्मेष और प्रसव-पीड़ा के दौरान, उनके साथ जो आत्मा की गहरी हिस्सेदारी मुझे प्राप्त हुई, वह अपने आप में एक कलाकार की आत्म-कथा का महत्त्वपूर्ण अध्याय है। सन् '७०-'७१ से '७२-'७४ तक के उन तीन-चार बरसों में उनके साथ जो तन्मय

डायलॉग की शामें बीतीं, उन्हें मैं एक आध्यात्मिक मिलन प्रसंग ही कह सकता हूँ। उस दौर में मानों हम दोनों ने हिन्दी के समूचे इतिहास और समकालीनता को संयुक्त रूप से जिया। हम दोनों ने एक-दूसरे के आत्मिक इतिहास में भी बहुत गहराई से अवगाहन किया। मेरे जीवन में सम्वेदन और सर्जन की सहभागिता के ऐसे प्रसंग विरल ही रहे हैं।...बच्चन भाई के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करके, उन्हें अपने से अलग कैसे करूँ।

प्रथम खण्ड बच्चन भाई ने दिल्ली स्थानान्तरित होने के बाद ही पढ़ा। उसे पढ़ कर वे इतने भावित, मुग्ध और विभोर हुए, कि बम्बई आते ही, मिठाइयों के दो बड़े सारे पैकेट लेकर, वे मेरे पास दौड़े चले आये। ...ऐसा लाड़-प्यार आज के इस बंजर भावहीन युग में कौन किसी को देता है। 'बचुवा' कह कर जिस गहरी नज़र से वे मुझे पीते रहते हैं, उस सुख को कथन में कैसे लाऊँ।

'अनुत्तर योगी' की चन्दनबाला और वैनतेयी, अपने विदग्ध सृजनात्मक आविर्भाव के लिये, नवलेखन की विशिष्ट कहानीकार तथा कवयित्री सुनीता (डॉ. सुनीता जैन) की ऋणी हैं। जिस सम्वेदना में से ये दोनों पात्रियाँ, और अन्य स्त्रियां भी आकार लेती चली गईं, उसमें सुनीता की भागीदारी को भुलाया नहीं जा सकता।

० ० ०

गत फरवरी में, 'अनुत्तर योगी' के उद्घाटन प्रसंग पर मैंने कुछ आगाहियाँ की थीं। वे बाद के महिनों में सच हुईं। अब फिर से दोहराता हूँ, कि सन् १९७५, यानी महावीर-निर्वाण की पच्चीसवीं शती का यह वर्ष, एक बुनियादी विप्लव का पर्व है। इसकी समाप्ति किसी कृत्रिम ठहराव की शान्ति में नहीं हो सकेगी। आगामी महीनों के अन्तराल में मैं ऐसे तूफ़ान गरजते देख रहा हूँ, जो मौजूदा संसार का तख्ता भी उलट सकते हैं। आप देखें, क्या-क्या होता है।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी : ३० अगस्त, १९७५
गोविन्द-निवास, सरोजिनी रोड,
विले पारले (पश्चिम), बम्बई-५६.

—वीरेन्द्रकुमार जैन
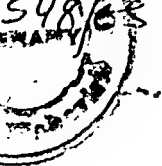
'क्षमा करें भगवन् ! अनाथों के एकमेव नाथ ! मेरी चिर काल की सन्तप्त आत्मा के पहले आत्मीय ! अचूक बान्धव ! · · ·अक्षम्य अपराध हो गया मुझ से। तीर मेरे हाथ से निकल चुका है। · · ·हाय मैं तुम्हारा हत्यारा हो गया, महावीर ! हो सके तो उस तीर को लौटाओ, भगवन् ।'

'तीर ठीक छूटा है, और वह अपना लक्ष्यवेध करके ही लौटेगा, वत्स। हत्यारा तुम्हारे ही सन्मुख खड़ा है, देवानुप्रिय , फिर चिन्ता किस बात की ?'

'खम्मा, खम्मा, देवार्य ! हत्यारा तो मैं हूँ, स्वामी।'

'इस लिए, कि इससे पूर्व कभी मैं तेरा हत्यारा था। · · ·परस्पर देवोभव, आत्मन्। केवल यही मंत्र हत्या की इस चिर पुरातन शृंखला को तोड़ सकता है।'

'एवमस्तु, महाश्रमण। अर्हत् शाश्वतों में लोकालोक पर शासन करें !'

और वैशायन भूमिष्ठ प्रणिपात कर, निःसंग भाव से अपने एकाकी यात्रा-पंथ पर निकल पड़ा। · · ·

◆ ◆ ◆

'भन्ते, बड़ा विकट है यह तापस। इसकी नाभि क्या है, मानों अग्निबाणों का तूणीर है। इस चमत्कार का रहस्य बतायें, प्रभु।'

'तेजो लेश्या · · ·!'

'यह क्या कोई सिद्धि है, भगवन् ? इस लब्धि को प्राप्त करने का उपाय बतायें, भगवन् ।'

'सम्पूर्ण आत्मदमन। दारुण तपस्या द्वारा देह, प्राण, इन्द्रिय, मन का आत्मगोपन। तप की भस्म से ढँकी, चिरकाल के संचित कषायों की एकाग्र अग्नि। जो अन्तिम आघात पा कर, अन्तिम प्रत्याघात करती है।'

'इस सिद्धि की कोई विधि, भन्ते ?'

जिस अस्त्र के आघात पर, एक दिन मेरी अर्हत्ता को कसौटी पर सिद्ध होना है, उसके सन्धान की विधि को यथा समय प्रहारक के हाथों सौंपे बिना निस्तार कहाँ ? सो श्रमण के मुख से सहज ही वह विधि उच्चरित हो गई। गोशालक विद्या-तंत्र पा कर हर्ष-विभोर हो रहा।

'और आपके हृदय से प्रवाहित ये जलधाराएँ, भन्ते ? जान पड़ता है, आपके हृदय में न जाने कितने झरने छुपे पड़े हैं। अपने चिर किंकर को इसका भी रहस्य समझायें, भन्ते।'

'शीत लेश्या · · ·!'

'यह कहाँ से आती है, भगवन् ? इसकी सिद्धि का कोई उपाय, भन्ते ?'

'यह सोद्देश्य सिद्धि नहीं। यह निरुद्देश्य, निर्विकल्प आत्मसिद्धि का स्वाभाविक परिणाम। योगी जब समत्व के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है, तो कषाय-सन्तप्त जीवों के कल्याणार्थ यह स्वतः प्रकट होती है।'

'तो यह शीतलेश्या, तेजोलेश्या का प्रतिकार है, भन्ते ?'

'योगी कषाय का प्रतिकार नहीं करता, समूल संहार करता है, समाहार करता है। प्रतिकार अहंकार में से आता है। योगी निरहंकार होता है।'

'इसकी कोई विधि, भन्ते ?'

'सम्पूर्ण निर्विधि हो जाना।'

'अब, भन्ते, ऐसा है कि निर्विधि को लेकर क्या करूँगा। वह तो जब होना होगा, आपोआप हो ही जाऊँगा, आपकी कृपा से। उसकी चिन्ता अभी से, और मैं क्यों करूँ ?'

'तो फिर तू श्रमण कैसा ?'

'महाश्रमण का शिष्य हूँ, तो श्रमण तो हूँ ही, भन्ते। सो आपके महाश्रम का प्रसाद तो मुझे आपोआप ही मिल जायेगा। फिर मुझे क्या चिन्ता।'

'एवमस्तु।'

'धन्य हूँ, भन्ते। दीनानाथ !'

'बुज्झह, बुज्झह, गोशाल। प्रतिक्रमण ... प्रतिक्रमण ... प्रतिक्रमण ...'

गोशालक एक विद्युत-धारा से झनझनाया-सा श्रमण की ओर ताकता गया।

◆ ◆ ◆

सिद्धार्थपुर के मार्ग पर विहार करते हुए, एक स्थल को चीन्ह कर, हठात् गोशालक बोला :

'हे स्वामी, आपके कहे अनुसार वह तिल का क्षुप तो उगा नहीं।'

'उगा है, वह यहीं पर है।'

गोशालक की दृष्टि तत्काल उस उगे हुए तिल-क्षुप पर पड़ गई। उसने उसकी फली को तोड़ कर उसे चीरा। उसमें ठीक तिल के सात दाने अंकुरित थे। वह आश्चर्य से स्तब्ध। क्षण भर सोच-मग्न रह कर वह बुदबुदाया :

'शरीर का परावर्तन करके जीव फिर जहाँ के तहाँ उत्पन्न होते हैं !'

'जीव का कार्मिक परावर्तन, केवली-गम्य है, मानुष बुद्धि से उसका अन्तिम विधान सम्भव नहीं !'

'पर आपने तो किया, भन्ते ?'

'वह विधान नहीं। जो देखा, वही कहा। जहाँ तक देखा, वहाँ तक कहा।'

गोशालक चुपचाप बहुत दूर तक अनुसरण करता रहा। एक तिराहे पर, श्रावस्ती का मार्ग मुड़ता था। वहीं अटक कर बोला :

'भन्ते, आज्ञा दें, श्रावस्ती जाऊँगा। तेजोलेश्या सिद्ध किये विना चैन नहीं।'

श्रमण ने कोई उत्तर नहीं दिया। अटल भवितव्य-रेखा को देखते, वह अपने पथ पर एकाग्र आरूढ रहा। गोशालक श्रावस्ती की राह पर मुड़ गया।

···काल-प्रवाह में दूर पर देख रहा हूँ।···तेजोलेश्या सिद्ध गोशालक, अनेक-ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न हो कर, मूढ़ लोक-जनों को आतंकित करता हुआ, प्रभुता-प्रमत्त भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रहा है। तीर्थंकर पार्श्व के छह शिष्य-शोण, कलिंद, कार्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान तथा अर्जुन उसे श्रावस्ती में दैवात् मिल गये। उनसे अष्टांग निमित्तज्ञान सीख कर, संसारी मनुष्यों के भाग्य और भविष्य का निर्णय करता हुआ, वह सर्वत्र अपने को 'जिनेश्वर' उद्घोषित करता घूम रहा है। वह अपने को आजीविक परम्परा का चम तीर्थंकर कहता है, और अज्ञानी लोकजन उसके चरणों में प्रणत हो, उसका अनुसरण करते हैं।

···प्रभुता के प्यासे मंखलि गोशाल, पश्चात्ताप की ज्वालाओं के बीच एक दिन तेरा यह अहंकार भस्म हो कर सोहंकार हो जायेगा। आज तू प्रभुता के पीछे भाग रहा है। उस दिन प्रभुता स्वयम् तेरा वरण करेगी। एवमस्तु।···

◆ ◆ ◆

जगत के सारे रास्ते क्या वैशाली ही जाते हैं?···फिर वैशाली के विश्व-विख्यात प्रमद-कानन 'महावन' के सुगन्ध-निविड़ अँधियारों में विचर रहा हूँ। वैशाली, तेरी उरुवेला के गोपन गुह्यदेश को भेद कर ही मेरा मार्ग जाता है। तेरे केलि-मग्न युवा-युवतियों के प्यालों की मदिरा सहसा ही आग हो उठी है। मूर्छित युगलों के आलिंगन एकाएक टूट गये हैं: उनके सुरा-चषक हाथों से छूट कर फूट गये हैं।···चिन्ता न करो, तुम्हारे द्राक्षा-वनों के अंगूरों में मैं ही आलोड़ित हूँ। मैं ही तुम्हारी सुराओं में विस्फोटित हो कर जल रहा हूँ। मैं ही तुम्हारा आलिंगन हूँ, युवाजनो, उससे छूट कर ही मुझे पहचानोगे!

ओ,···अपने भूशायी केशों को सँवारते हुए, आम्रपाली, तुम हठात् चौंक उठी हो। तुम्हारे कुन्तलों का तमालवन यह किसकी सत्यानाशी पगचाप

से हहरा उठा है? वैशाली का दुर्गभेद, इन्हीं सुरंगों से सम्भव है। अन्य उपाय नहीं।

···विशाला के शंख गणराज, अपना समस्त परिवार और परिकर ले कर तुम किसकी वन्दना को आये हो? यह निर्नाम नग्न ज्वाला, अब पूजा-वन्दना से ऊब चुकी है। वह तुम्हारे समस्त की आहुति चाहती है। भिक्षुक की अंजुली समस्त वैशाली के वैभव का आहारदान चाहती है। लौट कर जब तक, संथागार में खबर दोगे, तुम्हारे अश्वारोही व्यर्थ ही दिशाओं को खूंदेंगे। पकड़ में न आने वाली दिशाओं से अलग, वे दिगम्बर को अन्यत्र कहाँ खोजेंगे?

···आगे बढ़ कर वाणिज्य ग्राम की मंडिकीका नदी के तट पर आ खड़ा हुआ हूँ। नदी चाहती है कि मैं उसे पार करूँ। कि मैं उसकी लहरों पर चलूँ। चलने को उद्यत हुआ कि तभी देखता हूँ कि एक नाविक तट पर नाव लगा कर, प्रार्थी है कि उसकी नाव पर चढ़ कर नदी पार करूँ। तथास्तु।

नाव पर पार के तट पर आ लगी है। मध्यान्ह के सूर्य से तपी रेत पर उतरा, कि नाविक ने हाथ फैला कर उतराई का मूल्य माँगा। भिक्षुक के पास मूल्य कहाँ? जलती बालू पर, वह अकिंचित्कर, निस्पन्द खड़ा रह गया है। केवट ने दोनों हाथ रेत में पसार कर उसके पैरों को घेर लिया है। मूल्य चुकाये बिना भिक्षुक की निर्गति नहीं।

भिक्षुक ने मयूर-पींछी से नाविक के तप्त बालू में गड़े माथे को थपथपा दिया। उसके कमंडलु से कुछ जल बिन्दु केवट के उघाड़े काले तन पर चू पड़े।

'नाथ, तर गया। तारनहार को पार उतारने वाला मैं कौन? भूल हो गयी, भन्ते, अज्ञानी को क्षमा करें।'

'कृतार्थ हुआ मैं, नाविक। भिक्षुक को तुमने अपनी भुजाओं पर अपने ही पार उतार कर उऋण किया है। तुम्हारा मूल्य कौन चुका सकता है?'

'पार तो मैं हुआ, नाथ, स्वयम् तारनहार की बाँहों में।'

'तथास्तु···!'

◆ ◆ ◆

सानुयष्टिक ग्राम के पद्मश्री-उपवन में प्रवेश करते ही एक प्रबल विद्युत-धारा से शिरा-शिरा ऊर्जायित हो उठी है। ध्यानस्थ होते ही देखा कि चेतना

के नये ही पटलों में उत्क्रान्त हो रहा हूँ। देह, प्राण, इंद्रिय, मन पर अपना कोई अधिकार नहीं रह गया है। अन्तश्चेतना के केन्द्र में आसीन एक ज्योतिर्देही सुन्दरी की गोद में उत्संसगित हो गया हूँ। योग की एक अपूर्वज्ञात मुद्रा में उसने मुझे उन्नीत किया है।···

···स्फुरित हुई भीतर एक भास्वर ध्वनि: भद्रा प्रतिमा।···अपने को पूर्वाभिमुख, भद्रासन में उपस्थापित देख रहा हूँ। एक ही पुद्गल-परमाणु पर दृष्टि स्थिर हो गयी है। अपार पुद्गल द्रव्य की राशियाँ समुद्र की लहरों की तरह ज्वारित होती हुई, इस एकमेव लक्ष्य-बिन्दु में निर्वापित होती चली जा रही हैं। अन्नमय कोश सर्प के त्यक्त निर्मोक के समान, सामने झड़कर इसी एकमेव पुद्गलाणु में सविलीन हो गया है। एक पूरा दिन पूर्व दिशा में ही यह योग-यात्रा चलती रही। फिर उसी रात्रि को दक्षिणाभिमुख होने पर, दक्षिण दिशा का समस्त पुद्गल-विश्व धारासार इस एक मात्र पुद्गल-परमाणु की रक्तेश्वरी ज्योति में विलीयमान होता रहा। दूसरे दिन पश्चिमाभिमुख, और दूसरी रात्रि को उत्तराभिमुख भद्रासन में यही योग-क्रिया अविराम चलती रही।

भद्रा के समापन पर, भीतर के नाभि-कमल में एक विचित्र केशरिया ज्वाला अमृत-प्राशन के लिये उद्दीप्त दिखाई पड़ी। और उसके उत्तर में श्री-योगिनी महाभद्रा ने मुझे अपने स्तन-मण्डल पर खींच लिया। यहाँ मेरी शिरा-शिरा में एक अद्भुत सौन्दर्य और यौवन रस का आप्लावन होने लगा। रह-रह कर श्वेतेश्वरी और कृष्णेश्वरी ज्योतियाँ अपने आँचल में क्रमशः मुझे तपाती और नहलाती रहीं। चारों दिशाओं में क्रमशः चार अहोरात्र यह प्रक्रिया चलती रही। इक्षु, गेंहूँ, तीसी, सरसों के हरियाले, उजले, नीले, पीले खेत रोमालियों में लहराते दीखे: सारी देह नानारंगी फूल वनों, कमल वनों और फल वनों से नम्रीभूत हो आई: और मैं उससे अतिक्रान्त होता हुआ किसी अपूर्वजात कामलोक में प्रस्तारित होता चला गया।···

···सहसा ही अपने को एक कल्प कानन के नील सरोवर के तटान्त पर उपस्थित देखा। महाभद्रा पीछे छूटे कल्पवृक्षों की बहुरंगी ज्योतिर्-छायाओं में ओझल होती दीखी।···कि हठात् एक निलांगिनी नीलिमा ने मुझे आचूड़ आश्लेपित कर लिया। 'तच्चिन्मयो नीलिमा' की मंत्रध्वनि से समस्त चेतना ऊर्जस्वल हो उठी।···महायोगिनी सर्वतो भद्रा का यह आश्लेष मेरी और विश्व की समग्र विविधरूपिणी सत्ता को, एक महीनातिमहीन सुनील प्रभा के अथाह में केलि-तरंगित करने लगा। एक देश-कालोत्तीर्ण नील ज्योतिर्-बिन्दु में सारे लोकालोक एक बारगी ही अपसारित और प्रस्तारित होते दिखाई पड़े। उस बिन्दुवासिनी चिन्मणि बाला का सौन्दर्य रूपातीत, शब्दातीत होते

हुए भी, सारी ही इन्द्रियों के सुखों की एकाग्र और अपरम्पार परितृप्ति में मुझे पर्यवसित किये दे रहा है। स्पर्शेन्द्रिय से परे का यह स्पर्शन, अपने ही भीतर ऊर्मिल ऐसा गहन मार्दव और आलोड़न है कि ऐन्द्रिक भाषा में वह कथ्य नहीं।...

दसों दिशाओं में क्रमशः एक-एक अहोरात्र अवस्थान और अतिक्रमण करते हुए, परायोगिनी सर्वतोभद्रा के सर्वालिंगन में काल को महाकाल में निर्वाण पाते देखा। ऊर्ध्व और अधो दिशाओं के पुद्‌गल-परमाणुओं में जब युगपत् आरोहण और अवरोहण का संयुक्त अभिसार हुआ, उस समय संसार और निर्वाण की भेद-रेखा अनायास तिरोहित होती दीखी। रूप और रूपातीत में एक अद्‌भुत सामरस्य की अनुभूति से चेतना विश्रब्ध हो गई।...

...ऐसा लगा कि सर्वतोभद्रा ने लोक के सर्वतोमुखी मंगल-कल्याण की मांत्रिक विद्युत् से मेरे समस्त रुधिर-प्रवाह को ऊर्जायित कर दिया है। सो इस रत्नत्रयी प्रतिमायोग से अवरूढ़ होते ही, मैंने लोकालय का अत्यन्त ऊष्म आमंत्रण अनुभव किया।

सानुयष्टिक ग्राम में प्रवेश करते ही आनन्द श्रावक के द्वार पर अपने को उपस्थित पाया। देखा, वहाँ उसकी दासी बहुला पात्र धो रही है। मुझे सम्मुख पा वह बहुत असमंजस में पड़ गई। वस्तु-अवस्तु का भान ही उसे न रहा। भाव-विभोर हो कर उसने अपने लिये निकाला हुआ ठंडा अन्न अंजुलि में ले कर मुझे अर्पित किया। भिक्षुक ने पाणि-पात्र में उसे सहज झेल लिया।

...दासी भिक्षुक की वह समरस मुद्रा देख कर, अपनी विवशता पर, आक्रन्दन कर उठी :

'हाय नाथ, त्रिभुवनपति, मैं अभागिन दासी...क्या दूँ तुम्हें। अपने भाग का यह छूटा हुआ जूठा, ठण्डा अन्न ही तो मेरे पास है...।'

'भिक्षुक तेरे भोजन का सहभागी है, कल्याणी!'

'ना...ना...ना स्वामी, मैं दीना, मलिना, रंकिनी दासी। और तुम...'

'सर्वतोभद्र पुरुष। दासों का दास, स्वामियों का स्वामी।'

'हाय,...यह क्या? ठंडे, जूठे तंदुल क्या हुए मेरे? स्वामी के पाणि-पात्र में यह कैसा देवभोग!'

'एक ही द्रव्य। क्षण-क्षण नव-नूतन पर्याय। दिव्य भोजन भी वही, जूठन भी वही। दासी भी वही, देवी भी वही।...'